* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

भाषा-भाष्य

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर.

मुद्रक—

श्री दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

द्वितीयावृत्ति २००० | सं० १९८८ वि० | मूल्य ४) रुपये

॥ ओ३म् ॥

सामवेद भाष्य के प्रथम संस्करण की भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३६ ॥

तं धेनवो वत्समिवाशु नाभिमवस्यं हार्दं महिमानमैशम् ।
गिरो गुरोराद्यतमस्य नित्यं निपीयमाना विबुधैरपुष्यन् ॥

(१)

वेद मानव जाति के ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र हैं । वे संख्या में चार हैं । ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए आर्य ज्योतिषियों की गणना के अनुसार १९६०८५३०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं (१) विज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना और (४) ज्ञान । ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार पूर्वक ईश्वरप्रणिधान करना उपासना कहाती

हैं। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पिपासु जन उपनिषदों और सूरदास, कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष इस भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

(२) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पाच संहिताएं ही आई हैं.—

(१) सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यव्रतसामश्रमी द्वारा प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सोसायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

(२) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८९२ ई० में प्रकाशित किया।

(३) अजमेर नगर मे श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद सहिता प्रकाशित की है।

(४) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और संस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

(५) रेव० जे० स्टीवन्सन ने लण्डन से एक सामसंहिता प्रकाशित की है। नगरावा निवासी श्री प० कृपाराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी गणना में नहीं रक्खा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाँचों प्रकाशित संहिताओं में अपनी २ विशेषता हैं। रेव० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्चिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में ये भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नहीं किया। इसका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने राणायनीय शाखा के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शाखाओं का अधिक प्रचार है कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा करनाटक में और राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचरित है। परन्तु क्योंकि चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में ये भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रक्खा है। यहां यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि चतुर्वेदानुवादकार प० ग्रीफिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नहीं दिया, क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में इसको स्थान दिया है। इस प्रकार एशियाटिक सोसायटी के सत्यव्रत-सामश्रमी के सम्पादित सायण भाष्य में भी उक्त दोनों खण्डों को स्थान प्राप्त है।

(२) शाखाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के 'चरणव्यूह' प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—

(१) "तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीद्। अनध्याये-ष्वधीयाना: सर्वे ते शक्रेण विनिहता [प्रविलीना:]।

(२) तत्र केचिदवशिष्टा प्रचरन्ति । तद् यथा—राणायनीयाः, साद्य [त्य] मुग्रा, कालापाः, महाकालापा कौथुमा, लाङ्गलिकाश्चेति । कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति । तद् यथा—सारायणीया वातरायणीया वैतधृता प्राचीनास्तैजसा अनिष्टकाश्चेति ।

अर्थात्—सामवेद की हज़ार शाखाएं थीं । लोग उनको अनध्याय के दिनों में भी पढ़ते थे, अतः इन्द्र ने उन सबका विनाश कर दिया । कुछ शाखाएं बची हैं जैसे राणायनीय, साद्य[त्य]मुग्र, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गलिक । इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय वैतधृत, प्राचीनतैजस, और अनिष्टक ।

चरणव्यूह के इस लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी है जैसे—चरणव्यूह दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

"सामशाखाभेदा यथा—आसुरायणीया, वासुरायणीया, वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जला, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्या, ज्ञानयोग्या, राणायनीयाश्च । राणायनीयाना नव भेदा, राणायनीया, शाख्यायनीयाः (शाखायनीया शाट्यमुग्रिया इति वा) पारायणीया, सात्वला, सात्यञ्जवा इति वा) मौद्गला खल्वलाः महाखल्वला कौथुमा जैमिनीयाश्च ।"

अर्थात्-इनके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुनः नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शाख्यायनीय, (शाखायनीय या शाट्यमुग्रिय,) पारायणीय, सात्वल या सात्यञ्जव, मौद्गल, खल्वल और महाखल्वल, कौथुम और जैमिनीय ।

इसके अतिरिक्त सामवेद का और, शाखाभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शाखाओं के नामों से भी भिन्न २ नामों की सूचना मिलती है ।

सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनि ।
क्रमेण येन मैत्रेय विभेद शृणु तन्मम ॥
सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूद् सुकर्मास्याप्यभूत् सुतः ।
अधीतवन्तावेकैकां संहितां तौ महामुनी ॥
सहस्रसंहिताभेदं सुकर्मा तत्सुतस्ततः ।
चकार तं च तच्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ ॥
हिरण्यनाभिः कौशल्यः पौष्यिञ्जिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्याः सामगाः शिष्यास्तस्य पञ्चशताः स्मृताः ॥
हिरण्यनाभात्तावन्त्यः संहिता यैर्द्विजोत्तम ।
गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः ॥
लोकाक्षिः कुथुमिश्चैव कुशीदिर्लाङ्गलिस्तथा ।
पौष्यिञ्जिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुलीकृताः ॥
हिरण्यनाभशिष्यस्तु चतुर्विंशति संहिताः ।
प्रोवाच कृतिनामासौ शिष्येभ्यः सुमहामतिः ॥
तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखाभिर्बहुलीकृतः ।

अर्थ– व्यासदेव के शिष्य जैमिनि ने शाखाओं का भेद इस क्रम से किया कि उनका पुत्र सुमन्तु हुआ । 'सुमन्तु' का पुत्र 'सुकर्मा' । इन दोनों ने एक एक संहिता पढ़ी । सुकर्मा ने सहस्र संहिता भेद किये । उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि कौशल्य, और पौष्यञ्जि । लोकाक्षि, कुथुमि, कुशीदी और लाङ्गलि, ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे इनको 'उदीच्यसामग' कहते थे । और हिरण्यनाभ के पांच सौ शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामग' कहते थे । हिरण्यनाभ का एक शिष्य 'कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस संहिताओं का उपदेश किया। उसके शिष्य प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत शाखाएं करदीं ।"

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम (अथर्व परिशिष्ट) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं । प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन योग्य हों और शेष सब नाम नवीन ही हैं। यह पुराणप्रदर्शित शाखा भेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को बतलाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कौथुम और लाङ्गलशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं। वह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं। उसमें पौष्यञ्जि के शिष्यों का नाम लोगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि लिखा है। इसी प्रकार के नाम भेद से हमें पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों से ये शाखाभेद हुए। और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएं हो गईं। इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा--भेद से शाखाओं मे यत्किंचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया। उनमें बहुतसी शाखाएं लुप्त हो गईं। क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनध्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरु किया, इससे कुपित इन्द्र ने वज्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया। अन्धवि श्वासी लोग इस कथा पर विश्वास करने में संकोच अनुभव न करेंगे। परन्तु इसका गूढार्थ यही है कि सामवेद का स्वाध्याय गुरुपरम्परा से लोप हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थीगण अनध्याय के दिनों में सामगान सीखने आते हों। इस पर गुरु या आचार्यों ने अपने सामवेद को गौण विषय बनते देख, अपने वेद का अपमान जान शिष्यों

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खण्डित हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के यद्यपि नाम भी लुप्त से हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण के पैलादिगण (२ । ४ । ५९) में शाणि, शब्द का पाठ है। अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय करने से 'शाणायनि' ऐसा प्रयोग होता है। यह एक साम शाखा का प्रवर्त्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्त्तक हुआ। इस गण में पठित और भी कितने ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्त्तक होने सम्भव हैं। उसी प्रकार तौल्वल्यादि गण, (२ । ४ । ६१) यस्कादि (२ । ४ । ६३) गोपवनादि (२ । ४ । ६७) तिककितवादि (२ । ४ । ६८) उपकादि (२ । ४ । ६९) गण भी दर्शनीय हैं। इन गणों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्त्तकों के नाम हैं। इसी प्रकार शार्ङ्गरवादि (४ । १ । ७३) क्रौडयादि (४ । १ । ८०) अश्वपत्यादि (४ । १ । ८४ उत्सादि (४ । १ । ८६) विदादि (४ । १ । १०४) गर्गादि (४ । १ । १०५) तिकादि (४ । १ । १५४) गहादि (४ । २ । १३८) शौनकादि (४ । ३ । १०६) रैवतिकादि (४ । ३ । १३१) गण हैं उन में नाना शाखा-प्रवर्त्तकों के नाम आते हैं। सात्यमुग्रि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त हैं उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४) साम-ब्राह्मण

उक्त शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है। परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसंहिता में भेद हुआ

हो। क्योंकि परम्परा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और राणायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है। इसी मुख्य ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों को प्रौढ़ ब्राह्मण, बीच के पांच ब्राह्मणों को अद्भुत या षड्विंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है। इस उपनिषद् भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहाते हैं और आर्षेय, सामविधान, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषत् आदि नामों से प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हैं, इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में ताण्ड्य महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है।

(५) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मन्त्रों का ही है। और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अत उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है। यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो। परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न २ हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् २ होना आवश्यक है।

सामवेद के दो भाग हैं एक पूर्वार्चिक भाग और दूसरा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक के साथ ही महानाम्नी आर्चिक भी संयुक्त ही समझी जाती है। पूर्वार्चिक में ग्रामगेय गान और आरण्यक गान दो भाग हैं। ग्रामगेय गान का तात्पर्य यह है, कि वे सामगान जो जनसमूह में गान किये जांय। आरण्यक गेय गान जो वन के परिव्राजक, मुमुक्षुमार्ग पर जीवन बिताने वाले तपस्वी यति लोग गान करें। इसके अतिरिक्त 'महानाम्नी' आर्चिक में शक्वरी छन्द का उपसर्ग पदों के साथ रक्खा है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है। इसके बाद उत्तरार्चिक में ऊहगान और ऊह्यगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र के गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पांच, छः ऋचाओं का एक गान है।

वास्तव में देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है। परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास करे। वह ऋचाओं में ही निवास करेगा। इसी लिये वेदों के सिद्धान्तरूप उपनिषद् ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते।" ऋग्वेद में आश्रय पाये हुए साम का ही गान किया जाता है। फलतः अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है। जैसा कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र "अर्थैकत्वादविकल्पः स्यात्" पर स्पष्ट कहा है।

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या। सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते॥"

अर्थ—सामवेद में हजारों गीति के उपाय हैं। गीति का अर्थ है गान क्रिया। वह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको "साम" शब्द से कहा जाता है। वह नियत प्रमाण वाली ऋचा में गाई जाती है। उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि किये जाते हैं। इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं। परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि के बिना ही ऋचायें रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उद्गाता उन ऋचाओं के वर्णों में विकार आदि करके गाता है।

(५) सामगान

यद्यपि इस साम-वेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान योग्य सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामविषयक गायन

का साधारण परिचय पाठकों को करा देना आवश्यक है। सो नारदीय शिक्षा के अनुसार संक्षेप से देते हैं।

(१) उरस्, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द उठता है। तीनों स्थानों को क्रम से प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के समान जानना चाहिये। इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं। उरःस्थल मे विचरते हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते।

(२) सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएं और ४९ तान होते है। ये सब 'स्वरमण्डल' कहाता है। षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत, निषाद, ये सात स्वर हैं। षड्ज, मध्यम, गान्धार, ये तीन ग्राम हैं। षड्जग्राम में १४, मध्यमग्राम में २० और गान्धार ग्राम में १५ तान होते हैं। ऋषि, पितर और देवभेद से प्रत्येक की सात मूर्छनाएं हैं, जैसे—नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और बला ये ७ देवमूर्छनाएं हैं। आप्यायिनी, विश्वभृता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री बार्हती, ह्व्यका, उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छना हैं। देव, पितृ, और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यक्ष और मनुष्य क्रम से अनुयायी हैं। लौकिक मूर्छनाएं ऋषियों की हैं। षड्ज से देव, ऋषभ से ऋषि, गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व, पञ्चम से सबजन निषाद से यक्ष और धैवत से अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं।

(३) गान के दस गुण हैं=रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर।

(४) स्वरभेद पांच प्रकार का है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित और निघात। आर्चिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही है। स्वरित से परे उदात्त ही प्रचित कहाता है। स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्ण स्वार और दूसरा अतीत स्वार। उच्च और नीच दोनों के बीच को ही स्वार कहा जाता है। उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु-

दात्त में ऋषभ और धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम और पञ्चम रहते हैं। विशेष ज्ञान नारदीय शिक्षा एवं अन्य गानग्रन्थों से जानने चाहियें सामवेदियों में सामवेद संहिता की ऋचाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है। वे गान संहिताएं मन्त्रसंहिता से भिन्न होती हैं। उसका कुछ नमूना दर्शाते हैं।

मन्त्र—अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि॥

गेयगान—ओग्नाइ। आया ही२ वोइ। वोईतोया २इ। तोया २इ। गृणानो ह। व्यदातोया २इ। तोया २इ: ना३ हो ता सा २ ३। त्सा २इ। बा २ ३४ औ हो वा र्हो२इ४ षी॥१॥

यह गौतम ऋषि का पर्क साम कहाता है। इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा पर्क इस प्रकार है।

अग्न आया हि। वो ४ इ तया इ गृणा नो हव्य दा १ ता ३ ये। नि होता २ ३ ४ सा। त्सा २ ३ ४ इ वा। हो २ ३ ३ ४ इ षो ६ हा इ॥ २॥

इन दोनों पर्कों के भीतर काश्यप ऋषि का 'बार्हिष्य' है जैसे—

अग्न आया हो वो। तयाइ। गृणानो हव्य दाना। २ ३ या इ नि होता सत्सि बर्हा २ ३। ईंष। बर्हा २ इ पा १ ३४ औ हो वा। बर्हो ३ षी २ ३ ४ ५।

इसी प्रकार स्तोभ, ऊह गान और ऊह्यगानों के भी विशेष रूप निर्धारित हैं। उन ही का विशेष परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान करना है।

(७) सामवेदभाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हैं वे सामवेद संहिता पर संस्कृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत से तो लुप्त हो ही गये हैं। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी इन आठ प्राचीन भाष्यकारों के नाम दर्शाये हैं। इन सब में से केवल माधवीय विवरण के कुछ अंश उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है। श्री० पं० तुलसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है। इन सब भाष्यों के होते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाषा-भाष्य उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम, सुन्दर और हृदयगम भाषा में शब्दार्थों के पृथक् २ ज्ञान करने के साथ २ पढ़ लेते। इसलिये इस भाष्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो सामवेद के वास्तविक उद्देश्यभूत उपासना काण्ड के स्वरूप को दर्शा सके। श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ कर के ही अपने कार्य को पूर्ण किया है। प्रायः जो भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसको ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया है। उसमें विशेष फेर फार नहीं है। परन्तु क्योंकि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर मेरठ निवासी श्री स्वामी तुलसीरामजी का भाष्य है। उनके भाष्य में कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः सायण भाष्य का ही अनुवाद

किया है। हमने उक्त दोनों भाष्यों में से किसी का भी अनुसरण नहीं किया। ऐसा करने के बहुत से कारण हैं।

(१) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को साक्षात् ईश्वर वचन मानने में भारी विघातक है। इससे वेदों का महत्व भी बहुत घट जाता है।

(२) यज्ञपरक अर्थ करलेने में यद्यपि, सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशेषण जिस पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उस पर नहीं लगता और जो विशेषण जिस पदार्थ में नहीं घटते वे उस पर लगाये जारहे हैं। इससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी कलङ्क आता है। केवल यज्ञ में आये अग्नि, सोम आदि पदार्थों के वर्णन में सामवेद का अधिक भाग लगा हुआ देखकर सायण भाष्य के अनुसार विचार करने से यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गा गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका गूढ़ तात्पर्य कुछ नहीं है। यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है। इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग रखते हुए उसी प्रकार असंगत अर्थ करते गये हैं जिस प्रकार सायण ने किये हैं। उससे भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं, परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कहीं भी उन्होंने वेद के यौगिक अर्थों पर विचार नहीं किया। हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि वेदार्थ के करने में विद्या के परम भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान के आदरणीय ग्रन्थों का जिस गम्भीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वैसा अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया। हम अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमूने अन्य भाष्यों के उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे। जैसे—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है। इसमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आग्नेय काण्ड में अग्नि शब्द से यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिया है। क्योंकि सायण लिखते हैं—

"हे अग्ने! अङ्गनादिगुणविशिष्ट त्वं आयाहि अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ। किमर्थं, वीतये हविषां चरुपुरोडाशादीनां भक्षणाय।

अर्थात् हे चमक आदि गुणों से युक्त अग्ने! तू आ अर्थात् हमारे यज्ञ में आ। क्यों? 'वीतये' चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये। चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है। इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है 'विश्ववेदसं'। जिसका सायण स्वयं अर्थ करते हैं—

'विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदा, यद्वा वेद इति धननाम, विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य तम्"।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने हारा या समस्त साधनों का स्वामी 'विश्ववेदा' कहावेगा। परन्तु सायण के अनुसार यह विशेषण 'अग्नि' का है। भौतिक अग्नि जड़ होने से न तो समस्त ज्ञानवान् है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में 'सुक्रतु' शब्द पड़ा है। जिसका अर्थ सायण ने "निष्पादकत्वेन शोभनकर्माणम् अथवा क्रतुरिति प्रज्ञा नाम शोभनप्रज्ञं वा" किया है अर्थात् वह अग्नि यज्ञनिष्पादक होने से 'सुक्रतु' है, या क्रतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रज्ञ वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि जड़ अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है। फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं। यह दोष न केवल आग्नेय काण्ड के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रत्युत इन्द्र, सोम, उषा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है। क्योंकि सायण ने इन्द्र को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों वाला, घोड़ों से युक्त रथपर चढ़ा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगत:" "ईशानमस्य तस्थुष" (पू० अ० ३।१) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नहीं घटेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है। सायण ने सर्वत्र सोम, इन्दु, पवमान आदि शब्दों से सोमलता और उसके रसों का ही ग्रहण किया है। उस लता या सोमरस में–"जनिता अग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनितोत विष्णोः" (पू० अ० ५।६।५) इत्यादि सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं घटेंगे। उसी प्रकार सोम को "यो रायामानेता य इणानाम् ।" (पू० अ० ५।११।५) धनों और अन्नों का लाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सोमरस में नहीं घटेंगे।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं। उनके विशेषण परमेश्वर ही में मुख्यवृत्ति से घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्य पदार्थों को दर्शावेगा। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथास्थान देख लेंगे। यहां अधिक ग्रन्थ का विस्तार नहीं दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं।

(८) सिद्धान्त दिशा विचार

यह हम पहले दर्शा चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना काण्ड है । वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी देवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है । यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है । योरोप के विद्वान् एवं सायण के मतानुयायी भले ही वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग, जल, वायु आदि जड़ पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता को बतलाता है । उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पढ़े भारतीय विद्वान् भी बहुत से उस भ्रमजाल में पड़ गये हैं । इसका मुख्य कारण यही है कि वे लोग वेद को वेद के सिद्धान्त भाग से अलग कर लेते हैं । उनकी यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ है । उनका ऐसा समझना ही उनको भ्रम में डाल देता है । योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषदें बाद में बनीं अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उन्नति बाद में हुई । इसी धारणा से वे उपनिषदों को वेदों से अलग कर देते हैं । वास्तव में उपनिषदों का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता । उपनिषदें वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ हैं । यदि शरीर में से आत्मा को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर केवल हाड़, मांस, चाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अंगों की शक्तियों का चमत्कार नहीं जाना जा सकता । आंख नाक कान, त्वचा, वाणी ये साधन और अन्त करण मन ये संसार में जितना चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब इस जड़ शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं । उसी प्रकार जब आत्मस्वरूप उपनिषद्, ब्रह्मविद्या को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं । परन्तु जब उनके आधार

में ब्रह्मविद्या रूप दीपशिखा उपनिषद् को रख दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व भण्डार दिखाई देता है। यह मन्तव्य बहुत प्राचीन काल में उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है। जैसे काठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्याम्योम्
इत्येतत् ॥ २। १५)

"समस्त वेद जिस परम पद का पुन. २ प्रतिपादन करते, समस्त तप जिस को दर्शाते हैं, जिसको प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को संक्षेप से कहता हू 'ओम्' यह है।" अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुन॰ २ करते हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चविध आत्मा का अङ्ग प्रत्यङ्गमय स्वरूप दर्शाते हुए पाच कोशों को दर्शाया है, वह बहुत ध्यान देने योग्य है। यहा अन्नरसमय पुरुष के पाच अंग दर्शाये गये हैं:—

अन्नरसमय—(१) शिर, (२) दक्षिण पक्ष, (३) उत्तर पक्ष, (४) आत्मा (धड़), (५) आश्रय पुच्छ।

प्राणमय—(१) प्राण, (२) व्यान, (३) अपान, (४) आकाश, (५) पृथिवी।

मनोमय—(१) यजु॰, (२) ऋग्, (३) साम, (४) आदेश, (५) अथर्व।

विज्ञानमय—(१) श्रद्धा, (२) ऋत, (३) सत्य, (४) योग, (५) महः।

आनन्दमय—(१) प्रिय, (२) मोद, (३) प्रमोद, (४) आनन्द, (५) ब्रह्म।

ये पाचों कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें (१) शिर स्थानीय शिर, प्राण, यजु:, श्रद्धा और प्रिय ये क्रमश: एक ही के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप है। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष व्यान, ऋक्, ऋत, मोद उत्तर पक्ष, अपान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा (धड़) आकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय (पुच्छ), पृथिवी, अथर्व, मह:, ब्रह्म इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषत्कार ने बतलाया है तो ब्रह्म को ही बतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदत्रयी का सार अ, उ, म् को बतलाया है। फलतः यह कहना कि ब्रह्मविद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साहसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहें तो भी वे अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की स्वतन्त्र सत्ता ही कुछ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साक्षात् यजुर्वेद का ४० वां अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ का एक अंश है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रकाश है। और ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेयारण्यक का एक अंग है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण के आरण्यक भाग का प्रकाश है। जब सभी बड़ी २ उपनिषदें वेद और वेद के व्याख्यानों के अंग ही हैं तब उनको वेद से अलग करना वैदिक ऋषियों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निकाल लेने से घर सूना प्रतीत होता है इसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद से दूर कर देने पर वेदमन्त्रभाग भी अन्धकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड से अलग कर देने पर [illegible] नहीं रहता। मध्यकालीन विद्वानों ने समस्त कर्मकाण्ड में वेद के मन्त्रों का विनियोग करके वेदों का अर्थ कर्मकाण्डपरक कर दिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचारा कि

इनके ऐसा करने से वेदभवन अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी। कर्मकाण्ड को मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने से दो प्रवृत्तियां जागीं। एक तो कल्पित मनगढ़न्त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग होने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र यज्ञों का क्रियाकाण्ड भी भ्रष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया। और उनमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिप्राय ही लिया जाने लगा। भाष्यकारों ने अपना मतलब साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों से काम तो लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली को नहीं अपनाया।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है। उनमें जहां साथ २ यज्ञ की शैली और लोक-व्यवहार को दर्शाया है वहां यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है। जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक है तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो। भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा। इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद को नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने एवं भौतिक पक्ष में अर्थ कर उनके गूढ़ ब्रह्मपरक विशेषणों को भी न सुलझा सके। अब हम पाठकों के समक्ष ब्राह्मणकार या उपनिषत्कार ऋषियों के मन्त्रार्थ करने की रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥

(ऋग्वेद म० ४। सू० २७। म० १)

इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है—"मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये, मुझे सौ लोहे के कोट घेरे हुए थे और मैं श्येन

था बाज पक्षी होकर बड़े वेग से निकल आया।" यह एक पहेली सी है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतेरयोपनिषद (अ० २) में इस प्रकार है—

"पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं। तथा तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं। भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हि इमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथ अस्य अयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिणा।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।

शतं मा पुर आयसीररक्षन् अधः श्येनो जवसा निरदीयमिति।

गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृत समभवत् समभवत्।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है। वह पुरुष में वीर्य रूप से रहता है वह वीर्य सब अङ्गों से शुक्र रूप में उत्पन्न होता है। उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है। जब वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है। यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है। तब वह गर्भ स्त्री के एक अंग के समान हो जाता है इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहीं देता। स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है। उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन योग्य होती है। स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन पोषण करती है। उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है। पिता जो उस कुमार को पालता है एक प्रकार से अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि ये लोक सन्तति द्वारा ही फैलते है, इसलिये यह लोक सन्तति बनी ही रहे। इस प्रकार पुत्र का यह जन्म आत्मा का द्वितीय जन्म है। यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुन. शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है। और इधर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बूढ़ा हो, चल बसता है। यहा से जाकर पुन. वह पैदा हो जाता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इसी प्रकार वेदमन्त्र ने भी कहा है कि—(गर्भे नु सन्विति०)—अर्थात् 'मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये मुझे लोहे के सौ कोट घेरे हुए थे श्येन पक्षी के समान मैं आत्मा बड़े वेग से निकल आया" इति। गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा। वह वामदेव इस शरीर के बन्धन को तोड़कर परलोक में सर्वाप्तकाम होकर अमृत, मुक्त हो गया।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमन्त्र की संगति लगा कर दर्शाई है और आत्मा के अमर होने का और मुक्त होने का सिद्धान्त दर्शाया है। इसी प्रकार अन्य २ मन्त्रों की भी व्याख्या ब्राह्मणों और आरण्यकों में प्राप्त होती है। इस व्याख्या मे दो ध्यान देने योग्य विचार बिन्दु हैं जैसे

(१) सौ लोहे की कोटें (शतं आयसीः पुरः) और (२) बाज के समान वेग से बाहर निकलना। इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्रायः अग्नि और इन्द्र और सोम तीनों देवताओं के विषय में रूपान्तर से आयेगा १०० पुरी ९९ पुरी या ९० पुरी का वर्णन जैसे—

इन्द्र के विषय में—

अया वीती परिस्रव यस्त इन्द्रो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥

(साम० उ० अ० ९।५।१।१)

इन्द्र ने सोम के मद में ९९ पुरियों का विनाश किया है।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥

(साम० उ० अ० १९।१।१।२)

दोनों को शत्रु के ९० पुरी का विनाशक बतलाया है।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

"प्रभूर्जयन्तं महाविपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्॥"

(साम० पूर्व० अ० १।८।२)

उक्त सभी उदाहरणों में पुरों का या परकोटों का विनाश सर्वत्र समान है और संख्या भी ९९, १००, ९० समान ही हैं अतः इन सबकी संगति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषत् ने एक मंत्र की संगति दर्शाकर वेद के ऐसे सभी स्थलों की व्याख्या कर दी है। प्रायः उपनिषत्कारों, आरण्यककारों और ब्राह्मणकारों की पूर्ण ही व्याख्यान शैली देखने में आती है जिससे वेदमन्त्रों की व्याख्यात्मकता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं :

सामवेद के देवता (१)

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्दपर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है। इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबसे अधिक यास्क का निरुक्त है। यास्क लिखते हैं—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति" ।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चित जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है।

(वेदों की ऋचाएं तीन प्रकार की है (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और अध्यात्मिक। परोक्षकृत मंत्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया मे भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है। प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को कह कर क्रिया में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'अहं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है।)

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं—

माहाभाग्याद्देवताया: एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मानोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपिच सत्वानां प्रकृतिभूमभि ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतय. कर्मजन्मानः आत्मजन्मान.। आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य०।" इत्यादि॥

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है। एक आत्मा के ही अन्य देवता अङ्ग प्रत्यङ्ग हो जाते हैं। और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से ऋषियों ने स्तुतियां की हैं। और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से स्तुति की जाती है। उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरेजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं। बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है। परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है। वही उनका रथ है, वही अश्व है, वही आयुध है, वही इषु है, वह सब कुछ केवल परम आत्मा स्वयं है। बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अङ्गों वाला देवता मान कर उनकी स्तुति की है और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दर्शाये हैं जैसे—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ"। और जैसे "'आद्धि इन्द्र पिब च' 'हे इन्द्र खा और पी इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी देवता की स्तुति की है। जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, ग्रावा आदि नामों से भी बहुतसी स्तुतियां है। परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है।

देवता का क्या स्वरूप है इसकी व्यवस्था के लिये निरुक्तकार यास्क का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र और द्यौ में सूर्य। या देवताओं के महाऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं। जहां कर्म पृथक २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहां जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में बांटकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक

दूसरे के उपकारक भी हो जाते हैं। यहां इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये।

और भी स्पष्टता के लिये निरुक्तकार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है। हवि का वहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय। पृथिवी स्थानी देव गण अश्व, शकुनि आदि निघण्टु (अ० ५ ख० ३) में पढ़ दिये हैं अग्नि के संस्तविक देव इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु है। अर्थात् इन नामों में भी अग्नि की स्तुति की गई है।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु (अ० ५, ख० ४, ५) में पढ़ दिये गये हैं। उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है। सब बल कर्म इन्द्र नाम से कहे जाते हैं, इसका कार्य रस का अनुप्रदान करना और वृत्र का वध करना है। अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत कुत्स, विष्णु, वायु आदि इसके संस्तविक देव हैं। तृतीय स्थान के देवता निघण्टु (५, ख० ६) में पढ़े गये हैं। रश्मियों से रस का लेना और धारण करना आदित्य का कार्य है। इसके संस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और संवत्सर हैं।

निरुक्तकार यास्क का यह देवता विभाग केवल भौतिक विज्ञान के वर्णन में ही लागू होता प्रतीत होता है। समाज क्षेत्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या केवल यही है कि "नरराष्ट्रमिव" नरराष्ट्र के समान ही वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये। इस प्रकार उन्हीं देवनामों से यथास्थान राज्यप्रबन्ध, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी वर्णन निकल आयगा। और अध्यात्म वर्णन के लिये यास्क का सिद्धान्त यही है कि 'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एक ही महान् आत्मा की उसके महान् ऐश्वर्य के कारण नानारूप से स्तुति की गई है।

इसीलिये दैवतकाण्ड या ज्ञान या कर्मकाण्ड की व्याख्या कर चुकने पर स्वयं निरुक्तकार ने ऊर्ध्वमार्ग गति या उपासना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है। अथैतदनु प्रवदन्ति अथैतं महान्तमात्मानमेषर्गणः प्रवदति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरिति। यह सब ऋचाओं का समूह उस महान आत्मा का ही वर्णन करता है। इस प्रकरण में यास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक ऋचाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है। इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पर्याय यास्क ने दर्शाय हैं-

हंस। धर्म। यज्ञ। वेन। मेध। कृमि। भूमि। विभु। प्रभु। शंभु। राभु। भुवनम्। भविष्यत्। आप। महत्। व्योम। यश। मह। स्वर्णीकम्। स्मृतीकम्। सतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गह्वरम्। कम्। अन्नम्। हवि। सद्म। सदनम्। ऋतम्। योनि। अमृतस्य योनिः। सत्यम्। नीरम्। हवि। रयि। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हि। नाम। सर्पि। अप। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दु। हेम। स्व। सर्गा। शम्बरम्। अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हि। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आप। पृथिवी। भू। स्वयम्भू। अध्वा। पुष्करम्। सगर। समुद्र। तप। तेजः। सिन्धु। अर्णव। नाभि। वृक्ष। ऊर्ध्व। तत्। यत्। किम्। ब्रह्म। वरेण्यम्। हंस। आत्मा। भवति। बध्नन्त्यध्वानम्। यद् वाहिष्या शरीराणि। अव्ययं च संस्कुरुते। यज्ञ आत्मा भवति। यदेनं तन्वते।

इन हंस आदि उक्त शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है। इसलिये आध्यात्म तत्त्व के खोजक को चाहिये कि वह मन्त्र पर विचार करने के पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपस्थिति को

देखले और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो निःसन्देह मन्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य खुल जाता है। अब हम सामवेद गत देवताओं की संक्षेप से एक २ की आलोचना करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार उपासनाकाण्ड में इन देवताओं की संगति लगती है।

अग्नि (१०)

प्रथम आग्नेय काण्ड है। इस काण्ड भर में अग्नि देवता को लक्ष्य करके ही सब मन्त्र हैं। वह अग्नि क्या पदार्थ है ? इसका विवेचन वेद के सिद्धान्त या आश्रयभाग उपनिषदों में देखिये।

(१) कठोपनिषद् में नचिकेता ने गुरु यम से प्रश्न किया है–

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येपि मृत्यो प्र ब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम्।

आप उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को जानते हो, मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करो। इसके उत्तर में यम ने कहा है।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै॰... । इत्यादि।

काठ० १ । १ । १३ १४ ।

मैं तुमको उसी स्वर्ग देने हारे अग्नि का उपदेश करता हूं। वह अनन्त लोकों को प्राप्त कराता और अनन्त लोकों का आश्रयस्थान है। वह सब लोकों का आदि मूल कारण है।

इस अग्नि का नाम भी 'नाचिकेत' अग्नि ही है।

पाठक समझ सकते हैं यह कौनसी अग्नि है। यह नाचिकेत अग्नि 'नासिकेत' प्राणस्वरूप अग्नि है।

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुनः लिखा है:—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः (क०२।१।८)
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत्।

गर्भिणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती हैं उनके समान अरणियों में जो जातवेदा विद्यमान है, जागने हारे हविष्मान् पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जो अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है। अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है दूसरा पदार्थ नहीं। फलतः, यज्ञोक्त मंत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है। मन्त्रों का तो केवल प्रतिनिधिवाद से यज्ञों में विनियोग किया जाता है। (इस उक्त मन्त्र की स्पष्ट व्याख्या देखिये अवि० सं० ७१) यह वही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसको योगी लोग ध्यान निर्मथन के अभ्यास से साक्षात् देख लेते हैं।

(२) इस रहस्य को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में रखा है।

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ॥
स भूय एवेन्धनयोनिग्राह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥

जिस प्रकार अपने कारण भूत अरणियों में अग्नि की मूर्ति नहीं देख पड़ती और न अग्नि के सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और बाद में भी उसको उसके मूलकारणभूत इंधन से ही मथन द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार दोनों आत्मारूप अग्नि में भी इस देह में प्रणव के मनन से प्रकट होते हैं।

अर्थात्—स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

अपने देह आत्मा को अधर अरणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अरणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगड़ २ कर ज्योतिःस्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिराप. स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

तिलों में तेल, दही में घी, नदियों में जल और अरणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा में ही वह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूतहित, अहिंसा आदि यम, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं। जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को ही मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में छिपाया था। अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि है उसी प्रकार देह में आत्मा है। इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्तत्प्रजापतिः॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सब नाम उसी ब्रह्म परमात्मा के गुण एवं स्वरूपके निदर्शक हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

'अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्करे एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषो ऽग्निर्दिवि श्रितः सोयं कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति ।'
(मैत्रा० ६ । २)

हृदय कमल में स्थित यह अग्नि (आत्मा) है जो अन्न खाता है और वह मोक्षधाम, द्यौः में स्थित कालाग्नि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, लीन कर लेता है।

एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राड् इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निनापिहित सहस्राक्षेण आनन्दमयेनैष वा विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः । (मैत्रायणी उप० ६ । ८)

- वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि ज्योतिः अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होता है।

शिरः पक्षसी पुच्छवृष्टवानेषोऽग्निः । • प्राणो वै वायुः प्राणोग्निः ।…असौ वा आदित्य इन्द्रः सैषोऽग्नि ॥६।३६॥
इन्द्रोऽग्निरिव विश्वरूपः ॥

इत्यादि स्थलों में वह परब्रह्म ही अग्नि शब्द से लिया गया है उपको ही

'तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्य' ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है।

। । प्रश्नोपनिषद् में—

"स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोग्निरुदयते ।"

परब्रह्म की सूर्यरूप से उपासना का वर्णन किया है ।

हम अग्नि के सम्बन्ध में और अधिक उपनिषद् वाक्यों को उठाकर लेख नहीं बढ़ाना चाहते । पाठक स्वयं हमारी दिखाई दिशा से वेदमन्त्रों के भीतर रखे हुए विशेषणों पर विचार करेंगे और यथास्थान उनका आध्यात्मिक तत्व जान लेंगे ।

इसके अतिरिक्त अग्नि के सम्बन्ध में एक बात यह भी लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि वेद में अग्नि शब्द जहां आत्मा और परमात्मा का मुख्य नाम है वहां इसी अग्नि शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा में आचार्य और ज्ञानी विद्वान् के लिये भी आता है । जैसा उपनयन पद्धति में आचार्य बालकका अञ्जलि पकड़कर जल छुड़ाते समय कहा करता है ।

"अग्निराचार्यस्तव असौ" । कस्य ब्रह्मचार्यसि ? भवत. । इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि । अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव ।

पार० का० २, कं० २

ये पद्धतियां प्राचीन वैदिक विशेष परिभाषा–पदों के प्रयोगों की सूचना देती है । हमें उनको भी भुलाना नहीं चाहिये । इसलिये हमारा अधिक बल इस बात पर है कि विशेषणों को देखकर वेदमन्त्र के अर्थ करने चाहिये । निरुक्तकार ने अग्नि का निर्वचन इस प्रकार किया है ।

- अग्नि कस्मादग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति संनममान । अक्नोपनो भवति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते शाकपूणिरित.दक्ताद् दग्धाद्वा नीतात् ॥

अर्थात्—अग्रणी, यज्ञ में प्रथम प्रणयन करने योग्य यज्ञाग्नि, अङ्ग या देह को लेजाने वाला जीव, न गीला होने वाला विद्युत, ज्ञान प्रकाशक आचार्य और दाहक ताप ये सब अर्थ अग्नि के हैं । इन अर्थों को यथास्थान लगाना उचित है ।

इन्द्र (११)

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है। पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक काल्पित स्वर्गका राजा और अपनी देव कथाओं का विशाली पात्र है। परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है। जैसा इस देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इत्यादि विशाल अलकारों से किया जाता है। इसी को 'यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्' इत्यादि अलकारो से ज्येष्ठ ब्रह्म बतलाया है।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है। इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रिया हैं जिनका नाम ही इन्द्र के आधार पर है। पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा
(पा० ५ । २ । ९३)

इन्द्र आत्मा का ज्ञापक लिङ्ग उसका देखा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाते हैं। इसके अतिरिक्त सब कथा कथानकों में प्रसिद्ध पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है। वह भी आलकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा के सम्पन्न, सिद्ध, ऐश्वर्यवान् आदि रूपों को दर्शाया है। दूसरा इन्द्र वह परमात्मा है जिसका वर्णन वेद में स्थान २ पर आता है। जैसे 'इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथ च्छवा' (साम० उत्त० श० १६ । २ ८ । १ ।)

अब यह तो पाठक भाष्य में देखेंगे कि समस्त इन्द्र पर्व इन्द्र विषयक है और उत्तरार्चिक में भी इन्द्र विषयक बहुतसी ऋचाएं हैं।

यहां थोड़ासा उपनिषदों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

(१) ऐतरेय उपनिषद् में—

'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यद् इदमदर्शमिती ३ँ तस्मा दिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया हि देवाः।

वह मुमुक्षु इस पुरुष को ही ब्रह्मरूप से देखता है।

और कहता है 'इदम् अदर्शम्' इससे उस ब्रह्म का नाम 'इदन्द्र' है इसका ही परोक्षरूप 'इन्द्र' है।

बृहदारण्यक में—

इन्धो ह वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष.। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते ४। २। २॥

दक्षिण चक्षु में द्रष्टा रूप से विराजमान आत्मा ही 'इन्ध' है उसको ही 'इन्द्र' कहते हैं, स इन्द्र. स एषोऽसपत्नः (१। ५। १२), यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी (६। ४। २१)। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गल. सपरिश्रमः (६। ४। २२) इन स्थलों पर इन्द्र जीवात्मावाचक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। (१। ४। १) शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। (१। १। १) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। सामवेद उत्तरा० अ० १। ८) इन स्थलों पर इन्द्र शब्द परमात्मावाचक निर्विवाद है।

यहा विवाद योग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द्र के साथ दो तीन विशेष घटनाएं प्राय जुड़ी हैं। एक तो इन्द्र का सोमपान, दूसरा इन्द्र का वज्र से पुर भेदन और तीसरा वृत्रहनन। उपनिषत्कार इनको क्या मानते हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है।

१. सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय को अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र के विषय में गीता में व्यासदेव स्वय भगवान् को ही "आयुधानामहं वज्रम्" सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते है। सब दुःखों के भवबन्धन के छेदन करने द्वारा ईश्वर ही स्वत. ज्ञानस्वरूप सबसे उत्तम वज्र है।

काठक उपनिषद् में-

प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतम्।
य तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति। (६। २)

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है।

क्षुरिकोपनिषत् में-

मनसस्तु क्षुरं गृह्य सुनीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम्।
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम्॥

ज्ञान, ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नाड़ियों के बन्धन को ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है-

द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाड़िषु तैतिलम्।
छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा॥
छिन्देन्नाड़िशतं धीरः प्रभावादिह जन्मनि॥

ये शत नाड़ी ही आयसी पुर हैं, जिनको कहीं ९९ या ९० भी कहा जाता है। इनमें व्याप्त तैतिल=अन्धकार को ही अध्यात्म योगी वृत्र कहते हैं। इसका विवरण स्थान २ पर पाठकगण भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र और वृत्र की कथा की आलंकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि ने

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में स्पष्टरूप से 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' में कर दिया है। उसको पुनः यहां उठाकर रखना पिष्टपेषण होगा।

(१२) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है। याज्ञिक लोगों का सोम एक लता है, जिसके रस पान करने के लिये विशेष विधि है। जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है। सर्ज की छाल, त्रिफला, सूंठ, पुनर्नवा, पीपल, गजपीपल आदि नाना ओषधियों में धान और जौ की खीलें मिला, कूटकर उनको कलश में बंद करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध, मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है। छानने और पान करने की इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता है। उसमें प्रतिनिधि वाद से ही सोम की कल्पना करके सोमदेवताक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। महीधर के काल के सोम सौत्रामणि को देखकर यह कहना कि समस्त सोमदेवताक मन्त्र इसी सुरारूप सोम का वर्णन ही करते हैं यह भारी भूल होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ में रखी यज्ञक्रियाओं की व्याख्या करने का यत्न किया है। उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों को मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय में वह शब्द मन्त्रों में पढ़ा गया है उसको ही वहां खोलकर बतला देते हैं! इस प्रकार ब्राह्मण और ऋषियों के मत से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अध्यात्मपरक हो जाता है। यज्ञकाण्ड को खोलकर दिखाने एक उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्या कर दिखाने के लिए यहां स्थान नहीं और न यहां अवसर है। तो भी ब्राह्मण

कारों ने सोम, सवन के प्रकरण में सोम के जो २ अर्थ किये हैं उनपर पाठकों का ध्यान खींचते हैं।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४।१।३।६) राजा वै सोमः (श० १४।१।३।१२) यदाह गयोऽसि इति सोमं वा एतदाह (गो० पू० ५।१४) सोमो वै प्रजापति (श० ५।१।५।२६) यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्यायति। (गो० पू० ५।१२) यो वै विष्णु सोम स (श० ३।३।४।२१) योयं (वायु) पवते एष सोम (श० ७।३।१।१) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजति। (गो० पू० ५।१३) एष वै यजमानो यत् सोम (तै० १।३।३।५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३।४।१)१०) सोमो वै यशः (तै० २।२।८।८) एषा केवला यत्सोमाहुति (श० १।७।२।१०) प्राणः सोम. (श० ७।३।१।४५) रेतः सोम (ऐ० १३।७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २।७।३।१) एष वै ब्राह्मणानां सभामाह सखा (श० १०।७।१।१०) इत्यादि।

अर्थात्-सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गृहस्थ, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु सम्राट्, क्षत्रिय, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परमात्म का लय, वीर्य और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द से लिए जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम के स्थान २ पर लिये भी गये हैं। प्रकरणों का परिज्ञान मन्त्र के भीतर आये विशेषणों से जाना जावेगा। यदि विशेषण युक्त अर्थ न मानें और यहां सोम के युक्त और अर्थ ही लिये जावें तो यह वेद मन्त्र के साथ बड़ा अन्याय होगा।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उसे पत्थरों से कूटा जाता है और पुनः उसे दशापवित्रनामक वस्त्र से एक द्रोणकलश नामक घट में छान लिया जाता है। द्रोणकलश में जल होते हैं उनको 'वसतीवरी' नामक 'आपः' कहा जाता है। जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको वालों से बना होने के कारण 'अव्या' या 'अव्यय' या 'अव्या वार' शब्द से पुकारा जाता है। उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है। सामवेद के प्रायः बहुतसे मंत्रों में सोम को इस पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है। सायण ने प्रायः बहुतसे मन्त्रों में से सोम के छाने जाने परक कई अर्थ लिये हैं। परन्तु हमने सायणकृत अर्थों की उपेक्षा की है क्योंकि सोमलता और कूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उसमें ऐसे विशेषणों का आना जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकते हमें सायणकृत अर्थों के न मानने के लिये बाधित करता है। उदाहरणार्थ—

जैसे—

पुनान सोम जागृविरव्या वारे परिप्रियः।
त्विप्रोऽभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः॥

(आर्चि० सं० ५११)

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

"हे सोम जागरणशील छाना जाता हुआ तू मेषी=भेड़ के बालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अंगिरों में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमारे यज्ञ को मधु अर्थात् अपने रस से सींच।

सोमरस को अवश्य यज्ञ में भेड़ के बालों से बने कम्बल के टुकड़े से छाना जाता है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उक्त मन्त्र में 'जगृवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी', 'आङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिए सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों से वाक्य बनाया गया है। जिस वाक्य के पदों में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति तीनों हों वही वाक्य कहाता है अन्यथा उन्मत्तप्रलाप है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकांक्षा करते हैं, क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है परन्तु सायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है, इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाक्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न अंगिरसों में श्रेष्ठ है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है कि इसका सामर्थ्य क्या है (देखिये आलोकभाष्य पृष्ठ २५७) 'अंगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके ऋषि द्रष्टा सप्तर्षि हैं। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात ऋषियों को शिर के सात प्राण बतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्त्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सात मूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अंगिरा=अंग के रसरूप मुख्य आसन्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अंगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान ! हे 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रियां थक २ कर सो जाती हैं परं प्राणात्मा कभी नहीं सोता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, श्वास न चले। वह सांस चलाने के लिये उस समय प्राणरूप में जागृत रहता है, वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है, मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा (प्रियः) सबसे अधिक प्रिय और सबका पोषक है।

उपनिषद् कहती है—"न ह वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति"।

स्त्री भार्या होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रत्युत अपने लिये ये या जाया प्रिय हैं। फलतः यह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय हे सोम ! सब के प्रेरक ! तू (मध्वः धारे) [illegible] मधु की धारा, अर्थात्

अवि के बाल ? भेड़ के बाल नहीं, प्रत्युत अवि=चितिशक्ति, जो सब अंगों को रक्षा करती है, या अवि=प्राण, उसके वरण=व्यापार प्रवृत्ति इन द्वारा (पुनानः) परिष्कृत होता हुआ (न. यज्ञ मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को अमृत अर्थात् चैतन्य से सींच।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात असंगत नहीं रहगई। इसी प्रकार साधक आत्मा के प्रति यह उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति के संचारों और प्राण के निरोधों द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्रणिधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-घन का दर्शन करे। इसमें कोई खींचातानी की बात नहीं है। स्पष्ट २ विशेषणों के बल से यहां सोमशब्द आत्मापरक है।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं। महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है।

जैसे—

सोमः पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्या।
(अधि० सं० ५२७)

सोम मतियों का उत्पादक, द्यौ का उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है। यह तत्वार्थ सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये यास्क लिखते हैं—

'अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति"

अर्थात् ये ऋचाएं महान् आत्मा का वर्णन करती हैं। इसी को जी-वात्मापरक भी लगाया है। लिखते हैं—

"अथाध्यात्मं। सोम आत्माऽप्येतस्मादेव। इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे।"

अर्थात्, अध्यात्म पक्ष में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह (मतीना) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इस प्रकार आत्मा की गति कही है।

ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां "सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।
(ऋ० ८। ९६। ६)

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पक्ष में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सब रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृध्राणां', "महिषो मृगाणां" इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "घर घराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पड़कर छन आता है' यह अर्थ हुआ और बाक़ी विशेषण सब असगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

"महिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां। श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मण। गृध्राणि इन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः, यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति।"

अर्थात् मृगों में महिष अर्थात् मार्गण करने वाली, विषयों को ढूंढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सबसे बड़ा और गृध्रों में श्येन अर्थात् बाज, के समान, गृध्र अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में से श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न यह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में देव, कवि, विप्र और वन ये सब नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न २ गुण दर्शाते हैं। उनमें यह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, वह पवित्र अर्थात् इन्द्रियगण पर हो। (रेभन्) स्तूयमान अर्थात् प्रशंसित होकर उत्तम रूप से (अत्येति) अधिक वश शाली होकर उनका भोग करता है, इस प्रकार।—

'सोमं गावो धेनवो वावशाना.० ॥ अक्रान्त्समुद्र'०
'''वृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दु ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकार० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही यास्क मुनि ने माने हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

'समुद्र आत्मा', 'इन्दुरात्मा' ।

समुद्र और इन्दु दोनों शब्दों का अर्थ आत्मा है ।

जब यास्क जैसा मुनि हमें सोमदेवताक मन्त्रों को आत्मा के वर्णन में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना काण्ड के परम वेद सामवेद के पावमान काण्ड एवं सोम सूक्तों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इस विषय पर कुछ उपनिषदों के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य हैं जिनको हम क्रम से देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदयार्चन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

"विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।"

यहां आत्मा को ही 'सोम' कहा है । इसी प्रकार—

"सोमसंज्ञोऽयं भूतात्मा,'

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

"अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । तदरश्च ह वै ण्यश्च अर्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरमदीयं सरस्तदश्वत्थ सोमसवनं तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥"

(छा० ८ । ५ । ३)

अर्थ—यह जो 'अनाशकायन' और 'अरण्यायन' कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि क्षुधा पर वश करके और अरण्य

वास में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक मे 'अर' और 'ण्य' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय द्यौ, स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सर' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहा सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह ऐरंमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहा 'सर.' ताल या रसमय मोक्षपद हैं। वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है। यह सब आलकारिक वर्णन है। इसी प्रकार--

"तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन"

(छान्दो० ३ । ६ । १)

यहा सोम का अर्थ प्राण है।

"आर्द्रं उद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः।"

यहा सोम का अर्थ वीर्य है। मुण्डक में "सोमात्पर्जन्यः" (१।१४) यहा सोम का अर्थ सूर्य है। "यास्ते सोम प्राणास्तां जुहोमि" (महानारायणोप० १७ । ६) यहा सोम का अर्थ आत्मा है।

'सोमं पिब वृत्रहन्' (महानारायणोप० २०२) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। "अपाम सोममसृता अभूम" यहा आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है "सोमो भूत्वा रसात्मक" (गीता) यहा सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी देखिये। 'सोमपा अभयङ्कर." (महानारा० उप० २० । ४) यहा सोम का अर्थ समस्त ससार है। उसका पालन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने द्वारा परमात्मा 'सोमपा' शब्द से कहा गया है। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा.' तीनों वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष 'सो-

मपा' शब्द से कहे गये हैं। इसी प्रकार ' इन्द्रिय सोमपीथ ' (तै० १ । ३ । १० । २) यहां इन्द्रिय को सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने हारा कहा है। "समिधं सोम्याहर" हे सोम्य ! शिष्य ! समिधा ले आओ। इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी सोम्य कहे गये हैं । ब्रह्मविदिव भासि (छा० उप० ४ । ९ । २) सोम्य यहां भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है। उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है। गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा। इत्यादि प्रयोग हैं।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों को देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये । विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मन्त्रों पर विचार करें।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी हैं। यह उषा देवता क्या पदार्थ है इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आग्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोला है वहां देखलें।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है। वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है। जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है। परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने हारे भावुक ही रहे हैं, अस्तु।

(१४) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठकों को इस भाष्य की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में भी दो एक बात कहना चाहते हैं। वेदमन्त्रों की भाष्यशैली बहुत सरल रक्खी गई है। जहां तक हो सका है वेद के प्रत्येक पद को पृथक् २ कोष्ठों में रखकर धातुज अर्थ को दर्शाते हुए मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र आदि विशेष देवता वाचक शब्दों को प्राय. यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़ने से ही उसका सरल अर्थ आप से हो आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण ग्रन्थों के उद्धरण देकर भावार्थ भी दर्शाया गया है। जिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उनको टिप्पणी देकर प्रमाणित भी किया गया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ अन्य वेदसंहिताओं के जहां पाठभेद टिप्पणी में दिये गये हैं वहां प्रत्येक मन्त्र के साथ२ अन्य वेद की प्रतीक भी देदी है।

(१५) सामवेद के प्रतीक संकेत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानाम्नी आर्चिक है। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं (१) आग्नेय काण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पवमान काण्ड और (४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ प्रपाठक में बंटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनको पाच अध्यायों में बांटा गया है। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में खण्डों का विभाग है। परन्तु अर्ध प्रपाठक के विभागों में भी दशतियों की संख्या बराबर आगे चलती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को हमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ६ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों के भी अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नहीं है। प्रत्युत सूक्तों का विभाग है। कई संहिताओं में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की संख्या अलग २ करदी है। इसलिये प्राय, सामवेद के मन्त्र की प्रतीक (पूर्वा०, प्र०, अर्द्ध०, प्र०, दश०, म०) इस रीति से दर्शाते है।

अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आलोक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जो चक्षुष्मान् शास्त्रालोचक धीमान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दीपकालोक के समान है। यद्यपि नाना विद्यासूर्यों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक नगण्य है, तो भी उनके अभाव में दीपकालोक भी लोचनों के लिये पर्याप्त आश्रय है। मार्गमात्र दर्शा देने का प्रयोजन ही इस आलोक से सिद्ध हो सकता है। गभीर गुहागत तत्त्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूर्यालोक की आवश्यकता है। पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए इस तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन में यदि कुछ त्रुटि भी हो गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असंगत नहीं, प्रत्युत बालक के गिरने के समान वह भी शोभा ही है। मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विज्ञगण मेरी त्रुटि देख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात है जो मुझे नहीं ज्ञात है। उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊंगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जनाकर महानुभावता प्रकट करें। जिससे अगला संस्करण और भी गुणसम्पन्नरूप में प्रकाशित हो। और यदि केवल अपना पाण्डित्य दिखाने के भाव से या, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रलाप करेंगे और गुणग्रहण की अपेक्षा दोषग्रहण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का वश नहीं और न उससे कोई सत्फल ही प्राप्त हो सकेगा। हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मनागच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥ इति शिवम्।

केसरगज
अजमेर

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार,
मीमांसातीर्थ

ग्रन्थ संकेत सूची

ऋग्वेद=ऋ०
यजुर्वेद=यजु०
सामवेद=साम०
अथर्ववेद=अथर्व०
ऐतरेय ब्राह्मण=ऐ० ब्रा०
कौषीतकी ब्राह्मण=कौ०
शतपथ ब्राह्मण=श० ब्रा०
तैत्तिरीय ब्राह्मण=तै० ब्रा०
जैमिनीय तलवकार उपनिषद्=जै० उ०
गोपथ पूर्वभाग=गो० पू०
,, उत्तरभाग=गो० उ०
सायण=सा०
सत्यव्रतसामश्रमी=स० सा०
महर्षिदयानन्द=०द०
उणादि=उणा०
देवराजयज्वा=दे० य०
गीता=गी०
उपनिषद्=उप०
छान्दोग्य=छान्दो०
दुर्गाचार्यटीका=दु० टी०
निघण्टु=नि०, निघ०
निरुक्त=नि० निरु०
षड्विंश=ष०

द्वितीय संस्करण की भूमिका

वेद जैसे गम्भीर विषयों पर लिखे गये विशाल ग्रन्थों को खरीदने और पढ़ने की प्रवृत्ति जनता में बहुत कम है। इस कारण मुझे यह भी आशा नहीं थी कि इस भाष्य का द्वितीय संस्करण मुझे मेरे अपने इस जीवन में ही देखने का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु गुणग्राही सज्जनोंने मेरे प्रयास का बहुत आदर किया। और दो वर्ष के भीतर ही भीतर सामवेदभाष्य का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। तो भी वेद भाष्य के सहस्रों ग्राहक उसको लेने के लिये उत्सुक हो रहे हैं वे आर्य साहित्य मण्डल के कार्यालय में निरन्तर सामवेदभाष्य का तकाजा करते ही रहते हैं। इसी प्रयोजन से सामवेद भाष्य का द्वितीय संस्करण भी शीघ्र ही छापना पड़ा।

इस अवसर पर मुझे अपने सामवेदभाष्य को पुनः दोहरा लेने का उत्तम अवसर प्राप्त हुआ। मेरे विद्वान् मित्रों ने तथा कुछ महानुभाव उदार वेदज्ञ विद्वानों ने अपने उदार स्वभाव से ही मेरे भाष्य की प्रकाशन, मुद्रण, प्रूफ संशोधन आदि की नाना छोटी मोटी त्रुटियाँ दर्शाई थी। उसके अतिरिक्त अनेक भी त्रुटियां मुझे स्वयं उसमें प्रतीत हुई उन सब त्रुटियों को इस संस्करणमें दूर करने का यत्न किया है। मैं उन मित्रों और महानुभावों को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने अपने श्रम से मुझे मेरी त्रुटियां दर्शाकर अपनी महानुभावता प्रकट की है। और आगे भी समस्त विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे बराबर मुझे मेरी त्रुटियां और अपने विशेष २ वेद विषयक बहुमूल्य विचारों से सूचित करते रहें, जिससे उत्तरोत्तर संस्करण उनके विचारों से समृद्ध और परिमार्जित होते जावें।

केसरगंज, अजमेर
माघसुदी दशमी, १९८७ वि०

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

भूमिका विषय-सूची

सामवेद-सूची

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् (१—६१)

ऐन्द्रकाण्डम् (६१—२३५)

पावमान काण्डम् (२३५—२६४)

आरण्यकं काण्डम् (२६४—३२२)

महानाम्न्यार्चिकः (३२२—३२७)

उत्तरार्चिकः

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

पूर्वार्चिकः (छन्द आर्चिकः)

आग्नेयं काण्डम्

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्द्धः

प्रथमोऽध्यायः

परमेश्वर की स्तुति

॥ द० १ ॥ १, ३, ४, ७, ९ भरद्वाजने बार्हस्पत्य॰ । २ मेधातिथिः काण्व॰ । ५ उशनाः । ६ सुदीतिपुरुमीढौ । ८ वत्स काण्व॰ । १० वामदेवः ॥ गायत्रीछन्दः ॥

[१] अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥ ऋ० ६ । १६ । १० ॥

भा०—हे अग्ने परमात्मन् ! (वीतये[1]) सर्वत्र प्रकाशक और व्यापक होने और (हव्यदातये) हव्य अर्थात् दान और भोग योग्य पदार्थों के प्रदान करने के लिये आप (आ याहि) प्राप्त हों । आप (गृणान[2]) स्तुति करने

१—१ वीतये—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।
२. गृणान॰—गृ स्तुतौ । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ।

योग्य, (होता[3]) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान (बर्हिषि[4]) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्माण्ड में (नि सत्सि) विराजमान हैं।

[२] त्वमग्ने यज्ञानाᳬहोता विश्वेषाᳬ हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) यज्ञों, देव उपासनाओं का (होता) स्वीकार करने वाला होकर और (देवेभिः[1]) देवों, विद्वानों द्वारा (मानुषे जने) मनुष्य जनों में, यज्ञ में अग्नि के समान (हितः) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है।

[३] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम (विश्ववेदसम्[1]) सर्वज्ञानी, सर्वधनी, सर्वेश्वर, (होतारम्) होता, सर्वप्रद, (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ, ब्रह्माण्ड के (सुक्रतुम्[2]) सुक्रतु, उत्तम कर्त्ता, विधाता और ज्ञाता (अग्निं) अग्नि को (दूतं[3]) दूत अर्थात् उपास्यरूप से (वृणीमहे) वरण करते हैं। इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये।

---

३ होता—दाता । आहाता, बुलाने वाला । ईश्वर सबको अपने पास बुलाता है। और संसार में सबको खाने और परोपकार करने के लिये पदार्थ भी देता है।

४ बर्हिषि—बर्हि यज्ञः, अन्तरिक्षम्, उदकम्, आसन, कुश ।

२—१. देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीतिवा । निरु० ।

३—१ वेदम् वेत्तेरसुन् औणादि । विद् ज्ञाने । वेदो धन । नि० ३ । २ । १० ॥

२, क्रतु कर्मनाम । नि० २ । १ । प्रज्ञानाम च । नि० ३ । ६ ॥

३ दूः । दवतेरौणादिकः क्तः । दुनोति गच्छति उपतपति वा स दूतः, बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा । द० उ० ।

[४] अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्‌द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । ३४ ॥

भा०—(विपन्यया) विशेष स्तुति द्वारा (द्रविणस्युः [1]) उपासकों के द्रव्य, बल और भक्तिभाव को स्वीकार करने वाला 'अग्नि', परमेश्वर (समिद्ध) चमकता हुआ, (शुक्र) शुद्ध, कान्तिमान् (आहुत.) भली प्रकार से स्तुति किया या स्मरण किया हुआ (वृत्राणि [2]) आत्मा को घेरने वाले पापों को, विघ्नों को और अन्धकारों को (जंघनद्) नाश करे ।

[५] प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ८४ । १ ॥

भा०—(वः) तुम्हारे (प्रेष्ठम्) सब से अधिक प्रिय, (मित्रम् इव प्रियम्) मित्र के समान प्यारे, (अतिथिम् [1]) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की (स्तुषे) स्तुति करता हूं । हे अग्ने ! प्रकाश-स्वरूप ! तू (रथं न वेद्यम् [2]) रथ के समान समस्त पदार्थों को प्राप्त कराने-हारा, या रस के समान अनुभव वेद्य है ।

[६] त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अराते ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ७१ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (त्वं) तू (नः) हमें (विश्वस्याः) समस्त प्रकार के (अरातेः) सुख न देने वाले मनुष्य से (महोभिः)

४—१ छन्दसि परेच्छायां क्यच् । द्रविणमिति बलनाम (नि० २ । ९) धननाम पदनाम च (नि० २ । १०)

२ रक्षः प्रभृतीनि, तमांसि वा । सा० । शत्रुकुलानि । मा० वि० ।

५—' अग्निम् ' इति पाठभेदः, ऋ० ।

२ ' अतेरिथिन् ' अतिथिः । अभ्यतितो गृहान् इति । नि० ।

उत्तम सुखसाधनों, धनों द्वारा (पाहि) पालन कर, बचा । (उत) और (द्विषःमर्त्यस्य) द्वेष करने वाले मनुष्य से भी (पाहि) बचा ।

कंजूस स्वामी जो भृत्यों और प्रजाओं का भाग उनको न दे और द्वेषी जो क्रोध या वैर से दूसरे को दण्ड दे, उन दोनों से रक्षा की प्रार्थना है ।

[७] एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । १६ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (एहि उ) आ । (ते) तेरे लिये (इत्था[1]) इस प्रकार की वैदिक सत्य वाणियां और (इतरा[2] गिरः) उनसे दूसरी लौकिक, या देववाणी से अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में (ब्रवाणि) कहता हूं । (एभिः इन्दुभिः) इन परम ऐश्वर्यों से तू (वर्द्धासः) महिमा में बड़ा है ।

ईश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बड़ा है और सब वाणियें उसकी ही स्तुति करती हैं ।

[८] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ११ । ७ ॥

भा०—(वत्सः[1]) तेरे पुत्र के समान स्तुतिकर्ता उपासक (ते मनः[2]) तेरे मनन करने योग्य सत्यज्ञान को (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट स्थान से (आ यमत्) वश करता, प्राप्त करता है । हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! (त्वा कामये) मैं तुझे ही चाहता हूं ।

अन्तरात्मा में साक्षात् ब्रह्म से मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है और ईश्वर के प्रति प्रेम प्रकट करता और उसे चाहता है ।

७—१ 'इत्था' इति शब्दे [illegible] । [illegible] । मा० वि० । [illegible] [illegible] । [illegible] ।

२ इतराः न [illegible] । मा० वि० ।

८—१. [illegible] ३ । ३ पा० २ । ६२ । २. मन ज्ञाने ([illegible])

[९] त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप [1] (त्वाम्) तुझे (अथर्वा [1]) अहिंसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् (विश्वस्य वाघत.) समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले (मूर्ध्न.) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च (पुष्करात् अधि) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाले तेरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही (निर्-अमन्थत) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुझे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतये महे ।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! (अस्मभ्यम्) हमारी (महे, ऊतये) बड़ी रक्षा के लिये (विवस्वद्) विशेष सुखपूर्वक निवास योग्य ऐश्वर्य से युक्त, गृह, यज्ञ आदि को (आभर) प्राप्त करा । क्योंकि (न.) हमारे (दृशे) देखने और मार्ग दिखाने के लिये (देव हि असि) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशति । प्रथम खण्ड. ।

॥ २ ॥ १ आयुङ्क्ष्वाहिः । २ वामदेव' । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्दा. । ५, ७ शुन शेप । ६ मेधातिथि काण्व । १० वत्स. काण्व । गायत्री छन्द ॥

[११] नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ७५ । १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे (देव) देव [1] (कृष्टयः [1]) मनुष्य (ते) तुझे (ओजसे [2]) बल के लिये (नम' गृणन्ति) नमस्कार कहते हैं । तू

११—१. कृष्टिरिति मनुष्यनाम। नि० २।३॥ २. ओज इति बलनाम। नि० २।९।

(अमैः[3]) यत्नों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्दय) पीड़ित कर। भक्त भगवान् से आज्ञा मांगते और वन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों।

[१२] दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ २ ॥ ऋ० ४।८।१॥

भा०—हे अग्ने! प्रकाशस्वरूप! (विश्ववेदसम्) समस्त धनों के स्वामी, समस्त ज्ञानसपन्न (हव्यवाहम्) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) कभी न मरने वाले, अमृत (दूतम्) दूत के समान परोपकारी सर्वोपास्य, (यजिष्ठम्) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सबसे बड़े उपास्य (वः) तुमको मैं (गिरा) वेदवाणी द्वारा (ऋञ्जसे[1]) अपने अनुकूल करता हूं, आपकी साधना करता हूं। अथवा हे मनुष्यो! (वः दूत) आप लोगों के उपास्य, सर्वेश्वर, अमृत रूप देवकी वाणी से (ऋञ्जसे) स्तुति करता हूं।

[१३] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ ऋ० ८।१०२।१३॥

भा०—हे अग्ने! (हविष्कृतः) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की (जामयः गिरः) वाणियां, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उत्पन्न होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, (देदिशतीः) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई (वायो) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तेरे ही (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) पहुंचती हैं, तुझ में ही घटती हैं।

[१४] उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ ४ ॥ ऋ० १।१।७॥

---

३. रोगैर्नलैर्भर्वैर्वा। मा० वि०।

१२—१ ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। नि० ४।३।

भा०—हे अग्ने ! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा वस्त.) साय प्रात., दिन रात (वयम्) हम सब लोग (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा और कर्म द्वारा (नमो भरन्त.) नमस्कार करते हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए (त्वा) तुझको (एमसि) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे (जराबोध) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! (विशे विशे) प्रत्येक प्रजा के हित के लिये (तत् विविड्ढि) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहां लोग (यज्ञियाय) यज्ञ, आत्मा के योग्य हितैषी, उपास्य, (रुद्राय) दुष्टों को दण्ड करके रुलाने वाले तुझ ईश्वर के लिये (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तुति पाठ करते हैं ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्त्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाती है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन् ! आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य के उस हृदय में प्रकट हों । फलतः, डर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लोग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १९ । १॥

भा०—हे अग्ने ! तू (त्यं) उस (चारुम् अध्वरम्) सुन्दर, हिंसा-रहित यज्ञ अमर आत्मा की (गोपीथाय) रक्षा करने के निमित्त (प्र हूयसे) पुकारा या याद किया जाता है । तू (मरुद्भि.) विद्वानों द्वारा या प्राणों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में (आ, गहि) प्रकट हो ।

[१७] अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २७ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (वारवन्तं अश्वं न) कष्ट निवारण के साधन रूप बालों से युक्त अश्व के समान (वारवन्त) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीप्तियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न और (अध्वराणां सम्राजं तं) हिंसा रहित धर्म कार्य, यज्ञों के महान् सम्राट, उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुम्फ (अग्नि) अग्नि, प्रकाशस्वरूप ईश्वर को (नमोभिः) हृदय के विनयों द्वारा (वन्दध्यै) वन्दना करते हैं।

[१८] और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—(समुद्रवाससम्) समुद्र, आकाश में व्यापक (शुचिम्) शुद्ध (अग्निम्) अग्नि, ईश्वर को (और्वभृगुवत्, अप्नवानवद्) और्वभृगु पृथ्वी के गर्भगत और अप्नवान अर्थात् ओषधि रसों में विद्यमान अग्नि के समान (आहुवे) स्मरण करता=जानता हूं।

'और्वभृगु' अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह कर समस्त पदार्थों को अपने ताप से भर्जन करती और पकाती है। 'अप्नवान' अग्नि रसों और ओषधियों में शान्त भाव से रहती है और रस, अम्ल क्षार रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त ब्रह्माण्ड में सामर्थ्य रूप में जानना चाहिये।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—(अग्निम्) अग्नि, प्रकाशस्वरूप ईश्वर को (मनसा) हृदय से (इन्धान) प्रकाशित करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियम्) बुद्धि

१८—[illegible] निरुक्त [illegible], नि० १ । १
१९—[illegible] ऋ० ।

या कर्म को (सचेत) प्राप्त हो। (विवस्वभिः) सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं (अग्निम्) उस प्रकाशक रूप ईश्वर को (इन्धे) हृदय में प्रज्वलित करता हूं।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधारें, उत्तम विद्वानों के संग से ईश्वर का ज्ञान करें।

[२०] आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥ १० ॥ ऋ० ८। ६। ३० ॥

भा०—(परः दिवि) द्यौलोक से भी परे अति अधिक दूर (यत्) जो सूर्य (इध्यते) प्रकाशमान है। (आत् इत्) और (वासरम्) दिन को प्रकाश करने वाले जिस (ज्योतिः) सूर्य को लोग (पश्यन्ति) देखते हैं वह भी (प्रत्नस्य) अति प्राचीन आदिकाल के परम (रेतसः) वीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही (ज्योति) तेज है।

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (कठ उप० २। १५)

इति द्वितीया दशतिः। द्वितीयः खण्डः।

॥ द० ३ ॥ १ प्रयोगः। २, ५, ६ भरद्वाजः। ३, १० वामदेव। ४, ६ वसिष्ठः। ७ विरूप। ८ शुनःशेपः। ९ गोपवनः। १० वामदेव। ११ कण्वः। १२ मेधातिथिः। १३ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीप अम्बरीषः, त्रुन आप्त्यो वा। १४ उशनाः काव्य। गायत्री॥

[२१] अग्नि वोवृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ ऋ०। १०२। ७ ॥

भा०—प्रयोग ऋषि। (वः) तुम्हारे (अध्वराणाम्) यज्ञों या हिंसा रहित परोपकार के कार्यों के (नप्त्रे) बन्धु, सहायक (सहस्वते) बल-

शाली, (वः वृधन्तम्) तुमको बढ़ाने वाले, (पुरूतमम्) सब से श्रेष्ठ, इन्द्रियों के स्वामी, अन्तरात्मा के समान (पुरूतमम्) और महान् लोकों के स्वामी (अग्निम्) अग्नि परमेश्वर को (अच्छा) सब से श्रेष्ठ जानो ।

[२२] अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यꣳसद्विश्वं न्यात्रिणम् ।
अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । २८ ॥

भा०—(अग्नि.) अग्नि अग्रणी राजा के समान, ईश्वर (तिग्मेन, शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेज से (विश्वम्) समस्त (अत्रिणम्) प्रजा के धन और प्राण खाजाने वाले दुष्टों को (नि यसत्) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है । और वही (अग्नि.) अग्नि, परसतापक (न) हमें (रयिं) धन और सुखमय जीवन (वंसते[1]) देता है,

[२३] अग्ने मृड महाꣳ असय आ देवयुं जनम् ।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥ ३ ॥ ऋ० ४ । ९ । १ ॥

भा०—हे अग्ने । परमेश्वर तू (मृड) हमें सुखी कर । (महान् असि) तू बड़ा है । (देवयुम्) विद्वान् और देव के प्रिय (जनं) पुरुष को (अय[1]) तुम प्राप्त होते हो । और (बर्हिः) यज्ञ, उपासना में (आसदम्) उपस्थित होने के लिये (इयेथ) आते हो ।

[२४] अग्ने रक्षा णो अꣳहसः प्रति स्म देव रीषतः ।
तपिष्ठैरजरो दह ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । १५ । १३ ॥

२२—'वनते' इति ऋ० ।

२३—'असयः' इति ऋ० ।

२४—'प्रति ष्म' इति, ऋ० ।

भा०—हे (देव) उपास्य देव प्रभो ! हे (अग्ने) हे अग्ने ! स्वप्रकाश ! (नः) हमें (अंहसः) पाप और पापी (रीषतः) हिंसक शत्रु से (रक्ष) रक्षा कर, बचा और (अजरः) कभी हीनबल न होने वाला तू (तपिष्ठैः) तपाने वाले तेजों शस्त्रों से उसको (प्रति दह स्म[1]) भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! (ये) जो (ते) तेरे (साधवः) साधु स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले (अश्वासः) अश्व के समान इन्द्रियां, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको (युङ्क्ष्व) लगा, योगाभ्यास में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, (आशवः) हरएक कार्य में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने वाले साधक (अरम्) पर्याप्त उत्तम रूप से (वहन्ति[1]) ज्ञान और उत्तम कार्य के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुंचाते हैं ।

[२६] नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १५ । ७ ॥

भा०—हे (नक्ष्य) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पति ! हे (आहुत !) सब से पुकारे और बुलाये और याद किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे (अग्ने) अग्ने ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (सुवीरम्) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा (वयम्) हम (धीमहे[1]) ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

२५—१ 'युक्ष्वा', 'वहन्ति मन्यवः' इति ऋ० ।

२६—१. 'देव धीमहि' इति ऋ० ।

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (मूर्धा) सब का शिरोमणि, (दिव ककुत्) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन करने वाला, आश्रय और (पृथिव्या पति) पृथिवी का पति स्वामी है। वही (अपाम्) सब लोकों के (रेतांसि) बीजभूत समस्त स्थावर और जंगम प्राणियों को (जिन्वति) तृप्त करता है, जीवन देता है।

[२८] इम स्तू पु त्वमस्माकꣳ सनिं गायत्रं नव्यांꣳसम्।
अग्ने देवेषु प्र वोच ॥ ८ ॥ ऋ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (नव्यासम्) नवीन सम्पन्न अति स्तुत्य (सनिम्) अन्न आदि के समान सेवनीय (अस्माकम्) हमारे (गायत्रम्) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एवं छन्द, ज्ञान को (देवेषु) देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में (प्र वोच) उत्तम रूप से कह, प्रकट कर।

[२९] तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! (तं, त्वा) उस पूर्व प्रकारसे स्तुत तुझको (गोपवन) वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरुष (गिरा) अपनी वाणी से (जनिषद्) प्रकट करता है। हे (अंगिर) प्रकाशस्वरूप या अंगों में रस या बल के समान विद्यमान अग्ने ! हे (पावक) मल आदि से पवित्र करनेहारे ! (स) वह तू हमारी (हवम्) स्तुतिको (श्रुधि) श्रवण कर।

[३०] परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥ ऋ० ४ । १५ । ३ ॥

२८— अस्मभ्यम्' इति नवीयसम् इति' तै० ।

२९—'य हा' इति ऋ० ।

भा०–(वाजपति.[1]) बल, वीर्य, अन्न, ज्ञान का स्वामी (कवि[2]) क्रान्तदर्शी, मेधावी (अग्नि) अग्नि, परमेश्वर (दाशुषे) दान करनेवाले को (रत्नानि) रमणीय पदार्थ, (दधत्) देता हुआ, (हव्यानि) हवन करने योग्य पदार्थों और भक्तिपूर्वक स्तुति वचनों को (परि अक्रमीत्) स्वीकार करता है।

[३१] उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥ ऋ० १ । ५० । १ ॥

भा०–(केतवः[1]) ज्ञान करने, करानेवाले रश्मियों के समान प्रज्ञाएं या विद्वान्‌गण (सूर्यं) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक उस सविता, (जातवेदसे) सब पदार्थों के जाननेहारे या वेदों के मूलकारण (त्यं उ) उस (देव) परमात्मा देव को ही (उद् वहन्ति) धारण करते हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दृशे) देख ले, जान ले।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का मूलकारण और सब प्राणियों का प्रेरक सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सब उसको जानलें और उसके दिये ज्ञान से स्वयं भी सब कार्य व्यवहारों को जानें।

[३२] कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ ऋ० १ । १२ । ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू उस (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सर्वज्ञ (अध्वरे सत्यधर्माणं[1]) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले (देव) दिव्यगुणों से युक्त दाता (अमीवचातनं) दु खदायी रोगों का नाश करने वाले

३०—१. वाज इत्यन्ननाम, (नि० २ । ७ ।) २. कविरिति मेधाविनाम, (नि० ३ ॥ १५ ।)

३१–१. केतुरिति प्रज्ञानाम । नि० ३ । ६ ॥

३२–१. सत्यकर्माणं । मा० वि० ।

(अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (उपस्तुहि) दत्तचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३] शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।
२उ ३ १ २
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥ ऋ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (देवी) दिव्य गुणों से युक्त जल (अभिष्टये[1]) हमारे अभिलषित सुख कार्यों के लिये (शम्) सुखकारी, कल्याणकारी हों । (नः, पीतये, शम्) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होकर ही (अभिस्रवन्तु) सब ओर से बहें और सुखों की वर्षा करें[1] ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २
[३४] कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[प्रश्न] हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! तुम (नूनम्) निश्चय से (कस्य) किसके (धियः) कर्मों और स्तुतियों और मनः सकल्पों को (परीणसि) बहुधा (जिन्वसि[1]) पूर्ण करते, स्वीकार करते हो ? [उत्तर] (यस्य) जिसकी (ते गिरः) तेरे निमित्त प्रकट हुई वाणियां (गोषाता) अपनी इन्द्रियों को वश करने के लिये है ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने के लिये ईश्वर-स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

३३—१ 'आपो भवन्तु' इति ऋ० । १. अभिगमाय, अभिगमन स्नानादिभिस्तत्पुनरासेचनम्, । मा० वि० ।

३४—१ 'परिणसः', 'दम्पते' इति च ऋ० । १. परीणसि इति बहुनाम, (नि० ३ । १)

॥ ४ ॥१, शयुर्बार्हस्पत्य: ३ शयुस्तृणपाणिर्वा । २ भर्ग प्रागाथ: । ४ वसिष्ठः ॥ ५ भर्गः प्रागथो भरद्वाजो वा । ६ प्रस्कण्व. काण्व ॥ ७ तृणपाणि. । ८ विरूप । ९ शुनःशेप. आजीगर्तिः । ८, ९ भर्ग. प्रागाथोवा । १० सोभरि: काण्वः । बृहती ॥

[३५] यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥
ऋ० ६ । ४८ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (च) आप लोग (दक्षसे) बलशाली, सर्वशक्तिमान् (अग्नये) अग्नि परमेश्वर की (यज्ञा यज्ञा[1]) प्रत्येक यज्ञ में और (गिरा गिरा च) प्रत्येक वेदवाणी से गुण कीर्तन करो । (वयम्) हम भी (अमृतं) उस अमृत, मृत्यु से रहित (जातवेदसम्) वेदों के एकमात्र उत्पन्न करनेहारे, सर्वज्ञ, परमेश्वर को (प्रिय मित्र न) प्रिय मित्र के समान (प्र शंसिषम्) कीर्त्तन करते हैं ।

[३६] पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥
ऋ० ८ । ६० । ९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (एकया[1]) एक वेदरूप वाणी से (नः पाहि) हमारी रक्षा करो, पालन करो । (उत) और (द्वितीयया[2]) दूसरी वेदमयी वाणी से (पाहि) पालन करो । (तिसृभि[3]) तीनों (गीर्भिः)

३५–१ सुपांसुलुग् इति सप्तम्याः लुक् (पा० ७ । १ । ३९) वीप्सायां द्विर्वचनम् ।
३६–१ 'ऋग्-लक्षणया' इति मा०, वि० ।
२ यजुर्लक्षणया मा० वि० ।
३, ऋग्यजु. सामलक्षणाभि: इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से (पाहि) पालन कर । हे (ऊर्जाम्पते) सब अन्नों और बलों के अधिपते ! हे (वसो) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! (चतसृभि.[४]) चारों वेदवाणियों से (पाहि) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान, क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् २ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय है ।

[३७] बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ रेवत्पावक दीदिहि ॥ ३ ॥
ऋ० ६ । ४८ । ७ ॥

भा०—हे (देव) ज्ञानादि गुणसम्पन्न ! (यविष्ठ) सब से महान् युवतम ! सब से अधिक यौवन सम्पन्न, कभी निर्बल न होने वाले, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप हे (रेवत् !) समस्त धनों के स्वामी हे कान्तिमन् ! हे (पावक) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले ! तू (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) तेज से (भरद्वाजे) ज्ञान और बल वीर्य को धारण करने वाले पुरुष में (समिधान) विशेष रूप से प्रदीप्त होते हुए (बृहद्भिः) बड़े (अर्चिभिः) कान्तियों, ज्वालाओं, तेजों से (दीदिहि) प्रकाशमान होओ ।

[३८] त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥ ४ ॥
ऋ० ७ । १६ । ७ ॥

---

४ [illegible] । तै० सं० ।
३७–'बृहद्' [illegible] इति ऋ० ।
३८–'जनानामूर्वं' [illegible] इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से यज्ञ मे उपासित ! (सूरय.) विद्वान् लोग जो सबकी मति को प्रेरित करते है वे (प्रियास.) प्रिय (सन्तु) हों । (यन्तार) दान करने वाले या (जनाना) प्रजाओं को (यन्तारः) नियम व्यवस्था में रखने वाले (ये) जो (मघवान) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो (गोनाम्) गौओं, इन्द्रियों और वेद-वाणियों के (ऊर्वम्) समूह को (वयन्त.) पालन करते, वश में रखते और औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हों ।

[३९] अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षस. ।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयु. ॥५॥
ऋ० ८ । ६० । १९ ॥

भा०—हे (देव) देव ! हे अग्ने ! हे (जरित.) स्तुति योग्य या उपदेश करनेहारे ! तू (विश्पति.) प्रजा का स्वामी है । (रक्षस.) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों को (तपानः) सन्ताप देता है । हे (गृहपते) ब्रह्माण्ड रूप गृह के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान (अप्रोषिवान्) कभी भी प्रवास मे न रहने वाला, सदा विद्यमान (दिवस्पायुः) द्यौलोक की रक्षा करनेहारा, (दुरोणयुः) सबके गृहों या देहों की मगल कामना करनेवाला (महान्, असि) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रꣳ राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥
ऋ० १ । ४४ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं उषसः) तू उषा का (विवस्वत्) वास करने योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक (दाशुषे) यज्ञादि परोपकार करनेवाले

१९—'तेपानो', 'गृहपतिः' इति ऋ० ।

पुरुष को (चित्रं राधः) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा । हे (अमर्त्य) मरणरहित, नित्य ! हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्वं) तू (अद्य) आज (उषर्बुधः) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (देवान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुनः प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २क ३ १ २

[४१] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।

३ २ ३१र ३२र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र ३ २र

अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥७॥

ऋ० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्वं) तू (चित्रः) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों को (नः चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर । (त्वं) तू (अस्य) इस (रायः) धन ऐश्वर्य का (रथीः) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है । और तू (नः) हमारे (तुचे) सन्तान के लिये (गाधं तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी (विदाः) प्राप्त करा ।

२क ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[४२] त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः ।

१र २ ३ १ २ ३ १ २

त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥

ऋ० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (त्रातः) रक्षा करने हारे ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथा[1]) सब प्रकार से विख्यात है । तू ही (ऋतः) सत्य, ज्ञानस्वरूप, (कविः) मेधावी क्रान्तदर्शी है । हे (दीदिवः[2]) देदीप्यमान, तेज स्वरूप ! हे (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वेधसः) स्तुति करने

४२-१. सप्रथा सर्वतः पृथुः । नै० ६ । २ । ७ । २. दीदिव दानवत् इति । मा० वि० ।

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधꣳ रयिं पावक शꣳस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥
ऋ० ८। ६०। ११॥

भा०—हे अग्ने! हे (पावक) पवित्र करने हारे! (नः) हमें (शंस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे। हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से (नः) हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे।

[४४] यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥
ऋ० ८। १०३। ६॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द्रः) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है। (अस्मै) इस (अग्नये) अग्नि के लिये (मधोः) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मधोः पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं।

४३–'स्वयशस्तरम्' इति ऋ०।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको अन्न देता और आनन्द देता है।

इति चतुर्थी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ द० ५ ॥ १ वसिष्ठो वामदेवो वा । २ भर्गः प्रागाथ । ३, ७ सौभरिः काण्वः । ४ मनुर्वैवस्वतः । ५ सुदीतिपुरुमीढावाङ्गिरसौ । ६ प्रस्कण्वः काण्वः । ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च काण्वौ । ९ विश्वामित्र । १० कण्व घौर ॥ बृहती ॥

३ १ २ ३ १२ २र ३ १र २र ३ १ २
[४५] एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
३१र २र ३ १ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥
ऋ० ७ । १६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो! (एना) इस (नमसा) अन्न द्वारा (ऊर्जो नपात) बल को क्षीण न होने देने वाले (प्रियम्) सबसे उत्तम, प्यारे, (चेतिष्ठम्[1]) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान कराने हारे, (अरतिं) स्वामी, (स्वध्वरं) उत्तम, हिंसा से रहित, जो न मारे, न मरे, नित्य, (विश्वस्य दूतम्) समस्त संसार को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के स्वयं संताप निवारक, उपास्य और (अमृतम्) स्वयं नित्य, अविनाशी (अग्निं) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (आहुवे) स्मरण करता हूं।

३ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[४६] शेषे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्तास इन्धते ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥२॥
ऋ० ८ । ६० । १५ ॥

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर! तू (वनेषु) जंगलों में अग्नि के समान, देहों में जीव के समान, सब प्राणियों की आत्माओं में और (मातृषु)

४६—'मातृभिः', 'इन्ध' इति ऋ० ।

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से (शेषे) प्रसुप्त होकर व्याप्त रहता है । (त्वा) तुझको (मर्तासः) मरणधर्मा, देहवान् प्राणिगण (इन्धते) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्रः) आलस्य से रहित होकर (हविष्कृतः) हवि सम्पादन करने वाले पुरुष के (हव्यं) प्रस्तुत किये ज्ञान को (वहसि) ले जाता है । (आत् इत्) और अनन्तर तू ईश्वर (देवेषु) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर (राजसि) प्रकाशित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४७] अदर्शि गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
३ २ ३१२ २र २ ३ १ २ ३ १ २
उपोषु जातमार्यस्य वर्द्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । १०३ । १ ॥

भा०—(गातुवित्तमो[1]) समस्त मार्गों-लोकों को भली प्रकार जानने वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि (अदर्शि) प्रकट होता है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके बल पर दीक्षित लोग (व्रतानि[2]) अपने शुभ-कर्म और संकल्पों को (आदधुः) धारण करते हैं । उस (सुजातम्) शुभ गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने हारे, (आर्यस्य वर्धनं) श्रेष्ठ पुरुष की उन्नति करनेहारे (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (नः गिरः) हमारी वाणियां (नक्षन्तु[3]) प्राप्त हों ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४८] अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
३ १ २ ३ २ ३२ ३ १ २
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥

ऋ० ८ । २७ । १ ॥

४७—'नक्षन्त नो गिर' इति ऋ० । १. गातुरिति पृथिवीनाम । नि० १ । १ । २. व्रतमिति कर्मनाम । नि० २ । १ । ३. नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । नि० २ । १८ ।

४८—'मरुतो ब्रह्मणस्पतिं देवान्' इति ऋ० ।

भा०—(उक्थे) उक्थ नाम यज्ञ में (अग्निः) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् (पुरोहितः) पुरोहित होता है और (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (ग्रावाणः) सोमसम्पादन के लिये, एवं ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और (बर्हिः) कुशा भी लाई जाती है। हे (मरुतः) देवगण, विद्वानो, प्रजाजनो, अध्यक्ष लोगो ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेदवित्, सब विद्वानों के मुख्य ! हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (ऋचा) ऋग्वेद के अनुसार (वरेण्यम्) सबसे अधिक वरण करने योग्य (अवः) रक्षा या शरण को (यामि[१]) मैं प्राप्त करूं।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २
[४६] अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥

ऋ० ८। ७१। १४॥

भा०—हे मनुष्य ! (शीरशोचिषम्[१]) सुप्त ज्योति वाले, (अग्निं) अग्नि, परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा, पालन के लिये (गाथाभिः) नाना प्रकार के वेदमन्त्रों और विज्ञान कथाओं से (ईडिष्व) वर्णन कर। हे (पुरुमीढ[२]) और बहुत ज्ञान सिंचे ! पुरुष ! (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय (राये) धनादि विभूति प्राप्ति के लिये ले। (श्रुतं) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि, ज्ञानी के समान प्रभु को (नरः[३]) नेता और

---

१ यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम्। नि० ३। १९।

४६—'अग्निं सुदीतये छर्दिः' इति ऋ०।

१ शीरं अनुशायिनमिति वा आशीनमिति वा इति। निरु० ४। २। १४॥

२ हे पुरुमीढ ! मदीयान्तरात्मन् ! इति मा० वि०।

३ नर इति मनुष्यनाम। नि० २। ३। नर नराकारम् इति मा० वि०।

४. 'छर्दि छर्द संदीपने' चुरादि.।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । (सुदीतये) प्रकाश करने के निमित्त भी वह (अग्नि) अग्नि ही (छर्दिः) दीप्तिमय प्रकाश है । अथवा (छर्दिः सुदीतये अग्निः) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
[५०] श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

ऋ० १ । ४४ । १३ ॥

भा०—हे (श्रुत्कर्ण) श्रवण करने में समर्थ, कर्णेन्द्रिय से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! (श्रुधि) आप हमारा निवेदन सुनो । (सयावभिः) समान गति, ज्ञान से सम्पन्न (वह्निभिः) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान (देवैः) देवों के साथ (मित्रः) मित्र, सबको स्नेह करने वाला (अर्यमा) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, (प्रातर्यावभिः) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित (अध्वरे बर्हिषि) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर (आसीदतु) विराजमान हो ।

१२र ३ १२३२र ३ २ ३ १ २
[५१] प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

ऋ० ८ । १०३ । २ ॥

भा०—(दैवोदासो अग्निः) द्युलोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि (देवः) प्रकाशमान होकर (इन्द्रो न) चमचमाते विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना[1]) बलपूर्वक (मातरं पृथिवीं अनु) समस्त प्राणियों की माता

५०—'आसिदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्' इति ऋ० ।

५१—'अग्निर्देवा अच्छ', 'नाकस्य सानवि' इति ऋ० । 'मज्मना' इति बहुत्र, प्रायः गानग्रन्थेषु । १. मज्मनेति बलनाम । नि० २ । ९ ॥

पृथिवी की ओर (प्र विवावृते) नाना प्रकार से पहुंच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और (नाकस्य) अन्तरिक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) स्थिर है।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव वेग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में लीन होकर पृथिवी को छाये रहता है। सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनूज़' पृथिवी माता पर पहुंचते हैं। यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है।

ईश्वर पक्ष में—(दैवोदास. अग्निः) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय में विद्यमान् ज्ञानवान् (देवः) स्वयप्रकाश (इन्द्र न) विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना) अपने बल से (मातरम् पृथिवीम् अनु) सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर (प्र विवावृते) विशेष रूप से रहता है। और पुनः (नाकस्य) नाक, स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) विराजता है।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[५२] अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि।
३ १ २ ३क २र ३ २उ ३ १ २
अया वर्द्धस्य तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥
ऋ० ८ । १ । १८ ॥

भा०—हे अग्ने! (अध ज्मः[1]) पृथिवी के नीचे (अधवा) और (बृहतः) विशाल, सब पर आच्छादित, (रोचनात्) कान्तिमान् (दिवः) सूर्यमण्डल के (अधि) ऊपर भी (अया) इसी (तन्वा) रूप में (वर्द्धस्व) तू सर्वत्र फैला हुआ है। हे (सुक्रतो) हे सुन्दर संसार के बनाने वाले कारीगर! (गिरा) अपनी वेदमय ज्ञान-वाणी से (मम) मेरे (जाता) प्रजाजनों का (पृण) पालन कर और पोषण कर।

५२—अधा म इति ऋग्वेदे पाठः। १. ज्मेति पृथिवीनाम। नि० १ । १ ॥

१ २ ३ २उ ३१२र ३ २
[५३] कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
न तत्ते अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः ॥९॥
ऋ० ३ । ९ । २ ॥

भा०— हे अग्ने ! जीव [1] (त्वं) तू (वना) वनों का, देहों का (काय-मान [1]) सम्चय या कामना करता हुआ (यत्) जो (मातॄ [2]) माता-स्वरूप उत्पादक (अप) कर्मों को (अजगन्) प्राप्त हो गया, उनमें लग गया है। (तत्) वह (ते) तेरा (निवर्त्तन) अपने मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होना (न-प्र मृषे) सहन नहीं होता (यद्) कि (दूरे [3] सन्) विषय वासनाओं और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी (इह) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में (आ भुवः) पुनः प्रादुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है।

ईश्वरपक्ष में—(वना) भोग योग्य लोकों को (कायमानः) बनाने की कामना करता हुआ (यत्) जब तू (मातॄः अपः) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को (अजगन्) थाम लेता है (तत ते निवर्तनम्) उस समय तेरा निगूढ़ व्यापार (न प्र मृषे) नहीं प्रतीत होता है कि (यत् दूरे सन्) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, असंग रह कर भी (इह आभुवः) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है।

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
३ २ ३ १ २ ३ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥
ऋ० १ । ३६ । १९ ॥

५३–'ह्वाभत' इति ऋ० । १ चायृ पूजानिशामनयोरिति चायतेः चोः कुत्वाभावश्च । कायमनश्चायामनः कामयमान इति वा । निरु० ४ । २ । १४ ।

२, मातरः इति नदीनाम । नि० १ । १३ ॥ ३, दु । ए इति पदकारः ।

भा०—हे अग्ने ! (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप (त्वाम्) तुझको (शश्वते[1] जनाय) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये (मनु) मननशील पुरुष ने (निदधे) पूर्णरूप से प्रकाशित किया। और (यं) जिसको (कृष्टयः) मनुष्यगण (नमस्यन्ति) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू (कण्वे) मेधावी पुरुष के हृदय में वह (ऋतजातः) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान होकर (उक्षितः) आनन्द रस रूप में सिक्त होकर (दीदेथ) प्रकाशित हो।

इति पञ्चमी दशतिः। पञ्चमः खण्डः।

इति प्रथमोऽर्धप्रपाठकः।

॥ द० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठः। २, ३, ५ कण्वो घौरः। ४ सौभरि काण्वः। ६ वत्कील आत्कीलो वा काव्य। ८ विश्वामित्रः॥ २ ब्रह्मणस्पतिः। ३ यूप। बृहती॥

[५५] देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥

ऋ० ७। १७। ११॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारा (देवः) देव, इष्ट, भक्तिपात्र परमेश्वर (द्रविणोदाः) सब प्रकार के द्रव्यों को देने हारा है। इसलिये वह (पूर्णाम्) भरी हुई (आसिचम्) स्रुवा को ही (विवष्टु) कामना करता है (वा) और (उत् सिञ्चध्वं) खूब ऊपर से आहुति भरकर डालो (वा) और (उप पृणध्वं) उसको पुनः भरो (आत् इत्) तब शीघ्र ही (वः) तुम्हारे लिये (देवः) वह दिव्य गुण ईश्वर (ओहते[1]) अभिलषित फल देगा।

५४—१. शश्वद् बहुनाम (नि० ३। १।)

५५—'विवष्ट्यासिचम्', इति ऋ०।

१ ओहते वर्धयति। मा० वि०। वहतेरूपम्। सा०। वहतेरूपम्। मा० वि०।

जो ईश्वर सब कुछ देता है उसके नामपर कंजूसी से दान न देकर खुले हाथ दान करना चाहिये । पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है ।

२३ १ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १ २
[५६] प्रैतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनृता ।
१ २ २१२ ३१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

ऋ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः[1]) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्मणस्पति (प्र एतु) हमारे पास आवे । (सूनृता) वेदवाणी (देवी) दिव्यगुणों से सम्पन्न (प्र-एतु) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो । (देवाः) विद्वान् या इन्द्रियगण (नर्यं) मनुष्यों के हितकारक (वीरम्) वीर्यसम्पन्न (पङ्क्तिराधसम्) पंक्ति, दश से साधन योग्य या परिपक्व ज्ञान से प्राप्य (यज्ञं) यज्ञ को (नः) हमें (अच्छा[2]) भली प्रकार (नयन्तु) प्राप्त करावें ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ १२ ३ १
[५७] ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥३॥

ऋ० १ । ३६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (सु तिष्ठ) भली प्रकार स्थिर रह । (देव: सविता न) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप (वाजस्य) अन्न और ज्ञान को (सनिता) देनेहारे हो । (यद्) जिस कारण (अञ्जिभिः[1]) गुणों का प्रकाश करने हारे (वाघद्भिः) यज्ञकार्य का

५६—१ ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म मन्त्रं, तस्य पतिः । ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः ।

२. अच्छ आप्तु सम्भावयितुमिति मा० वि० ।

५७—१. अञ्जिभिः त्वद्गुणप्रकाशकैः छन्दोभिः, इति मा० वि० ।

सम्पादन करने हारे विद्वानों द्वारा हम आपको (वि ह्वयामहे) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं ।

२उ ३१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८] प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशꣳसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

ऋ० ८ । १०३ । ४ ॥

भा०—हे वसो[1] ! समस्त संसार को आश्रय देने वाले ! (यः) जो (मर्त्तः) मरणधर्मा पुरुष (राये) अमृत धन के निमित्त (प्र निनीषति[2]) तुझ तक पहुंचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है । और (यः) जो (ते) तुझे (दाशत्) समर्पण करता है (सः) वह हे अग्ने ! परमेश्वर (उक्थशंसिनम्) वेदवक्ता (सहस्रपोषिणम्) हज़ारों को भरण पोषण करने वाले (वीरम्) वीर पुत्र को (त्मना) अपने सामर्थ्य से (धत्ते) धारण करता या उत्पन्न करता है।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले याज्ञिक धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वयं विद्वान्, वेदवक्ता और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं ।

१ २ ३१ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २
[५६] प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
३ २ ३ २३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
अग्निꣳ सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यꣳ समिदन्य इन्धते ॥५॥

ऋ० १ । ३६ । १ ॥

भा०—(यं) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को (अन्य इत्) अन्य पुरुष भी (सम् इन्धते) प्रज्वलित प्रदीप्त करते, हृदय में जगाते हैं, उस

५८-'प्र राये निनीमति' इति ऋ० । १. वासकाग्ने । सा० । २. णी प्रापणे । भ्वादिः । प्रापणं रञ्जनं । प्रणय प्रेम ।

५९-'वचोभिरीमहे' इति ऋ० । 'सीमिदन्य ईळते' इति ऋ० ।

(देववतीनाम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली (पुरूणाम्[1]) पालन पोषण करने मे समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियों के समान (विशा) प्रजाओं के (यह्वम्[2]) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को (सूक्तेभि) वेद के सूक्तों द्वारा (प्रवृणीमहे) खूब अच्छी प्रकार वरण करते है । यहा आत्मा और राजा का भी वर्णन है ।

[६०] अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

ऋ० ३ । १६ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर और राजा (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और (सौभगस्य) सौभाग्य का (हि) भी (ईशे) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही अग्नि (रायः) समस्त धनों का (ईशे) स्वामी है । वही (स्वपत्यस्य) सुन्दर पुत्र प्रजा का (गोमत.) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (राय.) धन धान्य का (ईशे) स्वामी है । वही (वृत्रहथानां) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाल बल और साधनों का भी (ईशे) स्वामी है ।

[६१] त्वमग्ने गृहपतिस्त्वꣳ होता नो अध्वरे ।
त्व पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

ऋ० ७ । १६ । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं) तू (गृहपतिः) घर का स्वामी है, (त्व) तू (न·) हमारे (अध्वरे) यज्ञ, हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म मे (होता) यज·

---

१ पुरूणि इन्द्रियाणि । द० उ० । २. यह्व इति महन्नाम । नि० ३ । ३ ।

६०–'ईशेमहः' इति ऋ० ।

६१–'यक्षि वेषि च' इति ऋ० ।

मान और समस्त भोग्य पदार्थों के देने और स्वीकार करने वाला या विद्वान् दिव्य गुणों, पुरुषों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है। हे (विश्ववार) समस्त संसार के वरण करने योग्य या सब विघ्नों के वारण करनेहारे रक्षक[1] (त्वं) तू (पोता[1]) सब कार्यों का परिशोधक, निरीक्षक, (प्रचेता) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है। तू ही (वार्यम्) सब को प्रसन्न करने वाले वरणयोग्य, श्रेष्ठ पदार्थ ऐश्वर्य को (यक्षि) देता है और (यासि च[2]) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वीकार करता है।

१ २　　　　　३ १　२र　३ १ २
[६२] सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये।
३ १ २र　　३ १ २ ३ १　２　३ १ २　३ १ २
अपान्नपातꣳ सुभगं सुदꣳससꣳ सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ॥८॥
ऋ० ३ । ९ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (सखायः) हम सब समान ख्याति वाले (मर्त्तासः) मरणधर्मा पुरुष या इन्द्रियगण (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अपां नपातम्[1]) अप अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात् अर्थात् अपत्य, उत्पन्न हुए महाप्राण रूप, या इन प्रजाओं को विनष्ट न होने देने वाले (सुभगं) सुख से सेवन योग्य, उत्तम ऐश्वर्यवान् (सुदंससं[2]) शुभ कर्म करने वाले (सुप्रतूर्त्तिं[3]) पापियों और पापों के विनाशक, (अनेहसम्[4]) क्रोध और उपद्रवों से रहित (त्वा देवं) तुझ देव को (ववृमहे) वरण करते हैं।

१. पोता—शोधयिता। मा० वि०। २. यासि याचसे इति मा० वि०। 'सुभग सुदीदितिं' इति ऋ०।

६२—१ अपां नपात्। अपांपौत्रत्व, यथा अद्भ्य ओषधय। ततो रसनोऽग्निर्विद्युत्। अथवा आपोमय प्राण इति मुख्यप्राणस्याद्भ्यो जन्यत्वात्तदपत्यत्वम्।

२. दंस. कर्मनाम (नि० २। १), ३. तूर्त्तिर्हिंसार्थ० स्यादि।

४. अनेहसं उपद्रवरहितं सा०। अक्रोधम्। मा० वि०। एद क्रोधनाम। नि० २। १२।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को वरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे।

इति षष्ठी दशति.। षष्ठ॰ खण्डः।

॥ ७ ॥ ऋषि-१ श्यावाश्वोवामदेवोवा। २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य.। ३ बृहदुक्थो वामदेव्यः। ४ कुत्सः। ५, ६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। ७ वामदेवः। ८, १० वसिष्ठः। ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः॥ १, ३, ५, ९ त्रिष्टुभ। २, ४ जगत्यौ। १० त्रिपाद्विराड्गायत्री॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम्।
३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषो! (हविषा) स्तुति और अन्नादि द्वारा (आजुहोत) आदरपूर्वक आहुतियें दान करो और (मर्जयध्वं) सत्कार करो और सुखी करो। (होतारं) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप (गृहपतिं) गृह स्वामी के समान प्रभु को (नि दधिध्वम्) अच्छी प्रकार सेवा शुश्रूषा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो। (इड.) इला-पृथिवी यज्ञवेदी और अन्नादि के (पदे) स्थान पर या अवसर पर और (पस्त्यानाम्) घरों के बीच में (रातहव्यं) हवि चरु आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक स्वामी की नमसा) नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा (सपर्यत) पूजा सत्कार करो।

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४] चित्र इच्छिशोरतरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ १२
अनूधा यदजीजनदधाचिदा ववक्षत्सद्यो महि दूत्यं चरन्॥२॥

ऋ० १४। ११७। १॥

६३-१. पस्त्यानि गृहाणि। नि० ३। ४। तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्या.। मा० वि०।

६४-'अन्वेति धातवे' 'यदजीजनद्' 'अधाचन ववक्ष सद्यो' इति पाठभेदा, ऋ०।

भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—(शिशोः[१]) उस शिशु रूप (तरुणस्य) तरुण अग्नि आत्मा का (इत् वक्षथ[२]) भी यह वहन करने का कार्य (चित्र इत्) आश्चर्यजनक है (यः) जो (धातवे) रस पान के लिये भी (मातरौ) माता पिता किसी के पास भी (न अन्वेति) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधाः) बिना दूध के ही अब वह उत्पन्न हुआ (अधा चित्) तब ही (सद्यः) तुरन्त (महि) बड़े भारी (दूत्यं चरन्) दूत के कार्य के समान गमनागमन करता हुआ (आववक्षत्) कार्य-भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुक्ष्म के समान व्यापक होने से यास्तुत्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये (मातरौ) मातृभूत द्यौ और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह संसार को स्वयं उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधाः' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह (सद्यः) निरन्तर (महि) बड़ा भारी (दूत्यं चरन्) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस संसार को (अववक्षत्) उठा रहा है ।

[६४] इदं त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।
संवेशनस्तन्वे३चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने ! (इदम्) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक (ते) तेरा (एकम्) एक रूप है । (परः उ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशोः शंसनीयस्य । मा० वि० । २. वक्षथ.–वहन गमनम् । मा० वि० ।
३ चित्रं पूज्यं । मा० वि० ।

६४–'संवेशने तन्व,' इति ऋ० ।

(ते) तेरा (एकम्) एक दूसरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके (तृतीयेन) तीसरे उत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से (संविशस्व) लीन हो । वहां (संवेशन.) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर (तन्वे) पुन. शरीर ग्रहण के लिये (चारुः) भली प्रकार गमनशील (एधि) रह, (परमे) उत्कृष्ट (जनित्रे) उत्पत्तिस्थान में (देवानाम्) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का (प्रियः) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपक्ष में—यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य आदि तेरा दूसरा रूप है । तू ही तीर्णतम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर (तन्वे) जगत् के विस्तार करने के लिये भी (चारु· एधि) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू (देवाना) देव, पञ्चभूतों या मुक्तात्माओं के परम उत्पादक रूप में भी उनका (प्रिय) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । "तेरा यह एक अंश शरीर इस श्मशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिल जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।"

[६६] इमंᳪं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संᳪंसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४

ऋ० १ । ९४ । १ ॥

भा०—(अर्हते) पूजा सत्कार करने योग्य (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये (इमं स्तोमं) यह स्तुति· वाक्य हम लोग (रथम् इव[1]) रमणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

[1] ६६–१, रथमिव, यथा तक्षा रथ संस्करोति तथा (सा०) । यथा रथं गमयन्ति तथा स्तोमं गमयेम, इति मा० वि० ।

समान (सम्) उत्तम रीति से (मनीषया) अपनी बुद्धि से (महेम) प्रस्तुत करते हैं । (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के (संसद्) सभास्थान, संगम या सत्सङ्ग में (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति सदा (भद्रा हि) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे । हे अग्ने ! ईश्वर ! (वय) हम लोग (तव) तेरे संग (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम[२]) कभी कष्ट न पावें, कभी पीड़ित न हों ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२३२उ ३ २ ३ २
[६७] मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३२
कविंꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥५॥

ऋ० ६ । ७ । १ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के (मूर्धानं) शिरोभाग और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अरतिं) स्वामी, (ऋते) सत्य, यज्ञ या समस्त ब्रह्माण्ड में (आ जातम्) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त,(वैश्वानरम्) सब प्राणियों में व्यापक, (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) खूब प्रकाशमान सब के सम्राट्, (जनाना अतिथिम्) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य (नः) हमारा (आसन्) मुख भाग में स्थित, अर्थात् सब के प्रमुख (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही (पात्रं[१]) हमारी स्तुतियों और सत्कार का पात्र या पालक (देवाः[२]) विद्वान् पुरुष (जनयन्त) प्रकट करते, बतलाते हैं ।

२उ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २
[६८] वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र३ १ २ ३ १ २
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्वाहो जिग्युरश्वा ॥६॥

ऋ० ६ । २४ । ६ ॥

६७–१ पात्रं पातारं । सा० । २ देवा ऋत्विज स्तोतारः । सा० ।
६८–ऋग्वेदे पाठभेदो यथा–'वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः । तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः ॥'

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग (उक्थेभिः) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा (पर्वतस्य) पर्वत या मेघ के (पृष्ठात्) तट या एक देश से (आपो न) जलधाराओं के समान (त्वत्) तुझ से (वि जनयन्त) नानाप्रकार के कार्य सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं । अथवा (देवाः) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के समान, स्वयं प्रकट होते हैं । हे परमेश्वर (गिर्वाहः) गिरा, वाग् या वाणियों द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य अग्ने ! (अश्वाः) अश्व (आजिं न) जिस प्रकार संग्राम भूमि में (जिग्युः) विजय करते हैं, उसी प्रकार (सु-स्तुतयो गिरः) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली वेदवाणियां (तं त्वा) उक्त प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको (वाजयन्ति) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं, तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं ।

[६९] आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रꣳ होतारꣳ सत्ययजꣳ रोदस्योः
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥
ऋ० ४ । ३ । १ ॥

भा०—(अध्वरस्य) कभी हिंसा का पात्र न होने वाले, कभी न मरने वाले यज्ञ के (राजानम्) अधिपति, (रुद्रम्[1]) घोर गर्जना के साथ गमन करते हुए या पापियों के रुलाने वाले, (रोदस्योः) द्यौः और पृथिवी दोनों लोकों को (सत्ययजम्) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले (होतारं) आकाश से और पृथिवी से

६९–१. रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम् । यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् इति नि० १० । १ । ५ ॥ रुद्र रोदनस्वभाव । भा० वि० ।

अन्न और जल की आहुति देने वाले (हिरण्यरूपम्) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेहारे तेजोमय (अग्निं) सूर्य के समान परमेश्वर को (अचित्तात्) चेतनारहित (तनयित्नो.[२]) अशनिविद्युत् से भी (पुरा) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट (अवसे) अपने रक्षार्थ (कृणुध्वम्) उत्पन्न कर लो, जानो।

३ २उ ३ २ ३ १२ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०] इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १२ २र३ १ २
नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि ॥ ८ ॥

ऋ० ७ । ८ । १ ॥

भा०—(अर्यः) स्वामी राजा) सब से अधिक कान्तिमान् (नमोभिः) आदर वचनों से (सम इन्धे) खूब प्रज्वलित होता है। (यस्य) जिसका (प्रतीकम्[१]) स्वरूप (घृतेन) घृत, स्नेह, कान्ति या पुष्टिकर पदार्थों से (आहुतं) पूरित, हरा भरा है। उस (उषसाम् अग्रम्) उषाकाल में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को (नरः) विद्वान् लोग (सबाधः) उद्वेगों या क्लेशों या विघ्नों से बाधित होकर (हव्येभि.) स्तुतियों से और उत्तम २ पदार्थों से (ईडते) भजन करते हैं। अग्नि के पक्ष में—अग्नि अन्नों से प्रज्वलित होता है। रोगों से पीड़ित लोग उत्तम चरुओं से होमते हैं।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदृत होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[७१] प्र केतुना बृहता यात्यग्निरारोदसी वृषभो रोरवीति।
३ २ ३ १ ३ १र २र ३ १ ३ १ २ ३ १ २
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्द्ध ॥ ९ ॥

ऋ० १ । ८ । १ ॥

---

२ तनयित्नुरशनि । सा० ।

७०—'आग्निरिद्धम्' इति ऋ० । १ प्रतीकं नाम मुख । मा० वि० ।

७१—'दिवश्चिदन्तां उपमां उदानळप.' इति ऋ० ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (बृहता) बड़े भारी (केतुना) विज्ञानमय प्रकाश के साथ (प्र याति) प्रकट होता है । (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों में वह (वृषभः) सब से श्रेष्ठ, ज्ञानों और सुखों की वर्षा करने वाला (रोरवीति) शब्द करता है, उपदेश करता है । (दिवश्चिद्) अन्तरिक्ष लोक के भी (अन्तात्) एक प्रान्त से उदित होकर (उपमाम्) समीप, हृदय देश में ही (उद् आनड्) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । (अपां) समुद्रों के बीच सूर्य के समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के (उपस्थे) बीच वह (महिषः) महान् सामर्थ्यवान् (ववर्द्ध) सब से यश और नाम में बड़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २उ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[७२] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १२ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथर्व्युम् ॥ १० ॥ ऋ० ७ । १ । १ ॥

भा०—(नरः) नेता, अग्रणी लोग (दीधितिभिः) किरणों और अंगुलियों द्वारा (अरण्योः) अरणियों के बीच में (हस्तच्युतम्) हाथों के बल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान द्यौ और पृथिवी के बीच में अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, (प्रशस्तम्) सबसे उत्तम, निर्दोष, (दूरे दृशम्) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, (गृहपतिम्) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक, (अथर्व्युम्) गतिशील दूर तक पहुंचने वाले, व्यापक (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (जनयत) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान के बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार द्यौः और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर साक्षिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमी दशतिः । सप्तमः खण्डः ॥

॥ द० ८ ॥ ऋषि —१ बुधगविष्ठिरौ । २, ५ वत्सप्रि० । ३ भारद्वाजः । ४,७ विश्वामित्रः । ६ वसिष्ठ । ८ पायु० ॥ देवता—१, २, ४–८ अग्निः । ३ सुर ॥ त्रिष्टुप् ॥

१ २ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७३] अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

ऋ० ५ । १ । १ ॥

भा०—(जनानां समिधा) लोगों की लगाई लकड़ी से जिस प्रकार (अग्निः अबोधि) सामान्य अग्निहोत्र की अग्नि (धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम् प्रति उषासम्) आते हुए प्रत्येक उषाकाल में (अबोधि) प्रदीप्त होती है उसी प्रकार यह (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी आत्मा भी (जनानां समिधा) जनों के प्रदीप्त प्राणरूप काष्ठों से (प्रति उषासम्) प्रति प्रातःकाल प्राणायामों द्वारा (अबोधि) चेताया जाता है । (उज्जिहानाः) ऊपर उड़ते हुए पक्षीगण जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्रते) शाखा पर जाते हैं । और जिस प्रकार (यह्वाः) बड़े पुरुष (वयाम् इव) व्यापक उदारनीति की ओर बढ़ते हैं और जिस प्रकार (भानवः) सूर्य के किरण (नाकम्) आकाश की ओर (प्रसिस्रते) व्यापते हैं, उसी प्रकार (यह्वाः) बड़े २ शक्तिशाली आत्मा (उज्जिहानाः) उत्क्रमण करते हुए (वयाम्) उस व्यापक परमेश्वरी शक्ति की तरफ़ जाते हैं और (भानवः) ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित होकर आदित्य के समान तेजस्वी योगी मुक्तजन (नाकम्) परम सुखमय, आनन्दमय परम पद को (प्र सिस्रते) प्राप्त करते हैं ।

७३—'सिस्रते' इति ऋ० । पक्षिण इत्यधिको भावार्थः गाथीनविवरणे ।

१ ३१२ ३ १ २ ३ ३ ३१र २र ३ २ ३ १ २
[७४] प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
१ २ ३ २ ३१र २र ३ १ २ ३ १ र२र ३ २
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२

ऋ० १९ । ४६ । ५ ।

भा०—(भूः)[1] सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोकों को (प्र जयन्त) उत्तम रीति से विजय करने वाले (मूरैः) मोहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत (पुरां) शरीरों के (दर्माणम्) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाने वाले, (अमूर) स्वयं मोह रहित, (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (वना) भजन करने योग्य (धियं नयन्तं) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, (हरिश्मश्रुं न) सुवर्ण के समान कान्तियुक्त किरण वाले सूर्य के समान (वर्मणा) कवच से (धनर्चिम्) विभूतिमान् उस अग्नि को (धा) हृदय में धारण कर ।

त्रिपुरारि, पशुपति, भूतिभृत्, विश्वेश्वर आदि की शिवविषयक कल्पना ब्रह्म के विषय में इसी मन्त्र के आधार पर हैं । हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि शब्दों के धात्वर्थ समान हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २ ३ १ २
[७५] शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
२ ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३

ऋ० ६ । ५८ । १ ।

भा०—हे पूषन् ! अग्ने ! (ते) तेरा (शुक्रं) कान्तिमान्, प्रकाशमान् रूप (अन्यत्) दूसरा है । और (यजतम्) आपका मिलने वाला, उपास्य, शिवरूप (अन्यत्) और है । (अहनी) ये दिन और रात के समान दोनों

७४-(भ्र) 'भूरा' इति ऋ० । उत्तरार्धं, 'नयन्तो गर्भं वना धियं धु र्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ।' इति ऋ० ।

१. भूर्मंडण प्रदर्शनार्थं, त्रीनपीलोकान् जयन्त इति मा० वि० ।

७५-'स्वधावो' इति ऋ० ।

(विषुरूपे) भिन्न २ रूप के हैं । हे अग्ने 'तू (द्यौः इव असि') सूर्य के समान है । हे (स्वधावन्) अन्नपते ! प्राणपते ! जीवेश्वर ! भूतपते ! (हि विश्वा) क्योंकि तू समस्त संसार की सब प्रकार की (मायाः) मायाओं, सृष्टियों को (अवसि) पालन करता है । हे (पूषन्) समस्त संसार के पोषण करने हारे (इह) इस लोक में (ते) तेरा (रातिः) दान (भद्रा) कल्याण और सुख के देने वाला (अस्तु) हो ।

ईश्वर ने अग्नि और सोम, प्राण और रयि दोनों से समस्त संसार को बनाया है । वह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार से बनी (माया) सृष्टियां हैं, उनको वही पालन करता है, यहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ २ १र २र ३ २र २र
[७६] इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
१ २ ३ १र २र ३२ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥

ऋ० । ३ । ६ । ११ ।

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! तू (हवमानाय) स्तुति भजन करने वाले पुरुष के लिये (पुरुदंसम्) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, (गो सनिं) गोधन, इन्द्रिय, वाणी या सरस्वती, विद्या के देने हारे, (शश्वत्तमं) चिरकाल तक (इडाम्) अन्न, ज्ञान, एवं भक्ति को (साध) प्राप्त करा । (नः) हमारा (सूनुः) पुत्र (तनयः[1]) अगली सन्तान का विस्तार करने वाला वंशधर (विजावा[2]) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने हारा (स्यात्) हो । (ते सा सुमतिः) तेरी वही शोभन मति (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) बनी रहे ।

७६-पुरुदमस । सा० भा० ।

१. तनयः पुत्र, तनोति विस्तारयति सन्ततिमिति । २. विजावा विविध जनयिता पुत्राणां, अनेन प्रकारेण वंशस्याविच्छेद आशास्यते । मा० वि० ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
[७७] प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीदद्पां विवर्त्ते ।
२ ३ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १
दधद्यो धायी सु ते वयाᳬंसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥५॥

ऋ० १० । ४६ । १ ।

भा०—(यः) जो अग्नि (महान्) बड़ा, (होता) स्तुतियोग्य, नाना पदार्थों के दान करने वाला, (नभोविन्) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला (जातः) प्रकट है, वह (नृषद्मा) समस्त प्राणियों में विराजमान है । वही (अपां विवर्त्ते [१]) अन्तरिक्ष में, समस्त प्रजाओं के भीतर भी (धायी) धारक पोषक रूप से विद्यमान है । वही (ते) तेरे लिये (वयांसि) अन्नादि पदार्थ और आयु को (दधत्) धारण करावे । (तनूपाः) शरीरों की रक्षा करने वाला वह (यन्ता) सबका नियन्ता (विधते) नियम से अपना कार्य सम्पादन करने वाले पुरुष को (वसूनि दधत्) नाना प्रकार के सुखसाधन देता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८] प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुᳬंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥

ऋ० । ७ । ६ । १ ।

भा०—(असुरस्य [१]) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न (कृष्टीनां) प्रजाओं के (अनुमाद्यस्य) हर्षों और सुखों में सुखी होने वाले, (पुंसः)

७७—'नृषद्मा' 'अपामुपस्थे' 'दधिर्यो' 'धायी सते' ऋ० ।

१ अपां विवर्त्तोऽन्तरिक्षलोकः । मा०वि० । २ 'धायी सुते' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुते' इत्येक पदम् । अभिषुते इत्यर्थः । पदकारस्तु 'धायी । सु । ते', इति पदद्वय विच्छेद ।

७८—'प्र सम्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदारु वन्दमानो विवक्मि' इति ऋ० । 'वन्दमानो विवष्टिम' इति स०सा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शोभा, कान्ति से युक्त स्वरूप को (प्रशस्तम्) प्रशसनीय (प्र जानीत) जानो । मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवस॰[१]) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किये गये (वन्दद्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों की (प्र विवष्टु) अभिलाषा करे।

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २
[७९] अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्सुभृतो गर्भिणीभि. ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥
ऋ० ३ । २९ । २ ।

भा०—(अरण्यो) दो अरणियों में जिस प्रकार (जातवेदा॰) अग्नि (निहित॰) गुप्त रीति से रहता है, और (गर्भिणीभि) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बड़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि, परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर व्यापक है । और (गर्भिणीभि.) जगत् की धारक शक्तियों द्वारा (इत् सुभृत॰) उत्तम रूप से सुरक्षित है । (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भि) जागने वाले, सावधान, चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भि.) हव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्येभि.) मनुष्यों द्वारा वह (अग्नि) सर्व प्रकाशक, ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्य) उपासना किया जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८०] सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्यु॰।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अनु दह सह मूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥
ऋ० १० । ८७ । १९ ।

१. असुरिति प्रज्ञानाम नि० ३ । ६ ॥ तद्वान् असुर ।

७९—'सुधितो गर्भिणीषु' इति ऋ० ।

८०—'क्रव्यादो इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने! परंतापकारिन् तू (सनात्) प्राचीनकाल से (यातुधानान्) दुष्ट पुरुषों को (मृणासि) पीड़ित, दण्डित करता रहा है। (पृतनासु) सेना संग्रामों में (रक्षांसि) राक्षस लोग (न त्वा) तुझको कभी भी नहीं (जिग्यु) जीत सके हैं। (मूरान्) मूढ़ (क्रव्याद[1]) क्रव्याद्-कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों को (सह) एक ही साथ तू (अनु दह) तेज से भस्म कर डाल। वे (ते) तेरी (दैव्यायाः) दिव्यगुणों से युक्त (हेत्या) शस्त्र की धार से (मा मुक्षत) न बच पावें।

इति अष्टमी दशतिः । अष्टमः खण्डः ॥

॥ द० ९ ॥ १ गयर्षिः । २ वामदेव । ३, ४ भरद्वाजः । ५ सूक्तवाहो द्वित॰ । वसूयव आत्रेयाः । ७, ९ गोपवन॰ । ८ पुरुरात्रेय॰ । १० वामदेव. कश्यपो वा मरीचि मंनुर्वा वैवस्वत उभौ वा ॥ अनुष्टुप् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[८१] अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।
१ २ ३।२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥

-ऋ० ५ । १० । १ ।

भा०—हे अग्ने! (ओजिष्ठम्[1]) कान्तियुक्त बलकारी (द्युम्नम्) धन धान्य सुवर्ण रत्न आदि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त कराओ। हे (अध्रिगो[2]) अक्षय सामर्थ्यवान् देव! (न) हमारे लिये (पनीयसे) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, एवं व्यवहार व्यापार आदि करने योग्य (राये) सम्पत्ति के लिये और (वाजाय) अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये (पन्थाम्) मार्ग, उपाय (प्र रत्सि[3]) तैयार कर, हमें सुझा।

---

१ क्रयाद् । रेफवकारयोश्छन्दसि लोपः (स०सा०)

८१–'प्रनो राया परीणसा' इति ऋ० । १ ओजो बलम् (नि० २ । ९) २. अधृत शब्दस्याध्रिभाव. । गमन गो. । (नि०भा०) ३. रद विलेखने । भ्वादि॰ ।

[८२] यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

ऋ० ५। २। ६॥

भा०—(यदि) जब पुरुष (वीर[1]) ब्रह्मचर्य से वीर्यवान् (अनु-स्यात्) हो तब वह (मर्त्य) मरणधर्मा पुरुष (अग्निं) ईश्वररूप अग्नि को (इन्धीत) प्रदीप्त करे अपने अन्तरात्मा में जगावे और (आनुषक्) निरन्तर (हव्य) प्राणापान रूप आहुतियों को (आजुह्वत्) उसमें ही समर्पण करता हुआ (दैव्यम्) देव परमेश्वर से प्राप्त (शर्म) सुख और शान्ति को (भक्षीत) भोग करे ।

जब मनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान करे और उसमें हव्य चरु की आहुति दे ।

[८३] त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सं छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

ऋ० ६। २। ६।

भा०—हे अग्ने ! (त्वेष) कान्तियुक्त जाज्वल्यमान (ते धूम) तेरा धूम, बल कपाने का सामर्थ्य, विभूति, मन्यु और कोप (दिवि ऋण्वति) समस्त द्यौ सूर्य रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है। वह (शुक्र) अत्यन्त शुक्लवर्ण, कान्तियुक्त होकर (आतत) सब तरफ़ विस्तृत है। (सूरो न) सूर्य के समान (कृपा) सामर्थ्यस्वरूप (द्युता) दीप्ति या सामर्थ्य शक्ति से (त्व) तू (रोचसे) सर्वत्र प्रकाशित है ।

८२–१. वीरः । पुत्र । सा० ।

८३–'दिदिव पच्छुक' इति ऋ०

[८४] त्वᳬं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥ ४ ॥
ऋ० ६ । २ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हि) जिस कारण से (त्वं) तू (क्षैतवद्) सबको निवास देने वाले (यशः) अन्न, बल को (मित्र न) सूर्य के समान (पत्यसे) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है । हे (विचर्षणे) विशेषरूप से सब के द्रष्टा ! (वसो) हे सबको निवास देने वाले अग्ने ! तू (श्रवः) अन्न और ज्ञान को (पुष्टिम् न) पोषण सामर्थ्य के समान ही (पुष्यसि) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है ।

[८५] प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्त्तास इन्धते ॥ ५ ॥
ऋ० ५ । १८ । १ ॥

भा०—(पुरुप्रियः) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को प्रेरणा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने हारा (अग्निः) अग्नि, परमात्मा और आत्मा (अतिथिः) इस शरीर या ब्रह्माण्ड रूप गृह में व्यापक है । उसका (विशः) सब प्रजाएं (प्रातः) प्रात:काल, सबसे पूर्व (स्तवेत) उपासना करें, स्तुति करें (यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें (विश्वे) समस्त (मर्त्तासः) मरणधर्मा, शरीरधारी प्राणी (हव्य) अन्न रूप हवि और स्तुति को (इन्धते) प्रदान कर प्रज्वलित रखते हैं, जीवित रखते हैं ।

---

८५ विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्त्येषु रेण्यति' इति ऋ० । 'विशे स्तवेत इति० सा० विशःस्तवेत' स० सा०

१२ २२३ १ ३ १ २ ३ १ २
[८६] यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे (विभावसो) हे विशेष प्रकार की कांति से युक्त, धन से सम्पन्न ! (बृहद्) तू सब से अधिक (अर्च) प्रकाशमान् हो । (महिषी इव[1]) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वद् रयिः) तुझ से ही समस्त धन और (त्वद् वाजाः)तुझ से ही समस्त अन्न (उदीरते) उत्पन्न होते हैं । इस कारण (यद्) जो (वाहिष्ठं) प्राप्त करने या उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ भाव और अन्नादि है (तद् अग्नये) वह उस परमेश्वर के और अग्नि लिये ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम लोग (विशः विशः अतिथिं) समस्त प्रजाओं के अतिथि के समान पूज्य या सब प्रजाओं में व्यापक (पुरुप्रियम्) सब के प्रिय (अग्निं) अग्नि परमेश्वर को (वाजयन्तः) अर्चना करते और बढ़ाते रहते हो । मैं (शूषस्य) सुख प्राप्ति के लिये (दुर्यं[1]) गृह या इस देह के लिये हितकारी इस (अग्निं) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक (वचः) वाणी से (मन्मभिः) मनन करने योग्य साधनों से (वः) आप लोगों के प्रति (स्तुषे) ठीक २ प्रकार से वर्णन करता हूं ।

८६–१ महिषी यथा राजमार्गमिति । भा० वि० ।
८७–१ दुर्याः गृहाः । नि० ३ । ४ । ७ ।

३२३ ३ २ ३१२ २र ३ १ ३ १ २
[८८] बृहद्वयो हि भानवेर्चा देवायाग्नये ।
३ १२ २ २र ३ १ २ ३ २ ३२
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥

ऋ० ५ । १६ १ ॥

भा०—(भानवे) भानु, कांतिस्वरूप (देवाय) सब के प्रकाशक (अग्नये) अग्नि के लिये (बृहद्) सब से बड़ा (वयः[1]) अन्नभाग या आयु का भाग (अर्च) भक्तिरूप में दे । (यं) जिसको (प्रशस्तये) उत्तम कीर्त्ति होने के कारण (मर्त्तासः) मनुष्य लोग (मित्रम् इव) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान (पुरः) सदा अपनी चक्षुओं के आगे (दधिरे) रखते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३र
[८९] अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १२
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते ॥ ९ ॥

ऋ० ८ । ७४ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहन्तमं) विघ्न, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, (ज्येष्ठं) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशंसा करने योग्य, (आनवं) मनुष्यों के हितकारी, (अग्नि) अग्नि परमेश्वर और आत्मा को (अगन्म) हम प्राप्त हों (य.) जो अग्नि (आर्क्षे[1]) नक्षत्र लोकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, (श्रुतर्वन्) बड़े लोकों और प्राणेन्द्रियों

८८—'प्रशस्तिभिर्महयन्तो' इति ऋ० ।

८९—'आगन्म' इति ऋ० । 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते' इति ऋ० ।

१. ऋच्छति इति ऋक्षम् । ऋच्छतेरौणादिकः स, । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम् । ऋषेरिन्द्रियत्वं बृहदारण्यकोपनिषदि सुस्पष्टम् सप्तर्षिव्याख्याने ।

से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त ब्रह्माण्ड में (बृहद् नीकः) प्राणमय बलों और विशाल पंचभूतों के बल से युक्त होकर (इध्यते) प्रकाशित या जीवित, जागृत रहता है।

[६०] जात. परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥ १०॥

भा०—हे अग्ने ! तू (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट तपस्या और सदाचार के बल से (जात.) उत्पन्न या प्रकट हुआ है (यत्) क्योंकि (सवृद्भिः) अपने साथ लगे हुए कर्मचारीगण, इन्द्रियों के (सह) साथ मिलकर (आभुवः) तू सब कार्य करने में समर्थ है। यह अग्नि आत्मा (कश्यपस्य [1]) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का (पिता) पालक है और उसकी (माता) जन्मभूमि (श्रद्धा [2]) सत्य का धारण करनेहारी बुद्धि है और (मनुकविः) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है।

परमात्मा के पक्ष में (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य से (यत्) जो (सवृद्भिः) साथ वर्तमान शक्तियों के साथ (आभुवः) विद्यमान है। तू (कश्यपस्य पिता) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों का पालक है। (अग्निः) प्रकाशस्वरूप, (श्रद्धा) सत्य का धारक, (माता) जगत् का कर्त्ता, (मनु) ज्ञानवान् (कविः) मेधावी और पारदर्शी है।

इति नवमी दशतिः । नवमः खण्डः।

१,०—१, कश्यपः पश्यको भवति । अग०। २. श्रदिति सत्यनाम, नि० ३। १०।

॥ द० १० ॥ १ अग्निस्तापसः । २ वामदेवः । ३ वामदेव. कश्यप. । असितो देवलो वा । ४ भर्गाहुति॰ सोमो वा । ५ पायु॰ । ६ प्रस्कण्वः ॥
देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अङ्गिराः । अनुष्टुप् ॥

२ ३ १ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
[९१] सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

भा०—हम (सोमं) शान्तिदायक, सब जगत् के प्रेरक और उत्पादक (राजानं) प्रकाशमान, (वरुणं) सब पापों के निवारक, (अग्निं) ज्ञान-स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को (अनु आ रभामहे) प्रतिदिन स्मरण करते हैं । (च) और (आदित्यं) सब रसों के ग्रहण करने हारे, अखण्ड, (विष्णुं) सर्वत्र व्यापक (सूर्यं) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक, (ब्रह्माणं) सब से महान्, ज्ञान के भण्डार (बृहस्पतिं) वेदवाणी के स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

३२ ३२ ३१ २ ३२ ३१र २र
[९२] इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
२३ २३ १ २ ३१र २र
प्रभूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

भा०—(भूर्जय.[1]) पृथिवी को विजय करने हारे राजर्षि लोग (यथा) जिस प्रकार (पथः) मार्ग से (द्या ययुः) द्यौलोक, या आदित्य लोक, या स्वर्ग को जाते हैं । उसी प्रकार (एते) ये (अंगिरस) योगी, ज्ञानी

९१—'सोम राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यान्०' इति ऋ० ।

९२—१. भूर्जय॰ भृज्जतिः पाककर्मा हविर्षां पक्तारः इति सा० । भूः—जयः इति पदकारः । भूः पृथिवी ता ये महावीराख्येनानुष्ठानेन जितवन्तः, ते इति (मा० वि०) भूर्जयः कर्पिण. ।

लोग भी (इत॰) इस लोक से (दिवः पृष्ठानि) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष के सुखों को (उत् आरुहन्) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं।

अपने २ धर्म के पालन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों समान लोक में जाते हैं। अथवा (भू) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परम्परा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग जिस मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं।

[६३] राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी॥ ३॥

भा०—हे अग्ने! हे (वृषन्) आत्मा और मानस में आनन्द की वर्षा करने वाले प्रभो! (त्वा) तुझको (महे) बड़े भारी विशाल (राये) अनुपम धन के निमित्त (दानाय) अपने को आत्मसमर्पण करने के लिये हम साधक लोग (समिधीमहि) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं। (हि) क्योंकि (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों (महे होत्राय[1]) उसी परमेश्वर रूप कालाग्नि में बड़ी भारी आहुति के लिये हैं। तू भी उसी की (ईडिष्व) स्तुति कर।

[६४] दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्॥ ४॥
ऋ० ७। ५। ३॥

६३—१. होममग्रहणमत्र प्रदर्शनार्थम्। मा० वि०।
१. दधन्वे धारयति धारणेनात्र श्रवणं लक्ष्यते। मा० वि०।
६४—'श्रापि नेरु' इति ऋ०। 'मिवाभवत्' इति ऋ०।

भा०—(ईम्) इस अग्नि को लक्ष्य करके ही (दधन्वे) अध्वर्यु आदि याज्ञिक जिसको धारण करते या शिष्यगण गुरुमुख से श्रवण और स्मरण करते हैं, और वे होता या शिष्य आदि (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (अनुवोचत्) पुनः पाठ या उच्चारण करते हैं (तत् उ) वह सब भी (वेः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का ही है। क्योंकि (नेमिः चक्रम् इव) जिस प्रकार लोहे का हाल चक्र के चारों ओर उसको ढक लेता है उसी प्रकार यह अग्नि भी (विश्वानि काव्यानि) समस्त विद्वानों के बनाये काव्यों, ग्रन्थों और कार्यों को (आभुवत्) व्याप रहा है। अर्थात् समस्त विश्व का साहित्य, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है।

[५] प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८७ । २५ ॥

भा०—हे अग्ने! (यातुधानस्य) हिंसक दुष्ट पुरुष का (विश्वतः परि) समस्त संसार पर जो (हरः) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचारकारी बल है उसको (हरसा) दुष्ट के प्राण निकालने वाले बल, क्रोध, मन्यु से (शृणाहि) नाश कर। और (रक्षसः) दुष्ट राक्षस के (बलं) बल, सेनाबल, (वीर्यं) सामर्थ्य और बीज को भी (न्युब्ज) भून डाल।

[६] त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥ ६ ॥

ऋ० १ । ४५ । १ ॥

५— 'शृणीहि' इति ऋ०। 'विरुज वीर्यम्' इति ऋ०।

६—'प्रु' क्षरणदीप्त्योः । जुहोत्यादिः । घृतप्रुषम् नेक्ष प्रमःस्वम् । भा० वि०।

भा०—हे (अग्ने) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठों वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रुलाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में दु खदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आदान-विसर्ग का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजातं) अपने मनन सामर्थ्य से उत्तमरूप में प्रकट हुए (घृतप्रुषम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वरं जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख।

मनुष्य सब प्राणियों से इसी बात में उन्नत है कि वह १. 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २. 'घृतप्रुषम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वरं' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो। इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का लाभ करता है और तत्तुल्य हो जाता है।

इति दशमी दशतिः । दशम खण्डः ॥ इति प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ द० १ ॥ १ दीर्घतमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ शितः । ६ इरिम्बिठिः । ७, ८ विश्वमना वैयश्व । ९ भारद्वाज । १० विश्वमना ॥ ५ पवमानः । ६ अदितिः ॥ उष्णिक् ॥

[१७] पुरु त्वा दाशिवां वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ १ ॥ ऋ० १ । १५० । १ ॥

१७—'दाश्वान्' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने हारा (अरि[1]) ईश्वर है। अतः मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ घोषे) बहुत अधिक स्तुति करता हूं। और (महस्य) बड़े (तोदस्य इव[2]) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूं।

[१८] प्रहोत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ २ ॥ ऋ० ३ । १० । ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर आहुति करलेने वाले, (विपां) विद्वानों के (ज्योतींषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदि प्रकाशों को (बिभ्रते) धारण करनेहार (वेधसे न[1]) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नये) उस ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् वचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त वाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो, कराओ।

[१९] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३ ॥ ऋ० १। ७९ । ४ ॥

---

१ अरिरमित्र ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव निरु० (५। २। २।) अरिरीश्वर इति मा० वि०। सेवक. इति सा०। २, तोदः गृहस्थः इति मा० वि०।

१८—१. वेधा जगद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतींषि करोति इति सा०।

१९—'अस्मे धेहि' इति ऋ०।

भा०—हे (अग्ने) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठों वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रुलाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में दु खदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आदान-विसर्ग का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजातं) अपने मनन सामर्थ्य से उन्नतरूप में प्रकट हुए (घृतप्रुषम्) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण, या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वर जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख ।

मनुष्य सब प्राणियों से इसी बात में उन्नत है कि वह १, 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २, 'घृतप्रुषम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वर' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो । इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का लाभ करता है और देव-तुल्य हो जाता है ।

इति दशमी दशतिः । दशमः खण्डः ॥ इति प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ ऋ० १ ॥ १ दीर्घतमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ त्रितः । ६ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः । ७, ८ विश्वमना वैयश्वः । ९ भारद्वाज । १० विश्वमना ॥

७ पवमानः । ६ अदितिः ॥ उष्णिक् ॥

[१७] पुरु त्वा दाशिवां वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ १ ॥ ऋ० १ । १५० । १ ॥

१७—'दाश्वान्' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने द्वारा (अरि·[1]) ईश्वर है। अत. मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ वोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूं। और (महस्र) बड़े (तोदस्य इव[2]) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूं।

[९८] प्रहोत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विप्रां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ २ ॥ ऋ० ३। १०। ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर आहुति करलेने वाले, (विप्रां) विद्वानों के (ज्योतींषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विद्युद् आदि प्रकाशों को (बिभ्रते) धारण करनेहार (वेधसे न[1]) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नये) उस ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहद् वच.) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त वाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो कराओ।

[९९] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे देहि जातवेदो माह श्रवः ॥ ३ ॥ ऋ० १। ७९। ४ ॥

---

१ अरिरमित्र ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव निरु० (५। २। २।) अरिरीश्वर इति मा० वि०। सेवक. इति सा०। २. तोदः गृहस्थः इति मा० वि०।

९८—१. वेधा जगद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतींषि करोति इति सा०।

९९—'अस्मे धेहि' इति ऋ०।

भा०—हे अग्ने ! तू (गोमतः) पशु, रश्मियों और इन्द्रियों तथा वेदवाणियों से सम्पन्न (वाजस्य) अन्न, धन, ज्ञान और वीर्य का (ईशान) स्वामी है । हे (सहसो यहो) बलपूर्वक प्रकट होने वाले, महान्, (जातवेद) सर्वज्ञ, सर्वेश्वर देव ! (अस्मे) हमें (महि) बहुत उत्तम (श्रवः) अन्न, धन, कीर्ति और ज्ञान का (देहि) दान कर ।

[१००] अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ३ ॥ ऋ० ३ । १० । ७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! तू (यजिष्ठः) सब से अधिक यजनशील, दानी, संगतिकारक है । तू (अध्वरे) पुण्य दानादि कार्य में (देवयते) विद्वानों और देव, ईश्वर की कामना करते हुए पुरुष के लिये (देवान्) विद्वानों को (यज) एकत्र कर, परस्पर संगति करा । तू स्वयं (होता) सब को दान देने और देव लोगों को आह्वान करने वाला, (मन्द्रः) सब को प्रसन्न करने वाला होता हुआ (स्रिधः) शत्रुगण को (अति वि राजसि) अतिक्रमण करके विशेषरूप से उन पर शासन करता है, उन पर विराट् होकर रहता है ।

[१०१] जज्ञान: सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (ध्रुवः) नित्य, कभी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभिः[1]) सात माताओं, सृष्टि के निर्माता पांच भूत, महत् अहंकार

१०१—'जज्ञान सप्तमातरः', 'वेधामशासत' 'चिकेतयत्' इति ऋ० 'अग्निकेतयत्' इति । सा० ।

१ सप्तमातरः— सप्त छन्दांसि 'सप्त होत्राः' सप्त सोमसंस्थाः, इति (मा० वि०) ।

इनसे (जज्ञान॰) सृष्टि को प्रकट करता हुआ (श्रिये) अपने विभूतिरूप शोभा या आश्रय के लिये (मेधाम्) उत्तम धारणा शक्ति पर (आशासत) वश करता है। वही परमेश्वर (रयीणां) समस्त ऐश्वर्यों को (आचिकेतत्) भली प्रकार से जानता है ।

अध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ (श्रिये) अपने कल्याण के लिये (मेधाम् आशासत) मेधा बुद्धि को धारण करता है । (रयीणाम्) सब प्राणों के वीर्यों को जानता है ।

सप्त मातरः=सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण हैं जिनको उपनिषत्कार सात ज्वाला, सात ऋषि, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वह्नि आदि नामों से पुकारते हैं । (नासिकेत) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ काण्ड से नहीं होता । "नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" । का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम संस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं ।

[१०२] उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत् ।
सा शंताता मयस्करदप स्रिधः ॥६॥ ऋ० ८ । १८ । ७ ॥

भा०—(उत स्या) और वह (अदितिः[1]) कभी खण्डित न होने वाली, दृढ़, ईश्वरीय बलवती, सत्य, (मतिः) मननशक्ति, (दिवा) प्रतिदिन (ऊत्या) हमारी रक्षा के लिये (नः आगमत्) हमें प्राप्त हो । (सा) वह (शंताता) शान्ति उत्पन्न करने वाली (मयः करत्) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे । और (स्रिधः[2]) शत्रु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१०२—'शन्ताति,' 'उतत्या' इति पाठभेदौ । 'सृधः', 'स्रिधः' इति पाठभेदौ ।

१. सकलप्रपञ्चधारणेऽखण्डीना इतिस्कन्दस्वामी । अदितिर्देवमाता (मा० वि०)

२. स्रिधः बाधनार्थः (सा०)

बाध होना सम्भव है, ऐसे भ्रम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह (अप) दूर करे ।

[१०३] ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णु धूममगृभीतशोचिशम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—(जातवेदसं) पदार्थों का ज्ञान करने वाले (चरिष्णु) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों से सम्पन्न, (धूमम्) सबको कंपाने वाले, सब के प्रवर्तक, (अगृभीतशोचिषम्) अप्रतिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न बुझने वाले, अमर, (प्रति-व्यां) प्रत्येक देह या पदार्थ में व्यापक आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू (ईडिष्व हि) उपासना किया कर और (यजस्व) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर ।

[१०४] न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः ॥
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । १५ ॥

भा०—(य.) जो पुरुष (हव्यदातये) ज्ञानदाता (अग्नये) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने को (ददाश) समर्पण कर देता है (तस्य) उस पुरुष का (रिपुः) शत्रु (मर्त्य' चन) मनुष्य भी (मायया) बुद्धि द्वारा (न ईशीत) कभी उस पर वश नहीं कर सकता ।

[१०५] अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३–'प्रतीव्यं' इति ऋ० ।

१०४–,हव्यदातिभिः' इति ऋ० ।

भा०—हे (सत्पते) सत्पुरुषों के प्रतिपालक ! (त्य) उस (वृजिनं) पापशील, त्याग करने योग्य (रिपुं) हिंसक, शत्रु, (स्तेनं) चोर, (दुराध्यम्) दुःख से वश करने योग्य, (द्विषं) हृदय से दूर, द्वेषी पुरुष को (अप-अस्य) दूर कर । और हमारे लिये उसको (सुग) सुखसे वश करने योग्य (कृधि) बना दे ।

[१०६] श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते ।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥ ऋ० ८ । २३ । १४॥

भा०—हे (वीर) वीर्यवन् ! हे विश्पते ! प्रजा के पालक ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (मे) मेरे (नवस्य) नूतन (स्तोमस्य) स्तुति को (श्रुष्टी[1]) श्रवण करके (मायिन:) माया, छल कपट आदि से युक्त, मायावी (रक्षसः) राक्षसो और दुष्ट भावों को (तपसा) अपने तेज से (नि दह) सर्वथा भस्म कर ।

इति प्रथमा दशति: । इति एकादशः खण्डः

॥ द० २ ॥ १-४ प्रयोगो भार्गवः सौभरिः काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७ सौभरिः । ८ विश्वमनाः वैयश्वः ॥ ककुप् ॥

[१०७] प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उप स्तुतासो अग्नये ॥१॥ ऋ० ८ । १०३ । ८ ॥

१०६–'तपुषा' इति ऋ० ।

१०७-१. शुचि इति स्तात्स्यादयोपि निपातितः । वलोपश्छान्दसः ।

भा०—(मंहिष्ठाय[1]) सबसे अधिक दानशील (ऋतावने) यज्ञ करनेहारे, सत्यमय, (बृहते) महान्, (शुक्रशोचिषे) देदीप्यमान, कान्ति से युक्त (अग्नये) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे (उप स्तुतासः[2]) हे स्तोतागण ! (प्रगायत) उत्तम रूप से कीर्तन करो।

[१०८] प्र सो अग्ने तवोतिभि सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥ ऋ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! (यस्य) जिसके (त्वम्) तू (सख्यम्) मैत्रीभाव को (आविथ) प्राप्त कर लेता है (स) वह (तव) तेरे (सुवीराभि) उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ऊतिभि') रक्षासाधनों द्वारा और (वाजकर्मभि) अन्न के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से (तरति) सब विघ्नों को पार कर जाता है।

[१०९] तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥ ऋ० ८ १५ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (तं) उस (स्व -नरं) सब के नेता अथवा उस सुखस्वरूप, मोक्षमार्ग के पथदर्शक, परम (देवम्) देव की (गूर्धय) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर। (देवास) देव-विद्वान् लोग इन्द्रिया या पंचभूत उस (देवम्) प्रकाशमान देव को (अरतिं[1]) सर्वज्ञ या अति

१०८–'सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभि' इति ऋ०।
'सख्यमावर.' इति ऋ०। 'आवरे' इति स० सा०।
वाजभर्मभि. इति पाठ शुद्ध', साम्नो 'वाजभर्मीय' इत्याम्नानात् (अनु०)
१०९–'गूर्धया', 'हव्यमोहिरे' इति ऋ०।
१ अरतिम् अलंमतिं मनेंशमिति मा० वि०।

प्रीतिमान् स्वामी (दधन्विरे) स्वीकार करते हैं। वह (देवत्रा) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानों, पञ्चभूतों और इन्द्रियों में (हव्यं) उनके भीतर शक्ति ज्ञान और भोग्य पदार्थों को (ऊहिषे) पहुंचाता है।

[११०] मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥ ऋ० ८। १०३। १२॥

भा०—हे मनुष्य ! (नः) हमारे (अतिथिं) अतिथि के समान पूजनीय देव के प्रति (मा हृणीथा[१]) क्रोध या अनादर मत कर। (एषः) यह (पुरुप्रशस्तः) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करने योग्य है। वह (वसु) वास देने योग्य सबके भीतर बसने वाला और सबको बसाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश से सम्पन्न है। (यः) जो (सुहोता) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और (स्वध्वरः) उत्तम हिंसा रहित कार्यों का अनुष्ठाता, पालक है।

[१११] भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ ऋ० ८। १९। १९॥

भा०—(नः) हमारा (आहुत) भली प्रकार उपासित, (अग्निः) परमेश्वर (भद्र) हमारे कल्याण के लिये हो। हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवान् अग्ने ! परमेश्वर ! (रातिः) हमारा दिया दान हमें (भद्रा) कल्याणकारी सुखकारी हो। हमारा (अध्वरः) हिंसा रहित कार्य, यज्ञ भी (भद्रः) कल्याणकारी, सुख शान्ति और ऐश्वर्य का दायक हो, (उत) और (प्रशस्तयः) हमारे सकीर्तन आदि भी (भद्राः) कल्याणकारी सुखप्रद हों।

११०—[१] "मा नो हृणीतामतिथिर्वसुः" इति ऋ०।१. मा हृणीथा. मा क्रोत्सी इति। मा० वि०। हृणिः क्रुध्यतिकर्मा। नि० २। १२॥

१ २ ३१२ २ ३१२ २ २३ १२
[११२] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥६॥ ऋ० ८ । १९ । ३ ॥

भा०—(यजिष्ठं) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य (देवत्रा देवं) देवों के देव, (होतारम्) सब पदार्थों के दाता, (अमर्त्यम्) अविनाशी मरणरहित, (अस्य यज्ञस्य) इस जीवनयज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे (त्वा) तुझ को (ववृमहे) हम वरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३] तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा सदने कञ्चिदत्रिणम् ।
३ १२ २२ ३२३ २
मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥७॥ ऋ० ८ । १९ । १५ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (तद्) वह (द्युम्नम्) अन्न, धन, ज्ञान और बल (आ भर) हमें प्राप्त करा, जो (सदने) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में (कञ्चित्) हर किसी प्रकार के (अत्रिणम्) पापभोगी, चोर, (जनस्य मन्युं) सर्वसाधारण प्राणियों के क्रोध के पात्र (दूढ्य[1]) दुष्ट पुरुष को (सासाह) दबा सके ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ २
[११४] यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे ।
२२ ३ २उ ३ १ २
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । १३ ॥

भा०—(यद्वा उ) जब भी (शित) मन्यु और न्याय युक्त व्यवस्था के भंग होने पर तीक्ष्ण हुआ (विश्पति) प्रजाओं का पालक,

११३–'यत्सासहन्सदने' "जनस्य दूढ्य" इति ऋ० । 'दूढ्या' इति च स० सा० ।

१. दूढ्य- दुर्धिय पापधिय. इति नि० ५ । ४ । २ ॥

११४–'मनुष्यो विशि' इति ऋ० ।

प्रभु (मनुषो, विशे) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त (सुप्रतिः) प्रसन्न, दत्तचित्त होता है, तब (अग्निः) अग्नि स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह (विश्वा इत्) सब प्रकार के (रक्षांसि) राक्षसों को (प्रति सेधति) दूर करता है।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और आततायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे।

अध्यात्म पक्ष में—विश्पति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इस देह में स्वच्छ, निर्मल, सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आसुरी वृत्तियों पर विजय पाता है और व्युत्थानों को दूर करता है।

इति द्वितीया दशतिः। इति द्वादशः खण्डः।

इत्याग्नेयं काण्डम्।

इति प्रथमोऽध्यायः।

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमत्पंडितजयदेव शर्मणा विरचिते सामवेदालोकभाष्ये आग्नेय काण्डं समाप्तम्।

ओ३म्

अथात ऐन्द्रं काण्डम् ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥८०३॥ ऋषि.—१ शंयुर्बार्हस्पत्यः ।२ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ।३ हर्यतः प्रगाथः ।४, ५ शुनकक्ष. । ६ इन्द्रमातरो देवजामय ऋषिकाः । ७, ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । ९ मेधातिथिराङ्गिरसः । १० काण्व । गायत्री ॥

१ २ ३१र २र ३ १ ३ १ २
[११५] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
२उ ३ २ ३ १ २
शं यद्गवे न शाकिने ॥१॥ ऋ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) तुम लोग (सत्वने[1]) वीर्यवान्, सत्यस्व रूप सदा विद्यमान रहने वाले (पुरुहूताय[2]) इन्द्रियगण, प्रजाओं और मनुष्यों द्वारा ज्ञान धन और भक्ति द्वारा पूजित (गवे) गौ, पृथ्वी और वेदवाणी क लिये (शाकिने) शक्तिमान् राजा, बैल या किसान के समान (यत्) जो (शं) कल्याणकारी है (तत्) उस इन्द्र का (सुते) अपने यज्ञ में (सचा) एक साथ मिलकर (गायत) कीर्तन करो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११६] यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मद ।
१ २ ३१र २र
तेन नूनं मदे मदे ॥२॥ ऋ० ८ । ९२ । १६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और क्रियाओं में कुशल[1] हे (इन्द्र[2]) ऐश्वर्यशील ! (य) जो (ते) तेरा (द्युम्नितमः) कीर्तिजनक ऐश्वर्यपूर्ण (मदः) हर्ष का कारण आनन्द रूप है (तेन) उसीसे (मदेम) तृप्तिकारी आनन्दरस में (मदे) स्वयं भी प्रसन्न रह और हमें भी प्रसन्न कर ।

११५—१ सत्वने 'इमूना सादयिष्ने' सा० । सत्=सत्य तद्वते ।,
२ पुरु इति इन्द्रियम् । द० उ०

[११७] गाव उपवदा वटे मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १२ ॥
यजु० । ३३ । १६ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! वाणियो ! रश्मियो ! नदियो ! (अवटे[1]) यज्ञस्थान, रक्षास्थान, ईश्वररूप, गंभीर स्थान में (उपवद) आओ, अपना तात्पर्य प्रकाशित करो । अर्थात् गौए जिस प्रकार रक्षास्थान में, रश्मियें सूर्य में और नदियें गंभीर गर्त्त, जलाशय या समुद्र में आश्रय पाती हैं इसी प्रकार हे वाणियो ! तुम सकल रक्षक परमेश्वर में लगती हो । (मही) विशाल यह पृथ्वी और यह द्यौलोक (यज्ञस) यज्ञ का (रप्सुदा) उत्तम फल देनेवाले हैं । (उभा) दोनों (हिरण्यया) हरणशील, भोग्य लोकों के प्राप्त कराने में (कर्णा) साधनभूत हैं ।

[टि०—इस मन्त्र पर सब भाष्यकारों के मत भिन्न २ हैं । यजुर्वेद में महीधर और उवट के मत में—"वे गौए कूप के समीप आवें और पृथ्वी और द्यौ यज्ञ का फल देनेवाली है और इनके दोनों कान सोने के हैं ।" सायण के मत से—' हे (गावः) यज्ञकर्त्ताओ ! तुम महावीर के पात्र की स्तुति करो यह यज्ञ का फल देता है । उस कूण्डे के दोनों कान सोने के हैं ।'' स्वामी तुलसीराम के मत से—'यज्ञकुण्ड के समीप हे वाणियो ! तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसमे यज्ञभूमि वेदपाठ के प्रवाहवाली हो और श्रोताओं के दोनों कान प्रकाशमय हों ।' इनमें कर्मकाण्ड को लक्ष्य करके

११७—उपावनावत इति पाठभेदः, ऋ०

१ यजुर्वेद भाष्ये अवट गर्त्तमिति उवटमहीधरयोः सम्मतोर्थः अवती-त्यवत रक्षारथल । अवट कूपम् । रक्षादायकत्वादेव इन्द्रोप्यवटशब्दवाच्यः शरण्यत्वाद्य । अवतीत्योम् । समानधातुवशाद् ओंकारः परमेश्वर एव सर्वस्तुतिनाना शरणमित्यवगतम् ।

यज्ञ के विनियोग के अनुसार सायण महीधरादि की पदयोजना संगत है। परन्तु अध्याहार और उक्तार्थता का दूषण है। यही दोष तुलसीरामजी के अर्थ में भी है। हमारी सम्मति में 'ओम्', 'अवत', 'अवट' ये तीनों शब्द रक्षार्थक अव धातु से बने हैं, इसलिये यह मन्त्र परमात्मा की स्तुति पर लगाना चाहिये।]

[११८] अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे।
अरमिन्द्रस्य धाम्ने॥ ४॥ ऋ० ८। ९२। २५॥

भा०—हे श्रुतकक्ष) हे वेदविज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात् हृदय में रखने वाले! (अश्वाय अरं गायत) व्यापक प्रभु या शीघ्र गमनशील, भोक्ता आत्मा के गुणों का वर्णन करो (गवे अरं) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा, या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रत्न का उत्तम रीति से वर्णन करो। (इन्द्रस्य[1]) सब इन्द्रियों के मालिक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (धाम्ने, तेजः सामर्थ्य का (अरं गायत) खूब गुण गाओ।

[११९] तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत्॥ ५॥ ऋ० ८। ९३। ७॥

भा०—(तं) उस (इन्द्रं) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (वाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। (महे) बड़े भारी (वृत्राय) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को (हन्तवे) विनाश, करने के

११८—'श्रुतकक्षो अरं' इति ऋ०।

१, इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० अ० ५। २। ९३) इतीन्द्रशब्दाद् घच्। इन्द्रियम्।

लिये (सः) वह (वृषभः) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और (वृषा) समर्थ, बड़ा बलवान् (भुवत्) है ।

[१२०] त्वामिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १५३ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (बलाद्) बल से, और (सहसः) शत्रुदमन कारी सहनशक्ति से, (ओजसः) कान्ति और प्रभाव से (जातः सन्) प्रकट होकर ही (वृषन्) हे वृष तुल्य ! सबके भीतर उत्पादक शक्ति के देनेहारे ! समस्त सुखों के वर्षक ! (त्वं) तू (वृषा इद्) वृषा वीर्य सेचन में समर्थ ही (असि) है, तू ही सबमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण है ।

[१२१] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । १४ । ५ ॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ प्रजापति (इन्द्रं) आत्मा को (अवर्धयत्) बढ़ाता है (यद्) क्योंकि यज्ञ ही (दिवि) सूर्य के आश्रय, आकाश में (ओपशं) लटकाकर (आ चक्राणः) चक्र के समान चलाता हुआ (भूमिं) भूमि को (वि अवर्तयत्) विशेषरूप से वृत्तगति में घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य' और 'यज्ञ का अर्थ 'सौर जगत्' या प्रवर्त्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड मे इस सौर जगत् के अनुकरण मे ही यह यज्ञवेदी और छोटे अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों मे समान रूप से तीनों का वर्णन किया गया है । अध्यात्म पक्ष में—इस जीवन-यज्ञ ने इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है अर्थात् देहरूप कर्मभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बहने दिया । और द्यौलोक रूप मस्तक में वह विद्यमान है, इत्यादि ।

*

[१२२] यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (एक इत्) अकेला ही (वस्वः) धन, विभूति, ज्ञान, जीवन शक्ति को (ईशीय) वश करता है उसी प्रकार (यद्) यदि (अहं) मैं जीव भी अपनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में समर्थ होजाऊं तो (गोसखा) इन्द्रियों के समान ही ख्याति से सम्पन्न यह (मे) मेरा आत्मा भी (स्तोता) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला (स्यात्) होजाय ।

[१२३] पन्यंपन्यमित्सोतार आधावत मद्याय ।
सोमं वीराय शूराय ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । २ । २५ ॥

भा०—हे (सोतार) ज्ञान सम्पादन करने वाले साधन मेरे इन्द्रियो ! अथवा हे ज्ञानयोगी पुरुषो ! (मद्याय) सबसे अधिक प्रसन्न होने वाले (वीराय) सामर्थ्ययुक्त वीर, विशेष प्रकार से तुम सबको प्रेरणा देने वाले (शूराय) बलवान् पराक्रमी, आत्मा या परमात्मा के विषयक (पन्यं पन्यं) प्रशंसनीय, उत्तम २ (सोमं) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को (आधावत) प्राप्त करने के लिये शीघ्र पहुंचो, शीघ्रता करो ।

संसिद्धि प्राप्त करने वाले साधक की यही भावना होती है ।

[१२४] इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन् ररिमा ते ॥ १० ॥ ऋ० ८ । २ । १ ॥

१२२—'गोषखा' इति ऋ० ।

भा०—हे (वसो) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में द्रव्य इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू (इदम्) इस (सुतम्) उत्पन्न किये (अन्ध.) अन्न, जीवन धारण सामर्थ्य को (सुपूर्णम् उदरम्) खूब पेट भर कर (पिब) ग्रहण कर । हे (अनाभयिन्) भयरहित वीर, यह सब सोम आदि आत्मा (ते) तेरे लिये हम (ररिम) देते हैं, भेंट करते हैं ।

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः" इत्यादि, उपनिषद् की यहां संगति होती है । आत्मा को राजा के दृष्टान्त से बृहदारण्यक में उत्तम रीति से समझाया है ।

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि.—१, २ सुकक्षश्रुतकक्षौ । ३ भारद्वाज. । ४ श्रुतकक्षः । ५, ६ मधुच्छन्दाः । ७, ९, १० त्रिशोकः । ८ वसिष्ठः । गायत्री ॥

[१२५] उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९३ । १ ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्धि धन, ज्ञान और कीर्ति वाले (वृषभम्) सुख और आनन्द की वर्षा करनेवाले, सर्वश्रेष्ठ (नर्यापसम्) मनुष्यों के हितकारी कार्य करने और मन संकल्प करने वाले (अस्तारम्) अपने प्रतिपक्षियों और काम क्रोध आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, पराक्रमी वीर पुरुष के प्रति (इत् उ) ही तू (उद् एषि) ऊपर उठता है, उदित होता है ।

सदाचारी, परोपकारी काम क्रोधादि के जीतने वाले पुरुषपुंगव का आत्मा सूर्य के समान उन्नति को प्राप्त होता है ।

[१२६] यद्द्य कच्च वृत्रहन्नुद्गा अभि सूर्य ।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-अन्धकार या विघ्नों के नाश करने हारे ! हे (सूर्य) समस्त जगत् के समान इस देह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! (अद्य) आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी पदार्थ के सन्मुख (उद् अगा) तू उदित होता है (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे ही (वशे) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बांधते हैं वही उनके वश में होजाता है । शौनक ने यह मन्त्र, शाप नाश करने और जगत् भर को वश करने की साधना का मूलमन्त्र लिखा है ।

यद्द्यकच्चेत्युदिते रवौ स्तुत्वा पुरन्दरम् ।
शापमपाहंत त्रिप्रं वश्यं वा कुरुते जगत् । (ऋग्विधाने शौनक)

[१२७] य आनयत्परावत. सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४५ । १ ॥

भा०—(य·) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुनीती) उत्तम नीति, उपाय साधन द्वारा (तुर्वश) कामनाओं से बंधे और (यदुं) कुपथ में गये पुरुष को (परावत.) बहुत दूर से भी (आनयत्) सन्मार्ग पर लेआता है (स.) वह (न.) हमारा (युवा) सदा जवान, अजर, अमर, नित्य, (सखा) इष्ट मित्र और समान ख्याति वाला, हमारे आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहां इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य तीनों पर समान भाव से लगता है ।

[1]. 'तुर्वशं'—तुर्वी हिंसायाम् । भ्वादि. । कलेरशच् । हिंसन्ति आहिंसन्ते व्याध्यादिभिर्वा । यद्वा तूर त्वरणहिंसनयोः । दिवादिः । यद्वा तुर्वश. काम

दृशामिति तुर्वशाः । यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एषामिति चतुर्वशाः सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः । दे० य० । तुर्वश इति मनुष्यनाम । नि० २ । ३ ॥

'यदुम्'—यदुः, यमेर्डुक् इति भोज: । यम्यते नियम्यते आचार्येण अपथप्रवृत्ताराज्ञा वा । यदुरिति मनुष्यनाम । नि० २ । ३ ॥

तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, यदु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं। सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है । परन्तु वेद में ये सब मनुष्य के पर्याय शब्द हैं । धात्वर्थों के भेद से भिन्न २ गुण के मनुष्यों के ये वाचक हैं । जैसे-(१) 'तुर्वी हिंसायां' धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुर्वश शब्द बनता है । जो प्राणियों को मारें या व्याधि से पीड़ित हों । (२) तुर्वशः= जिन को काम अर्थात् एषणा हो वे तुर्वस कहाते हैं । या ३) जो धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारों को अपने वश करलें वे 'तुर्वश' कहाते हैं । इसी प्रकार 'यदु' वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम व्यवस्था में लाए जावें । आर्यसाहित्य में देव को इष्ट, बन्धु कहा जाता है और आचार्य को भी सुहृद् माना गया है । 'सुहृद् भूत्वा आचार्य उपादिशति' (पातं० महाभाष्य)

[१२८] मा न इन्द्राभ्या३दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत् ।
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥ ऋ० ८ । ९२ । ३१ ॥

भा०— हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (आ दिशः) चारों दिशाओं से भी (नः) हमारे (अभि) प्रति (अक्तुषु) रात्रि, अन्धकार युक्त कालों में, राक्षस तामस अवस्थाओं में भी (सूरः) चुपके २ छापा मारने वाला चोर या हिंसक जन्तु या काम क्रोध आदि शत्रु (नः मा अभि आ यमत्[१]) हम पर काबू न करें, फांस न ले, बल्कि हम (तत्)

१ २८—'आयमन्' इति, ऋ० ।

उस समय (त्वा युजा) तुझ अपने सहायक द्वारा उसे (वनेम) मार डालें।

अक्तुः रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. वन पारिवेषणे (भ्वादि) ३. अथ ऋय हिंसार्थाः वन चेति भ्वादिः ।

[१२६] एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सानसिं) उत्तम प्रकार से विभाग करने योग्य (सजित्वान) अपने शत्रु पर विजय दिलाने वाले, (सदासहं) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को सहन करने वाले, (वर्षिष्ठं) शत्रु पर बाणों और आयुधों की वर्षा करने वाले या बहुत अधिक (रयिं) सेना को (ऊतये) रक्षा के लिये (आ भर) प्राप्त कर । आत्मा के पक्ष में रयि-प्राण या आत्मिक ज्ञान, बल जो शरीर में स्थान २ पर लटा हुआ है, सब दोषों पर विजय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखों को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करता है ।

रयि रीङ् गतौ —रीयते गच्छति इति रयि । यद्वा रातेर्दानार्थस्य । गच्छत्याक्रमति शत्रून् इति रयिः सेना । कोशायत्तत्वाद् भृतिरक्षिता सेना वा रयिः । सजित्वानं सदासहमिति विशेषणबलादपि सेनार्थ ।

[१३०] इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥ ऋ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाधने) बड़े २ संग्राम के अवसर में और (अर्भे) छोटे मोटे परस्पर के कलह या चोरी आदि के अवसर पर भी (वयं) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्न और उपद्रवों और विघ्नकारियों पर (वज्रिणं) सदा तलवार या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हार, (युजं) सदा के

सहायक, (इन्द्रम्) राजा को (अर्थ) हम (हवामहे) बुलाते हैं उसके गुण कीर्तन करते हैं। यहां इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उपनिषदों में मुख्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पक्ष में (महाधने) बड़े भारी योगसाधन और (अर्भे) सूक्ष्म विचार में भी (वृत्राणि) आत्मा पर पर्दा डालने वाली तामस, व्युत्थान वृत्तियों पर (वज्रिणम्) सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाले विवेक से युक्त आत्मा का स्मरण करें। जैसे काठक में "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतम्।" कठ० वल्ली २ ॥

महाधनमिति संग्रामनाम (नि० २। १७।) । अर्भो ह्रस्वः ।

[१३१] अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।

तत्राददिष्ट पौंस्यम् ।७। ऋ० ८। ४५। २६॥

भा०—(इन्द्रः) राजा (सहस्रबाह्वे) हजारों प्रकार से शत्रु को परास्त करने के लिये (कद्रुवः) विद्वान् ज्ञानी के (सुतम्) ज्ञान का (अपिबत्) पान करता, उपयोग करता है (तत्र) तभी (पौंस्यं) उसका बल (आदिदिष्ट) अधिक चमकता है।

बाहुर्बाधते, परान् बाधत इति बाहु इति देवराजो यज्वा। कद्रुः कवतेऽसौ कद्रु विद्वान्। जत्वादिषु औणादिकं निपातनम्। उणा० १। १०२॥

आत्मपक्ष में कद्रु मन। बाहु= कर्म। मेघ, बाहु=जलधारा, इत्यादि।

[१३२] वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्रनोनुमो वृषन्।

विद्धी त्वा३स्य नो वसो ॥८॥ ऋ० ७। ३१। ४॥

१३१—'अत्राददिष्ट' इति ऋ०। अत्राददिष्टेति स० सा०।

१३२—'प्रणोनुम' 'विद्धी त्व' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वृषन्) हे सबसे श्रेष्ठ सुखों के वर्षा करने हारे ! (वयम्) हम (आयवः) ज्ञानशील मनुष्य (त्वा) तुझ को (अभि प्र नोनुमः) निरन्तर प्रणाम करते हैं । हे (वसो) सब के भीतर वास करने हारे (नः) हमारे (अस्य) इस सबको तू (विद्धि) निश्चय पूर्वक जानता ही है ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३३] आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
३ २ ३ २ ३ १ ३
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ४५ । १ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं और (येषां) जिनका (युवा) अजर, अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला (इन्द्रः) आत्मा (सखा) मित्र है । वे (आनुषक्) निरन्तर (बर्हिः[1]) अपने कर्मबन्धन, देह को (स्तृणन्ति[2]) काट डालते हैं । आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान लेने वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त होजाते हैं ।

'बर्हि' धान्य को कहते हैं । देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और वृक्ष से दी है । जैसे १. 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' (काठकम्) २. 'ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।' 'अहं वृक्षस्य रेरिवा' (तै० उ०)

३ २उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१३४] भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
१ २ ३ १र २र
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४० ।

१३३—१. बृहेर्नलोपश्च । बृहि वृद्धौ । यस्य त्रिधात्वयुत बर्हिः, ऋ० ८ । १०२ । ४ अत्रापि बर्हिः शरीर त्रिधातुज वर्णितम् । यथा भागवते-'यस्यात्मबुद्धि कुणपे त्रिधातौ'० इत्यादि ।

२ स्तृणाति, कृन्तति, स्तृणात्यादयः पर्याया धातवः सर्वे वधकर्माणः । नि० २ । १९ ॥

भा०—(विश्वा द्विषः) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् ! आत्मन् ! (अप भिन्धि) दूर ही काट डाल और (बाध) पीड़ा पहुंचाने वाले, (मृधः) संग्रामकारी हिंसक, सेनाओं को (परि जहि) सब ओर नाश कर । (स्पार्हम्) हमारी अभिलाषा के पात्र (तद्) उस (वसु) हमारे भीतरी आत्मरूप धन को (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । वेद के शब्दों में आत्मा 'स्पार्ह' वसु या सबसे अधिक प्रिय धन है । 'तत्' यह शब्द उस विस्मृत को याद कराता है जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये हैं जिसको मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् । यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' । इस पर याज्ञवल्क्य ने उक्त सिद्धान्त कहकर कहा । 'एतावदरे खलु अमृतम् ।' यह 'तत्' अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदु नात्येति कश्चन, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ द० ५ ॥ १ काण्वो घोरः । २ त्रिशोकः । ३ वत्सः काण्वः । कुसीदी काण्वः । ५ मेधातिथिः । ६ श्रुतकक्षः । ७ श्यावाश्वः । ८ प्रगाथः काण्वः । ९ वत्स । १० हरिमिठः । गायत्री ॥ षड्जः ॥

३ १ २   ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१३५] इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
१र २र ३ १ २
नियामं चित्रमृञ्जते ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३७ । ३ ॥

भा०—(एषां) इन मरुतों प्राणों के (हस्तेषु[1]) हाथों में (कशा) कशा है । (यद् वदान्) यह जो बात कहते हैं (इह एव शृण्वे) उसको

१३५—१. हस्तो हन्तेः, प्राशुर्हनने इति । निरु० १, ३, २ ।

मैं यहां ही सुनता हूं। वह कशां (चित्रं) अद्भुत प्रकार से (प्रनियामं) प्रनियम, व्यवस्था को (अञ्जतं) साध रही है।

'कशा' का वर्णन अथर्ववेद (का० ६ । सू० १) में किया है। जैसे -

"य'पूनि मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ।"

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथक् नरो बहुधा मीमांसमानाः ।

"अग्नेर्वातान् मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ।"

साधक प्रत्यक्षदर्शी ऋषि कहता है कि मैं उन मरुतों की कशा (इन्द्र) के नाद को सुनता हूं वह विचित्र प्रकार से सबको व्यवस्था में बांधे है। अथर्व में इसको 'मरुतामुग्रा नप्ति' प्राणियों को उग्र रूप होकर बांधने वाली बतलाया है। इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन के अलंकार की व्याख्या में शिव के जगन्नाथ के महारथ पर मरुत् सारथि के हाथों में ओंकार को इन्टर बतलाया है। शि० पु०। योगी लोग उसी ओंकार के अनाहत नाद को सुनते हैं। उसी का यहां विवरण है।

[१३६] इम उ त्वा विचक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः ।
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १६ ॥

भा०—(पुष्टावन्तः) पुष्टिकारक पदार्थ घास दाना आदि को हाथ में लिये पशुपालक पुरुष (यथा) जिस प्रकार स्नेह से अपने (पशुं) पालतू पशु को देखते हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र! परमेश्वर ! (इमे) ये (सोमिनः) सोमरस या आत्मज्ञान के धारण करने वाले पुरुष तेरे (सखायः) मित्र (त्वा) तुझको देखते हैं।

स्नेह प्रदर्शनमात्र समान धर्म दिखाया गया है। आत्मज्ञानी साधक पुरुष नानास्तुति ज्ञान चर्चा एवं ध्यान साधना द्वारा अन्तरात्मा पूर्ण प्रभु को बुलाते हैं, उसके प्रेम में उसको निरन्तर निहारते हैं कि "अथ दर्शन

देता है, अब देता है, अब ! अब ! । गीता में जैसे—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।"

[१३७] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र के (मन्यवे) क्रोध के सामने या मनन ज्ञान, संकल्प के समक्ष (विश्वा) समस्त (विशः, प्रजाएं (नमन्त) ऐसे झुकती हैं, जैसे (सिन्धवः) नदियां (समुद्राय इव) समुद्र में समाजाने के लिये आपसे आप बहती हुई चली जाती हैं ।

इस 'मन्यु' को गीता में व्यास ने कहा है ।
"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।"
इस ऋचा की व्याख्या की गई है । जैसे—
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
गीता ११ । २८ ।

झुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः' । (गी० ११ । ३६)

[१३८] देवानामिदवो महत्तदावृणीमहे वयम् ।
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १ ॥

भा०—(वृष्णाम्) सुखों और ज्ञानों की धारा बरसाने वाले (देवानाम्) विद्वान् गुरुओं या प्राणों की (इत्) ही (महत् तत् अवः) बड़ी भारी उस रक्षा या शरण को हम (अस्मभ्यम्-ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (आ वृणीमहे) सब प्रकार से चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० (व० १ । अनु० १०) में जैसे—"यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः

युक्ताः आयुक्ता; अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । गी० अ० ४ । ३४–३५॥

[१३९] सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १८ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्मणस्पते ! ज्ञानिन् ! (सोमानां) ज्ञानों के योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये (कक्षीवन्तं) कक्ष, छाती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण को (स्वरणं) सुख से गमन करने वाला एवं (देदीप्यमान) बलसम्पन्न (कृणुहि) कर (यः) जो प्राण (औशिजः) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकरण को तैत्तिरीयशाखा में इस प्रकार स्पष्ट किया है— "सोम स्वरणमित्याह सोमपीथमेव अवरुन्धे । कृणुहि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चसमेवावरुन्धे इत्याह ।" अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में प्रखरता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार 'कक्षीवान्' के विषय में यास्क कहते हैं 'कक्षीवान् कक्ष्यावान् । उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः । (नि० ६ । ३ । १) कक्षो गाहते क्सः इति नामकरणः । ख्यातेर्वा अनर्थकोऽभ्यासः । किमस्मिन् ख्यानमिति । कषतेर्वा तत्सामान्यान्मनुष्यकक्ष । (नि० २ । १ । ५)" इस प्रकार कक्षीवान्, ज्ञानवान् ख्यातिमान्, सहायवान् । औशिज=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न । कक्ष=मनुष्य या प्राणी की कोख,

१३९—'सोमान' इति ऋ० ।

उनमें निवास करने वाला कक्षीवान् है । और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'औशिज' कहाता है । ज्ञानी पुरुष उसको ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देदीप्यमान करें ।

[१४०] बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ९३ । १८ ॥

भा०—(नः) हमारा (शक्रः) शक्तिशाली आत्मा (वृत्रहा) तामस आवरणों का नाश करने वाला (भूर्यासुतिः) अति अधिक समाहित वृत्ति वाला होकर, (बोधन्मनाः) ज्ञानशील चित्त वाला (इद्) ही (अस्तु) हो। और वह (आशिषम्) आशीर्वाद, उत्तम कामना को (शृणोतु) सुने ।

[१४१] अद्य नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम् ।
परा दुष्ष्वप्न्यं सुव ॥ ७ ॥ ऋ० ५ । ८२ । ४ ॥

भा०—हे (सवित) सब के प्रेरक, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन्! (नः) हमारा (प्रजावत्) अपनी प्रजाओं के समान (सौभगं) उत्तम कल्याण (अद्य) आज, प्रतिदिन (सावीः) उत्पन्न कर। (दुष्वप्न्यं) चित्त में से दु संकल्पों के कारण होने वाले तन्द्राकालिक प्रमाद को (परा सुव) दूर कर ।

योग के साधनों को करते हुए साधक के आग्रहपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाह्य निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व वासनाएं तन्द्रा के

१४०—'बोधिन्मना' इति ऋ० ।
१४१—'अद्यानो', 'दुःष्वप्न्य' 'दुष्ष्वप्न्य' इति ऋ० ।

अवसर पर दुःस्वप्नों का कारण होती हैं। उनको दूर करने और शुभ विचारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है।

[१४२] का३ स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
ब्रह्मा कस्तं सपर्य्यति ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ७॥

भा०—(वृषभ.) इन्द्रियरूप गौओं में बैल के समान भोक्ता सर्व-श्रेष्ठ, मेघ के समान सुखों का वर्षक, (युवा) सदा अजर, (अनानतः) कभी किसी के आगे न झुकने वाला, स्तब्ध, (तुविग्रीव) बहुतसी ग्रीवा वाला, इन्द्र (स्य. क) वह आत्मा कहां है? (तं) उसको (क) कौन (ब्रह्मा) ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् (सपर्यति) उसकी पूजा करता है। अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो! तुम इस अप्रतर्क्य, अवाङ्मनसगोचर सहस्र शीर्षा पुरुष की विवेचना करो और उसके सच्चे उपासक ब्रह्मज्ञानी को भी पहचान करो।

कथमिन्द्रो बहुग्रीव ? उच्यते। परमात्मस्वरूपत्वात्। 'सर्वत पाणि-पाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति, इति भा० वि०। तुवीति बहुपर्याय। (नि० ३ । १ । ३ ।) ग्रीवा निग-रणात् का३स्येति अनुदात्त प्रश्नान्ताभिपूजितयोरिति प्लुतिरनुदात्तश्च (पा०)

इन्द्र बहुग्रीव किस प्रकार है? गीता कहती है—

"बहुवक्त्रनेत्र महाबाहो बाहुबाहूरुपादम् ॥"
बहूदरं बहुदंष्ट्राकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥
अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है-'सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात्' (यजु० ३१ । १ ॥)

१४२—कस्यति पाठभेद, ऋ०।

[१४३] उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—(गिरीणां) पर्वतों के (उपह्वरे) तट प्रान्त में और (नदीनां च) नदियों के (संगमे) संगम स्थान पर (धिया) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से (विप्रः) मेधावी पुरुष (अजायत) तैयार हुआ करता है ।

तपस्वी लोग एकान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं । आत्मा के पक्ष में– (गिरीणां) मेरुदण्ड के पोरुओं के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन (नदीना) नाड़ियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है । अथवा—गिरय=स्तोतारः । नद्यः= सरस्वत्यः । धीरध्ययनम् । कवियों, ज्ञानप्रवक्ताओं के पास वेदवाणियों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अध्ययन करने और मनन करने से 'विप्र' विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी होजाता है ।

[१४४] प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १० ॥ ऋ० ८ । १६ । १ ॥

भा०—(चर्षणीनाम्) तत्त्वदर्शी, आचारवान् पुरुषों के बीच (सम्राजं) प्रकाशमान, (नव्यं[1]) स्तुति करने योग्य, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न (नरं) सबके नेता, (नृषाहं) सब मनुष्यों को अपने तेज से दबाने वाले, (मंहिष्ठं) सबसे अधिक पूजनीय परमेश्वर की (प्र स्तोत) उत्तम रीति से स्तुति करो ।

१४३—'सगथे च नदीनाम्' इति ऋ० ।

१. णु स्तुतौ (तुदादि०) नव्य स्तुतियोग्यमित्यर्थः ।

चर्षणयः चरणवन्त: चरणशीलाः । चरतेरनिरौणादिः । कुर्षेर्वा । मद्वा चायितारो द्रष्टारः । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा । (नि० २ । २)

चर्षणिश्चायिता द्रष्टा इति स्कन्दस्वामी । चर्षणयो मनुष्या. (नि० २ । ३ ।)

इति पञ्चमी दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

॥द०६॥ ऋषि:—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । २ मेधातिथिः । ३ गोतम. । ४ भरद्वाज । ५ विन्दु: पूतदक्षो वा । ६, ७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । ८ वत्सः काण्व । ९ शुन:शेप. । १० शुन:शेपो वामदेवो वा ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्ज. ॥

[१४४] अपादुशिप्र्यन्धस: सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।
इन्दोरिन्द्रो यवाशिर ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९२ । ४ ॥

भा०—(शिप्री) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला या प्राणों का स्वामी (इन्द्र) ऐश्वर्यशील आत्मा (सुदक्षस्य) कार्यसम्पादन में कुशल, बलसम्पन्न, (प्रहोषिणः) उत्तम रीति से हवन, दान-आदान करने वाले (इन्दो:) प्रदीप्त, (यवाशिरः) अन्न के सारभूत अंश से मिल कर परिपक्व (अन्धस.) प्राणधारण सामर्थ्य को (अपात्) पान या पालन करता है ।

'प्रहोषिन्'—इसकी व्याख्या देखिये (गीता अ० ४ । २३-३१ ।) इसमें बहुत से यज्ञ दर्शाये हैं जैसे १. ब्रह्मार्पण ब्रह्महविषाग्न । २. इन्द्रियों की संयम में आहुति । ३. शब्दादि ग्राह्य विषयों की इन्द्रियों में आहुति, ४. ज्ञानेन्द्रिय और ५. प्राणेन्द्रिय कर्मों की संयमाग्नि में आहुति, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ, ९. स्वाध्याय यज्ञ १०. ज्ञानयज्ञ, ११, अपान में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि। इनके कर्त्ता सभी 'प्रहोषी' है। इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदक्ष ज्ञानी वह है जो अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म-शक्ति अर्थात् अन्न की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

[१४६] इमा उ त्वा पुरुवसोभि प्र नोनवुर्गिरः।
गावो वत्सं न धेनवः ॥ २ ॥ ऋ० ६। ४५। २५ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! एवं हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसाने वाले आत्मन्! (इमाः) ये (गिरः) वाणियां वेदवाणियां (धेनवः) दूध देनेहारी, (गावः) गौएं (न) जैसे अपने (वत्सं) बछड़े के पास चली जाती हैं उसी प्रकार (त्वा३) तुझको ही (अभि प्र नोनवु॰) साक्षात् स्तवन करती हैं।

जैसे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति उप०।

[१४७] अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥ ऋ० १। ८४। १५॥

भा०—(अत्र ह) यहां निश्चय से (त्वष्टुः) दीप्तिमान्, तेजस्वी सूर्य की (गो॰) गमनशील किरण का (अपीच्यम्) कुछ गुप्त अंश ही (चन्द्रमसो गृहे) चन्द्रमा के घर में (नाम) गया हुआ है। (इत्था अमन्वत) ऐसा मानते हैं।

इस प्रकरण में प्राण ही त्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ९, १० मास में शनैः २ बनाता है। गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जो १६ कलायुक्त है। जो क्रम से एक पक्ष में घटता और १५ दिन में बढ़कर पुनः ऋतुकाल में वेला के समान उदित होता है। उस स्थान पर भी

१४६—१. इमा उत्वा शतक्रतोऽभिप्रणोनुवुर्गिरः। इन्द्र वत्सं न मातरः। ऋ०।

सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है। उस गर्भ में भी गति है। उसमें भी मुख्य प्राण-आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनैः २ बढ़ता है। अथवा त्वष्टा पुरुष को कहते हैं पुरुष का वीर्यांश ही गर्भाशय में जाता है। जैसा उपनिषद् में लिखा है। 'पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्त्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इत्यादि (एत० उप० अ० २। १-६)। प्राणरयि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार (प्रश्न० उ०) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रयि माना है। इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्कने लिखा है—"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते, अत्राहगोरमन्वतेति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्याम.।

अर्थ—आदित्य भी 'गौ' कहाता है। इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। जैसे यजुर्वेद (१८। ४०) में लिखा है। इस सुषुम्ना को भी 'गौ' कहते हैं जैसे 'अत्राह गोरमन्वत' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान आगे यास्क ने (४। ४) में किया है कि अत्राह गो. सममसत आदित्यरश्मयः। स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हित वाऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे।"

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है। परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है। उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति एवं पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि के प्रश्नों की खूब सूक्ष्म विवेचना की है। छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सब रश्मियों की विवेचना मुख्य प्राण को लक्ष्य करके की है।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[१४८] यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥ ऋ० ६ । ४६ । ४ ॥

भा०—(यद्) जब (वृषन्तमः) सर्वत्र, सोम २ में रस का वर्षण उत्तम रूप से करने वाला (इन्द्रः) आत्मा (रितः) गति करने वाले (महीः अपः) बड़ी नाड़ियों को (अनयद्) समस्त शरीर में पहुंचाता है (तत्र) वहां (सचा) साथ ही वह (पूषा) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त (भुवत्) हो जाता है ।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुंचाता है और पुष्टि भी करता है । विशाल ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति वर्षा भी करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४९] गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।
३ २उ ३ १ २
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥२॥ ऋ० ८ । ९४ । १ ॥

भा०—(मघोनां) जीवन-यज्ञ के सम्पादन करने वाले (मरुतां) प्राणों की (माता) उत्पादक, जननी (गौ) चेतनस्वरूपा चितिशक्ति (श्रवस्युः) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई (धयति) अपना सोम-रूप ज्ञान पिलाती और वह स्वयं (रथानां) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में (युक्ता) जुत कर (वह्नी) उन को उठा रही है । आत्मा की चेतना शक्ति इन्द्रियों को चेतन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुंचाती है ।

मरुतों की गौ की व्याख्या देखिये—अथर्ववेद (का० १० । सूक्त १०) यह वशा रूप गौ है ।

१४९—१, २इतेगनिकर्मणः ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तार' पृष्ठे अस्याः ।

ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥

यही गौ 'पृश्नि' कही है । इसका वर्णन ऋग्वेद (८ । १०० । १०-११) में इस प्रकार है ।

"यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।

चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वचिदस्याः परम जगाम ।"

[१५०] उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।

उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३१ ॥

भा०—(मदाना पते) सब आनन्दों और ज्ञान, विवेकों के पालन करने हारे, (नः) हमारे (हरिभिः) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा (सुतं) उत्पादित ज्ञान को (उप याहि) तू प्राप्त कर । (नः) हमारे (हरिभिः सुतम्) प्राण इन्द्रियों द्वारा किये कर्म और उनसे उत्पन्न सुख भोग को तू (उप याहि) प्राप्त हो ।

[१५१] इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे ।

अच्छावभृथमोजसा ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९३ । २३ ॥

भा०—(अध्वरे) इस हिंसारहित या कभी नष्ट न होने वाले जीवन मय या आत्मज्ञानमय यज्ञ में (इष्टाः) याग करने वाले या विषयरूप हवियों की आहुति प्राप्त करने वाले (होत्राः[1]) प्राण विषयाहुति को भीतर के चितिशक्ति की ज्वाला में हवन करनेवाले सात ऋषि, सात इन्द्रियां (इन्द्रं वृधन्तः) आत्मा के ऐश्वर्य, ज्ञान गौरव को बढ़ाते हुए (ओजसा) ज्ञान और बल से (अवभृथम्) पूर्ण समाप्ति के अवभृथ

१५१—१. सप्तहोत्रकाः, इति सायणः ।

स्नान पर्यन्त (अच्छा) उत्तम रूप से (अनुवत) यज्ञ करते हैं और विसर्जन करते हैं ।

आत्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात छिद्र, २ आंख, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात ऋषि, सात होता हैं मुख्य आसन्य प्राण–आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका भिषक् है, चितिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार हैं । विशेष देखो छान्दोग्य उप० (अ० ३ । ख० १६, १७ ।)

[१५२] अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
अहं सूर्य्य इवाजनि ॥ ८ ॥   ऋ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इत् हि) ही निश्चय से (पितुः) अपने पालक पिता परमेश्वर के (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (परि-जग्रह) सब ओर से ग्रहण करूं । (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होजाऊं ।

चतुष्पाद् ब्रह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—"भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद । " (छान्दो० अ० ३ । ख० १८ ।) ऋत की मेधा का ग्रहण देखिये छा-न्दोग्य (अ० ३ । ख० १५) इसमें वसुधान कोश (खज़ाना) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने किया है–

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।
दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम् ॥
स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम् ॥

१५२—'पितुष्परि', 'जग्रभ' इति ऋ० ।

इसका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० (अनु० ४ ।)

[१५३] रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(इन्द्रे) आत्मा के (सधमादे) हमारे साथ २ हर्षयुक्त सुप्रसन्न होजाने पर (नः) हमारी (रेवतीः) प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिया (तुविवाजाः) खूब बलवती होजायं । (याभिः) जिनके साथ हम (क्षुमन्त) अन्न, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर (मदेम) आनन्द अनुभव करें । गृहस्थ पक्ष में—रेवतीः=स्त्रियः । राष्ट्र पक्ष में–रेवती=प्रजा. ।

[१५४] सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥ १० ॥

भा०—(सोमः) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और (पूषा) सबका पोषण करने हारा परमात्मा (देवत्रा) समस्त देव, पांचों भूतों और भौतिक शक्तियों में और आत्मा देहस्थ इन्द्रियों में व्यापक है और वही (विश्वासां सुक्षितीनाम्) समस्त निवास योग्य भूतों, दुनियाओं और समस्त प्राणियोनियों के (रथ्योः) दोनों प्रकार के कर्म और भोग योनियों के (हिता) हितकारी होते हुए (चेततु) आहार व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से, दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञान वान् परम गुरु के रूप में ऋषियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पूषा अर्थात् प्राणी शरीर की आवश्यकता भूख प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निजी अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । ईश्वर दोनों रूप से उनको ज्ञान देरहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

से कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजने और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है। जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आजाते हैं। जीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला वह 'पूषा' है। विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से वह 'सोम' है। दो भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शाने के निमित्त द्विवचन का प्रयोग है।

इति षष्ठी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१, ४ श्रुतकक्षः । २ वसिष्ठः । ३ मेधातिथिप्रियमेधौ । ५ इरिमिठिः । ६, १६ मधुच्छन्दाः । ७ त्रिशोक । ८ कुसीदः । ९ शुनःशेपः । इन्द्रो देवता ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१५५] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥ ऋ० ८।९२।१॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाले अन्न के सूक्ष्म, रस रूप सोम को (आ-पान्तम्) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करने वाले, (विश्वासाहं) सब को अभिभव करने, समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले (शतक्रतुं) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, (चर्षणीनां) तत्वदर्शियों के (मंहिष्ठं) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले, पूजनीय उपास्य देव आत्मा और परमात्मा की (अभि प्रगायत) साक्षात् स्तुति करो।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६] प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥ २ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १ ॥

१५६—१, कै गै स्तुतौ । स्तुतिः प्रज्ञा इति यास्कः (नि० २ । ७ । ३ ।)

भा०—हे (सखाय:) समान कीर्त्ति वाले मित्र ! (व:) आप लोग (सोमपाव्ने) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, (हर्यश्वाय) विषयों के प्रति लेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को (मादनं) प्रसन्न करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्त्तन करो, उसका ज्ञान करो।

[१५७] वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—(वयम्) हम और (कण्वाः) मेधावी विद्वान् लोग, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वायन्तः) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुझे प्राप्त करने में लगे हुए (सखायः) समान ख्याति वाले (तदि-इद् अर्था:) उस परम तत्व तुझको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) मन्त्रों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

[१५८] इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिर: ।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारी (गिरः) वेदवाणियां (मद्वने) हर्ष, प्रसाद युक्त (इन्द्राय) आत्मा के योग्य (सुतं) सोम, ज्ञान और उत्तम पदार्थ को (परिष्टोभन्तु) वर्णन करें । (कारव:) कर्मण्य, विद्वान् लोग (अर्कम्) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की (अर्चन्तु) उपासना करें ।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं जिनका अर्थ यज्ञ प्रकरण में याज्ञिक लोगों ने सदा सोमलता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आत्म विज्ञान काण्ड में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भोग्य पदार्थ ही लेना उचित है । वेद में भी इन शब्दों को उस अर्थ में

प्रयोग किया है। जैसे (ऋ० ८ । ६४ । १०)—"अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सूयते । तस्येह प्र द्रवा पिब ॥" प्रत्येक मनुष्य में उसकी (पुरुषु) इन्द्रियों में वह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन्! तू आ और पान कर।

[१५९] अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । १७ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (अधि बर्हिषि) प्रति यज्ञ और प्रति देह में (निपूतः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है। (ईम्) इस समय (अस्य) इसके पान करने के लिये (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ, (पिब) पान कर।

बर्हिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशाः शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्याय हैं।

[१६०] सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४ । १ ॥

भा०—(गोदुहे) दूध के दोहने के लिये जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को (ऊतये) अपने को पापाचरण से बचाने के लिये (द्यवि-द्यवि[1]) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं।

[१६१] अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २२ ॥

१६०—द्यवि द्यवि इति अहर्नाम । नि० १ । २ ।

भा०—हे (वृषभ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ! (सुते) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म के उचितरूप से होजाने पर उसके (पीतये) रस पान करने के लिये (सुतं) उत्तम ज्ञान का (त्वा अभि सृजामि) तेरे सन्मुख ही सम्पादन करता हूं। (तृम्प) तू उससे तृप्त हो और (मदम्) हर्ष, सुख को (वि अश्नुहि) प्राप्त कर।

योगी, अवधूत लोग समाधि-रस को मद्यरस से तुलना देते हैं और आत्मा को सुलाते हैं। धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा की वह अवस्था होजाती है।

[१६२] य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुत.।
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—(य सोम:) जो सोम है (इन्द्र) आत्मन्! (चमसेषु[1]) चमस पात्रों में (सुतः) तैय्यार किया है वह (ते) तेरे लिये (चमूषु) छोटे २ पीने के पात्रों में भी है। (अस्य इद्) इसको ही तू (पिब) पानकर (त्वम्, ईशिषे) तू ही इसका समर्थ स्वामी है।

'चमसेषु'— सूर्यपक्ष में चमस मेघ हैं, आत्मपक्ष में प्रत्येक पुरुष का मस्तक चमस है। जैसा उपनिषद् में "अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः"। "चम्वौ द्यावापृथिव्यौ"। द्यौलोक और पृथिवी लोक 'चमू' हैं। शरीर में द्यौ स्थान मस्तक ही है। उसमें भी सात इन्द्रियां उस इन्द्र के आचमन पात्र हैं, उनमें वह ज्ञान ग्रहण करता या मस्तक के कोष्ठ (Cells) ही उसके नाना प्रकार से सोमास्वादन के निमित्त पात्र हैं। इन्द्र ही आत्मा है। इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो (ऐतरेय उप० द्र०) "स एतमेव

१६२—1. चमु, अदने भ्वादि। चमन्ति भक्षयन्ति अत्रेति (उ०) चमस इति मेघनाम। नि० १० । १।

पुरुष ततमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमितीदं । तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवाः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३] योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥ ९ ॥ ऋ० । १ । ३० । ७ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक समाधि काल में और (वाजे वाजे) प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्येक बलकर्म के अवसर में (तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रम्) इन्द्र आत्मा को हम (सखायः) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं या उसका गुणगान करते हैं ।

योगः—"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" । गीता० । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । पात० योगसूत्र १ । १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक ओर संग्राम और दूसरा ध्यानयोग । दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसको ही पुकारा जाता है । योगी को "बलेषु हस्तिबलादीनि" । हाथियों का बल तक भी प्राप्त हो जाता है । संग्राम के अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आत्मा को चेताया । वह वाज या संग्राम के अवसर पर इन्द्र का आवाहन था ।

२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३१
[१६४] आत्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत ।
१ २ ३ १ २
सखायः स्तोमवाहसः ॥ १० ॥ ऋ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (आ एत तु) आओ और (आ निषीदत) आमने सामने आकर बैठ जाओ । हे (स्तोमवाहसः) स्तुतियों को धारण करने हारे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रम् अभि प्रगायत) आत्मा का उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका यथार्थ वर्णन करो ।

ताण्ड्य ब्राह्मण में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश और चतुर्विंश, चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ६ स्तोमों का वर्णन किया है । इनका विशेष प्रकार से गान करने का प्रकार उक्त ब्राह्मण में ही दर्शाया है ।

इति सप्तमी दशतिः । इति पञ्चम खण्ड ।

॥ द० ८ ॥ १ विश्वामित्रः । २ मधुच्छन्दाः । ३ कुसीदः काण्वः । ४ प्रियमेधः । ५, ८ वामदेवः । ६, ९ श्रुतकक्षः । ७ मेधातिथिः । १० बिन्दुः ॥

इन्द्रो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

३ १र २र ३ १ २
[१६५] इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।
३ २ १ २
पिबा त्वा३ स्य गिर्वणः ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—हे (राधानां पते) हे समस्त धनों, ज्ञानों और साधनों के स्वामी ! (इदं) यह (ओजसा) बलपूर्वक (सुतं) निष्पादित (गिर्वणः) हे वाणी से कथन या प्रशंसा करने तू योग्य (अस्य) इस ज्ञान को (तु) भी (आ पिब) पान कर ।

३ १र २र ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६६] महां इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे ।
१र २र ३ १र २र
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ५ ॥

भा०—(महान्) बड़ा आत्मा (नः) हमारे (पुरः च) आगे सदा विद्यमान रहता है । (वज्रिणे) सब भयों के वारण करने हारे उस आत्मा की (महित्वम् अस्तु) महिमा बनी रहे । (शवः) उसका बल, ज्ञान (प्रथिना) विस्तृत होने से (द्यौः न) द्यौलोक या सूर्य के समान है ।

१६५—'अत्तौजसा' इति ऋ० ।

१६६—'परश्च नु' इति ऋ० ।

२र २र ३ १ २ ३ १ ३ १र २र
[१६७] आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सङ्गृभाय ।
३ १र २र
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥ ऋ० ८ । ८१ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (महा हस्ती) बड़े भारी हस्त=धारक प्रयत्न वाला तू (क्षुमन्तं) अन्न, और गृह से सम्पन्न (ग्राभं) ग्रहण करने योग्य (चित्रं) ज्ञान को (दक्षिणेन) उत्तम साधन से (आ संगृभाय) संग्रह कर ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६८] अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
३२ ३ २ ३ १ २
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ ऋ० ८ । ६९ । ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (गोपतिं) वाणी और, रश्मियों, इन्द्रियों के स्वामी पालक (सत्यस्य सूनुम्) सत्य को उत्पन्न करने हारे, (सत्पतिम्) सत्य पदार्थ या सज्जनों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र को (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान के लिये (अभि प्र-अर्च) साक्षात् रूप से स्तुति कर ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६९] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा ।
३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥ ऋ० ४ । ३१ । १ ॥

भा०—(सदावृधः) सत्य के बल से अधिक बढ़ने वाला इन्द्र (चित्र.) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, (नः) हमारा (कया) किस अपूर्व (ऊत्या) रक्षण करने वाले सामर्थ्य या ज्ञान से और (कया) किस (शचिष्ठया) शक्तिसम्पन्न बलयुक्त या बुद्धिमत्तायुक्त आश्चर्यमय शक्ति से, (कया वृता) और किस व्यवहार से (सखा) हमारा मित्र (आभुवद्) हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७०] त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
१ २ ३ १ २
आच्यावयस्यूतये ॥६॥ ऋ० ८ । ९२ । ७ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोतः ! (सत्रासाहं) सब को एक साथ विजय कर लेने हारे (वः) तुम्हारे (विश्वासु) समस्त (गीर्षु) वाणियों में (आयतम्) विद्यमान, वर्णित (त्यम्) उस आत्मा को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (आच्यावयसि) साक्षात् कर ।

[१७१] सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥ ऋ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसस्पतिं) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक (अद्भुत) अभूतपूर्व, (इन्द्रस्य प्रियम्) अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय, (काम्यं) कामना करने योग्य, (सनिं) सत् असत् का विभाग करने हारे, (मेधाम्) धारणावती उत्कृष्ट आत्मबुद्धि को देने हारे विवेक को (अहम्) मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं ।

[१७२] ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः ।
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥८॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (ये) जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तेरे (दिवः अध) द्यौलोक, ब्रह्माण्ड, मस्तक कपाल के नीचे हैं (येभि) जिन्हों से (व्यश्वम्) नाना प्रकार के अश्वों, इन्द्रियों को (ऐरय.) प्रेरित करता है वे और (नः भुव.) हमारे प्राण या कर्मेन्द्रिय (उत) भी (श्रोषन्तु) तेरी आज्ञा को सुनते हैं ।

[१७३] भद्रं भद्रं न आभरेषमूर्जं शतक्रतो ।
यदिन्द्र मृडयासि नः ॥९॥ ऋ० ८ । ९३ । २८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, हे शतप्रज्ञ ! (इन्द्र) आत्मन् ! (यद्) जब (नः) हमें (मृडयासि) सुखी करते हो तब (भद्रं भद्र) कल्याणकारी,

सुखकारी, (इषम्) अन्न और (ऊर्जं) बल को (आ भर) प्राप्त कराते हो ।

[१७४] अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥ ऋ० ८ । ६४ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान या सूक्ष्म अन्न रस, (सुतः) निष्पन्न हुआ है (अस्य) इसको (स्वराजः) प्राण के बल से गति करने वाले, या स्वयं चेतन (मरुतः) इन्द्रियगण, प्राणगण या विद्वज्जन (पिबन्ति) पान करते हैं (उत) और (अश्विना) प्राण और अपान भी या विद्वान् स्त्री पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यष्टमी दशतिः । इति षष्ठः खण्ड ।

॥ द० ९ ॥—१ इन्द्रमातरो देवजामयः । २ गोधा । ३ दध्यङ् आथर्वणः । ४ प्रस्कण्वः । ५ गोतमः । ६ मधुच्छन्दाः । ७ वामदेवः । ८ वत्सः । ९ शुनः शेपः । १० वातायन उलः ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्जः ॥

[१७५] ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
वन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥ ऋ० १० । १५३ । १ ॥

भा०—(ईङ्खयन्तीः) गतिशील, ज्ञानशील (अपस्युवः) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रिया (जातं) प्रकट हुए (सुवीर्यम्) उत्तम बलशाली (इन्द्रम्) आत्मा को (वन्वानासः), भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई (उपासते) उसकी उपासना करती है ।

सायण ने इन्द्र-माताओं पर यह मंत्र लगाया है । इन्द्र आत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रियां ही यहां अभिप्रेत हैं । जैसा ऐतरेयारण्यक

१७५—'जानास, सुवीर्यम्' इति ऋ० ।

में लिखा है—' इन्द्रियें ' कहा करती हैं "तव उप स्मसि" तेरी ही हैं। इत्यादि।

[१७६] नकि देवा इनीमसि नक्यायोपयामसि ।
मन्त्रश्रुत्य चरामसि ॥२॥ ऋ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (देवाः) हम इन्द्रियगण (नकि इनीमसि) कुछ भी वधादि नहीं करते, (नकि आयोपयामसि) और न कुछ भूल करते हैं। (मन्त्रश्रुत्य) मनन संकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तदनुसार हम (चरामसि) आचरण करते हैं। प्रजा लोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चलें। हम दोष न करें।

[१७७] दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण ।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक[1] अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे (बृहद्गाय) बृहत्साम का गान करने वाले या प्राण-स्वर से गान करनेहारे ! हे (आथर्वण, जीवन का नाश न करनेहारे आत्मन् ! हे (गामन्) गतिशील ! आत्मन् ! (द्युमद्, दोष) दीप्तिमान्, सब अन्धकारों का नाश करने हारा ईश्वर (आगात्) अब अन्तरात्मा में उदित होगया है। अतः उस (सवितारं) सबको प्रेरणा करनेहारे (देवं) प्रकाशस्वरूप देव को (स्तुहि) तू कीर्त्तन कर। विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा के उदय के अवसर पर साधक की यही दशा होती है।

१७६—'नकिर्देवा' 'मिनीमसि' इति च ऋ०। 'पक्षोभिरपिकक्षेभिरत्राभि सरभामहे' इति अधिक पाठः, ऋ०।

१७७—'दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्' । इति अथ०।

१. इगायमानमंश्यामन्त्रयते । सा० ।

[१७८] एषा उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ ऋ० १। ४६। १॥

भा०—(एषा) यह (उ) ही (उषाः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा (अपूर्व्या) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, (दिवः प्रिया) मस्तक या मूर्धाभाग को पूर्ण करने वाली या सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा के अति प्रिय होती है। हे (अश्विना) गमनशील प्राण और अपान! आप दोनों के इस उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त (बृहत्) खूब (स्तुषे) अच्छी प्रकार गुण कहता हूं। साधारणतः उषा के पक्ष में स्पष्ट है।

[१७९] इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ ऋ० १। ८४। १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कुतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरण करने वाले विघ्नों को (जघान) नाश करता है।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस्, तमस्, तीन कालों के भेद से ९ प्रकार की हुई। प्रभाव, उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई। फिर सात्विकादि के सम विषम होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की होजाती है। इतनी प्रकार की शक्तियों से वह इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों पर विजय करता है।

इन्द्र की कथा भी आलंकारिक है, स्थानाभाव से नहीं लिखते।

[१८०] इन्द्रे ह्यि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ ऋ० १। ९। १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (इहि) आ साक्षात् हो । (अन्धस) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की (विश्वेभि) समस्त (सोमपर्वभि) वीर्य के पालनकारी सामर्थ्यों से तू (मत्सि) प्रसन्न और तृप्त होता है और (ओजसा) अपने बल से (महाँ अभिष्टिः) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति वाला होजाता है।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि ।
महान्महीभिरूतिभि: ॥ ७ ॥ ऋ० ४ । ३२ । १ ॥

भा०—(वृत्रहन्) हे तामस आवरणों और विघ्नों के निवारक ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (महीभि) बड़ी २ (ऊतिभि.) शक्तियों द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमारे (अर्द्धम्) समीप (आगहि) आ ।

[१८२] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य ओज.) उस महान् आत्मा का सूर्य के समान वह ओज (तित्विपे) चमकता है (यत्) जिससे वह (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) चमड़े की तरह (समवर्तयत्) सब ओर ढक रहा है, व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिससे वह प्राण अपान दोनों को चर्म या वस्त्र के समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ३० । ४ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपोत.) कपोत (गर्भधिम् इव) अपनी कपोती के पास आता है उसी प्रकार (ते) तेरे पास (सम् अतसि) आता है, इसी कारण (न) हमारे (तद् वच.) उस वचन को (ओहसे) प्रेम से ग्रहण करता है ।

[१८४] वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १० ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥

भा०—(वातः) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा (नः) हमारे (हृदे) अन्तःकरण में (शम्भु) कल्याण और शान्ति-कारक, (मयोभु) सुखकारी (भेषजम्) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे ओषधि को (आ वातु) प्राप्त कराए और (नः) हमें (आयूंषि) समस्त जीवन को (प्र तारिषत्) पार कराए।

जैसे भक्त जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि।
श्रीकृष्णेति रसायनं रमय रे शून्यैः किमन्यैः रसैः ॥

फलतः, इष्टदेव में ओषधि आदि की भावना भी भक्त कर लेते हैं।

इति नवमी दशतिः। इति सप्तमः खण्डः।

॥ द० १० ॥ ऋषिः—१ कण्वः। २, ३, ६ वत्सः। ४ श्रुतकक्षः। ५ मधुच्छन्दा। ६ वामदेवः। ७ हरिमिठ ॥ ८ वारुणिः सत्यधृतिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥ षड्जः स्वरः ॥

[१८५] यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
नकिः स दभ्यते जनः ॥ १ ॥ ऋ० ४ । १७ । ३ ॥

भा०—(प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न (वरुणः) वरुण, सबसे श्रेष्ठ (मित्रः) मित्र, सबका स्नेही और (अर्यमा) अन्तर्यामी, न्यायकारी जन (यं)

१८५—'नू चित्स' इति । ऋ० ।

जिसकी (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (स.) वह (जन.) मनुष्य (नकि. दभ्यते) कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता । बृहदारण्यकोपनिषद् के (अ० ३) में 'इन' देवों की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में स्थिति का निर्णय किया है ।

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३१२२ २ ३ २
[१८६] गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया ।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १० ॥

भा०—हे साधक ! (यथा पुरा) पूर्व के समान (गव्या) गौ आदि पशुओं की इच्छा से, (अश्वशा) अश्व आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना से और (रथया) रथों की कामना से (उत) और (महोनाम्) धनों के प्राप्त करने के लिये तू (वारिवस्य) उपासना कर । अध्यात्म में-गौ=इन्द्रियां, अश्व=मन और रथ=शरीर । इन तीनों को उत्तम रीति से वश करने और बलवान् बनाने की कामना से इन्द्र=आत्मा और परमेश्वर की उपासना आवश्यक है।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८७] इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
३ २ ३१ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषी ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (इमा. पृश्नयः) ये रसों तक पहुचने वाली इन्द्रियां (ऋतस्य पिप्युषी) ऋत=सत्य ज्ञान को पान करती हुई (एनाम्) इस अनुभवगम्य (आशिरम्) प्रस्फुटित हुए (घृतं) विशेष ज्ञान, दीप्ति, कान्ति को (ऋतस्य) जल पान करके दूध को गौओं के समान (दुहते) उत्पन्न करती हैं ।

३ २ ३ २ २ ३ १ १ २र
[१८८] अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत ।
१र २र ३ १ २
यत्सोमे सोम आभुव. ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ६ । १९ ॥

१८६—'वरिवस्य महामह' इति । ऋ० । 'महोनाम्' इति पाठो विवरणसम्मतः ।

१८८—'आभव ' इति । ऋ० ।

भा०—हे (पुरु-नामन्) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे (पुरुस्तुत) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! आत्मन् ! (अया गव्यया) इस इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी (यत्) जो तू (सोमेसोमे) प्रत्येक सोम अर्थात् ज्ञान में (आभुवः) प्रकट होता है । इसीसे तू साक्षात् किया जाता है ।

'प्रतिबोधविदित मतम्' । इति केन उ० ।

[१८९] पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २६ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (पावका) हृदय को पवित्र करने वाली (वाजेभिः) ज्ञान और कर्मों द्वारा (वाजिनीवती) शक्तिसम्पन्न होकर (धियावसु) ध्यान, धारणा और ज्ञानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण में वास करने हारी (यज्ञं वष्टु) हमारे जीवन-यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[१९०] क इमन्नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
स नो वसून्याभरात् ॥ ६ ॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र आत्मा को (नाहुषीषु[1]) कर्म-बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में (सोमस्य) गुण-कीर्तन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा (कः तर्पयात्) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा (कः) सुखमय प्रजापति ही (सः) वह परमेश्वर ही (नः) हमारे (वसूनि) ज्ञानों और ऐश्वर्यों को (आभरात्) सदा प्रदान करे ।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । (स्फुट)

१९०—१. नहुष इति मनुष्यनाम (नि० २ । ३) नद्धास्ते: कर्मभिः पूर्वकृतैः ।

[१६१] आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोम पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ! (हि) क्योंकि हम (ते) तेरे लिये (सुषुम) ज्ञान को उत्तम रूप से सवन, सम्पादन करते हैं अतः तू (आ याहि) आ प्रत्यक्ष हो । और (इमं) इस (सोम) सोमरूप ज्ञान को (पिब) पान कर । (इदं) यह (मम) मेरा दिया (बर्हिः) यज्ञ या हृदयरूप आसन है इसमें (आ सद) विराज ।

[१६२] महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १८५ । १ ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, आदित्य या प्राण (अर्यम्ण) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और (वरुणस्य) वरुण अपान, (त्रीणाम्) इन तीनों की (मही अवः) बड़ी रक्षा और (दुराधर्षं द्युक्ष) असह्य तेज (अस्तु) हो।

अथवा आदित्य या मित्र चक्षु में स्थित है। यम या अर्यमा हृदय में बैठा हुआ श्रद्धा और दक्षिणा में विराजमान है। रेतस्=वीर्य में वरुण स्थित है।

[१६३] त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने हारे ! (इन्द्र) आत्मन् ! (हरीणाम् प्रणेत) हे इन्द्रियों के प्रेरक ! हे (स्थातः) नित्य अविचाली, कूटस्थ पुरुष ! हम (त्वावत) तेरे समान स्वामी के ही (स्मसि) हैं। इन्द्रियगण आत्मा को एवं प्रजागण भृत्यादि राजा को इसी प्रकार कहते हैं।

इति दशमी दशति । इति अष्टमः खण्डः ।

द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

१६२—'अवोस्तु द्युक्षम्' इति । पा० ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (१)

॥ द० १ ॥ ऋषि –१ प्रगाथ. । २ विश्वामित्र. । ३, १० वामदेवः । ४, ६ शुनःशेपः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाज । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१९४] उ त्वा मदन्तु सोमा कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥ ऋ० । ६ । १ ।

भा०—हे (अद्रिवः[1]) संहारकारी अभेद्यशक्ति से युक्त ! हे आत्मन्, जीव ! (त्वा) तुझको (सोमा) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य (मदन्तु) हर्ष दें । तू (राध.[2]) ज्ञान, धन कृणुष्व सम्पादन कर (ब्रह्मद्विषः) वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को (अव जहि) नाश कर ।

[१९५] गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ २ ॥

भा०—हे (गिर्वण.) वेदवाणियों द्वारा कीर्त्तन करने योग्य ! तू (नः) हमारा (सुतं) सम्पादन किया स्तुतिरूप हव्य (पाहि) पान कर, स्वीकार कर । (मधो·) मधु=ब्रह्मज्ञान, अमृत, ऋग्वेद की (धाराभि.) धारणाओं, ऋचाओं द्वारा (अज्यसे) तुम्हारा स्तवन, सेवन, भजन, ज्ञान किया जाता है । हे आत्मन् ! (त्वादातम् इद्) यह तुम्हारा ही प्रकाशमान (यश·) यश, सामर्थ्य है ।

१९४—'स्तोमा' इति । ऋ० । १. अत्तेरद्रि. ।

२. राधसाध ससिद्धौ, स्वादि. ।

देखो—"य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्" इत्यादि (कठ० व० ४ । ५ ।)

[१६६] सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

भा०—(वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव (सदा) नित्य (आ चर्कृषत्) अपने समीप आकर्षण करता है । और (सः) वह (नु) ही (सपर्यन्) आदर, प्रेम करता हुआ (इन्द्र) आत्मा, परमात्मा (शूरः) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न (देवः) देव क्या (न वृतः) नहीं वरण किया जाता ? वह सबसे अधिक वरण करने योग्य है ।

[१६७] आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ ऋ० ८ । ९२ । २२ ॥

भा०—(इन्दवः) समस्त ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझ में (सिन्धवः, समुद्रम् इव) जिस प्रकार नदियां समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार (विशन्तु) प्रवेश करें । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तुझ से (न अतिरिच्यते) कोई भी बढ़ नहीं सकता, तुझ से पृथक् नहीं रह सकता । आत्मपक्ष में—(इन्दवः) द्रवणशील इन्द्रियां प्राणगण आत्मा रूप समुद्र में नदियों के समान प्रविष्ट हैं । उससे कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१६८] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) गाथाओं का गान करने वाले, सामगायक (इन्द्रम् इत्) आत्मा को ही (बृहत्) बृहत्साम द्वारा (अनू

पत) स्तुति करते हैं । (अर्किणः) अर्चा करने हारे ऋग्वेदी (अर्केभिः) अपने स्तुति पाठों व ऋग्वेद के मन्त्रों से (इन्द्रम्) आत्मा को ही स्तुति करते हैं और (वाणीः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (इन्द्रम्) आत्मा की ही (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति इति काठक उप० ।

[१९९] इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ ऋ० ८ । ९३ । ३४ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (इषे) हमारी इच्छानुकूल (नः) हमें (ऋभुक्षणम्) बड़े भारी (ऋभुं) तेज,सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त (रयिम्) धन, अन्न, ज्ञान का (ददातु) दान करे । (वाजी) सर्वज्ञ, ऐश्वर्यवान् वह हमें (वाजिनं) ज्ञान एव कर्म बल का भी (ददातु) दान करे ।

[२००] इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥ ऋ० २ । ६१ । १० ॥

भा०—(अङ्ग) हे मनुष्य ! वह परमेश्वर (महद् भयम्) बड़ेभारी भय को (अभीषत्) दूर करता है । भयको वह अपचुच्यवत्) परे हटा देता है (सः हि) क्योंकि वह (स्थिरः) स्थिर, कूटस्थ और (विचर्षणिः) सब को देखने वाला, सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुते सुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः ।
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥ ऋ० ६ । ४५ । २८ ॥

२०१—'वत्सं गावो' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य ! (त्वा उ) तुझको ही (सुतेसुते) प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में (इमा गिरः) ये वेदवाणियां (धेनवः गावः वत्सं न) दूध पिलाने वाली गौएं जिस प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार (नवन्ते) पहुंचती हैं तेरा वर्णन करती हैं।

[२०२] इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
हुवेम वाजसातये ॥९॥ ऋ० ६ । २७ । १ ।

भा०—(इन्द्रा पूषणा) सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल और अन्नादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं।

[२०३] न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
न क्येवं यथा त्वम् ॥१०॥ ऋ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वदुत्तरं) तुझ से ऊंचा और तुझ से अधिक सूक्ष्म, परम कारण (न कि) कोई भी नहीं है। हे (वृत्रहन्) आवरणकारी तामस विघ्नों को दूर करने हारे ! (ज्यायो न अस्ति) और कोई दूसरा तुझ से अधिक बड़ा एवं प्रशंसा करने योग्य भी दूसरा नहीं। (यथा त्वम्) जैसा तू है (एवं नकि) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः । गी० ॥

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥ कठ० उप० ॥

इति प्रथमा दशतिः । नवम खण्डः ॥

॥ द० २ ॥ ऋषि:—१, ४ त्रिशोक. । २ मधुच्छन्दा । ३ वशोऽश्व्यो वत्सो वा । ५ सुकक्षः । ६, ९ वामदेवाः । ७ विश्वामित्रः । ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । १० शुनःशेपः ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

[२०४] तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमत ।
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥ ऋ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप सब (जनानां तरणिम्) मनुष्यों को तारने वाले पार करने वाले, (त्रदं) त्राण देने वाले या कष्टों को काटने वाले, (गोमत) इन्द्रियों और पशु आदि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न और ज्ञान के (समानम् उ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निष्पक्ष सर्वव्यापक प्रभु की मैं (प्र शंसिषम्) स्तुति करता हूं ।

[२०५] असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (गिरः) इन वेदवाणियों को (असृग्रम्) प्रकट करता हूं । क्योंकि (सजोषाः) प्रेम से या कामना से प्रेरित स्त्री जिस प्रकार (पतिम्) अपने पति के प्रति जाती है उसी प्रकार (वृषभं सर्वश्रेष्ठ, धर्म से देदीप्यमान, सबके पालक (त्वा प्रति) तेरे प्रति ही समस्त वाणियां (उद् अहासत) जा रही हैं ।

[२०६] सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा ।
मित्रस्पान्त्यद्रुहः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ४६ । ४ ॥

२०६—'मित्र. पान्त्यद्रुह', इति पाठभेदः, ऋ०

भा०—(स मर्त्यः) वह पुरुष (सुनीथः) उत्तम मार्ग में चला जाता है (य) जिसको (मरुतः) देव, विद्वान् लोग, और (य) जिसको (अर्यमा) न्यायकारी, (मित्रः) सब का स्नेही और (अद्रुहः) बिना द्रोह रहित पुरुष (पान्ति) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों का कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदाभर ॥४॥ ऋ० ८ । ६ । ४५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (यद् वीडौ) जो शत्रुओं से न दबने वाले, (यत् स्थिरे) जो स्थिर रहने वाले, और (यत् पर्शाने) जो विचारशील पुरुष में (पराभृतम्) रहा करता है (तद्) वह (स्पार्हं वसु) सब के अभिलाषा के योग्य बल, धन और स्थिरता और ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

[२०९] श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम् ।
आशिषे राधसे महे ॥५॥ ऋ० ८ । ३ । १३ ॥

भा०—(वः) आप लोग (श्रुतम्) वेद में विख्यात या जगत् में प्रसिद्ध (शर्धं) उत्कृष्ट बलशाली (वृत्रहन्तमं) विघ्नों के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ की (चर्षणीनां) प्रजाओं की (आशिषे) उत्तम कामनाओं की पूर्ति और (महे) श्रेष्ठ (राधसे) साधना या ऐश्वर्य आदि के लिये (प्र) उपासना करो ।

[२१०] अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः ।
अरं शक्र परेमणि ॥६॥

२०७, परिशाने इति पाठ प्रातिशाख्यानुसारी कौथुमानामथ ।

२०८–आशुष इति पाठमद ऋ०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! हे (शूर) शत्रुओं के हिंसक! (त्वावतः ते) तेरे समान! अद्वितीय तेरे ही (अवसे) कीर्तिगान करने के लिये हम (अरं गमेम) खूब लगे रहें। हे (शक्र) सर्वशक्तिमन्! (परमस्य) तेरी परमता सौंदर्य, परम रूप में ही हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमेम) लीन रहें, मग्न हों।

[२१०] धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ ७ ॥ ऋ० ३।५२।१॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (नः) हमारे (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (धानावन्तं) ध्यान धारणा से सम्पन्न, (करम्भिणम्) सुख को आरम्भ करने वाले, (अपूपवन्तम्) अति समीपता दिलाने वाले अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उक्थिनं) ज्ञानसम्पन्न, सोम, आत्मा को (जुषस्व) ग्रहण करो, स्वीकार करो।

भुने जौ 'धाना' कहाते हैं, दही से मिले सत्तू 'करम्भ' कहाते हैं। पके पुरोडाश को 'अपूप' कहा जाता है। प्रतिनिधिवाद से, सूक्ष्मतत्त्व जब स्पष्ट होजायं तो वे ही 'धाना' हैं। ध्यानयोग से विवेक द्वारा पवित्र किया सत्य ज्ञान 'सक्तु' है। उसका विशेषरस अनुभव 'दधि' है, जिसका मथन करने पर या विशेष परिपाक होने पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान 'अपूप' है जिसमें आत्मा उस ब्रह्म के समीपतम होजाता है। अथवा [अप-उप-वन्=अपूपवान्] वह दूर और निकट के सब पदार्थों को प्राप्त है। उस समय अपूर्व ब्रह्मास्वाद 'उक्थ' है, तद्वान् आत्मा 'उक्थी' है। उसको स्वीकार करने की प्रार्थना है।

[२११] अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ८ ॥

२११—स्फायते वर्धते स फेनः। अप, इति अपानाम, कर्मनाम च, नि०।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यत्) जब (विश्वा॰ स्पृध.) अपने से स्पर्द्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को (अजय.) विजय करले तब (नमुचे) कभी न पीछा छोड़ने वाले मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी (शिर.) शिर या आश्रय (अपां फेनेन) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आप्त पुरुषों के शुद्ध ज्ञानोपदेश से (उद् अवर्त्तय) काट डाल।

[२१२] इमे त इन्द्र सोमा. सुतासो ये च सोत्वाः।
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (इमे) ये (सोमा.) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (सुतास॰) निष्पादन किये हैं (ये च) और जो (सोत्वा) भविष्य में निष्पादन किये जायेंगे (तेषां) उनसे हे (प्रभूवसो) साम र्थ्यसम्पन्न ! शरीर के वासी आत्मन् ! (मत्स्व) तू सदा प्रसन्न रह।

[२१३] तुभ्यं सुतास सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ९३ । २५ ॥

भा०—हे (विभावसो) तेज कान्तिसम्पन्न ! (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमा) सोम, य समस्त अन्त॰ आनन्द रस (तुभ्य) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये गये हैं (बर्हि) देहरूप यज्ञ आसन अथवा ब्रह्मस्वरूप महान् आश्रय (स्तीर्णं) विस्तृत किया गया है। तू (स्तोतृभ्य) सत्य २ गुणकीर्तन करने वालों को (मृडय) सुखी कर।

इति द्वितीया दशति । दशम॰ खण्ड ।

अथ द्वितीयोऽध्याय ।

॥ द० ३ ॥ १ शुन शेप । २ श्रुतकक्ष. । ३ त्रिशोक ४, ५ मेधातिथि । ६ गोतम॰ । ६ ब्रह्मातिथि । ७ विश्वामित्रो जामदग्नी । ८ प्रस्कण्व. ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री ॥ षड्ज ॥

[२१४] आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३० । १ ॥

भा०—(व.) आप लोग (इन्दुभिः) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा (शतक्रतुं) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त (मंहिष्ठ) दानशील, पूजनीय, (इन्द्रं) आत्मा को (वाजयन्त.) बल और ऐश्वर्य की कामना करते हुए (आ सिञ्च) इस प्रकार तृप्त करो (यथा) जिस प्रकार (क्रिविं[1]) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र को घृत तैल आदि से सींचते हैं । अथवा—जिस प्रकार (क्रिविं) जलपूर्ण कूप के आश्रय से (वाजयन्तः) अन्न चाहने वाले कृषक खेत को जल से सेचन करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से चेत्ररूप आत्मा का सेचन करो ।

[२१५] अतश्चिदिन्द्र न उपायाहि शतवाजया ।
इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! राजन् ! (अत चित्) इस कारण से ही (शतवाजया) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और (सहस्र-वाजया) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त (इषा) या इच्छा शक्ति या सेनासहित (न.) हमें (उप याहि) प्राप्त हो ।

[२१६] आ बुन्द वृत्रहा ददे जात. पृच्छाद्विमातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥ ऋ० ८ । ४५ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहा) विघ्नों को निवारण करने हारा राजा (जात.) शक्ति सम्पन्न होकर ही (बुन्द) दण्ड देने और शत्रु का नाश करने हारे बाण या हथियार को (आददे) धारण करता है । और (मातरम्) अपने

२१४—१. करोति येन स क्रिविः, (बा० उ०)

उत्पन्न करनेहारी मातृतुल्य प्रजा से (वि पृच्छात्) नाना प्रकार से पूछता है कि (के उग्राः) तुझे कष्ट देने वाले भयंकर कौन है और (के ह शृण्विरे) कौन हिंसा करते हैं । अथवा-(के ह शृण्विरे) कौन श्रवणशील विद्याभ्यासी और (के उग्राः) कौन उग्र, बलवान् वीर क्षत्रिय हैं । शक्ति धारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब वह राजदण्ड हाथ में लेता है और प्रजा के दुःखदायी आततायी लोगों को खूब छानबीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में-माता=यथार्थ अनुभवशील चित् शक्ति, वृन्द=ओंकार, वृत्र=अज्ञान, उग्रा=विक्षेपक भाव या प्राणगण और श्रवणशील ज्ञानेन्द्रियगण हैं ।

[२१७] बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये ।
साध कृण्वन्तमवसे ॥४॥ ऋ० ८ । ३२ । १० ॥

भा०—हम (ऊतये) रक्षा के लिये (सृप्रकरस्नम्) अपने हाथों को फैलाये (बृबदुक्थ) अति अधिक ख्यातिमान् और (अवसे प्रजा की रक्षा करने के लिये (साध कृण्वन्त) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर को बुलाते हैं ।

[२१८] ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान् ।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥ ऋ० १ । ९० । १ ॥

भा०—(वरुण) सब कष्टों का निवारण करने हारा, (मित्र) सब का स्नेही (विद्वान्) सर्वज्ञ (अर्यमा) अन्तर्यामी न्यायकारी (देवैः) विद्वान् पुरुषों से (सजोषा) समान रूप से प्रेम करने हारे राजा के समान परमेश्वर (ऋजुनीती) धर्मयुक्त नीतिमार्ग से (नः) हम सब को (नयति) ले जाता है ।

२१८-'नयतु विद्वान्' इति ऋ० ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २   ३ २ ३ १ २
[२१९] दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत् ।
३ २ ३ १ २
वि भानुं विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—(दूरात्) दूर (सतः) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान (यत्) जब (अरुणप्सुः) प्रातःकालिक प्रभा के समान कान्तिमान् (इह एव) यहां ही (अशिश्वितत्) चमकता है तब (भानुं) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को (विश्वथा वि अतनत्) सब ओर फैलाता है ।

साधक की साधना की सिद्धि के लक्षण विशेष दीप्तियों का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है । जैसा लिखा है—

'व्यद्युतद् व्यद्युतदा न्यमीमीषद्' इत्यादि । केन उ० । तद्दूरे तद्वु अन्तिक इत्यादि । ईश उ० ।

१ २   ३ १र २र
[२२०] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
३ १ २
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥ ऋ० ३ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान (घृतैः) दीप्तियों द्वारा (गव्यूतिम्) इन्द्रियों के मिलने के स्थान त्रिपुटीभाग को अथवा गायों के बाड़े के समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को (आ उक्षतम्) योगज आनंद-रसों से खूब सेचन करो । हे (सुक्रतू) उत्तम प्रज्ञा और कर्म के सम्पादन करने हारे तुम दोनों ! (नः) हमारे (रजांसि) रजोभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को द्यौ और पृथिवी या दिन और रात्रि के समान (मध्वा[१]) मधु अर्थात् विशेष चेतना या संवित्सिद्धि द्वारा (उक्षतम्) सेचन करो ।

२१९–'यत्सत्यरणप्सु०', 'विश्वधातनत्' इति ऋ० ।

२२०–१, मधु धमतेर्गतिकर्मणः ।

प्राण और अपान की साधना से त्रिपुटी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'संवित् ज्ञान' कहते हैं।

[२२१] उद्दु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥ ऋ० १।३७।१०॥

भा०—(त्ये) वे (गिरः सूनवः) वाणी के उत्पादक मरुद्गण (यज्ञेषु) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यव्यापारों में (काष्ठाः) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे (वाश्रा) गौएं हंभारते समय (यातवे) गति करने के लिये (अभिज्ञु) घुटने के प्रति झुककर (अत्नत) जाती हैं। यहां प्राणों के संचार का स्वरूप बतलाया गया है।

[२२२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥ ऋ० १।२२।१७। यजु० ५।१५ ॥

भा०—(विष्णुः) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा (इदं) इस प्रकार (विचक्रमे) गति करता है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्[1]) अपनी शक्ति को (निदधे) स्थापन करता है। और (अस्य) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य (पांसुले[2]) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में (समूढम्) उत्तम रूप से प्रकट है। परमात्मा पक्ष में—ईश्वर की शक्ति तीनों लोकों में है। 'पांसवो लोकाः'। इस ब्रह्माण्ड भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है।

२२१—'अत्मेष्वत्नत' इति पाठः, ऋ० ।

२२२— पांसुरे', 'पांसुरे' इति पाठ , य० ।

१. पद पद्यतेर्गतिकर्मणः ।

२. पांसवः पादैः सूयन्ते इति वा, पन्नाः शेरत इति वा (नि० १२।१८)

आत्मा की त्रेधा शक्ति अन्न से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का संचरण ।

इति तृतीया दशतिः । एकादशः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि.—१, ७, ८ मेधातिथिः । २ वामदेवः । ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ । ४ विश्वामित्रः । ६ कौत्सो दुर्मित्रः । ६ विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा । १० श्रुतकक्ष ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥ षड्ज. स्वरः ॥

१ २   ३ १ २   ३ २,   ३ १र २र
[२२३] अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय ।
३ २ ३ १   ३१ २
अस्य रातौ सुतं पिब ॥१॥ ऋ० ८ ३२ । २१ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (मन्युषाविणं) क्रोध को उत्पन्न करने वाले भाव को (अति इहि) छोड़ दे । (सुषुवांसम्) उत्तम रूप से संचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के (उप ईरय) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । (अस्य रातौ) उसके आनन्द की दशा में ही तू (सुतं) उत्तम ज्ञान का (पिब) आस्वादन कर ।

२ ३ १ २   ३ १र   २र ३ १ २
[२२४] कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
१र २र ३ १ २
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥ २ ॥

भा०—(महे प्रचेतसे) बड़े भारी ज्ञानवान् (देवाय) इष्टदेव के लिये (कद् उ) कुछ भी, तुच्छसा भी (वचः) वचन (शस्यते) स्तुति रूप मे कहा जाय (तद् इत् हि) वह ही (अस्य) इस वक्ता के (वर्धनम्) वृद्धिकारक होता है ।

२२३— समुपारये', 'अस्य रातं सुतं पिब' इति ऋ० ।

"अणुरप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" गीता० । ईश्वर की नित्य थोड़ी आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[२२५] उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिराचिकेत ।
१ १ ३ १ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥ ऋ० ८ । २ । १४ ॥

भा०—(अयिः) सर्वव्यापक, परमेश्वर (अगो:) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का (शस्यमान) पढ़े हुए (उक्थ चन) स्तुतिपाठ का भी (न आचिकेत) क्या नहीं जानता ? और क्या (गीयमान) गाये गये (गायत्रं) गायत्र साम को भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
[२२६] इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवान्त्सुतानां सखा ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (उक्थेभिः) गुणकीर्तनों से (मन्दिष्ठ) प्रसन्न होने वाला (वाजानां च) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में (वाजपति) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी (हरिवान्) इन्द्रिय आदि ज्ञानसाधनों से एवं ईश्वरपक्ष में–पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न तू (सुतानां) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का (सखा) मित्र है ।

३ १ २ ३१२ १२ ३ १२
[२२७] आयाह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः ।
३ १ २ ३ १ २
महाँ इव युवजानिः ॥५॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (नः) हमारे (सुतं) प्रस्तुत ब्रह्मानन्द-रस या आत्मा रूप सोम के (उप आयाहि) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । (वाजेभिः) अन्नों, ज्ञानों और बलों से (मा हृणीयथाः) हमें मत हारिये ।

२२५–'मगोरराचिकेत' इति ऋ० ।

आप (महान्) बड़े वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् (युवजानि:) अपने प्रपौत्र को भी अपने समक्ष देखने वाले वृद्ध के (इव) समान पूज्यतम हैं।

'युवजानि:—' जीवति तु वंश्ये युवा (पा० ४ । १ । १६३) शास्त्र-क्तेर्युवापत्य पुमान् इत्यादि व्याख्यानदर्शनाद्युवसंज्ञालौकिकी शास्त्रसिद्धा च प्राचीनकालपरिचिता । जनेरीणादिकोऽसिञ् बाहुलकात् (उ० ४ । ५१ ।)

३ १ २ ३ १र २र३ १र २र ३ १ २ ३ २
[२२८] कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः ।
३ १ ३ २ ३ १ १
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १०५ । १ ॥

भा०—हे (वसो) सबके प्राणाधार, सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! (स्तोत्रं हर्यत:) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या लाभ करने वाले पुरुष के लिये तुम (कदा) कब (श्मशा) शरीर के भीतर संचरण करने वाले (वा.) जीवनरूप जल को (आ अवारुधद्) रोकते हो ? कभी नहीं। (दीर्घं) दीर्घ, लम्बा चौड़ा (सुतं) जीवन (वाताप्याय) प्राण को आयमन करने वाले को ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र
[२२९] ब्राह्मणादिन्द्र राधस: पिबा सोममृतूँरनु ।
३ २ ३ १र २र
तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । १५ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्राह्मणात्) ब्रह्म को जानने हारे (राधस:) साधना करने वाले विद्वान् के (सोम) ज्ञान और ब्रह्मानन्द रस को (ऋतून् अनु) प्राणों और इन्द्रियों के साथ (पिब) तू पान कर । (तव) तेरा (इदं) यह (सख्यं) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्रीभाव (अस्तृतम्) कभी नहीं टूटता ।

२२८-'आवश्मशा' इति ऋ० । १. श्म शरीर, (निरु०)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३०] वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।
१ २
त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे परमात्मन् ! हे (गिर्वणः) एकमात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! (वयं) हम इन्द्रियगण और हम साधकगण (अपि) भी (ते घ) तेरे ही (स्तोतार स्म) स्तुति करने वाले हैं । (त्वं) तु (सोमपाः) सोम को पान करने हारा होकर (नः) हमें भी (जिन्व) तृप्त कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[२३१] एन्द्र पृक्षु कासुचिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
३ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे (उग्र !) हे बलवन् ! (पृक्षु) तुझे स्पर्श करने वाले (कासु चित् तनूषु) किन्हीं देहों में (नः) हम (नृम्णं) मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को (धेहि) धारण कर और करा । हे (सत्राजिद्) समस्त सत्-पदार्थों पर विजय करनेहारे ! (कासुचित्) किन्हीं में (नः पौंस्यं) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् तू किन्हीं को ज्ञानी ब्राह्मण बनाता और किन्हीं को क्षत्रिय उत्पन्न करता है ।

३१र २र ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ २
[२३२] एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
३ २ ३र ३ १ २
एवा ते राध्यं मनः ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ९२ । २८ ॥

२३०—'अपिष्मसि' इति ऋ० ।

भा०—हे इन्द्र आत्मन्! क्योंकि तू (हि) निश्चय से (वीरयु:) सामर्थ्यवान् वीर को चाहने वाला (एव असि) ही है। और तू (शूरः) शूर और (स्थिर एव) स्थिर ही है, इसलिए (ते मनः) तेरी मननशील मति या ज्ञान भी (राध्यम् एव) आराधना या साधना करने योग्य ही है, अनुकरण करने योग्य है।

इति चतुर्थी दशतिः। द्वादशः खण्डः।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयोऽध्यायः।

॥ द० ५ ॥ ऋषिः—१, ६, ९ वसिष्ठ. । २ भरद्वाजः । ३ वालखिल्याः । ४ नोधाः । ५ कलि. प्रागाथ. । ७ मेधातिथिः । ८ भर्गः । १० प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—१—८, १० इन्द्रः । ९ मरुतः । बृहती । मध्यमः ।

३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

ऋ० ७। ३२। २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर! सर्वत्र व्यापक, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (अस्य जगतः) इस जगत् के और (तस्थुषः) स्थावर संसार के भी, (ईशानम्) सामर्थ्य देने वाले प्रभु (स्वर्दृशम्) आदित्य द्वारा सबको प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे (त्वा) तुझको हम (अदुग्धाः धेनवः इव) न दुही गईं, नई ब्याई हुई गौएं जिस प्रकार अपने वत्स को देखकर झुकती और हम्भारती हैं उसी प्रकार (नोनुमः) आदर से, प्रेम से देखते, झुकते और स्तुति करते हैं।

[२३४] त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारव. ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वा काष्ठास्वर्वतः ॥ २ ॥
ऋ० ४ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वाजस्य सातौ) धन, अन्न, ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर (त्वाम् इत् हि) तुझको ही हम (कारवः) स्तुतिकर्त्ता लोग (हवामहे) स्मरण करते, पुकारते हैं। (वृत्रेषु) विघ्न के अवसरों पर (सत्पतिं) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वां) तुझको ही याद करते हैं। (अर्वतः) गतिशील सूर्य आदि पदार्थों के (काष्ठासु) सीमाएं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील भोक्ता इन्द्रियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये (नर.) विद्वान् लोग तेरा ही स्मरण करते हैं।

[२३५] अभि प्र व. सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसु. सहस्रेणव शिक्षति ॥३॥
ऋ० ८ । ४९ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग (सुराधसम्) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पन्न (इन्द्रं) परमेश्वर को (यथा) यथार्थ रूप से (विदे) जानने के लिये (अभि प्र अर्च) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करो। (य.) जो (मघवा) धन-यज्ञादि से सम्पन्न (पुरूवसु.) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर (सहस्रेण इव) मानो हज़ारों प्रकारों से (शिक्षति) शिक्षाएं देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है।

[२३६] तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ८८ । १ ॥

२३४—'साता' इति ऋ० ।

भा०—(वः) आपके (दस्मं) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, (ऋतिसहं) बाधाओं को दूर करने वाले, (वसोः) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले (अन्धसः) प्राण धारण कराने वाले अन्नरस को प्राप्त करके (मन्दानं) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले (इन्द्रं) आत्मा को (स्वसरेषु) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण और विद्वान्जन उसी प्रकार (अभि नवामहे) स्तुति करते हैं जिस प्रकार (धेनवः) नवप्रसूता गौएं (वत्सं न) बछड़े के प्रति हुम्भारती हैं।

१ २ ३१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३७] तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये ।
३१र २र ३१ २ ३२ ३२उ ३ २ ३ १ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥

ऋ० ८ । ६६ । १ ॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! हे साधकजनो ! (वः) तुम्हारे (तरोभिः) वेगों, गतियों द्वारा (विदद्वसुम्) ज्ञान के प्राप्त करने हारे (सबाधः) आप लोग जब पीड़ा सहित हों तो (ऊतये) अपनी रक्षा के निमित्त (बृहद्) बृहत्साम द्वारा (इन्द्रम्) इस ऐश्वर्यवान् अपने प्रभु का (गायन्तः) कीर्तन करते हुए (सुतसोमे अध्वरे) सोम निष्पादन करने योग्य याग में जिस प्रकार (कारिणं भरं न) ऋत्विग् लोग अपने पोषणकर्त्ता यजमान को बुलाते हैं उसी प्रकार बुलाया करो, उसका स्मरण किया करो ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ २
[२३८] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।
३ १ २ ३१२ ३ २ ३१र २र ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ३२ । २० ॥

भा०—(तरणिः) अति वेगवान् या संसार से तराने वाला, आत्मा (पुरन्ध्या) देहरूप पुर को धारण करने हारी बुद्धि को (युजा) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा (वाजं) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान ऐश्वर्य को (सिषासति) ठीक प्रकार से विवेक करता है । (तष्टा इव) जिस प्रकार बढ़ई (सुद्रुवं) उत्तम गति करने योग्य (नेमिं) चक्र के हाल को झुकाता है । उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक (पुरुहूतं) प्रत्येक देह में बल संचार करने वाले (व. इन्द्रम्) तुम्हारे स्वामी आत्मा को (गिरा) वेद की ऋचा एवं स्तुति से (आ नमे) अपने प्रति झुकाता हूं । यह आत्मा के मनोवेग को लक्ष्य करके कहा है ।

[२३९] पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥७॥
ऋ० ८ । ३ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) हे आत्मन् ! (नः) हम इन्द्रियों के (गोमतः) अपनी गति से सम्पादित (रसिनः) भोग या ज्ञान के सुख या बल से सम्पन्न (सुतस्य) उत्पादित ज्ञान का (पिब) पान कर, उपभोग कर (मत्स्व) और प्रसन्न और तृप्त हो । (नः) हमारे (सधमाद्ये) एक ही साथ आनन्द भोग करने के स्थान, शरीर में (आपिः) बन्धु के समान हमें सदा प्राप्त होकर तू (न) हमें (बोधि) ज्ञानवान् कर । (ते धियः) तेरी ज्ञानमय वृत्तियां (वृधे) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि के लिये (अस्माँ) हमें (अवन्तु) रक्षा करें ।

[२४०] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (चेरवे) तेरी सेवा परिचर्या करने हारे अपने सेवक के पास (आ इहि) आ, साक्षात् हो । और (वसुत्तये)

२३९—'सधमाद्यः' इति ऋ० ।

सुख से प्राप्त धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये (भगं) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विदाः) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । हे (मघवन्) शक्तिमन् ! (गविष्टये) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त (उद् वावृषस्व) उत्तम रीति से सुखों की वर्षा कर। (उत् अश्वम् इष्टये) और इन्द्रियों में व्याप्त जो भोक्ता रूप आत्मा, अश्व है उसके भले के लिये भी उत्तम रीति से बल दान करो ।

१र २र ३ २ ३१र २र ३ १ २
[२४१] न हि वश्चरम चन वसिष्ठः परि मंसते ।
३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १उ ३ १ २ ३ १ २
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिन. ॥६॥

ऋ० ७ । ५९ । ३ ॥

भा०—(वसिष्ठः) मुख्य प्राण (वः) तुम इन्द्रियों में से (चरमं चन) अन्तिम को भी (न हि) नहीं (परिमंसते) तिरस्कार करता । हे (मरुतः) इन्द्रिय मार्गों में विचरण करने वाले प्राणो ! (अस्माकं सुते) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में (विश्वे कामिनः) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग (सचा) एक साथ (पिबन्तु) आनन्दामृत का पान करो । इसका विवरण देखो बृहदा० उप० (अ० ६ । १) में वसिष्ठ प्राण का प्रकरण । अथवा—(वसिष्ठः) परमेश्वर (चरमं चन नहि परिमंसते) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता । हे (मरुत) मनुष्यो ! (अस्माकम् कामिनः) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे (विश्वे सचा पिबन्तु) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (गीता)

२४१—'पिबत कामिनः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[२४२] माचिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २ ३ १
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥

ऋ० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ वस्तु की (मा विशंसत) स्तुति मत करो। (मा रिषण्यत) व्यर्थ के जाल में अपना नाश मत करो, खिन्न मत होओ। (इन्द्रम् इत्) आत्मा, परमात्मा का ही (स्तोत) स्तुति करो। (सुते) उत्पादित ज्ञानयज्ञ या आनन्द में मे (सचा) एकसंग (वृषणम्) सबसे श्रेष्ठ आत्मा के प्रति (मुहु.) बार बार (उक्था च शंसत) वेद के सूक्तों का गान करो।

इति पञ्चमी दशतिः। प्रथम. खण्ड॰ ।

॥ द० ६ ॥ ऋषिः—१ आङ्गिरसः पुरुहन्मा । २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिः । ४ विश्वामित्रः । ५ गौतमः । ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७, ८, ९ मेध्यातिथिः । १० देवातिथि. काण्वः ॥ इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥ मध्यम॰ स्वरः ॥

१ ३ १र ३र २ १ ३ १ २ ३ १ २
[२४३] नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । ३ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा अपने को (विश्वगूर्तम्) सबसे प्रशंसित, (ऋभ्वसम्) ज्ञान सम्पन्न (ओजसा) अपने तेज से (अधृष्टम्) किसी से न पराजित होने वाले (धृष्णुम्) विपत्तियों को धैर्य से सहने वाले (इन्द्रम् न) राजा के समान (कर्मणा) कर्म द्वारा

२४३-'धृष्णमोजसम्' इति ऋ० ।

अपने को (सदावृधम्) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला (चकार) बना लेता है (तं) उसको (नकिः नशद्) कोई नाश नहीं कर सकता ।

[२४४] य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥

ऋ० ८ । १ । १२ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (अभिश्रिषः) आश्लेषण करने वाले द्रव्य के (ऋते चित्) बिना ही (पुरा) पूर्व ही (जत्रुभ्यः) जीवों के (आतृदः) अलग २ हुए अङ्गों के भी (सन्धिम्) जोड़ों को (संधाता) जोड़ता है वह (पुरुवसु) समस्त देहों में रहने वाला (मघवा) जीवन यज्ञ का स्वामी आत्मा (विह्रुतम्) शस्त्र से कटे को भी (पुनः) फिर २ (निष्कर्ता) खूब अच्छी तरह से वैसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो ब्राह्मणों के प्रति याज्ञवल्क्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। ब्रा० ६ । क० २८) और (अथर्ववेद का० ११ । सू० १८ । म० ११-१४)

[२४५] आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥

ऋ० ८ । १ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (हिरण्यये) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त (रथे) रथ में, देह में (युक्ता) लगे हुए (आ सहस्रम्) हजारों और (आ शतम्) सैकड़ों (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म=अन्नकी पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले (केशिनः) ज्ञानतन्तुओं

२४४-'इष्कर्ता विह्रुत' इति ऋ० ।

से सम्पन्न ज्ञानी (हरयः) हरण करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण एवं विद्वानजन (सोमपीतये) सोमरस का पान करने के लिये (त्वा) तुझको (वहन्तु) वहन, धारण करें।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१२
[२४६] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १उ ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥
ऋ० ३ । ४५ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मन्द्रै) अत्यन्त प्रशंसा योग्य, उत्तम हर्ष के देने वाले, (मयूररोमभिः) मोर के लोमों के समान लोमों तथा आनील विद्युत् कान्ति से सम्पन्न ज्ञानतन्तुओं से युक्त, (हरिभि.) अनुभवों को तुझ तक पहुंचाने वाले ज्ञानसाधनों को (याहि) प्राप्त हो। (त्वा) तुझ को (केचित्) कोई भी (पाशिनः न) जाल वाले लोगों के समान बन्धनकारी प्रलोभन (न नियेमु) न बाध लें। और तू (तान्) उनको (धन्वा इव) धनुर्धारी के समान (अति इहि) अतिक्रमण कर। राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है।

३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४७] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥
ऋ० १ । ८४ । १९ ॥

भा०—(अङ्ग) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (देव) स्वयं सब का प्रकाशक होकर भी हे (शविष्ठ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ! (मर्त्यम्) मरणधर्मा देह को (प्रशंसिषः) प्रशंसा योग्य उत्तम चेतन बनाता है। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्य) तेरे से दूसरा कोई (मर्डिता) सुख को देने हारा (न अस्ति) नहीं है।

इसलिये (ते) तेरी ही (वचः) स्तुतिपरक वाणी को मैं (ब्रवीमि) कहता हूं।

[२४८] त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥
ऋ० ८। ६०। ५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (त्वं) तू (ऋजीषी) ऋजु, कुटिलता रहित मार्ग में अपने भक्तों को प्रेरणा करने वाला, (शवसस्पतिः) बल का स्वामी, शक्तिमान्, (यशाः असि) यश.स्वरूप है। (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (पुरु-अनुत्त.) देहों में विना किसी से प्रेरित होकर स्वतन्त्र रूप से, (चर्षणीधृतिः) स्वत. सब मनुष्यों में धारक प्रयत्न होकर (अप्रतीनि) न दबने वाले (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि) नाश करता है।

[२४९] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥
ऋ० ८। ३। ५॥

भा०—(देवतातये) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये (इन्द्रम् इद्) आत्मा या ईश्वर को ही हम (हवामहे) पुकारते हैं। (अध्वरे प्रयति) हिंसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी (इन्द्रं) परमात्मा को हम पुकारते हैं, (समीके) समान रूप से ध्यान, विचार, ज्ञान गति करने के अवसर पर या संग्राम में हम (वनिनः) सब भक्तजन (इन्द्रं) उस ईश्वर को ही राजा के समान स्मरण करते हैं और (धनस्य सातये) धन के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी (इन्द्रं) ईश्वर को (हवामहे) आह्वान करते हैं।

२४८-,एक इत्पुरुत्तश्चर्षणीधृता' इति ऋ०।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
[२५०] इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥

ऋ० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) बहुत ऐश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को बसाने और उनमें बसने वाले ईश्वर ! (मम) मेरी (याः) जो (इमा गिरः) ये वाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं, प्रसिद्ध करती हैं और (पावकवर्णाः) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहारे, ईश्वर का वर्णन करने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (विपश्चितः) कर्म और प्रज्ञा का संचय करने हारे विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (स्तोमैः) स्तुति-मन्त्रों से (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[२५१] उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

ऋ० ८ । ३ । १५ ॥

भा०—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (गिरः) वेदमन्त्र और (स्तोमासः) स्तुतिमन्त्र (सत्राजितः) सब कष्टों पर विजय पाते हुए, (अक्षितोतयः) अक्षय बलशाली (वाजयन्त) ज्ञान से सम्पन्न, वेगवान् (रथा इव) रथों के समान (धनसाः) धनों को प्राप्त कराते हुए (उद् ईरते) उत्पन्न होते हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १ ३ १ ३ ३ १र ३ २उ
[२५२] यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥

ऋ० ८ । ४ । ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौर मृग या इन्द्रियों के पीछे भागने वाला व्यसनी पुरुष (तृष्यन्) प्यासा, तृष्णा से सताया हुआ (अपाकृतम्) जल से या रस से भरे (इरिणम्) जलाशय या भोगपदार्थ के प्रति (एति) जाता है । उसी प्रकार हे (इन्द्र, आत्मन् ! आप (नः आपित्वे अपित्वे) हमारी बन्धुता को प्राप्त करने पर (कण्वेषु) मेधावी पुरुषों में (तूयं) शीघ्र ही (आगहि) प्राप्त हो और (सचा) साथ ही (सु पिब) उत्तम रूप से सोमरस का पान कर ।

इति षष्ठी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ द० ७ ॥ ऋषि —१ भर्गः । २ रेभः काश्यपः । ३ जमदग्निः । ४, ९ मेधातिथिः । ५, ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७ वसिष्ठः । ८ रेभः । १० भरद्वाजः ॥

देवता—१, २, ४—१० इन्द्रः । ३ आदित्याः ॥

बृहती छन्द ॥ मध्यमः स्वरः ॥

३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५३] शग्ध्यूऽषु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
१ २ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

ऋ० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) सब शक्तियों और प्रज्ञाओं के पालक ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विश्वाभिः) सब प्रकार की (ऊतिभिः) शक्तियों से (उ सु शग्धि) तू हमारी इष्ट पूर्ति कर । हे (शूर) शूर ! (वसुविद) प्राणों के प्राप्त करने, कराने और जानने हारे, (यशसं) इन्द्रियों के वीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी (भगं न) ऐश्वर्य के समान (त्वा) तेरे (हि) ही (अनु चरामसि) हम अनुकूल चलते हैं । इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और भक्तों की ईश्वर के प्रति भक्ति है ।

[२५४] या इन्द्र भुज आभरः स्ववाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥
ऋ० ८। ९७। १॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (या भुजः) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को (असुरेभ्यः) असुररूप प्राणों से तू (आभरः) प्राप्त करता है (स्ववान्) सुख और प्रकाश से युक्त है (मघवन्) यज्ञ के स्वामिन् ! तू (अस्य) इसके द्वारा (स्तोतारम् इत्) अपने यथार्थ गुण कथन करने वाले को ही (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो (त्वे) तेरे लिये ही (वृक्तबर्हिषः) अपना यज्ञ फैला कर बैठे हैं या तेरे में लीन होने के लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बढ़ा । आत्मा प्राणों के बलों से साधक को ही आनन्द देता है और शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन ऐश्वर्यों को दुष्ट पुरुषों से छीन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावें ।

[२५५] प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो ।
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥
ऋ० ८। १०१। ५॥

भा०—हे (ऋतावसो) सत्य ज्ञान में ही वास करनेहार ज्ञानिन् ! (मित्राय) अपने हृदय के स्नेही के लिये (प्र गायत) उत्तम गान कर । (अर्यम्णे) न्यायकारी और अन्तर्यामी, (वरूथ्ये) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी (वरुणे) सब विघ्नों के निवारक (राजसु) तेजस्वी राजाओं में स्वतन्त्रता से विचरने वाले राजा के समान (राजसु छन्द्यं तेजस्वी पदार्थों में सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर या प्राणों में व्यापक आत्मा को लक्ष्य करके (छन्द्यं) वेदानुसार (स्तोत्रं) स्तुतिकारक (सचथ्य) सेवन करने

योग्य, हृदयग्राही (वचः) स्तुति वचन का (प्र गायत) उत्तम रूप से गान करो।

३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५६] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
३ १२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥
ऋ० ८।३।७॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (आयवः) दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य (पूर्वपीतये) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभिप्राय से (त्वा) तुझको (स्तोमेभि.) वेद के स्तोत्रों द्वारा (अभि) साक्षात् ज्ञान करते हैं। (समीचीनासः) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न (ऋभवः) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग (त्वाम् समस्वरन्) तुझको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं। और (रुद्राः) ज्ञान के उपदेष्टा विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी (पूर्व्यं) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुझको ही (गृणन्ते) स्तुति करते हैं।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[२५७] प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥
ऋ० ८।८९।३॥

भा०—हे (मरुतः) प्राणो ! वा विद्वानो ! (वः) आप लोग (बृहते इन्द्राय) बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (ब्रह्म अर्चत) वेद द्वारा स्तुति करो। अथवा उस महान् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल को प्राप्त करो या (ब्रह्म) ब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो। वह (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (शतपर्वणा वज्रेण , सैकड़ों पालनकारी, पर्व वाले ज्ञानवज्र द्वारा (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने हारा (वृत्रं हनति) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और शत्रु को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है।

३ १र २र ३ १ २ ३१ २
[२५८] बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥
ऋ० ८ । ८९ । १ ॥

भा०—(मरुतः) हे प्राणगण ! हे विद्वान् पुरुषो ! (वृत्रहन्तमम्) वृत्र=अज्ञान पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का (बृहत्-इन्द्राय) बड़े भारी इन्द्र के लिये (गायत) गान करो । (येन) जिससे (ऋता-वृधः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग (देवाय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (देव) प्रकाशमान (जागृवि) सदा जागे रहने वाले, अमर (ज्योतिः) प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[२५९] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि७
ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि देता है उसी प्रकार (नः) हमारे लिये (क्रतु) प्रज्ञा को (आ हर) प्राप्त कराओ । हे (पुरुहूत) प्रजाओं द्वारा स्मरण किये गये राजा के समान आत्मन् ! परमेश्वर ! (यामनि) इस ब्रह्ममार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (ज्योतिः) ज्ञानमय ज्योति को (अशीमहि) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६०] मा न इन्द्र पराबृणग्भवा नः सधमाद्ये ।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र पराबृणक् ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ९७ । ७ ॥

२६०—'सधमाद.' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमें (मा परावृणक्) कभी परित्याग मत कर। (नः) हमारे (सधमाद्ये) एक सग आनन्द प्राप्त करने के स्थान यज्ञ, देह आदि स्थानों में (भव) हमारे संग रह। (त्वं) तू (नः) हमारी (ऊती) एकमात्र रक्षा है। और (त्वम् इत्) तू ही (नः आप्यम्) हमारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य उद्देश्य, लक्ष्य है। तू (नः) हमें (मा परा-वृणक्) कभी मत त्याग।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और भक्तों का भगवान् के प्रति वचन है। देखो उप० बृह० अ० ६। ब्रा० १। "ते प्राणा होचुर्मा भगव उत्क्रमीः न शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति"।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२६१] वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥६॥

ऋ० ८। ३३। १॥

भा०—(वयं) हम प्राणगण या भक्तजन (सुतावन्तः) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके वृक्तबर्हिषः) बर्हि-अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट कर (आपः इव) अपने तट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (वृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेहारे देव! तेरे (स्तोतारः) सत्य-गुणों का गान करने हारे (आसते) बैठे हैं।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोता के रूप में बैठने का अलंकार देखो—(बृहदा० उप० अ० २। ब्रा० २। ३।) "तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना"।

१ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[२६२] यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
३ १ २ ३ २ ३ १र २र३ १र २र ३ १ २
यद्वा पञ्चक्षितीनां द्युम्नमाभर सत्रा विश्वानि पौंस्या॥१०॥
ऋ० ६ । ४६ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (नाहुषीषु) शरीर-बन्धनों में बधी हुई प्राणधारी प्रजाओं में (यत्) जो (ओजः) तेज और (कृष्टिषु) अपने कर्मफल प्राप्त करनेहारे मनुष्यों में जो (नृम्णम्) धन है (यत् वा) या जो (पञ्चक्षितीनां) आत्मा की पांचों भूमियों में (द्युम्नं) कान्ति या ऐश्वर्य है वह और (सत्रा) बड़े २ (विश्वानि पौंस्या) समस्त बल पराक्रम (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

लघिमा गरिमा आदि अष्ट सिद्धियें और नव निधियों तथा अन्यान्य बल की प्रार्थना है ।

इति सप्तमी दशतिः । तृतीय खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१ मेधातिथिः । २ रेभः । ३ वत्सः । ४ भरद्वाज । ५ नृमेधः । ६ पुरुहन्मा । ७ नृमेधपुरुमेधौ । ८ वसिष्ठ । मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च । १० कलि ॥ इन्द्रो देवता ॥ बृहती । मध्यम ॥

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
[२६३] सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
३ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुत. ॥१॥
ऋ० ८ । ३३ । १० ॥

भा०—हे (उग्र) बलवन् ! (सत्यम्) सत्य ही (इत्था) इस प्रकार का (वृषा इद् असि) तू सुखों का वर्षक ही है । और (वृषजूतिः) श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित तू (नः) हमारा (अविता) पालन करने हारा

(वृषा हि शृण्विषे) 'वृषा' साक्षात् धर्ममय ही सुना जाता है और (परावति) दूर और (अर्वावति) समीप भी तू (वृषा उ) 'वृषा' अर्थात् आनन्दघन ही (श्रुतः) प्रसिद्ध है ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६४] यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आविवासति २

ऋ० ८ । १७ । ४ ॥

भा०—हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यद्) चाहे तू (परावति) दूर, मुक्ति की दशा में हो और (यद्) चाहे हे (वृत्रहन्) हे पापों के नाश करने हारे ! (अर्वावति) समीप, देह में विद्यमान रह, (अतः) तो भी हे (इन्द्र) आत्मन् ! प्रभो ! (केशिभिः) विशाल ज्ञान दीप्तियों से सम्पन्न विद्वानों और (गीर्भिः) वेदवाणियों से (द्युगद्) प्रकाश की तरफ़ शीघ्र जाने वाला होकर (सुतावान्) आनन्दरस का सम्पादक है । साधक पुरुष (त्वा) तुझको ही (आ विवासति) प्रकट करता है ।

३ १ २ ३१२२ ३ १ २ ३ २ ३१२ २२
[२६५] अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महाविचेतसम् ।
३ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ४६ । १४ ॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः मदेषु) अन्न या प्राण धारण कराने वाले चिदात्मा, या अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान के द्वारा प्राप्त आनन्द के अवसरों पर (महाविचेतसम्) अत्यन्त अधिक ज्ञान और चेतना युक्त (वीरं) वीर्यवान्, (श्रुत्य) श्रुति, वेद में प्रसिद्ध (शाकिन) सर्व शक्तिमान्, (नाम) सबको नम्र करने हारे (इन्द्रं) ईश्वर को (यथा

२६४—'नो वृतः' इति ऋ० ।

वच) जिस प्रकार वेदवचन की आदेश है उसी प्रकार (गिरा) वेद की ऋचा द्वारा (गाथ) स्तुति करो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६६] इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।
३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ ४॥

ऋ० ६ । ४६ । ९॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (मघवद्भ्यः) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और (मह्यं च) मेरे लिये (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धातुओं से बने, (त्रिवरूथं) तीनों दोषों का वारण करने हारे (शरणं) देह के (स्वस्तये) कल्याण के निमित्त (यच्छ) प्रदान कर। (एभ्यः) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से (दिद्युम्) वज्रस्वरूप (छर्दिः) आच्छादक बन्धन को (यवया) हटा।

१ २ ३ २ ३ १२ २२
[२६७] आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रतिभागं न दीधिम॥ ५॥

अथर्व० ८ । ९९ । ३॥

भा०—(सूर्यं इव) सूर्य के समान सब के प्रेरक आत्मा का (आयन्त) आश्रय लेते हुए (विश्वा) समस्त (जाता) उत्पन्न हुए और (जनिमानि) आगे उत्पन्न होने हारे (वसूनि) प्राणी सब (इन्द्रस्य इत्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का (भक्षत) भोग करें। इस कारण उसके ही (ओजसा) बल से हम (भागं न) प्राप्त दायभाग के समान उसको (प्रति दीधिम) समझें।

२६७—'वसूनि जाते जनिमान', 'दीधिम' इति ऋ०।

[२६८] न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥
ऋ० ८ । ७० । ७ ॥

भा०—हे (दीर्घायो) नित्य आत्मन् ! (अदेवः) इष्टदेव से रहित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (तत्) उस परम (इषम्[1]) सबके अभिलाषा के योग्य लक्ष्य को (न आप) नहीं प्राप्त करता । अथवा—(अदेवः मर्त्यः इषं न आपतत्) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न के समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुंचता । अथवा—माधव के मत से-(इषं न आपतत्) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चल सकता । (एतग्वा[2]) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अश्व आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार (एतशः) अपने घोड़ों को (युयोजते)रथ में लगाता है और राह पर डाल देता है । उसी प्रकार सबको सन्मार्ग पर लेजाने वाला (इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को (युयोजते) ठीक मार्ग पर ले जाता है ।

'भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है ।

[२६९] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥७॥
ऋ० । १० । २ ॥

२६८—'हरी इन्द्रो युयोजते', 'आपतदिषं' इति 'य एतशा' इति ऋ० । आप तद् इषम् । इति पाठः सायणसम्मतः आप तद् इषमिति (तु० सा०) 'आप तद् ईषम्' इति मा० वि० ।

१. ईषतिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४ ।). २. प्राप्तगन्तव्याः, इति (मा० वि०)

२६९—'हव्य इन्द्रः', 'भूषतु', 'वृत्रहा', 'ऋचीषम.' इति ऋ० । .

भा०—(विश्वासु) सब (समत्सु) एकत्र आनन्द उत्सवों में (नः) हमारा (हव्यं) स्तुतिवचन (इन्द्रम्) उस ईश्वर को (आ भूषत) सुभूषित करे, उसका गुणगान करे । हे (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करने हारे हे (ऋचीषम) सब स्तुतियों में समानरूप से विद्यमान ईश्वर ! (ब्रह्माणि) वेदस्तवन और वैदिक कर्म (सवनानि) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुझको ही (उप भूषत) शोभा देते हैं ।

१२ २२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २
[२७०] तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
३ १२ २२ ३ २ १ ३ १२ ३ १ २
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते ॥८॥
ऋ० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (अवमं) सबसे नीचे का (वसु) बसने योग्य पृथिवी लोक भी (तव इद्) तेरा ही है । (त्वं) तू (मध्यमं वसु) बीच के लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी (पुष्यसि) पोषण करता है । और तू आप (परमस्य) सब से उत्कृष्ट (विश्वस्य) संसार में (राजसि) प्रकाशमान है । अथवा—हे आत्मन् ! (अवमं वसु) निकृष्टतम प्राणि तेरा ही विकास है । (मध्यम) मध्यम श्रेणी के प्राणी को भी तू ही पुष्ट करता और (परमस्य) उच्च कोटि के प्राणी में भी तू ही प्रकाशित है । (त्वा) आपको (गोषु) समस्त गतिशील योनियों, लोकों, और आत्मपक्ष में-इन्द्रियों में से भी (नकि) कौन नहीं (वृण्वते) वरण करता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा— नकि) कोई भी तुझे न वृण्वते) नहीं रोकता। तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

१२३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२७१] क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः ।
१ २ ३१ २ ३१ २
अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषु ॥९॥
ऋ० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे (पुरन्दर) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! (क इयथ) तू कहां २ गति करता है ? (क इद् असि) और तू कहा २ रहता है । (पुरुत्रा चित् हि) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में (ते) तेरी (मनः) मननशील संकल्प शक्ति (अलर्षि) गति करती है । हे (युध्म !) हे विषयवासना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे (खजकृत्) खः=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयग्राहक सामर्थ्यों के विघातः ! (गायत्राः) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणगण (प्र अगासिषु) तेरी ही महिमा गाते हैं ।

३ १ २ ३ १२ २र ३२ ३ १ २
[२७२] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
१ २ ३ १२ २र ३२ ३२ ३१ २ ३२
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुत ॥१०॥
ऋ० ८ । ६६ । ७ ॥

भा०—(वयं) हम (एनम् इद्) इस (वज्रिणम्) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही (ह्यः) गत काल में (इह) इस देह में (आ अपीपेम) खूब ज्ञानरस पान कराते रहे । (अद्य) आज (सवने) इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में (तस्मा उ) उस ही इन्द्र के लिये (सुत) ज्ञानरस या आनन्दरस को लाओ और (नून) निश्चय से (भूषत) उसकी शोभा बढाओ ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा । मनु. ।

इति अष्टमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ द० ९ ॥ ऋषि०—१, ६ पुरुहन्मा । २ भर्ग' ३ इरिमिठिः । ४ जमदग्नि । ५, ७ देवातिथिः । ८ वसिष्ठः । ९ भरद्वाज । १० वालखिल्या । देवता- १- ३ ५-८ १० इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी । ४ सूर्यः ॥ बृहती ॥ मध्यमः ॥

१र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
[२७३] यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । १ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणीनां) द्रष्टा इन्द्रियों या मनुष्यों का (राजा) शासक, प्रकाशक या उनके बीच में स्वतः प्रकाशमान है और जो (रथेभि) रमण करने, भोग करने के साधन देहों या प्राणेन्द्रियों से (याता) विषयों तक गमन करने हारा, (अध्रिगुः) इन्द्रियों पर वश करने हारा अधिष्ठाता है और (य) जो (वृत्रहा) सब अज्ञानों का नाशक, (विश्वासां) समस्त (पृतनानां) सेनाओं के समान वासनाओं तथा मनुष्यों का (तरुता) विनाशक या पार करनेहारा है उस (ज्येष्ठम्) सब से श्रेष्ठ आत्मा की मैं (गृणे) स्तुति करता हूं ।

राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

'अध्रिगु'–' अधिकृतशब्दस्य अध्रिभाव इति दे० य० । पृतना इति मनुष्यनाम । नि० २ । ४ ॥ सङ्ग्रामनाम च । नि० २ । १७ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७४] यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥२॥

ऋ० ८ । ६१ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत) जिससे हम (भयामहे) भय करते हैं (न) हमें (तत) उससे (अभयं) भयरहित (कृधि) कर । हे मघवन् ! (तव तत्) तेरा वह बल है कि (नः, ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शग्धि) तू समर्थ है, इस कारण (द्विषः) नाना द्वेष करने हारे

२७४—'तवन्नश्च ऊतिभि.' इति ऋ० ।

[२७७] अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा ।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥
ऋ० ८ । ४ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यदा) जब (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी) बलवान् प्राण, इन्द्रिय सम्पन्न (रथी) उत्तम देहरूप रथ से युक्त (सुरूप.) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप से युक्त और (गोमान् इद्) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम वाणी से युक्त हो जाता है तब वह (सदा) नित्य ही (श्वात्रभाजा) धन धान्य से युक्त (वयसा) अपनी आयु से और (चन्द्रै.) आह्लादकारी या चिरकाल तक आनन्दकारी सज्जनों के साथ (सभाम्) तेरे समान कान्ति या सत्संग को (उपयाति) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी, उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्संग से मुक्त हो जाता है । राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

[२७८] यद्द्याव इन्द्र ते शतं शत भूमीरुत स्यु· ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमष्टरोदसी ॥ ६ ॥
ऋ० ८ । ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यद् द्याव· शत) यदि द्यौलोक भी सैकड़ों (उत भूमी. शतं) और भूमियां भी सैकड़ों (स्यु) हों वे और हैं (वज्रिन्) सर्व शक्तिमन् ! (सहस्र सूर्या) हज़ारों सूर्य और (रोदसी) यह सब ब्रह्माण्ड भी (वि अनु जातम्) तेरे पीछे पैदा हुआ (त्वा न अष्ट) तुझे पूरी तरह से व्याप नहीं सकता ।

'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ' इति बृहदा० उप० । 'एकांशेन स्थित जगत्' । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः। (गी० ११।१२।)

[१७९] यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥७॥

ऋ० ८। ४।।१ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यद्) क्योंकि (प्राग्) प्राची दिशा में, पूर्व में (अपाग्) पश्चिम में, (उदङ्) ऊपर में (न्यग् वा) या नीचे सर्वत्र (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (हूयसे) तेरी स्तुति की जाती है तू ही पुकारा जाता है। (सिम्-आ) सर्वत्र (पुरू) देहधारियों में (आनवे) प्राणधारियों में (तुर्वशे) इन्द्रियों के वश करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों में भी तू (नृषूत.) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित (असि) है।

[२८०] कस्तमिन्द्र त्वावसवामर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवान् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥८

ऋ० ७। ३२। १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (वसो) सबको बसाने और सब में बसने हारे! (तं त्वा) उस स्मरण करने योग्य तुझको। (कः मर्त्यः) कौन पुरुष (आ दधर्षति) अपमानित कर सकता है। (वाजी) ज्ञानी पुरुष (श्रद्धा) सत्य धारण करने हारा, (मघवान्) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (पार्ये दिवि) पार करने योग्य प्रकाश में, या संसार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश में रहता हुआ तेरे प्रति (वाजं) अपने ज्ञानमय भेंट को (सिषासति) तेरे अर्पण कर देता है।

२८०—'श्रद्धा इत्ते' इति पाठभेदः। ऋ०।

[२८१] इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः ।
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत्त्रिंशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । ५९ । ६ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र वायु और प्राण और अग्नि सूर्य और आत्मा के बलपर (इयं) यह उषा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी (पद्वतीभ्यः) चरणवाली प्रजाओं से (पूर्वा) पूर्व ही (आगात्) आजाती है । (हित्वा शिरः) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वया) अपनी व्यापन शक्ति ग्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिंशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है ।

यजुर्वेद में इसका उषा देवता है । सायण ने उषा पक्ष में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं । चितिशक्ति के पक्ष में ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं । उन पर वश करती है । यद्यपि ये ३१ हैं तो भी एकादश रुद्रों में दश प्राण ११ वां स्वयं आत्मा है । अतः वह ३० प्राण ही गिने जायगे । आत्मा स्वतः चितिशक्ति से भिन्न नहीं । इन्द्र अग्नि उषा और ३० चरण सब मिलकर ३३ देवता हुए ।

[२८२] इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः ।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ॥१०॥
ऋ० ८ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मितमेधाभिः) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (ऊतिभिः) अपनी रक्षण शक्तियों के साथ तू (आ एहि इत्) हमें प्राप्त हो । हे (शन्तम) सुखकारक ! (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्तिदायक (अभिष्टिभिः) हमारी सुख कामनाओं सहित और हे (स्वापे !) सुख को प्राप्त करने

२८१—'हित्वीशिरो जिह्वया वावदच्' इति ऋ० ।

हारे हे सुबन्धो! (स्वापिभिः) सुखदायक शक्तियों द्वारा तू (आ) हमें प्राप्त हो।

इति नवमी दशति। पञ्चमः खण्डः।

॥ द० १० ॥ ऋषिः—१ नृमेधः। २, ३ वसिष्ठः। ४ भरद्वाज। ५ परुच्छेपः। ६ वामदेवः। ७ मेध्यातिथिः। ८ भर्गः। ९, १० मेधातिथिमेध्यातिथि ॥ देवता १-४, ७-१० इन्द्र। ५ वरुण. ॥ बृहती ॥ मध्यम. ॥

[२८३] इन ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं होतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ॥१॥
ऋ० ८। ९९। ७॥

भा०—(वः) आप लोग (ऊती) अपनी रक्षा के निमित्त (अजरं) कभी जीर्ण न होने वाले (प्रहेतारं) इन्द्रियों या विद्वानों को उत्तम रीति से प्रेरणा करने हारे, (अप्रहितम्) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, (आशुम्) सर्वव्यापक, अति शीघ्रगामी, (जेतारं) सबके विजेता, उत्कृष्ट, (होतारम्) ज्ञान और भोग के दाता (रथीतमम्) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, (अतूर्तम्) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, (तुग्रियावृधम्) तमोनिवारक, ज्ञान के वर्धक, आत्मा की शरण में (इन) आओ। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समान है।

[२८४] मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताद्वा सधमादं न आगहीह वा सन्नुप श्रुधि॥ २ ॥
ऋ० ७। ३२। १॥

२८३—'तुग्र्यावृधम्' इति ऋ०।
२८४—'आराचित्' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तेरे लिये (वाघतः) यत्न करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को (आरे) समीप से (मा३ उ सु निरीरमन् चन) क्या तू खूब नहीं रमाता है ? रमाता ही है । इसलिये हे इन्द्र ! (आरात्-तात्) दूर से (वा) भी (नः सधमादं) हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या क्रीड़ा भूमि, शरीर में (आगहि) व्याप्त हो । (इह वा सन्) और यहां ही रहकर (उप श्रुधि) हमारे वचन सुन ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८५] सुनोत सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १र २र३१र ३र
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयः ॥३॥
ऋ० ७ । ३२ । ८ ॥

भा०—हे विद्वानो ! हे इन्द्रियगण ! (सोमपाव्ने) सोम का पान करने हारे (वज्रिणे) वज्र, तमोनाशक या वैराग्यसाधक साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सोमं) सोम, आनन्दरस को (सुनोत) उत्पन्न करो । उसके (पक्ती) पक्वान, पक्वज्ञान परिपुष्ट अनुभव (पचत) पकाओ, तैयार करो, प्राप्त करो । (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (कृणुध्वम्) यत्न करो । वह (पृणन् इत्) सब को पालन करता हुआ ही (मयः पृणत) सुख कल्याण करता है ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
[२८६] य सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥४॥
ऋ० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (सत्राहा) सब शत्रुओं का नाशक और (विचर्षणि) सब का द्रष्टा है । (तं इन्द्र) उस ऐश्वर्यवान् को (वयं

'सहस्रमुष्क' इति पाठभेद., अ०. ॥

हूमहे) हम पुकारते, स्मरण करते हैं । हे (सहस्रमन्यो) सहस्रों मन्युओं, ज्ञानों से युक्त ! हे (तुविनृम्ण) बहुधन ! हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! (समत्सु) हमारे आनन्द उत्सवों के अवसरों पर (नः वृधे) हमारी उन्नति के लिये (भव) हो ।

देखो केनोपनिषद् में देवों की विजय-कथा ।

१ २ ३ २ ३ १ २
[२८७] शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ड ३ १ ३ २ ३ २
मा वां रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥

ऋ० १ । १३९ । ५ ॥

भा०—हे (शचीवसू) शक्ति स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपने बलपर सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अपान स्वरूप अश्विनो ! या हे प्रज्ञा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषो, (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (दिवानक्तं) रात दिन (नः दिशस्यतम्) हमें सम्पन्न करो । (वां रातिः) आप लोगों की दानशीलता या आहुति (मा कदा चन उपदसत्) कभी नष्ट न हो, न रुके और (अस्मद् रातिः) और हमारी दी आहुति या दान भी (कदाचन मा उपदसत्) कभी नष्ट न हो ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८८] यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः ।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्त्तारं विव्रतानाम् ॥६॥

भा०—(मीढुषे) सकल संसार पर सुखों बलों, और ज्ञानों के वर्षक ईश्वर के लिये (मर्त्यः) मनुष्य (स्तोता) स्तुतिकर्त्ता (यदा कदा च) जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) तब ही (विव्रतानाम् धर्त्तारं) नाना प्रकार के कर्मों के धारण करने हारे विरुद्धाचारियों को रोकने वाले

२८७—'दशस्यतम्' इति ऋ० ।

(वरुण) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ ईश्वर को (विपा गिरा) विशेष रूप से पालन करने हारी वेदवाणी से ही (वन्दत) स्तुति करे।

३ १र २ १ ३ २ ३ १ २
[२८९] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यः सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥७॥
ऋ० ८। ४६। १॥

भा०—हे (मेध्यातिथे !) मेधा, बुद्धि से गम्यमान, पवित्र अतिथे ! बिना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य ! या नित्य व्यापक परमात्मन् ! (अन्धस, मदे) प्राण धारण करनेहारे पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त (इन्द्राय) इस आत्मा के (गाः) इन्द्रियों की (पाहि) रक्षा कर। (यः) जो (इन्द्रः) आत्मा (हर्योः सम्मिश्लः) दोनों प्रकार के बाह्य और भीतरी इन्द्रियों से संनिकर्ष को प्राप्त होकर (हिरण्ययः) हित और सुखजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही (इन्द्रः वज्री) सब अज्ञानों का वर्जन करनेहारा आत्मा, (हिरण्ययः) प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय ज्ञान का प्राप्त करनेहारा है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१र ३र
[२९०] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥८॥
ऋ० ८। ६१। १॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा (नः) हमारे (अर्वाग्) आभ्यन्तर मानस और (इदं च) इस प्रत्यक्ष, उच्चारण किये हुए, (उभय) दोनों प्रकार के (वचः) वचनों को (शृणवत्) सुनने हारा (मघवान्) नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न, (शविष्ठः) बलवान् आत्मा (सोमपीतये) परमेश्वर के लिये परमसुख

२८९—'पाहिगामन्धसो' इति, 'एमोऽयः हरी सचा यन्तो रथो हिरण्ययः' इति च ऋ०।

रूप सोमरस पान करने के लिये (सत्यया धिया) सत्यानुकूल बुद्धि से सम्पन्न होकर (आगमत्) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ २   ३ १ २ ३   १ २
[२६१] महे चन त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।
२ ३ १ २ ३ १र २र   ३ २ ३ १ २
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥
ऋ० ८ । १ । ५ ॥

भा०—(अद्रिवः) हे अन्धकार का हरण करने हारे ज्ञानवन् ! (वज्रिवः !) हे वज्र को धारण करनेहारे आत्मन् ! (महे चन शुल्काय) बड़े भारी मूल्य के बदले भी (न परा दीयसे) तुझको नहीं दिया जा सकता, तुझे त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मों से सम्पन्न ! (न शताय) न सौ के बदले और (न सहस्राय) न हज़ार के बदले, और (न अयुताय) न लाख के बदले ही तुझे दिया जा सकता है ।

१ २   ३ १ ३ २ ३   १ ३ २
[२६२] वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
३ १ २   ३ १ २   ३ २ ३ १ २
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥
ऋ० ८ । १ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अभुञ्जत) प्राप्त धन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने हारे (मे पितुः) मेरे पिता से और (भ्रातुः) भाई से भी आप (वस्यान् असि) अधिक श्रेष्ठ, अधिक ऐश्वर्यवान् हो । हे (वसो) वसो ! भीतर बसने हारे ! तू और (माता च) मेरी माता अथवा सब विश्व की निर्माता तुम दोनों (समा) समान रूप से (मे) मुझ को (वसुत्वनाय) ऐश्वर्य लाभ करने और (राधसे) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये (छदयथः) मेरा भोजन आच्छादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । सप्तम खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः, तृतीयः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

२६१—'परा शुल्काय देयाम' इति ऋ० ।

अथ चतुर्थ. प्रपाठक: (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० १ ॥ ऋषि:—१ वसिष्ठ. । २, ६, ७ वामदेव: । मेधातिथिमेध्यातिथी विश्वामित्र इत्येके । ४ नोधा: । ५ मेधातिथि. । ८ श्रुष्टिगु: काण्वो: । वालखिल्या. वा । ९ मेध्यातिथि । १० नृमेधः ॥ देवता—१—६, ८—१० इन्द्र: । ७ वसु: ॥ बृहती ॥ मध्यमः ॥

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[२६३] इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिर: ।
१र २र ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २
ताँ आमदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥१॥
ऋ० ७ । ३२ । ४ ॥

भा०—(इमे) ये (दध्याशिर) दधि से मिश्रित या ध्यान योग से प्राप्त (सोमासः) सोम, ज्ञान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुन्विरे) सम्पादित किये हैं, हे (वज्रहस्त) हाथ में ज्ञान रूप वज्र को धारण किये हुए आत्मन् ! (मदाय) अपने अन्त प्रसन्नता हर्ष के लिये (तान् आ-पीतये) उनको साक्षात् पान करने के लिये (हरिभ्या) ज्ञान और कर्म या दोनों प्रकार के इन्द्रियों से (ओक:) इस देह में (आ याहि) तू आ ।

३१र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मधो. पपान उप नो गिर. शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते मदाय) तेरे हर्ष के लिये (इमे) ये (उक्थिन. सोमा.) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सोम=विद्वान् जन या समस्त ब्रह्मानन्द रस (चिकित्रे) प्रतीत होते हैं । तू (मधो: पपान) ब्रह्मविद्या रूप मधु का पान कर । (न गिर) हमारी वेदवाणियाँ (उप शृणु) श्रवण कर । हे (गिर्वण:) वेदवाणियों द्वारा भजन करने योग्य देव ! तू (स्तोत्राय) गुणकीर्तन करने हारे पुरुष को (रास्व) अभीष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २
[२९५] आ त्वाद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । १ । १० ॥

भा०—मैं (सबर्दुघाम्) सब प्रकार के ज्ञान रस को दुग्धरूप से देने हारी, (गायत्रवेपसम्) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, (सुदुघाम्) सुगमता से दुही जाने योग्य (इषम्) अन्नस्वरूप अथवा बलस्वरूप (उरुधाराम्) बड़े भारी ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारी या बहुत धाराएं वर्षाने वाली (अरंकृतं) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित (इन्द्रं) परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुझ (धेनुं) गाय कामधेनु माता की (हुवे) मैं स्तुति करता हूं ।

१ २ ० ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
[२९६] न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीड्वः ।
१ २ २ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥
ऋ० ८ । ८८ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार बिजुली को (बृहन्तः अद्रय. न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत वरण करते हैं उसी प्रकार (त्वा) तुझको (वीड्व) वीर्य-सम्पन्न, (बृहन्तः) बड़े २ (अद्रयः[1]) विद्वान् लोग (न वरन्ते[1]) क्या स्वीकार नहीं करते ? करते ही हैं । अथवा वे (न त्वा वरन्त) तेरा वारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । (यत्) क्योंकि (मावते स्तुवते) मेरे

---

१ भक्षणार्थस्य अत्तेर्विदारणार्थस्य दृणातेर्वा रिन् प्रत्ययः । अत्ति तमः इत्यद्रिर्ज्ञानी । न दीर्यते मोहादिना वा इत्यद्रिः संयमी ।

२९६—'यच्छिक्षसि' इति ऋ० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू (यत् वसु शिक्षसि) जो वासयोग्य धन, बल प्रदान करता है (ते तद्) तेरे दिये उस धन को न कि: आ·मिनाति) कोई भी नाश नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ (अद्रयः) मेघ या पर्वत भी उसको ढाप नहीं सकते ।

[२९७] क ईं वेद सुते सचा पिबन्त कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो वि भिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥५॥
ऋ० ८ । ३३ । ७ ॥

भा०—(सुते) जीवनयज्ञ में (सचा) इन्द्रियगण के एक साथ (पिबन्त) सोम का पान करते हुए आत्मा को (क ईं वेद) कौन जाने ? और कौन जाने कि (कद् वयो दधे) वह कितनी आयु धारण करता है । (यः) जो आत्मा (शिप्री) वेगवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देहान्तर में गमन करने हारा, (अन्धसः मन्दानः) अन्न द्वारा हर्ष को प्राप्त होता हुआ (ओजसा) अपने तेज से (पुरः) अपने भोग भूमियों, देहों को (वि भिनत्ति) तोड़ डालता है और मुक्त हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है, परन्तु उसकी उम्र को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में भ्रमण करता और अन्नरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

[२९८] यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि ।
अस्माकमंशुं मघवन्पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! (यत्) क्योंकि (सदसःपरि) हमारे देह, घर या सभा स्थान के पास रहने वाले (अव्रतम्) व्रत या नियम का पालन न करने हारे पुरुष का तू (शास) शासन कर और (च्यावय) अधिकार से च्युत करदे । हे मघवन् ! (पुरुस्पृहम्) इन्द्रियों या प्रजा के अभि

लापाओं के योग्य, उनके प्रिय, (अस्माकं) हमारे (अशु) भाग को (वसव्ये) इस वास योग्य देह या देश में (अधि वर्हय) और अधिक बढ़ा दे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२९९] त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥ ७ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न (पर्जन्य) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान अत्यन्त हित करने हारा, (ब्रह्मणस्पति) वेद और वेदज्ञों का स्वामी, (अदिति) किसी से भी खण्डित न होने हारा, अखण्ड, परमेश्वर (नः दैव्यं वच) हमारे देव सम्बन्धी वेदवाणियों की (पातु) रक्षा करे । वही हमारे (पुत्रै. भ्रातृभिः सह) पुत्रों और भाइयों के साथ (दुष्टरं) दुस्तर (त्रामणं) रक्षा करने योग्य (वच.) प्रतिज्ञा वचन की (पातु) पालन करे ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३००] कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ८ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

भा०—हे आत्मन् ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरी न असि) हिंसक नहीं हैं । अथवा-आप (स्तरी) मृतवत्सा गौ के समान दूध न देने हारे नहीं है । प्रत्युत, (दाशुषे सश्चसि) दानशील पुरुष को और भी देते हो । हे मघवन् ! (ते देवस्य) तुझ देव का (दान) दान (उप-उप इत् नु) बराबर समीप ही समीप (पृच्यते इत् नु) प्राप्त होता ही रहता है ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[३०१] युक्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतये उग्र ऋष्वेभिरागहि ॥ ९ ॥

ऋ० ८ । ३ । १७ ॥

३०१—'युक्ष्वाहि' इति ऋ० ।

भा०—हे (वृत्रहन्तम) उत्तम रीति से विघ्नों का नाश करनेहारे (इन्द्र) परमेश्वर ! आत्मन् ! तू (हरी) दोनों प्रकार के धारण और आकर्षण बलों और दोनों प्रकार के इन्द्रियगण को (युक्ष्व) नियुक्त कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (परावत) दूर देश या इन्द्रियों से अगम्य दशा से भी तू (उग्र:) अत्यन्त वेगवान् होकर (सोमपीतये) आनन्दरूप सोमपान करने के निमित्त (ऋष्वेभि:) दर्शन करनेहारे इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीन:) साक्षात् रूप में (आगहि) प्राप्त हो।

[२०२] त्वामिद्धा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमागहि ॥ १० ॥

ऋ० ८ । ९९ । १ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्र को धारण करने वाले शक्तिमन् ! (भूर्णयः नरः) भरण पोषण करनेहारे नेता लोग, (ह्यः) पूर्वकाल में (त्वाम् इत्) तुझको ही (आ अपीप्यन्) पुष्ट करते थे। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (स्तोमवाहसः) स्तुतिकर्त्ता या अन्न को धारण करने हारे पुरुषों की स्तुतियों को (इह) यहां (स) वह तू (श्रुधि) श्रवण कर और (स्वसरं) स्वयं कर्मानुसार अर्थात् आत्मा के बल से चलने वाले स्वयं गति करनेहारे देहरूप गृह में (आगहि) आ विराजमान हो।

इति प्रथमा दशतिः। सप्तमः खण्डः।

॥द० २॥ऋषि.—१, २, ७, ८ वसिष्ठः। ३ अश्विनौ वैवस्वतौ। ४ प्रस्कण्व:। ५ मेधातिथिमेध्यातिथी। ६ देवातिथि.। ९ नृमेध:। १० नोधा ॥ देवता—४—१० इन्द्र। १ उषा:। २, ३ अश्विनौ ॥ बृहती ॥ छन्दः ॥

२०२—'स्तोमवाहसामिह' इति ऋ०।

१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २
[३०३] प्रत्यु अदर्श्यायत्यु३च्छन्ती दुहिता दिव. ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥१॥
ऋ० ७ । ८ । १ । १ ॥

भा०—(दिवः दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति (उच्छन्ती) अन्धकार को दूर हटाती हुई (प्रति उ अदर्शि) सबको दिखाई दे रही है। वह (मही) महान् विस्तारयुक्त होकर (तम.) अन्धकार को उषा काल के समान (अप वृणुते उ) दूर हटाती है। और वह (सूनरी) उत्तम नेत्री, पथदर्शिका (ज्योति कृणोति) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देती है। यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाणी और प्रबुद्ध चिति शक्ति और उषा तीनों पर समान रूप से है। साधक की यह दशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है। यह आदित्यवर्ण पुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है।

३ १ २ ३ २ १ ३ २ १
[३०४] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्त अश्विना ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथ. ॥२॥
ऋ० ७ । ७४ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान शक्तियो ! हे (उस्रौ) वास कराने हारो ! (इमाः दिविष्टय.) ये द्युस्थान या मस्तक में गति करने हारी सात इन्द्रियां (उ) भी (वां) आप दोनों की (हवन्ते) महिमा को बतलाती हैं। (अयं) यह मैं आत्मा या मन (अवसे) अपने जीवन की रक्षा के लिये (वाम्) आप दोनों को (अह्वे) पुन॰ २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर बुलाता हूं। हे (शचीवसू) शक्ति द्वारा

३०३—'अपोमहीवयति चक्षसे' इति ऋ० ।

वास कराने हारो ! आप दोनों (विश विश) प्रति देह में (गच्छथ:) गमन कर रहे हो ।

[३०५] कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः ।
घ्नता वामश्मया क्षयमाणोंऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ॥ ३ ॥

भा०—[प्र० १] हे (अश्विनौ) देह में व्यापक प्राण और अपान (वाम्) आप दोनों (कुष्ठ) कहां स्थित हो ? [प्र० २] (वाम्) आप को (को मर्त्यः) कौन मरणधर्मा पदार्थ (तपान:) तप्त करता है । [उत्तर १] (वाम्) आप दोनों (अश्मया) शरीर की भोजन करने की शक्ति द्वारा (घ्नता) ताड़ित होकर गति करते हो । [उ० २] (यथा आद्वन्) जिस प्रकार भोगों और ऐश्वर्यों का भोक्ता राजा, शासक (अंशुना) अपने समस्त देशव्यापी बल से (क्षयमाण) देश भर में विराजमान होकर भृत्यों को चलाता है और तपाता है (इत्थम् उ) उसी प्रकार (आद्वन्) व्यापक आत्मा (क्षयमाणः) देह में रहकर (अंशुना) अपने व्यापक भोग-कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति देता है । और (अश्मया) अशना और पिपासा द्वारा आप दोनों (घ्नता) पीड़ित होकर उसके शासन में गति करते हो । (इसका विवरण देखो बृह० उप० अ० १, ब्राह्मण २)

[३०६] अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु ।
तमश्विना पिबतं तिरो अन्ह्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥४॥
ऋ० १ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! प्राण और अपान ! (वां) आप दोनों के लिये (दिविष्टिषु) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की एषणाओं में, या

३०६—'सोम ऋनावृता इति ऋ० ।

देवयज्ञों में (अयं) यह (मधुमत्तम) अत्यन्त मधुर (सोमः) सोमरस अन्न रस, ज्ञानरस (सुतः) सम्पन्न किया गया है । (तिरः अन्ह्य) विगत काल के सम्पादित (तं) उसको (पिबतं) पान करो शरीर में ग्रहण करते हो और (दाशुषे) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में और अपान को प्राण में हविरूप से दान करने हारे साधक को (रत्नानि) रमणीय, सुखकारी साधन बल आरोग्य (धत्तं) प्राप्त कराओ ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता (अ०४।२६।३०) और छान्दो० उप० अ०३ ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या ।
१ २ ३१२ २र ३ १र २र ३ १ २
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥५॥
ऋ० ८ । १ । २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (अहं) मैं (ज्या) उत्कृष्ट प्रशंसा योग्य (सोमस्य गल्दया¹) सोम की धारारूप वाणी से (त्वा) तुमको (सदा आ याचन्) नित्य प्रार्थना करता हू । (सवनेषु) यज्ञकर्मों और उपासनाओं में (मृग न) सिंह के समान दुष्टों पर (चुक्रुधं) क्रोध करते हुए (भूर्णिम्) संसार भर के भरण करने हारे (ईशान) स्वामी जगदीश्वर की (क न) कौन नहीं (याचिषत्) प्रार्थना करता ।

१ २ ३२ ३ २उ ३ १ २
[३०८] अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥
ऋ० ८ । ४ । ११ ॥

३०७—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च ऋ० ।

१. गल्देति वाङ्नाम (नि० १।११) धमनयो वा इति (नै० ६ । २४)

३०८—'उपनूनं' इति ऋ० ।

भा०—हे (अध्वर्यो) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आत्मस्थित मन ! अहंकार ! (सोम) सोमरूप आनन्दरस को (इन्द्रः) आत्मा (पिपासति) पान करना चाहता है। (त्वं सोम द्राव्य) तू उस आनन्द रस को चुआ, उत्पन्न कर। (वृत्रहा) विघ्न और तमों के निवारक आत्मा ने (नूनं) निश्चय से (वृषणा) सब काम्य सुखों की वर्षा करने हारे एवं बलवान् (हरी) हरणशील साधन, प्राण और अपान दोनों को (उप युयुजे) जोड़ ही लिया है और वह (आ जगाम च) आभी गया है। साधक अपने अहंकारयुक्त आत्मा से सम्बोधन करता है। देखो प्राणाग्नि-होत्र उप० (ख० ४) 'अहंकारोऽध्वर्युः'

३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३०६] अभीषतस्तदाभरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरे भरे च हव्यः ॥७॥

ऋ० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (ज्यायः) सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ ! (कनीयसः) अपने से छोटे (ईषतः) आप से साहाय्य चाहने हारे मेरे लिये (तद् अभि आ भर) अच्छी प्रकार सब ओर से उस अभिलाषा योग्य पदार्थ को प्राप्त करा। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (हि) क्योंकि आप (पुरूवसुः) अनेक प्रजाओं को वास कराने हारे (भरे भरे च) और प्रत्येक यज्ञ में (हव्यः) स्तुति योग्य हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[३१०] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमाशीय।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिद्दिधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥८॥

ऋ० ७ । ३२ । १८ ॥

३०६—'मघवन्त्समनामि' इति ऋ०।

३१०—'स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यावतः त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है-(यद्) यदि (एतावद्) इतना ऐश्वर्य (अहम्) मैं (ईशीय) प्राप्त करलूं तो हे (रदावसो !) समस्त पदार्थों के देने हारे ! मैं (स्तोतारम् इद्) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान के दर्शाने हारे विद्वान् को ही (दधिषे) दे डालूं । (पापत्वाय) पाप के कर्मों के लिये (न रासिषम्) कभी न दूं ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[३११] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥६॥
ऋ० ८ । ६६ । ५ ।

भा०—हे (इन्द्र त्वं) तू (प्रतूर्तिषु) संग्रामों में या बल के कार्यों में (विश्वाः स्पृधः) समस्त स्पर्द्धा करने हारी सेनाओं या दुर्वासनाओं के (अभि-असि) मुकाबले पर डट जाता है और उनको परास्त करता है । हे (तूर्य) शत्रु के नाश करने हारे ! (त्वं) तू (तरुष्यतः) हिंसा करने की चेष्टा करने वाले शत्रुओं के प्रति (वृत्रतूः असि) सब उपद्रवों का नाशक है । और तू ही (अशस्तिहा) शासन को न मानने हारे उद्दण्डों को नाश करने हारा (जनिता) प्रजाओं के पिता के समान है ।

१ २ ३र ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[४१२] प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ॥१०॥

भा०—(यः) जो तू परमेश्वर (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (दिवः) द्यौलोक के (सदोभ्यः) वास भूमियों से भी (परि) परे तक (प्ररिरिक्षे) दूरतक फैला हुआ है । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! इसलिये

३१२—'महिरिरिक्ष' 'पिव अन्तेभ्यस्परि' 'अनुस्वधा विवक्षिथ' इति ऋ० ।

(पार्थिवं रज) यह पृथ्वी लोक (त्वा) तुझ को (न विव्याच) कभी व्याप्त नहीं कर सकता। तू (अतिविश्वं) इस समस्त ब्रह्माण्ड को अतिक्रमण करके (ववक्षिथ) उसको वहन करता है, धारण करता है।

इति द्वितीया दशतिः। अष्टमः खण्डः।

॥द० ३॥ ऋषि—१, २, ६ वसिष्ठः। गातुरात्रेयो गृत्समदो वा। ४ पृथुर्वैन्यः। ५ सप्तगु। ७ गोरिवीतिः। ८ वेनो भार्गवः। ९ बृहस्पतिर्नकुलो वा। १० सुहोत्र॥ इन्द्रो देवता॥ त्रिष्टुप्. धैवत.॥

[३१३] असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु॥१॥
ऋ० ७। २१। १॥

भा०—(गो ऋजीकम्) इन्द्रियों द्वारा ऋजुता से प्रत्यक्ष रूप में, साक्षात् सम्बन्ध द्वारा प्राप्त (देव) दिव्य स्वभाव गुण युक्त, आनन्ददायक (अन्धः) ज्ञान, साम (असावि) प्राप्त किया। (इन्द्र) आत्मा (जनुषा) उत्पत्तिकाल से ही (इम्) अप्रत्यक्ष रूप में (अस्मिन्) इस ज्ञान में (उवोच) समवेत है, समवाय सम्बन्ध से है। अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है। हे (हर्यश्व !) हरणशील भोग साधनों से सम्पन्न ! (त्वा) तुझको (यज्ञैः) ज्ञानयज्ञों अथवा अन्तर्योगों द्वारा (बोधामसि) ज्ञान करते हैं। और तू (नः) हमारे (स्तोमं) सत्य ज्ञान कथाओं को (अन्धसः मदेषु) सोमरूप ज्ञान की उत्कृष्ट आनन्द दशा में (बोध) जाना कर।

[३१४] योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्रयाहि।
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः॥२॥
ऋ० ७। २४। १॥

३१३—'वृषेष' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते सदने) तेरे निवास योग्य गृह, इस देह में (योनिः अकारि) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है। (तम्) उस स्थान पर हे (पुरुहूत) इन्द्रियों या बहुतसे भक्तों द्वारा निरन्तर स्मरण किये गये आत्मन् ! (नृभिः) अपने नेता, प्राणरूप मरुतों के सहित तू (आ प्र याहि) सब ओर से हटकर वहां ही प्रकट हो और (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारा (वृधः) बढ़ाने हारा (चित्) और (अविता) पालनकर्त्ता (असः) बन और (वसूनि) धन, आनन्द (ददः) दान कर (सोमैः च) और सोमों द्वारा (ममदः) आनन्द का उपभोग कर।

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सा इन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते व्यपोह्य शीर्षकपाले सत्यात्मप्राणारामं मनः आनन्दम् शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्स्व (तैत्तिरीयोपनि० अनु० ६ वल्ली १।)

१ २ ३२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३१५] अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्‌ सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन् ॥३॥
ऋ० ५। ३२। १॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू ने (उत्सम्) ऊर्ध्वस्थान मूर्धा भाग को (अदर्दः) विदारण किया, और (खानि) इन्द्रिय द्वारों को (वि-असृज.) तू ने स्वयं रचा और (त्वम्) तूने (अर्णवान्) गति शील (बद्बधानान्) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को (अरम्णाः) व्यवस्थित किया। और (यद्) जब तूने (महान्तं) बड़ाभारी (पर्वतं) पोरुओं वाला देह (विव) प्रकट किया और (यत्) जो (दानवान्)

३१५—'अरम्णा' इति, सृजोविधार अवदानव हन् इति च ऋ०।

ज्ञान देवे हारे इन प्राणों को (आवहन्) प्रेरित करता और (धारा) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अन्नरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नाड़ियों को उन छिद्रों में प्रवाह रूप से (विसृजद्) विशेष रूप से प्रेरित करता है। इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य, ३य खण्ड में देखिये वहां ही इन्द्र का स्पष्टीकरण भी है। और देखो (बृहदारण्यक उप० अ० १ ब्रा० ४)

'उत्स उत्सरणाद् उत्सदनाद्वोनत्तेर्वा (निरु० १० । १ । ५) खानि इन्द्रियाणि, (काठक उ०)। पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः।' तृणत्ति विसर्जनकर्मा, संयमनकर्मा वा (नि० १० । १ । ५)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३१६] सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम्।
१ २ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्याम त्वोता ॥४॥
ऋ० १० । १४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम (वाजं सनिष्यन्तः) भोग्य पदार्थ का सेवन करते हुए भी (त्वा सुष्वाणासः) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम (स्तुमसि) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये (नः) हमारे लिये (सुवितं) उत्तम बल ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा। (यस्य) जिसकी (कोना) कामना करते हुए हम (त्मना) स्वयं आपसे आप (त्वा उता.) तेरे से रक्षित रहकर या तेरे में विरोये हुए रहकर (तना) खूब उत्तम २, विस्तृत अनुभवों को (आ सह्याम) प्राप्त करें। प्राणों का आत्मा के प्रति और भक्तों का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३१७] जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २ ३ १ २
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥५॥
ऋ० १० । ४७ । १ ॥

३१६—'त्मना तना सह्याम' इति ऋ०।

३१७—'रुद्रस्मातें' इति पाठभेदः ऋ०।

भा०—हे इन्द्र ! (वयं वसूयवः) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करते हुए (ते) तेरा (दक्षिणं) दाया, क्रिया सम्पन्न (हस्त) हाथ (जगृह्म) ग्रहण करते हैं । हे (वसूना) वसुओं के बीच में (वसुपते) प्राणों के पालक ! आत्मन् (त्वा) तुझको (गोना गोपतिं) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों के स्वामी के समान (विद्म हि) निश्चय से जानते हैं । (अस्मभ्यम्) हमें (चित्रं) सदा बढ़ने वाले या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने हारे (वृषणं) सब सुखों के देने वाले, पुष्टिकारक (रयिं) प्राण, अन्न, बल (दाः) दा ।

[३१८] इन्द्रं नरो नमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।
शूरो नृपाता श्रवसश्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥
ऋ० ७ । २७ । १ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि आत्मा (पार्याः) व्यापार, चेष्टा करने वाले या भरणपोषण करने में समर्थ (धियः) ज्ञान और कर्मों की (युनजते) आयोजना, प्रबन्ध करता है इसलिये (नरः) विद्वान् लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को नेमधिता) संग्राम, यज्ञ, व्यवस्था की स्थापना के अवसर पर (हवन्ते) उसको बुलाते या स्मरण करते हैं । शूरः) शूरवीर (नृपाता) मनुष्यों का उचित विभाग करने हारा (चकमे) कामना करने वाले (गोमतिं व्रजं) हमारे अभिलषित गौओं के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न व्रज, गोष्ठ या देह में (त्वं) तू (नः) हमें (श्रवसः) अन्न बल आदि (भज) प्राप्त करा ।

[३१९] वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥७
ऋ० १० । ७३ । ११ ॥

२१८—'श्रवसश्चकाम' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—(वयः) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, (सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान और बल की याचना करते हुए, (ऋषय) विद्वान् लोग और आत्म पक्ष में-इन्द्रिया (इन्द्रम् उपसेदु) इन्द्र आत्मा आचार्य, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुंचे और कहने लगे (ध्वान्त) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) दूर कर। (चक्षुः) हमारी आंख को (पूर्धि) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और (निधया इव बद्धान्) जाल में बंधे हुए के समान हमको (मुमुग्धि) मुक्त कर।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का महाज्ञानी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है।

१ २ ३ २उ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[३२०] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥८॥

ऋ० १० । १२३ । ६॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप। तेजस्विन् आत्मन्! (नाके) दुःख रहित मोक्षमार्ग में (हृदा वनन्त) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करते हुए, (उपपतन्त) गमन करते हुए (हिरण्यपक्ष) हितकारी और मनोहर पक्षों या प्राणों या साधनों से युक्त, (वरुणस्य दूतं) सब पापों के वारण करने हारे जगदीश्वर के दूत, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कराने हारे (यमस्य) सब के नियन्ता वायु या ईश्वर के (योनौ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में (शकुनं) शक्ति से सम्पन्न, (भुरण्युं) भ्रमणशील या सब के पालन पोषण करने हारे (त्वा) तुझको (यत्) जो (अभि-अचक्षत) सर्वत्र देखते हैं। इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो तैत्तरीय उप० (आनन्दवल्ली अनु०१ से ६ तक) वहां इस शकुन के पक्षों और पुच्छ आदि का नाना रूप से प्रदर्शन कराया है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२१] ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
क ३र ३ १ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा सतश्च योनिमसतश्च विवः ६
अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा (प्रथमं) सबसे प्रथम (जज्ञानं) प्रादुर्भूत या प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (सीम् अतः पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही (सुरुचः) उत्तम कान्तियों का (वि आवः) पुञ्ज बनाकर प्रकट करता है (सः) वह परमात्मा (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (विष्ठा) विशेष रूप से स्थिति करने हारे ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है । और (सतः च) इस समस्त सत् रूप में प्रकट जगत् (असतः च) और अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल आश्रय को भी (विव.) वही प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२२] अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः १०
ऋ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—विद्वान् लोग (महे वीराय) बड़ेभारी वीर, (तवसे) बलवान्, (तुराय) वेगवान् (विरप्शिने) ज्ञानवान् (वज्रिणे) विघ्नों और उपद्रवों के निवारक, वज्र बल के धारण करने वाले, (स्थविराय) अचल कूटस्थ (अस्मै) इस परमात्मा के लिये (पुरुतमानि) बहुत से (अपूर्व्या) उसको पूर्ण रीति से वर्णन करने हारे अपूर्व (वचांसि) नाना वचन (तक्षुः) प्रकट करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि —१ २, ४ तिरश्चीद्युतानो मरुतो वा । बृहदुक्थः । ५ वाम देव । ६ ८ वसिष्ठः । ७ विश्वामित्रः । ९ गोरिवीतिः ॥ इन्द्रो देवता॥
छन्द १—५, ७—९ विराट् । त्रिपदा विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[३२३] अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अध द्राः॥१॥
ऋ० ८ । ९६ । १३ ॥

भा०—(द्रप्सः) द्रवणशील, गतिमान्, (कृष्णः) विलेखन संकर्षण या संनिकर्ष करने द्वारा मुख्य प्राण (दशभिः) अर्थों को प्रकाशित करने हारे (सहस्रैः) वेगवान् प्राणों सहित (इयानः) गति करता हुआ (अंशुमतीम्) व्यापनशील चेतना से युक्त चितिशक्ति का (अव अतिष्ठत्) आश्रय लेता है। (इन्द्रः) आत्मा (शच्या धमन्तम्) अपनी शक्ति द्वारा श्वास प्रश्वास लेते हुए (तम्) उसको (आवत्) प्राप्त होता है (नृमणा) सब नरों में मनन शक्ति रूप वह आत्मा (स्नीहितिं) अवघात करते हुए उस प्राण को (अप अध द्राः) नीचे अंगों में भी प्रेरित करता है।

प्राण की गति को अपान तथा अन्यान्य अधोगामी स्थानों में प्रेरण करने में आत्मा के संकल्प ही कारण है। इसको सायणादि भाष्यकारों ने कृष्णासुर को मारने की कथा गढ़ कर लगाया है, यह असंगत है।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[३२४] वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥२॥
ऋ० ८ । ९६ । ७ ॥

३२३—'स्नेहितीर्नृमणा' इति ऋ० ।

भा०—(वृत्रस्य) आवरणकारी इस तामस देह के (श्वसथाद्) श्वास प्रश्वास से (ईषमाणाः) गति करते हुए (विश्वे देवाः) सब देव-गण, मरुद्गण, अमुख्य प्राण, चक्षु आदि (ये) जो (सखायः) मित्र (त्वा) तुझको (अजहुः) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख हो जाते हैं, तो भी हे आत्मन् ! (ते सख्यं) तेरा मैत्रीभाव (मरुद्भिः) उन प्राणों इन्द्रियों से (अस्तु) बना ही रहता है । (अथ) इसी कारण (इमाः) इन (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) भरण पोषण योग्य प्राणियों के देहों को (जयासि) तू अपने वश रखता है ।

ईष् गतिहिंसादर्शनेषु, भ्वादिः । ईष् उञ्छे, भ्वादिः । पृतना इति मनुष्यनाम, (नि० २ । ४ ।)

३ १ २ ३ १ २ २ र ३ १ र २ र ३ १ २ ३ १ २
[३२५] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ २ ३ १ र २ र
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान: ॥३॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥

भा०—(विधुं) विधमनशील, धौंकनी के समान विशेष रीति से शरीर में गति करने वाले, (समने) समान रूप से प्राण धारण करने के कार्य में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) गति देने वाले, (युवानं सन्तं) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी (पलितः) पुराण पुरुष आत्मा (जगार) अपने भीतर लीन कर लेता है । (देवस्य) उस आत्मदेव के (काव्यं) ज्ञान—सामर्थ्य को (पश्य) देख (ह्यः) जो भूत काल में (समानः) निरन्तर जीवित रहा, (स अद्य) वह आज भी (महित्वा) उस 'स्व' अपने महिमा या बड़प्पन में (ममार) अपना प्राण को त्याग देता है अर्थात् उसमें ही लीन हो मुक्त हो जाता है ।

देखो स्पष्टीकरण उपनिषदों के अप्यय-प्रकरण एकायन-प्रकरण और स्व महिमा में संप्रतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पक्ष में—(विधुं) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में ग्रस लेता है उसी प्रकार (बहूनां) बहुत से प्राणों के बीच में सबसे अधिक (युवान सन्तं) युवा अति बलवान सत् स्वरूप आत्मा (विधुं दद्राणं) चन्द्र के समान आल्हादकारी एवं गतिशील आत्मा को (पलितः) सर्वव्यापक, पुराण परमेश्वर (जगार) अपने भीतर ले लेता है (देवस्य) उस महान् परमेश्वर के बनाये (काव्यं पश्य) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि (आघममार) जो आज मरता है (सः) वह (ह्यः) फिर दूसरे दिन (समानः) प्राण धारी होकर जीता है । अर्थात् पुनः जन्म लेता है । और जो ही जगत् अवनष्ट होता है वह पुन. बनता है ।

देखो अथर्व० पलित सूक्त । का० ६ । १ । १० ॥

२ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२६] त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥४॥
ऋ० ८ । ९६ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं ह) तु ही (जायमानः) प्रकट होते समय (त्यत्-सप्तभ्यः) उन सातों (अशत्रुभ्यः) कभी न सोने हारे, निरन्तर चलने वाले शीर्षण्य प्राणों को (शत्रु) एकमात्र सुलाने वाला, अपने में लीन करने हारा, या शातयिता, उनके वेग को कम करने हारा या उनको इन्द्रियरूप में शिरोदेश में फोड़कर बनाने वाला (अभवः) है । और उसके बाद तू ही (गूढे) गुहा या बुद्धि में स्थित (द्यावा पृथिवी) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूर्धाभाग और शेष शरीरभाग को (अनु अविन्दः) प्राप्त करता है । और (विभुमद्भ्यः) सत्तावान् बलवान्, (भुवनेभ्यः) प्राणों से (रणं) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वयं (धाः) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३२७] मेहिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरूधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्
३ १र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (दुवस्युः) परिचर्या, सेवा की इच्छा करने हारा तू (अर्यः) अपनी गतिशील इन्द्रियों को (तरुषीः) पदार्थों या भोग्य विषयों तक चले जाने योग्य (करोषि) कर लेता है। इस कारण मैं (मेहिं न) मेल करने हारे योगी के समान (वज्रिणं) वर्जन करने वाले बल वैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक संग त्याग से सम्पन्न (भृष्टिमन्तं) पापों को भून देने हारी परिपक्क, सम्यग् बुद्धि से युक्त (पुरुधस्मानं) इन्द्रियों को आश्रय देने हारे (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ (स्थिर-प्स्नुम्) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव (द्युक्षं) प्रकाशस्वरूप, (वृत्रहणं) तम.स्वरूप देहबन्धन को नाश करने हारे (त्वा) तेरी मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२८] प्र वां महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमतिं कृणुध्वम्।
१ २ ३ १र २र ३ २
विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः ॥ ६ ॥

ऋ० ७। ३१। १०॥

भा०—(वः) आप लोग (महे वृधे) महिमा से बढ़ने वाले (महे) बड़े भारी आत्मा के लिये (प्र भरध्वं) उत्तमरूप से हव्य पदार्थ अन्न और ज्ञान का संग्रह करो (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य आत्मा या परमेश्वर के निमित्त (प्र सुमतिं) उत्तम २ विचार या मनन (कृणुध्वम्) किया करो। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चर्षणीप्राः) विद्वानों को ज्ञान से पूर्ण करनेहारे आप (पूर्वीः विशः) पालन करनेहारी श्रेष्ठ धर्मात्मा प्रजाओं के पास (प्र चर) उत्तमरूप से आओ, प्राप्त होओ।

३२८—'प्र वो महो महिवृधे' 'प्रचर', 'चर्षणिप्राः' इति ऋ०।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
[३२६] शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानि॥७॥
ऋ० ३ । ३० । २२ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (भरे) भरण पोषण करने हारे (वाजसातौ) अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में (शुनं) ज्ञानसम्पन्न, सर्वव्यापक, (मघवानम्) ऐश्वर्यसम्पन्न, (नृतम) सबसे उत्तम नेता, (शृण्वन्त) सबकी प्रार्थनाओं को सुनने हारे (उग्रम्) दुष्टों के प्रति उग्र स्वभाव वाले (समत्सु) संग्रामों और उत्सवों में (वृत्राणि) उपद्रवकारियों को (घ्नन्तं) नाश करने हारे, (धनानि) नाना विभूतियों को (संजितं) स्वयं जीतने हारे (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा के समान । समत्सु) योगज हर्षों या आनन्द प्राप्ति के अवसरों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) आवरणकारी तामस भावों का नाश करने वाले और (धनानि संजितम्) ऐश्वर्यों पर विजय करने वाले आत्मा और परमेश्वर को (हुवेम) हम स्मरण करें, पुकारें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३०] उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्थे महया वसिष्ठ ।
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ८
ऋ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे (वसिष्ठ) वाग् ! या विद्वन् ! (श्रवस्या) ज्ञान की प्राप्ति के लिये (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों का (उद् ऐरत) उच्चस्वर से पाठ कर । (समर्ये) यज्ञ आदि विद्वानों की संगति में (इन्द्रं) उस परमात्मा की (महय) उपासना कर (यः) जो (श्रवसा) अपने सामर्थ्य से (विश्वानि) समस्त ब्रह्माण्डों को (आततान) रचता है और (यः) जो (मे) मुझ (ईवतः) ज्ञानी पुरुष के (वचांसि) वचनों को (उप श्रोता) समीपतम होकर श्रवण करता है ।

३ १२ २र ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र
[३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् ।
३ १र २र ३ २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥६॥
ऋ० १० । ७३ । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर का (यद्) जो (चक्र) सृष्टिक्रम (अप्सु) प्रजाओं में (आनिषत्तम्) विद्यमान है । (उत उ) और (अस्मै) इस सृष्टिचक्र के लिये (मधु इव्) विशेष मधुर, अन्नादि जीवनरस को ही (चच्छद्यात्) गुप्तरूप से रखता है और (यद्) जो (ऊधः) ऊपर उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (अति-सितं) खूब बलपूर्वक बंधा हुआ है उससे ही वह (गोषु) गौओं में और (ओषधीषु) ओषधियों में (पय) पान करने योग्य रसको (अदधाः) आधान करता है ।

अन्न से प्राणिगण, मेघों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, ब्रह्म से कर्म, अक्षर से ब्रह्म, ऐसा 'चक्र' है, देखो (गी० अ० ३ । १४,१५)

इति चतुर्थी दशतिः । दशमः खण्डः ।

॥ द० ५॥ ऋषिः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः । २ भृगो भरद्वाजो वा । ३ वासुक्रो विमदो वा । ४—६, ६ वामदेवः । ७ विश्वामित्रः । ८ रेणुः । १० गोतमः ॥ देवता–१–६, ६, १० इन्द्रः । ७, ८ पर्वतेन्द्रौ ॥
त्रिष्टुप ॥ धैवत ।

३ ३२ ३१२ ३१२ ३१२ ३२ ३१ २
[३३२] त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
१ २ ३ १२ ३२ ३ २३ १ २ ३१ २
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥
ऋ० १० । १७८ । १ ॥

३३२—तूर्णमश्नुते इति तार्क्ष्यः । तार्क्ष्य इति अश्वनाम । नि० १ । १४ ॥

भा०—हम लोग (त्य) उस (वाजिन) ज्ञान, वेग, कर्म से युक्त, (देवजूतं) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित, (सहोवानं) सहनशीलता एवं बल से युक्त, (रथाना तरुतारं) इन रथरूप देहों या गतिशील नक्षत्रों और ग्रह उपग्रहों को गति तथा परस्पराकर्षण की अद्भुत व्यवस्था द्वारा चलाने हारे, (अरिष्टनेमिं) शुभ मार्ग में सबको नियम में संचालन करने हारे, (पृतनाजं) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हारे, (आशुं) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता या भोक्ता (तार्क्ष्यम्) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इह) यहां इस अन्त करण में (आहुवेम) आह्वान करते हैं ।

[३३३] त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ॥२॥
ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥

भा०—(त्रातारम् इन्द्रं) अन्नादि से पालक परमेश्वर को, (अवितारम् इन्द्रं) रक्षक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं से (सुहव) सुख से योग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, (शूरं) वीर्यवान् (इन्द्र) परमात्मा को, (शक्र) शक्तिमान् (पुरुहूत) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित (इन्द्रं) परमात्मा और आत्मा को (नु) ही (हुवे) मैं स्तुति करता हूं । (इदं हविः) इस योग्य स्तुति को (मघवा) वह ऐश्वर्ययुक्त प्रभु (इन्द्र.) आत्मा (वेतु) स्वीकार करे ।

[३३४] यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्या३ विव्रतानाम् ।
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥३॥
ऋ० १० । २३ । १ ॥

३३३—'शूरमिन्द्र', 'ह्वयामि शक्रं', 'धात्विन्द्र ', इति ऋ० ।

३३४—'रथ्य विव्रतानाम्', 'प्रश्मश्रुभिर्दो', 'दयमानो' इति ऋ० ।

भा०—(वज्रदक्षिणं) विघ्नों और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, (विव्रतानां) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले (हरीणां) इन्द्रियों के (रथ्या) उत्तम सारथी (इन्द्रं) आत्मा की हम (यजामहे) उपासना करते हैं। वह (श्मश्रुभिः[1]) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको (दोधुवत्) गति देता हुआ (ऊर्ध्वधा) सब से उच्च (भुवत्) रहता हुआ सेनापति के समान (सेनाभिः) अपनी शासकारिणी सेनाओं, के समान बन्धनरज्जुओं द्वारा (विराधसा) विशेष साधना द्वारा (भयमानः) सब को कंपाया करता है।

३ २३ १२ ३ ३३ १ २ ३१२३१ २३२ ३१२
[३३५] सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
३ २ ३१र १र ३२उ ३ १ २ ३१२ ३१ २ ३१२
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥४॥

ऋ० ४। १७। ८॥

भा०—(सत्राहणं) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक (दाधृषिं) सबको दबाने वाले (तुम्रं) सबके प्रेरक, (अपारं) अपार, (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ, (सुवज्रं) उत्तम वज्र को धारण करने हारे, (महाम्) बड़े भारी और (यः वृत्रहन्ता) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता (उत वाज सनिता) ज्ञान और अन्न का विभाग कर देनेहारा, (सुराधाः) उत्तम साधनों और धनों से सम्पन्न या उत्तमरूप से आराधन करने योग्य, (मघानि दाता) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको (इन्द्रं) 'इन्द्र' कहो, जानो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३६] यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
३ २ ३१र २र ३ १२ ३१ २ ३ १ २
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥५॥

[1] श्मनि शरीरे श्रेरत इति श्मश्रवः शिराः। श्म शरीर निरु० ३।२।५।

भा०—(यो मर्त्तं) जो मनुष्य (वनुष्यन्) मारने की इच्छा से (न, अभिदाति) हम पर प्रहार करता है। (उगणा वा मन्यमानः) या अपने को बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, (तुरो वा) या आवेश में आया हुआ, (छिधी) प्राणविनाशक (युधा) हथियार से या (शवसा) बल से हमारे प्रति (अभिदाति) आता और प्रहार करता है, हे परमेश्वर ! सेनापते ! (त्वोता.) हम तेरे से रक्षित होकर (वृषभया.) खूब पुष्ट शरीर होकर (तम्) उस दुष्ट के प्रति (अभिस्याम) मुकाबले पर डट जायं और उसे दबावें।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३३७] यं वृत्रेषु क्षितय स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।

१२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२

यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः॥६॥

भा०—(यं) जिसको (वृत्रेषु) उपद्रव और विघ्नों के अवसर पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपस्थित होने पर (क्षितय.) देश निवासी प्रजाएं और देह की इन्द्रियां (स्पर्द्धमानाः) एक दूसरे से बढ़ने की इच्छा करने हारी (हवन्ते) स्तुति करती हैं, (य) जिसको (युक्तेषु) संग्रामों में या योगक्रियाओं में योगरत पुरुषों के बीच (तुरयन्त) परस्पर हिंसा करते हुए या व्युत्थान दशाओं पर या विक्षेपों पर विजय करते हुए साधक (हवन्ते) स्मरण करते हैं। (यं शूरसातौ) जिसे शूरवीरों के संग्राम में स्मरण किया जाता है। (यम् अपाम्) जिस को प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और (यम् उपज्मन्) जिसको भूमि पर अन्न आदि लाभ के लिये याद किया जाता है और (य विप्रास.) जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग (वाजयन्ते) स्तुति करते हैं (स इन्द्र.) वह 'इन्द्र' है।

१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २ २ ३ १ २
[३३८] इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आवहतं सुवीराः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥
ऋ० ३। ५३। १॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! और हे (पर्वत) सबको पूरण, पालन और तृप्त करने हारे परमेश्वर! आप दोनों (बृहता रथेन) बड़े रथ या रमण साधन के द्वारा (सुवीरा.) उत्तम वीर्यसम्पादक या उत्तम सन्तानजनक, (वामीः) मनोहर (इष.) अन्नादि भोग्य पदार्थ (आवहतं) प्राप्त कराओ। हे (देवा) दोनों दानशील देवो! (अध्वरेषु) यज्ञ आदि हिंसारहित जीवोपकारी कार्यों में (हव्यानि) आदान योग्य पदार्थों को (वीतं) स्वीकार करो। (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (इडया) अन्न के उत्तम अंशों से (मदन्ता) प्रसन्न, तृप्त होते हुए (वर्द्धेथां) पुष्ट होओ। अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=सूर्य, पर्वत=मेघ या विद्युत् और पर्वत।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[३३९] इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्।
१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥
ऋ० १०। ८९। ४॥

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुध्नात्) अन्तरिक्ष के प्रदेश या पेन्दा से मेघ के समान (अप प्रेरयत्) जलों को नीचे वर्षण करता है और (य.) जो (अक्षेण) धुरे के बल पर (चक्रियौ इव) दो चक्रों के समान शची-

३३८—'मदन्तास्' इति पाठः कलिकाता अजमेरादि मुद्रणगतः प्रामादिकः। सायणादिभाष्यविरोधादसंगतेश्च।

३३९—"चक्रियौ" इति ऋ०।

भिः) अपनी शक्तियों से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्यौलोक को (ततम्भ) थामे हुए हैं । उस (इन्द्राय) सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिये (अनिशितसर्गाः) अखण्डित रचना वाली (गिरः) वेदवाणियां स्तुति करने हारी हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २
[३४०] आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरूचिदर्णवाञ्जगम्याः।
३१र २र३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र
पितुर्नपातमादधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ॥१॥
ऋ० १० । १० । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सखायः) तेरे समान ख्याति चाहने वाले, तेरे स्नेही (सख्या) मित्रभाव से (त्वा) तुझको (आववृत्युः) प्रेम करते हैं या अपनाते हैं । तू (तिरः) तिर्यग् योनियों में (पुरू) इन्द्रियों या प्रजाओं में (चिद्) चेतनावान् होकर (अर्णवम्) देह में (जगम्याः) प्रविष्ट है, उसको प्राप्त है । तू (अस्मिन् क्षये) इस निवासयोग्य देह में (प्रतरां) अति उत्तम प्रकार से (दीद्यान) प्रकाशमान होता हुआ, (वेधाः) ज्ञान सम्पन्न होकर (पितुः) सबके पालन करनेहारे परमेश्वर के समान (पात) हमारी रक्षा (आदधीत) कर । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा या परमेश्वर के प्रति कथन है ।

२ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३४१] को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥१०
ऋ० १ । ८४ । १६ ॥

३४०—' निस्तखाय सख्या, ववृत्या तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमा-दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ।'' इति ऋ० ।

१. यमी ऋषिः, ऋग्वेदे ।

३४१—'आसन्निषून्हृत्स्वसो' इति ऋ० ।

भा०—(अथ) वर्त्तमान में (ऋतस्य) इस गतिमान् जीवित देह-रूप रथ के (धुरि) धुरा में (शिमीवतः) कामना करने हारे (भामिनः) आवेश से युक्त, (दुः-हृणायुन्) दुःशील (अप्सुवाहः) अपने अभिलाषित पदार्थों में शरीर को लेजाने वाले (मयोभून्) सुख उत्पन्न करनेहारे (गाः) बैलों के समान, इन्द्रियों को (कः) कौन (युङ्क्ते) लगाता है ? (एषां आसन्) इनके मुख में (यः) जो (एषां) इनकी (भृत्या) भरण पोषण सामग्री को (ऋणधत्) उत्तम रूप से देता है और उनका पालन पोषण करता है (सः) वह ही (जीवात्) जीवन धारण करता है ।

इति पञ्चमी दशतिः । एकादशः खण्डः ।

॥ द० ६ ॥ ऋषि.—१ मधुच्छन्दा. । २ जेता माधुच्छन्दसः । ३, ६ गौतम. ।
४ अत्रिः । ५, ८ तिरश्चीः । ७ काण्वो नीपातिथिः । ९ विश्वामित्रः ।
१० शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० १ । १० । १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! (त्वा) तुझको (गायत्रिणः) गान करनेहारे उद्गाता, सामगायक (गायन्ति) गान करते हैं । (अर्किणः) ऋग्वेदी विद्वान् (त्वा अर्चन्ति) वेदमन्त्रों द्वारा तेरे गुणगान करते हैं । (ब्रह्माणः) और अथर्ववेद या चारों वेदों के विद्वान् ब्रह्मा लोग (त्वा) तुझको (वंशम् इव) अपने वंशधर, प्रथम पुरुष के समान (उद् येमिरे) उच्चकोटि पर मानते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४३] इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥
ऋ० १ । ११ । १ ॥

भा०—(विश्वाः गिरः) समस्त वेदवाणियां (समुद्रव्यचसं) आकाश के समान सर्वत्र व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी के समान देहधारियों में सब से विराड् देह, ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारे, सबके प्रेरक, (वाजानां) सब ज्ञानवान् पुरुषों के (सत्पतिं) सबे स्वामी, या सज्जनों के पालक और (पतिं) सबके पालक (इन्द्रं) परमेश्वर को (अवीवृधन्) बड़ा कहती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४४] इममिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥ ३ ॥
ऋ० १ । ८४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस (अमर्त्यं) मरणधर्मा पुरुषों को प्राप्त न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, (ज्येष्ठं) सब से उत्कृष्ट, (मदं) आनन्दस्वरूप, (सुतं) योगज ज्ञानसम्पन्न रस को (पिब) पान कर । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (सादने) उत्पन्न होने की स्थिति में (शुक्रस्य) शुद्धस्वरूप, शुक्र, कान्ति की (धाराः) धारणाशक्ति, धारा या प्रवाह (त्वा) तेरे प्रति (अभि अक्षरन्) बहते हैं ।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—'निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः' । जिस पर व्यासदेव ने लिखा है "अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यं । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः । भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः' । अतः

भरा तत्र प्रज्ञा । (पात० सू०) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या 'ऋतंभरा' इति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा । नच तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽपि ॥" इसी प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है । अर्थात् निर्मल चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्यज्ञान का प्रज्ञा-नयन खुल जाता है ।

[३४५] यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ ४ ॥
ऋ० ५ । ३९ । १ ॥

भा०—हे अद्रिवः ! सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र ! (मे) मेरा (इह) इस संसार में (यद्) जो (त्वादातं) तेरे से दानरूप में प्राप्त करने योग्य (नास्ति) नहीं हुआ है (तद् राधः) वह धन या सिद्धि है (चित्र) पूजनीय ! हे (विदद्वसो) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप ! (न.) हमें (उभया हस्त्या भर) दोनों हाथों से, दिल खोलकर दे ।

[३४६] श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ९५ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (त्वा) तुझे (सपर्यति) उपासना करता है उस (तिरश्च्या) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या पूर्ण ज्ञानी साधक की (हवं) स्तुति का (श्रुधि) श्रवण कर, स्वीकार कर । हे इन्द्र ! तु (महान् असि) बड़ा है, इसलिये (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्यसम्पन्न (गोमतः) पशु एवं इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त (रायः) धनों और ज्ञानों से हमें भर दे ।

३४५—'यदिन्द्र चित्र मेह नास्ति' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४७] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवागहि ।
१ २ ३२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिये (सोमः) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द (असावि) उत्पन्न किया जाता है । हे (शविष्ठ) अति बलिष्ठ ! हे (धृष्णो) सबको परास्त करनेहारे ! (आगहि) आ जा, समीप आ जा । (इन्द्रियं) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तेरी विभूति या ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (सूर्यः न) सूर्य जिस प्रकार (रश्मिभिः) अपनी रश्मियों से (रजः) इस ब्रह्माण्ड को पूर देता है उसी प्रकार (आ पृणक्तु) सब ओर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ७ ॥
ऋ० ८ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने (हरिभिः) ज्ञान प्राप्त करानेहारे साधनों, इन्द्रियों से (कण्वस्य) कणों से संचित इस देह, या देही, या प्रज्ञावान् आत्मा की (सुस्तुतिं) उत्तम स्तुति या उपभोग को (उप आयाहि) प्राप्त कर और भोग कर । हे (दिवावसो) अपने तेज से प्राणरूप होकर बसनेहारे जीव ! (अमुष्य) उस तेरे (दिवः) इस द्यौलोक को (शासतः) शासन करनेवाले जगदीश्वर के (दिवं) दिव्य कान्ति को (यय) चला, जा, प्राप्त कर ।

३ २ १२ ३ २ ३ १ २ ३१
[३४९] आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२उ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ९५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वणः! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य (सुतेषु) योगसाधनों में, यज्ञों में (गिरः) वेदवाणियां (रथीः इव) वेगवान् रथारोहियों के समान (त्वा अस्थुः) तेरे ही प्रति आ जाती हैं। (गावः) ये वेदवाणियां (धेनवः वत्सं न) गौएं जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार (त्वा अभि सम् अनूषत) तेरी ही सत्यस्वरूप से स्तुति करती हैं।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५०] एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥ ६ ॥

ऋ० ८ । ६५ । ७ ॥

भा०—हे विद्वानो! आप लोग (आ इत) आओ, (नु) और (शुद्धं इन्द्रं) विद्या और तप से पवित्र (शुद्धेन साम्ना) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, (शुद्धैः उक्थैः) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (वावृध्वांसं) महिमा से बड़े (इन्द्रं) परमेश्वर को (स्तवाम) स्तुति करें। (शुद्धैः) शुद्धिजनक तपों से यह (आशीर्वान्) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रहे।

२ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५१] यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
१ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१॥

ऋ० ६ । ४४ । १ ॥

भा०—(यः) जो स्वयं (रयिन्तमः) सबसे उत्तम ऐश्वर्य, है और (यः द्युम्नैः) जो कान्तियों, ओजों और ऐश्वर्यों से (द्युम्नवत्तमः) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वान्' इति ऋ०।
३५१—'यो रयिवो' इति ऋ०।

१ २ ३ १, ३ १ २ ३ २
[३५३] आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।
३ १ २ ३ २ ३ ३ २उ ३ १ २
महान्तं पूर्विनेष्ठाम् । उग्र वचो अपावधीः ॥२॥

भा०—(नः) हम लोग (वयःशयं) जीवन भर को समाप्त करने हारे, कालरूप, (महान्तं) बड़े भारी, (गह्वरेष्ठाम्) हृदयगुहा में स्थित, (वय) जीवनप्रद, (वय शयं) जीवन भर में व्यापक बल को (आ) हमें प्रदान कर । और (पूर्विनेष्ठां) प्रारम्भ काल से संसार को नियम से चलाने हारे (महान्तं) उस महान् परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं । हे पुरुष ! (उग्रं वचः) उग्र वचनों को (अप अवधीः) दूर मार भगा । और सौम्यगुण सील के सब हृदयों में महान् प्रभु का आवास जानकर और उसी को समस्त संसार का व्यवस्थापक जान कर किसी को कठोर वाणी से मत सता ।

२ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
[३५४] आ त्वा रथं यथोतय सुम्नाय वर्तयामसि ।
३ १ २ ३२३ १ १ ३ १ २
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ६८ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हम (रथं) अपने इस रमणसाधन=रथरूप देह को (सुम्नाय) उत्तम मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (आवर्तयामसि) पुनः धारण करते हैं, उसी प्रकार हे (शविष्ठ) बलवान् ! (तुविकूर्मिम्) नाना प्रकार के महान् कार्यों के सम्पादन करनेहारे (ऋतीसहं) इन्द्रियों और दुःखदायी विषयों के अभिभावक, (सत्पतिं) सज्जनों के स्वामी, (त्वा) तुझ परमेश्वर को भी (आवर्तयामसि) बार २ अपने में धारण करते हैं । मोक्षार्थ ज्ञानप्राप्ति के लिये

३५४—'इन्द्र शविष्ठ सत्पते' । इति ऋ० ।

जहां पुनः २ जन्म ग्रहण करना आवश्यक है वहां मोक्ष के लिये पुनः भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[३५५] स पूर्व्यो महोनां वेन: क्रतुभिरानजे ।
३ २ ३र २ ३ २ ३१३ १ २ ३ २
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—(सः) वह (वेनः) विद्वान् (महोनां) पूजनीय पुरुषों में से भी (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, पूजा के योग्य है जो (क्रतुभिः) कर्मों और ज्ञानों द्वारा (आनजे) सबको प्रेरित या प्रकट करता है । (यस्य द्वारा) जिसको साधन बनाकर (मनुः पिता) मननशील स्वामी, परमात्मा (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (धियः) अपनी बुद्धियों को (आनजे) प्रेरित करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३५६] यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
१ २ ३२उ ३ २ ३ १ २
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

भा०—(यद्) जहां और जब भी (रथेषु) रमणसाधन या वेगवान् साधनों पर, गतिशील इन्द्रियों के आश्रय (आशवः) शीघ्रगामी मरुद्गण, प्राणगण (भ्राजमानाः) कान्तिमान्, तेजस्वी होकर (ईं) इस आत्मा के (मदिरं) पुष्टिकर (मधु) ज्ञान या आनन्द की मात्रा को (पिबन्तः) पान करते हुए (वहन्ति) पहुंचा देते हैं, वे (तत्र) वहां (श्रवांसि) वेदवचनों, अनाहत नादों को (कृण्वते) साक्षात् करते हैं । जैसा कहा है—

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।"
(योग व्या० भा० । सू० ४८)

३५५—'महाना' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[२५७] त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ४४ । ४ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के प्रति मैं (त्यम् उ) उस ही (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान्, (विश्वासाहं) सब को सहन करने हारे, (नरं) नेता, (शचिष्ठं) सब से अधिक शक्तिमान्, (विश्ववेदसं) सबको जानने हारे, सर्वज्ञ, (अप्रहणं) किसी से न मारा जाने हारे, (शवसस्पति) बल के द्वारा सबके पालक स्वामी की (गृणीषे) स्तुति करता हूं, उसका उपदेश करता हूं ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[२५८] दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूंषि तारिषत् ॥७॥

ऋ० ४ । ३९ । ६ ॥

भा०—(जिष्णोः) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, (वाजिन) बलवान्, (अश्वस्य) सर्वव्यापक, (दधिक्राव्णः) शरीर को धारण करके योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा ब्रह्माण्ड भर को स्वयं धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का (अकारिषं) मैं वर्णन करता हूं । वह (नः) हमारे (मुखा) रूपादि विषयों को भीतर लेने वाले मुख, इन्द्रियों को (सुरभि) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान् , कर्म निपुण, (करत्) करे और (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्र तारिषत्) तार दे, कृतार्थ करे, बढावे ।

२५७—'नर महिष्ठ विश्वचर्षणिम्' इति ऋ० ।

३ २ ३ १र २र ३ १र ३र
[२५९] पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । ११ । ४ ॥

भा०—(पुरां भिन्दुः) समस्त देहों को कारण से जय कराकर उनका भेदन कराने हारा, सबको मुक्ति देनेहारा, (युवा) सबका सगी (कविः) सबके हृदयों के भीतर का भी जानने हारा, क्रान्तदर्शी, मेधावी (अमितौजाः) अनन्तशक्ति और बल से युक्त, (विश्वस्य कर्मणः धर्त्ता) समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने हारा (वज्री) सबका संहारक, सर्वशक्तिमान् (पुरुस्तुत) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, ३, ५ प्रियमेधाः । २, १० वामदेवः । ४ मधुच्छन्दाः । ६ भरद्वाज । ७ अत्रिः । ८ प्रस्कण्वः । ९ आप्त्यस्त्रितः ॥

देवता—१-७ इन्द्रः । ८ उषा । ९ विश्वेदेवाः । १० ऋक्सामे ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६०] प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—(वः) आप लोग (वन्दद्वीराय) वीरों से सम्मानित, (इन्दवे) ऐश्वर्यशील आत्मा को (त्रिष्टुभं) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा प्रशंसित, (इषं) सोम आदि अन्न या अभिलाषित कामनाओं को (प्र प्र)

उत्तम रीति से प्रकट करो । (पुरं-धी) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी (धिया) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा (मेधसातये) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये (वः) आप लोगों को (आ विवासति) संयुक्त करता और अभिलषित फल प्रदान करता है ।

[३६१] कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति ।
यर्योविश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥ २ ॥

भा०—(स्वर्विदः) ज्योतिः स्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे (धीराः) विद्वान् लोग (यौ) जिन प्राण और अपान को (कश्यपस्य) योगी, साधक, द्रष्टा आत्मा के (सयुजौ) नित्य के सहयोगी, साथी (आहुः) बतलाते हैं और (ययोः) जिनके (विश्वम् अपि) सभी (व्रत) कर्मों को (यज्ञं निचाय्य आहुः) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

॥ सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आधिदैविक पक्ष में मित्रावरुण, सूर्य और मेघ लेने चाहियें ।

[३६२] अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरंमिद् धृष्ण्वर्चत ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) उत्तम बुद्धि वाले (नरः) पुरुषो ! आप (पुरम् धृष्णुं इद्) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही (अर्चत) स्तुति करो, (प्र अर्चत) और उत्तमरूप से गुणगान करो और (अर्चत) उपासना करो । हे (पुत्रकाः)

पुरुषों को दुःखों से त्राण करने हारे लोगो ! उसी की (उत अर्चन्तु) प्रार्थना उपासना किया करो ।

३ १२ २र३ २ ३ १र ३ १ २
[३६३] उक्थमिन्द्राय शंस्य वर्द्धनं पुरु निष्पिधे ।
३ १र २र ३ १ २ ३१ २ ३ १२
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च॥४॥ ऋ०१।१०।५॥

भा०—(पुरु निष्षिधे) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति देनेहारे, व्यापक (इन्द्राय) आत्मा की (वर्धनं) महिमा दर्शाने वाला, (उक्थं) वेदमन्त्र (शस्य) उच्चारण करना चाहिये । (यथा) जिससे (शक्रः) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर (सुतेषु) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में और (सख्येषु च) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी (नः) हमें (रारणत्) प्रसन्न रक्खे ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) इन्द्रियगण ! या प्रजाओ ! (विश्वानरस्य) समस्त संसार के नेता, (अनानतस्य) किसी से न हारने वाले, (शवसः) बल के (पतिं) पालक ईश्वर को (चर्षणीना) सब प्रजाओं के (एवैः च) व्यवहारों के लिये और (रथाना ऊतये) इन देहस्वरूप रथों की रक्षा के लिये (व) आप लोगों को (हुवे) आह्वान करता हूं ।

३ १ २ ३ १ २र ३१२ २र ३ १ २
[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तस्य शमतः ।
३ १र २र३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । २ । ४ ॥

३६५—'त्वश्रद् यस्ते सुदानवे धियामर्त्त शशमते । ऊतीष०' । इति ऋ० ।

भा०—हे ईश्वर ! (यः) जो (दिवो नरः) द्यौलोक नेता, सूर्य के समान ज्ञान से प्रकाशमान पुरुष (ते) आपके (धिया) ध्यान करने से (शमतः) शान्तवृत्ति (मर्तस्य) पुरुष के (स था) अनुकूल व्यवहार करता है (सः) वह (बृहतो दिवः) महान् दिव्यस्वरूप, परम पुरुषरूप आपकी (ऊती) रक्षा में ही (द्विषः) अपने आगे आने वाले सब अप्रिय पदार्थों को (अंहः न) पाप के समान (तरति) पारकर जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२६६] विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो ।
१ २ ३ १ २
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ३८ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (विभोः) नाना सामर्थ्यवान् (ते) तेरे (राधसः) धन की (रातिः विभ्वी) दानराशि बड़ी भारी है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों और कर्मों से सम्पन्न ! हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के द्रष्टः ! हे (सुदत्र) उत्तम दाता ! (नः) हमें भी (द्युम्नं) उत्तम धन (मंहय) दान करो ।

यजु० अ० ३० में इस विचित्र धन का विभाग दर्शनीय है ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
[२६७] वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
२ ३ १ २ ३१र२र ३ १र २र ३ १ २
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥ ८ ॥

ऋ० १ । ४९ । ३ ॥

भा०—हे (अर्जुनि !) गमनशीले ! हे रश्मियों, कान्तियों से सम्पन्न (उषः) प्रभात वेला के समान हृदय के अन्धकारों को नाश करने वाली प्रभो ! (ते ऋतून् अनु) तेरी प्रेरणाओं के पीछे२ (दिवः) द्यौः, सूर्य के

२६६—'इन्द्रा सुदत्र' इति ऋ० ।

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित मूर्धाभाग के (अन्तेभ्यः परि) दिशाओं के परले सिरे या प्रान्तभागों से। (पतत्रिणः) उड़नेहारे (वयः) पक्षिगण के समान परमहंस विद्वान्गण, और अध्यात्म में इन्द्रियगण (द्विपात्) और दो पाये मनुष्य और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (चित्) भी (प्रारन्) गति करते हैं। यह उषा के रूपक में चितिशक्ति का वर्णन किया गया है। द्यौ=मूर्धा। पतत्रि=ज्ञान इन्द्रियगण। द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद्=पैर आदि। विशोका प्रज्ञा का उदय ही उषा का उदय कहा गया है।

[३६८] अमी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः॥ ९॥
ऋ० १। १०५। ५॥

भा०—(ये अमी देवाः) जो ये देवगण (आ रोचने) कान्तिमान् (दिवः मध्ये) द्यौलोक के मध्य में (स्थन) विद्यमान हैं। हे देवो ! मैं आप से प्रश्न करता हूं कि (वः) आप लोगों का (ऋतं कद्) सत्य २ तत्व क्या है ? (कद् अमृतम्), आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ? (वः) आपको (प्रत्ना) प्राचीन (आहुतिः) स्मरण करने और तर्पण करने का पदार्थ क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूलभूत नाम और वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये ऋ० १। सू० १०५। मन्त्र १२, १५, १६।

[३६९] ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः॥ १०॥

भा०—(याभ्यां) जिन ऋग्वेद और सामवेद से (कर्माणि) यज्ञ आदि समस्त संसार के कर्म (कृण्वते) करते हैं उन (ऋच) ज्ञानमय

ऋग्वेद और (साम) सर्वत्रव्यापक सामवेद का (यजामहे) हम स्वाध्याय करते हैं। (ते) वे दोनों (सदसि) यज्ञों और सभाओं में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों में (यज्ञं) यज्ञ दानादि को (वि वहत) वहन करते हैं, प्राप्त कराते हैं।

इति अष्टमी दशतिः। द्वितीयः खण्डः।

॥द० ९॥ ऋषि·—१, रेभः। २ सुवेदा· शैरिषिः, सुवेदः शैलूषिर्वा। ३ वामदेव.। ४, ७, ८ सव्यः सत्यो वा आङ्गिरसः। ५ विश्वामित्र। ६ कृष्ण· कृष्टो वा आङ्गिरसः। ९ भरद्वाजः। १० मेधातिथि.। ११ कुत्स· ॥ देवता–१–८, १०, ११ इन्द्र। ९ द्यावापृथिवी ॥ छन्द·—१–९, ११ जगती। १० महापङ्क्तिः ॥ स्वरः–१–९, ११ निषादः। १० पञ्चमः ॥

[३७०] विश्वा·पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥

ऋ० ८। ९७। १०॥

भा०—(विश्वा) समस्त (पृतनाः) व्यापार करनेहारे (नरः) नेता लोग (सजूः) परस्पर मिलकर (अभिभूतरं) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न को अपना स्वामी (ततक्षुः) बनाते हैं और (राजसे) अपने अधिक उन्नतरूप से शोभा पाने के निमित्त (वरे) अत्यन्त उत्तम (स्थेमनि) स्थिर (क्रत्वे) कार्य में (आमुरीम्) सब विघ्नकारियों के संहारक (उग्रं) उग्र (ओजिष्ठं) कान्तिसम्पन्न, बलवान् (तरसं) वेगवान्, (तरस्विनं) आलस्यरहित, चतुर पुरुष को (इन्द्रं

३७०—'क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिं', 'स्थेम' इति ऋ०।

जजनुः च) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियाँ ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो (बृहदारण्यक उप० ६ । १ ।)

[३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्दस्युं नर्यं विवेरपः ।
उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवीचिदद्रिव २

ऋ० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (प्रथमाय) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण (मन्यवे) माननीय या ज्ञानस्वरूप (ते) तुझे (अत्-दधामि) सत्य रूप मानकर धारण करता हूं, तुझे सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूं । (यद्) क्योंकि तू (दस्युं) नाशक उपद्रवी को (अहन्) मारता है और (नर्यं) मनुष्यों के हितकारी (अपः) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को (विवे) प्रकट करता है । (यत्) और क्योंकि (त्वा) तेरे बल पर ही (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (उभे) दोनों (धावताम्) गति कर रहे हैं । हे (अद्रिवः) ज्ञान और बल से युक्त सब के संहारकारिन् ! (पृथिवी चित्) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी (ते शुष्मात्) तेरे बल से (अनु भ्यसात्) भय करता है ।

[३७२] समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥३॥

भा०—हे (विश्वाः) समस्त प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज या तेज से (यः एक एव भूः) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यद् वृत्र' इति 'उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनुरेजते' इति च ऋ० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, (जनानाम् अतिथि.) और जो समस्त प्राणियों के भीतर व्यापक है, उस (पतिं) सब के पालक परमेश्वर की शरण में (सम् एत) आजाओ । (स पूर्व्य.) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर (नूतनम्) पुन बाद में उत्पन्न (आजिगीषन्तं) इस संसार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये (एक इत्) एक ही (वर्तनी.) मार्ग (अनु वावृते) है ।

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।' यो० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । यजु० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३७३] इमे त इन्द्र ते वय पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
१ उ ३ र २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिर. सघत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वच ५
ऋ० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) ! प्रभूत धनसम्पन्न ! हे (पुरुष्टुत) सब प्रजाओं से स्तुति किये गये ! (ये वयं) जो हम (त्वा आरभ्य) तुझ से ही प्रारम्भ करके (चरामसि) यात्रा कर रहे हैं । (इमे ते) ये वे हम सब (ते) तेरे ही हैं । हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (गिर) इन सब वेदवाणियों को (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरों को (नहि सघत्) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । (तत्) इसलिये (नः वच) हमारी वाणी को तू (क्षोणीः इव) माता पृथ्वी के समान (प्रति हर्य) स्वीकार कर, श्रवण कर । जैसे सब पदार्थ फेंके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणियां ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इस कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

३७३—'प्रति नो हर्य तद् वच.' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७४] चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३ मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ।
३ १ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥
ऋ० ३ । ५१ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (चर्षणीधृतं) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, (मघवान) ऐश्वर्यसम्पन्न, (उक्थ्या) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (वावृधान) महिमा में बड़े, (पुरुहूतं) प्रजाओं से पूजित, (अमर्त्यं) अमर, नित्य (दिवेदिवे जरमाणं) प्रतिदिन स्तुति किये गये (इन्द्रं) परमेश्वर को (बृहती गिरः) हमारी बृहती छन्द की वेदवाणियां अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियां (अभि अनूषत) सत्य स्वरूप वर्णन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७५] अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥६॥
ऋ० १० । ४३ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मर्यं पतिं) अपने पतिरूप पुरुष को (जनयः) स्त्रियां (परिष्वजन्ते) आलिंगन करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये (शुन्ध्यु) व्यवहार में शुद्ध, (मघवानं न) महाजन के पास प्रजा आती हैं उसी प्रकार (स्वर्युवः) आनन्द और स्वर्ग के सुखका संग कराने हारी, (सध्रीचीः) एकमात्र पहुंचाई गई (विश्वा मतयः) समस्त स्तुतियें (वः) आप लोगों की (अच्छा उशतीः) उत्तम रूप से कामना करती हुई (इन्द्रं अनूषत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

३७५—'परिष्वजते' इति ऋ० ॥

३ २उ ३ १ २ ३२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३७६] अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्
१ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥७॥

ऋ० १ । ५१ । १ ॥

भा०—(त्यं) उस चिरस्मरणीय, (मेषं) सब सुखों के वर्षानेहारे, (पुरुहूतं) प्रजाओं के स्तुतिपात्र, (ऋग्मियं) ऋचाओं अर्थात् वेदमन्त्रों में प्रतिपाद्य, (वस्व· अर्णवम्) सब जीवनोपयोगी साधनों, प्राणों और वास कराने हारे ब्रह्माण्डों के एकमात्र महासमुद्र, (मंहिष्ठं) दान-शील, (विप्रं) ज्ञानी, (इन्द्रं) उस ईश्वर को (भुजे) अपने पालन पोषण के निमित्त (अभि अर्चत) निरन्तर स्तुति करो. (यस्य) जिसकी (द्यावः न) ज्ञानमय किरणें ही मानो (मानुषं विचरन्ति) मनुष्यलोक को नाना प्रकार से व्यापती हैं ।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २ ३ १र २र
[३७७] त्यं सुमेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुव साकमीरते ।
२ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥

ऋ० १ । ५२ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्यं) उस (सुमेष) उत्तम सुखों के वर्षक, (स्वर्विदं) स्वर्ग, मोक्ष का आनन्दलाभ करानेहारे की तू (महय) पूजा कर । (यस्य सुभुव) जिस उत्तम सत्तावान्, सबके मूलकारण ईश्वर के बनाये (शतं) सैकड़ों कार्यस्वरूप ब्रह्माण्ड (साकम् ईरते) एक साथ गति कर रहे हैं । मैं (अवसे) रक्षा के लिये (सुवृक्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (अत्यं वाजं न) अतिक्रमण करनेहारे घोड़े के समान (हवनस्यदं) उत्तम स्तुतियों से हृदयों में प्रवित होने वाले, (रथम्) रमणीय, परम मनोहर, रस-स्वरूप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, परम ईश्वर को (आ ववृत्यां) पुनः २ वर्तन करूं, पुन. स्मरण करूं, जपूं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३७८] घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥९॥

ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(घृतवती) दीप्ति से युक्त, (भुवनानाम् अभिश्रिया) समस्त भुवनों का आश्रयरूप (उर्वी) बहुत बड़ी, (पृथ्वी) बहुत विस्तृत, (मधुदुघे) समस्त प्राणियों के जीवनरूप रस का दोहन करनेहारी, (सुपेशसा) सुन्दर मनोहारी रूप वाली, (भूरिरेतसा) बहुत प्रकार के स्थावर जंगमों के बीजों को धारण करने हारी, (द्यावापृथिवा) सूर्य और पृथिवी (वरुणस्य धर्मणा) सर्वश्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य परमेश्वर के सामर्थ्य से (विष्कभिते) अधर आकाश में थमी हैं।

३१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७९] उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
३ १२ २२ ३ १२ २२
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १०॥

ऋ० १० । १३४ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यद्) जो (उभे) दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (उषाः इव) प्रातःकालिक सूर्यप्रभा के समान (आ पप्राथ) चारों ओर से प्रकाशित कर देते हो इसी कारण (महीनां महान्तं) बड़ों में बड़े (चर्षणीनां) मनुष्यों के (सम्राजं) राजास्वरूप आपको (देवी जनित्री) दिव्य गुणवाली वेदमाता (अजीजनद्) वैसा ही प्रकट करती है, (भद्रा जनित्री) कल्याणकारिणी वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है।

२ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १२ ३ १२ ३ १ २
[३८०] प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्विना ।
३ २३ १२३१२ ३१२ ३ १२
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि ॥११॥
ऋ० १ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्रमन्दिने) उत्कृष्ट हर्ष, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये (पितु-मत्) सारवान् (वचः) वाणियां (अर्चत) उच्चारण करो । (यः) जो अपने प्रभाव से (कृष्णगर्भाः) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों को (ऋजिश्विना) सरल ज्ञान से (नि-अहन्) नाश करता है । (अव-स्यवः) रक्षा की इच्छा करने हारे (वृषणं) सुख वर्षण करने हारे (वज्रदक्षिणं) विघ्नविनाशकों में श्रेष्ठ (मरुत्वन्तं) प्राणों के और प्रजाओं के आश्रय परमेश्वर को हम (सख्याय) अपने मित्रभाव के लिये (हुवेमहि) आह्वान करते हैं ।

इति नवमी दशतिः । तृतीय खण्डः ।

॥ द० १० ॥ ऋषि —१ नारद. । २, ३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ । ४ पर्वत. । ५–७, १० विश्वमना वैयश्वः । ८ नृमेधः । ९ गौतम ॥ इन्द्रो देवता ॥ उष्णिक् । ऋषभः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
[३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥ ऋ० ८ । १३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सुतेषु सोमेषु) सोमरूप हर्षकारी ज्ञान-दशाएं उत्पन्न होने पर (उक्थ्यं क्रतुं) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को (दक्षस्य वृधस्य विदे) अत्यन्त बढ़े हुए बल के लाभ के लिये (पुनीषे)

३८०—'हुवामहे' इति ऋ० ।

३८१—दक्षसो महाँ हि सः इति ऋ० ।

प्राप्त करता है । क्योंकि ('महान् हि सः') वह ईश्वर महान् है । अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर अणिमादि सिद्धियों का जय होता है, तथा वह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
[३८२] नमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
१ २ ३ १ २,३ १२ २र
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमाविवासत ॥२॥ ऋ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—(पुरुहूत) समस्त प्राणों या प्रजाओं से स्मरण किये गये (पुरुष्टुत) प्राणों या प्रजाओं द्वारा स्तुति किये गये (तम् उ) उसका ही (अभि प्रगायत) कीर्तन करो । हे विद्वान् लोगो ! (तविष) महान् (इन्द्र) ईश्वर को ही (आविवासत) सब के सामने प्रकट करो, उसकी उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३८३] तं त मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् ।
३ १ २ ३ १ २
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—हे (अद्रिव) ज्ञानसम्पन्न ! (ते) तेरे (त) उस (वृषणं) सब प्राणियों के पोषक (पृत्सु सासहिम्) सब संग्रामों में भी कभी नष्ट न होने वाले, सब से बढ़कर (लोककृत्नुं) संसार के उत्पादक (हरिश्रियम्) हरणशील, ज्ञानियों के आश्रय लेने योग्य (मदं) आनन्द-रस की (उ) ही (गृणीमसि) चर्चा करें ।

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३८४] यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १र २र
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १६ ॥

३८३—'पृत्सु' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (यत् सोमम्) जिस सोम, सर्वके प्रेरक, सर्वोत्पादक वीर्य या परमानन्दरस को (विष्णवि) सर्वव्यापक ईश्वर में (यद् वा घ) या (आप्त्ये) परम समाधि में प्राप्त (त्रिते) तीनों भूमियों को क्रमण करने वाले योगी आत्मा में, (यद् वा मरुत्सु) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सब (इन्दुभि) आनन्दों से हे देव! तू ही (सुमन्दसे) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है।

आनन्द की मीमांसा देखो (तैत्तीय उप० आनन्दवल्ली)

[३८५] एद्र मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः।
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥५॥ ऋ० ८। २४। १६॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अहिंसक पालक (सदावृधः) सदा बढ़ने वाला, महामहिम, (वीरः) सामर्थ्यवान्, प्रभु (एवा हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है। अतः (मध्वः अन्धसः) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (मदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद तृप्तिकारी अंश को उसी के लिये (आ सिञ्च) आ सेचन कर। अन्न और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि०में स्पष्ट की है।

[३८६] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥ ऋ० ८। २४। १३॥

भा०—हे विद्वान् लोगो! (इन्द्राय) उस इन्द्र के लिये (इन्दुम्) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का (आसिञ्चत) सेचन करो, वह (सोम्यं मधु) शान्तिदायक मधु का (पिबाति) पान करे, वही (महित्वना) अपनी महिमा से ही (राधांसि) बहुतसी विभूतियां (प्र चोदयते) प्रकट करता है, प्रदान करता है।

३८५—'मध्वो,' 'चाध्वर्यो अन्धसः' इति च।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३८७] एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
३ १२ १२ ३ २ उ ३ २
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ ऋ० ८ । २४ । १९ ॥

भा०—हे (सखायः) हे मित्रो ! (एत उ नु) आओ । और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नरं) नेता, (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें । (यः) जो (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) अकेला ही (अभि-अस्ति) व्यापक शासक है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
[३८८] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ ऋ० ८ । ९८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायको ! (बृहते) महान् (विप्राय) विद्वान् (ब्रह्मकृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने हारे (विपश्चिते) मेधावी, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत् नामक साम (गायत) गान करो ।

२ उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३८९] य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ ऋ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(यः) जो (एक इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्त्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विदयते) नाना रूप से धनधान्य देता है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्रतिष्कुतः) सबसे बढ़कर, किसी से भी पराजित न होने वाला (ईशानः) सबका स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २ र ३ १ २
[३९०] सखाय आशिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥ ऋ० ८ । २४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (वज्रिणे) सर्व विघ्ननिवारक, वज्ररूप ज्ञान को धारण करने हारे (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रतिपादन लिये (ब्रह्म) वेद प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की (आशिषामहे) कथा चर्चा करते हैं। (व.) आप लोगों के प्रति मैं (उ नृतमाय) उस पुरुषोत्तम (धृष्णवे) सबसे बढ़ जाने और सबको पराजय करने हारे परम वशी परमेश्वर के (सुरतुपे) यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता हूं।

इति दशमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । चतुर्थः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

॥द० १॥ ऋषिः—१ प्रगाथः । २ भरद्वाजः । ३ नृमेधः । ४ पर्वतः । ५ ७ इरिमिठिः ६ विश्वमना । ८ वामिष्ठः ॥ देवता—१—४, ८ इन्द्रः । ५ ७ आदित्याः । ६ अग्निः ॥ छन्दः—१—७ उष्णिक् । ८ विराडुष्णिक् ॥ ऋषभः ॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३६१] गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये ।

१२ ३२ ३ १२ २२

यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥ ऋ० ८ । ६२ । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्) क्योंकि तू (ओजसा) अपने सामर्थ्य और बल से (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार को (हंसि) विनाश करता है। हे (शचीपते) सर्वशक्तिमन् ! (ते) तेरे (शव) बल की (देवतातये) विद्वानों के लिये (उपमा) अनुरूप (गृणे) स्तुति करता हूं। अर्थात् बल के सभी कार्यों में इन्द्र की ही उपमा दी जाती है।

३६१—'उपम' इति ऋ०। 'भद्राः इन्द्रस्य रातयः' इति सूक्तेऽपि प्रथमपदमधिकम् ऋ०।

१ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६२] यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
३ १२ २२ ३ १२ २२
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ २ ॥

ऋ० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—(यस्य मदे) जिसके तृप्तिकारक प्रसाद और आनन्द स्वरूप (दिवोदासाय) प्रकाश के आश्रयस्थान सूर्य, आदित्य ब्रह्मचारी के लिये (त्यत् शम्बरं) उस शान्तिवर्धक मेघ या धर्ममेघस्थ आत्मा के स्वरूप को (रन्धयन्) साधता हुआ, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स. सोम.) वह सोम, साधक योगी ओषधिरस के समान (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (अयं) वह (सुत.) तैयार हुआ है । तू उसे (पिब) पान कर, अपने शरण में ले, स्वीकार कर।

१ २ ३ १ २
[३६३] एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
३ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥ ऋ० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबसे उत्कृष्ट ! हे (सत्राजित्) सबको विजय करने हारे ! हे (अगोह्य) अगोप्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न छिपने हारे ! तू (दिवः पतिः) सूर्य का भी स्वामी (गिरिः न) पर्वत के समान (विश्वतः पृथु.) सब प्रकार से विशाल है । तू (न.) हमारे समीप (आ गधि) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
३ १ ३ २ ३ १ ३ १ २
येनाहंसि न्यत्रिणं तमीमहे ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! (य) जो (सोमपातम) अति अधिक सोम, आनन्दरस पान करने में श्रेष्ठ (मदः) अत्यन्त तृप्त, हृष्ट या दत्तचित्त होकर तू (चेतति) ज्ञानवान् हो जाता है

(येन) जिससे तू (आत्रिणं) दूसरों के कर्मफल को छीनकर स्वयं खाजाने वाले डाकू के समान तृष्णा, काम, क्रोध या लोभ युक्त चित्त को (निःश्र हंसि) विनाश करता है हम (तं) उसको (ईमहे) ज्ञान करते हैं ।

३ १२ २र ३ १उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३९५] तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।
१ २ ३ १ २
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥५॥ ऋ० ८ । २४ । २४ ॥

भा०—हे (सुमहसः) तेजस्वी (आदित्यासः) आदित्यरश्मियों के समान तेजस्वी विद्वान् गुरुओ ! (नः तुचे) हमारे पुत्र (तुनाय) और सन्तान चलाने हारे पौत्र और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के निमित्त (तत्) वह (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (सु कृणोतन) करो ।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[३९६] वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । २४ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र को हाथ में लिये वीर के समान बलवन् ! ज्ञानवन् ! (निर्ऋतीनां) दुष्ट चित्तवृत्तियों के (परिवृजम्) परित्याग करना (वेत्थ हि) तुम वैसे ही निश्चय जान जैसे (शुन्ध्युः) शोध लगाने वाला डिटेक्टिव, गुप्तचर या परिशोध करने हारा आदित्य (परिपदाम्) चारों तरफ जाने हारे चोरों या पक्षियों को जानता है ।

१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[३९७] अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥७॥ ऋ० ८ । १८ । १०

भा०—हे (आदित्यासः) आदित्य रश्मियों ! विद्वान् पुरुषो ! प्राणो ! (नः) हमारे (अमीवाम्) रोग को (अप सेधत) दूर करो, (स्रिधम् अप)

३९५—'तुचेतनाय' 'सुमहस.' इति च पाठभेदः

हमारे बाधाजनक भीतरी शत्रु को दूर करो और (दुर्मतिम्) दुष्ट मति वाले पुरुष, तथा दु खदायी दु संकल्प को (अप सेधत) दूर करो । (न) हमें (अंहस॰) पापों से (युयोतन) पृथक् करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३६८] पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वाऽयं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥८॥ म० ७ । २२ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमम् पिब) सोम, आनन्दरस का पान कर । हे (हर्यश्व) हरणशील अश्वरूप प्राणों से युक्त ! (सोतु) प्रेरणा करने हारे सारथि के (बाहुभ्यां) बाहुओं से (सुयत॰) उत्तम रूप से नियन्त्रित (अर्वा न) घोड़े के समान (स) वह आनन्दरस (यम्) जिसको (अद्रि) मेघ के सदृश वर्षण करने वाला धर्ममेघ समाधि (ते) तेरे लिये (सुषाव) उत्पन्न करता है वह (त्वा मन्दतु) तुझको आनन्दित करे ।

इति प्रथमा दशतिः । पञ्चम. खण्ड॰ ।

॥ द० २ ॥ ऋषि —१—६, ६, १० सौभरिः । ७, ८ नृमेध॰ ॥ देवता–१, २, ४, ५, ७—१० इन्द्र । ३, ६ मरुत ॥ ककुप् ॥ ऋषभ॰ ॥

३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३६९] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
३ १ २ ३ १ २
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥ ऋ० ८ । २१ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्व) तू (जनुषा) अपने प्रकट होने के काल से ही (अभ्रातृव्य॰) शत्रुरहित, अजातशत्रु (अना) बिना नेता के, विनायक, (अनापि॰) बन्धु बान्धवों से रहित, अद्वितीय, (सनाद्) पुराण पुरुष ।

३६९—युध्यतिगतिकर्मा । नि० २ । १४ ।

(असि) है । तो भी (युधा इत्) योग द्वारा ही (आपित्वम्) तुम बन्धुता को (इच्छसे) चाहते हो, स्वीकार करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २
[४००] या न इदमिदं पुरा प्रवस्य आनिनाय तमु व. स्तुषे ।
१ २३ १ २ ३१ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥ २ ॥ ऋ० ८ । २१ । ९ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! जो (न.) हमारे लिये (इदम्-इदम्) यह, यह, नाना प्रकार का, उत्तम उत्तम, (पुरा) पहले काल में, पूर्व जन्म में (वस्य.) आच्छादन योग्य, या निवासयोग्य भोग्य देह आदि (प्र आनिनाय) प्राप्त कराता रहा, (तम् उ इन्द्रं) उसी आत्मा या परमेश्वर की (व) आप के प्रति (स्तुषे) स्तुति करता हूं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०१] आगन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो मापस्थात समन्यवः ।
३ १ २
दृळ्हा चिद्यमयिष्णवः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २० । १ ॥

भा०—हे मरुतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (आगन्त) आओ, (मा रिषण्यत) मरो मत, दुःखी मत होओ । हे (प्रस्थावानः) निरन्तर गति करने हारो ! (समन्यव) क्रोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर (मा अपस्थात) बुरे मार्ग पर मत भटको, क्योंकि आप लोग (दृढा चित्) दृढ, बलवान् पदार्थों को भी (यमयिष्णव) नियमन कर लेते हो, वश करने में समर्थ हैं ।

१ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०२] आयाह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते ।
१२
सोमं सोमपते पिब ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । २१ । ३ ॥

भा०—हे (अश्वपते !) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे (गोपते) वाणी के मालिक ! हे (उर्वरापते) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे (सोमपते !)

४०१—'स्थिराचित्नमयिष्णवः' इति ऋ० ।

ज्ञानवन् ! तू (सोमं पिब) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २ ३ २ ३१२ २२ ३ १ २
[४०३] त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि ।
३ १२ २२ ३ १ २
संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । २१ । ११ ॥

भा०—हे (वृषभ !) सर्वश्रेष्ठ ! (त्वया ह स्वित्) तुझे ही (युजा) सहायक द्वारा (गोमतः) वाणी से सम्पन्न (जनस्य) पुरुषों के (संस्थे) संघ में (श्वसन्तं प्रति) श्वास लेते हुए प्राणी के प्रति (ब्रुवीमहि) तेरी स्तुति करते हैं ।

१ २ ३क २र ३ २ ३ १ २
[४०४] गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १
रिहते ककुभो मिथः ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । २० । २१ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गण ! प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग (गावःचित्) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही (समन्यवः) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से युक्त (सबन्धवः) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान जाति में उत्पन्न होने के कारण (मिथः) परस्पर (ककुभः) विस्तृत होकर भी (रिहते) परस्पर मिलते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०५] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
३ १ २ ३ १ २
आ वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९८ । १० ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे (विचर्षणे) सब लोकों के द्रष्टा ! हे (इन्द्र) आत्मन् ! हमें (नृम्णं) धन और (ओजः) बल (आभर) प्राप्त करा । और (पृतनासहं) सेनाओं का मुकाबला

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीर) वीर, सामर्थ्यवान् पुरुष को (आ भर) प्राप्त करा।

१ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०६] अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम इमहे ससृग्महे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥ ऋ० ८। ९८। ७॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (उदा इव) जिस प्रकार जल (उदभिः) अन्य जलों में (ग्मन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार हम (काम) अपनी कामनाओं द्वारा (त्वा उप ईमहे) तेरे पास आते हैं और (ससृग्महे) तेरे साथ मिल जाते हैं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४०७] सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।
३ १२ २र
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥ ऋ० ८। २१। ५॥

भा०—(यथा वयः) रश्मियों के समान (गोश्रीते) गोरस से मिश्रित, (मधौ) मधुर, (मदिरे) आनन्दप्रद, (विवक्षणे) विशेष सुख या मुक्ति में लेजाने वाले, (ते) तेरे स्वरूप में हम (सीदन्तः) विराजमान होकर हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तेरी (अभि नोनुमः) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे आनन्द-रस में मग्न होकर हम तेरी स्तुति करते हैं।

३ २ ३ १ २ २ २उ ३ १ २ ३ १ २
[४०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
वाज्रिश्चित्रं हवामहे ॥ १० ॥ ऋ० ८। २१। १॥

भा०—हे वज्रिन् ! हे (अपूर्व्य) अपूर्व ! सबसे आदि में विद्यमान (वयं) हम लोग (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहने हारे, (स्थूरं न)

४०६—'कामान्महः ससृज्महे' इति 'उदेव यन्त' इति च ऋ०।

गुणों में अधिक स्थितिमान् पुरुष को जिस प्रकार (यचित्) कोई प्रजा लोग भरण पोषण करते हैं उसी प्रकार (चित्र) पूजायोग्य (त्वा) तुझ को (भरन्त) भरण या धारण करते हुए (हवामहे) हम तेरी स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीया दशतिः । षष्ठ खण्ड ॥

॥ द० ३ ॥ ऋषि.—१-८ गोतम । ९ त्रित. । १० अवस्यु ॥ देवता:—१-८ इन्द्र. । ९ विश्वेदेवा । १० अश्विनौ ॥ पङ्क्तिश्छन्द ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
[४०९] स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
३र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १

ऋ० १ । ८४ । १० ।

भा०—सूर्य और राजा के दृष्टान्त से आत्मा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । (गौर्यः) शुभ्र किरणें या गमनशील सेनाओं के समान इन्द्रिया या चित्तवृत्तिया, और प्रजाए (विषूवत) सर्वव्यापक, (मध्वः) सब मनोहर गुणों से युक्त, मधुर, (स्वादो) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का (इत्था) इस प्रकार से (पिबन्ति) पान करती हैं कि (या) जो वे (वृष्णा) सब परम आनन्द बरसानेहारे इस इन्द्र के साथ (सयावरी) गमन करती हुई (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं और (वस्वी) आवास करने हारी वे (स्वराज्यम्) अपने ही राष्ट्र के समान देह या इस संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की (अनु शोभथा) शोभा बढ़ाती हैं । (मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५)

४०९—'शोभसे' इति ऋ० ।

३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३ २३ १ २
[४१०] इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ ३१ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् २
ऋ० १ । ८० । १ ।

भा०—हे वज्रिन् ! हे (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! (इत्था) इस प्रकार से (हि) निश्चय (सोमे) उस आनन्दरस के बल पर (इत्) ही (मदः) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार (ब्रह्म) वेद द्वारा (वर्धनम्) अपने ज्ञान की वृद्धि या उन्नति (चकार) करता है । (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ को भेदन करता है उसी प्रकार (स्वराज्यं) अपने राष्ट्र या प्रताप को (अनु अर्चन्) प्रकट करते हुए आप अपने (ओजसा) बल से (पृथिव्या) इस पृथिवी के आवरणकारी विघ्न को (निःशशाः) विनाश करते हैं । अध्यात्म वेदियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

१ ३ १ २ ३ १२ ३ १र २र
[३११] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
२उ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र३ १ २
तमिन्महत्स्वाजिषूतमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥
ऋ० १ । ८१ । १ ।

भा०—(इन्द्रः) परमेश्वर ! (मदाय) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और (शवसे) बल के लिये (वावृधे) बहुत बड़ा है । वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का नाश करने वाला (नृभिः) अपनी प्रजाओं के साथ (वाजेषु) संग्रामों और ज्ञान-यज्ञों में (नः प्र अविषत्) हमारी रक्षा करता है । (ऊतिम्) अपनी रक्षा स्वरूप (तम् इत्) उसको ही (महत्सु) बड़े २ (आजिषु) ज्ञान चर्चा के स्थानों या संग्रामों, और यज्ञों में और (अर्भे) सूक्ष्म हृदयावास में भी (हवामहे) हम उसका स्मरण करते हैं ।

४१०—'मदे ब्रह्म' इति ऋ० ।

अर्भ, अल्प, दभ्र, दहर आदि का विवरण छान्दोग्य, और केन दोनों उप-निषदों में स्पष्ट है । आजि=चरम सीमा । राजा के पक्ष में–आजि=संग्राम ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र

[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ १२ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

ऋ० १ । ८० । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे (अद्रिवः) मेघपति के समान आनन्द और ज्ञान के घन ! अखण्ड या अखण्डित शक्तिशालिन् ! हे (व-ज्रिन्) वीर्यसम्पन्न । (तुभ्यम् इत्) तेरा ही (वीर्यम्) बल सामर्थ्य (अनुत्तम्) कहीं रुका नहीं है । (यत् ह) क्योंकि (त्यं) उस (मायिनं) माया, अज्ञान या प्रकृति के जाल में पड़े (मृगं) ज्ञान के विलोपक चोर के समान देह और मनको अथवा (मृगं) सुख के खोजी पशु के समान प्यासे तृष्णालु जीव को (मायया) अपने प्रज्ञा के बल से (स्वराज्य अनु अर्चन्) स्व-महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू (अवधीः) विनाश करता है, मारता है । या प्राप्त होता है, (तव त्यत् वीर्यम्) वह भी तेरा ही बल, प्रताप है ।

२ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २

[४१३] प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥

ऋ० १ । ८० । ३ ॥

भा०—(स्वराज्यम् अनु) आत्मा के मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करने के लिये (अर्चन्) साधना करते हुए, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (प्रेहि) आगे आओ । (अभि इहि) सम्मुख आओ ! (धृष्णुहि) बाधाओं को दबाओ । (ते वज्रः) तेरा वज्र (न) कभी नहीं (नियंसते) दबता । हे (इन्द्र) आत्मन् !

४१२—'मृग तमुत्समायया' इति ऋ० ।

(ते) तुझे (नृम्णं हि) निश्चय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा । तू (शवः) अपने बल से (वृत्र हन.) वृत्र रूप विघ्न अज्ञान को मार और (अप· जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
[४१४] यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् ।
३ १ २ ३ २ २ ३ २उ ३१२ २र ३ १ २ ३ १ २
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हन. कं वसौ दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दध ६
अ० १ । ८१ । ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजय) संग्राम या ब्रह्मकथा प्रसङ्ग (उद्· ईरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृष्णवे) सब का पराभव करनेहारे के सन्मुख (धनं) धन, प्राप्तव्य पदार्थ (धीयते) रक्खा जाता है । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मदच्युता हरी) हर्ष बर्षाने वाले और हरणशील अपने प्राण और अपान दोनों अश्वों को (युङ्क्ष्व) अपने रथ में लगा । [प्र० १] (क हन·) तू किस शत्रु या विघ्न का नाश करता है ? और [प्र० २] (क वसौ दध.) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को (वसौ) अपने देह या चित्त में (दधः) धारण करता है ? [उ० १] हे इन्द्र ! (वसौ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में (दधः) धारण कर और [उ० २] हमें धारण कर । यह भक्तों का भगवान् के प्रति, इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा के प्रति समान रूप से वचन है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[४१५] अक्षन्नमीमदन्त ह्यवप्रिया अधूषत ।
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३क २र ३ १ २
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७
अ० १ । ८२ । २ ॥

भा०—(स्वभानव· विप्रा.) स्वयं योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त होने वाले, विद्वान्, मेधावी लोग (अक्षन्) सब प्रकार के आनन्दों का भोग करते हैं, (अमीमदन्त) और हर्ष को प्राप्त होते हैं । वे

(प्रिया) सबको प्रिय लगने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अवाधूपत) परित्याग करते, झाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्वत्यागी, अवधूत हो जाते हैं। हे (इन्द्र) परमात्मन् ! वे (शविष्ठया) अत्यन्त प्रशंसनीय (मती) शुभ संकल्प या स्तुति से (अस्तोषत) तेरी स्तुति करते हैं। अतः उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अश्वों, हरणशील वाहनों ज्ञान और कर्म रूप घोड़ों को या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों की (अनु योज) साधना कर।

[४१६] उपो षु शृणुही गिरो मघवन्माऽतथा इव।
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजान्विन्द्र ते हरी ॥८॥
ऋ० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! (उप सु शृणुहि उ) तू सावधान होकर सुन (गिरः) तू हमारी वाणियों को (अतथा इव) प्रतिकूल, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा मत कर। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सूनृतावतः) सत्य और प्रिय वाणी बोलने हारे (नः) हमको तू (कदा इद्) कब (करः) अपनाएगा ? (अर्थयासे इत्) आपसे प्रार्थना ही की जाती है। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते हरी योजा नु) तू अपने अश्वों, व्यापक साधन प्राण अपान को अब लगा। अथवा सबीज निर्बीज दोनों का अभ्यास कर।

[४१७] चन्द्रमा अप्स्वाऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥९॥
ऋ० १ । १०५ । १ ॥

भा०—(अप्सु अन्तरा) ध्यान धारणाओं, संकल्पों, विकल्पों या वासना जालों में से (चन्द्रमाः) अत्यन्त आह्लादकारी, (सुपर्णः) उत्तम गतिशील आत्मा, (दिवि) द्यौ लोक में चन्द्र के समान, या सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत·) विशेपरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो ! हे (हिरण्यनेमयः) सुवर्ण के समान चित्ताकर्षक धाराओं वाली कान्तियां! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से (वः पद न विन्दन्ति) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदसी) द्यौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी द्यौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान (मे वित्तं) मुझे लाभ कराओ।

[४१८] प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसु वाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि. स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्
ऋ० ५। ७५। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! (वसु-वाहनं) आवासकारी आत्मा को वहन करने हारे, (वृषणं) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतमं) अत्यन्त प्रिय, (प्रतिरथं) प्रत्येक रथ रूप देह में (ऋषि.) तत्वदर्शी (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभि.·) वेदमन्त्रों द्वारा (वा) आप दोनों को (प्रति भूषति) उत्तम रूप से अलकृत करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, ब्रह्म विद्या के जानने हारो ! (मम हव) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) श्रवण करो।

इति तृतीयो दशतिः। सप्तमः खण्ड.।

॥ द० ४ ॥ ऋषि —१, ७ वसुश्रुत आत्रेय.। २, ८ विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृ· वासुक्रो वा। ३ सत्यश्रवाः आत्रेय.। ४, ६ गौतमो राहूगण। कुल्मल. शैलूषि.। ८ अहोमुग्वावामदेव्यः॥ देवता—१, २, ७ अग्निः। ३ उषाः। ४ सोम·। ५, ६ इन्द्रः। ८ विश्वेदेवा· ॥ छन्द·—१—७ पंक्तिः। ८ उपरिष्टाद् बृहती ॥ स्वरः—१—७ पञ्चमः। ८ मध्यमः ॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूषति' इति ऋ०।

[४१६] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ॥१॥
ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) ज्ञानवन् ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (अजरम्) अविनाशी (ते) आपको (इधीमहे) प्रदीप्त करते हैं, चैतन्य करते हैं। (द्यवि) द्युलोक में (यद्) जो (स्या) वह (ते) आपकी (पनीयसी) प्रशंसनीय (समिद्) कान्ति (दीदयति) चमक रही है। (स्तोतृभ्य) सत्य गुण वर्णन करने हारों को हे देव ! आप (इषं) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा (आ भर) प्राप्त कराओ।

[४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ॥२॥
ऋ० १० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! (विवक्षसे) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो। इसलिये (स्ववृक्तिभिः) उत्तम, दोष रहित निज स्तुतियों से हम लोग (शीर) सबके भीतर ज्ञान रस रूप से शयन करने हारे, (पावक-शोचिष) पवित्र करने वाली दीप्ति से युक्त, (व) हमारे और तुम्हारे (विमदे) विशेष आनन्द लाभ करने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (स्तीर्णबर्हिषम्) बर्हिः=धान्य या कुश, आसन या इस देह को फैलाये हुए (होतारं) सबको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सबको अपने पास बुलाने वाले (त्वा) तुझ (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ईश्वर का (होतारं न) अपने यज्ञ के होता के समान (आवृणीमहे) वरण करते हैं।

४२०—'यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे विवो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे' इति ऋ० ।

३१ २ ३१ २ ३१ २ ३२ ३१ २
[४२१] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
यथाचिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥
ऋ० ५। ७९। १ ॥

भा०—हे (अश्वसूनृते) आत्मा की सत्यस्वरूप वाणि ! हे (सुजाते) उत्तमरूप से प्रकट होने वाली ! (वाय्ये) वरण करने योग्य ! (सत्यश्रवसि) सत्य वेदज्ञान में (यथाचित्) जिस प्रकार पहले (नः अबोधयः) हमें ज्ञानवान्, प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार हे उषः ! हे सब पापों के दहन करने हारी (दिवित्मती) ज्योतिः स्वरूपा तू (महे) बड़े भारी (राये) दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान् की प्राप्ति के लिये (अद्य) आज (बोधय) हमें, जगा, ज्ञानवान कर ।

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१२ २२
[४२२] भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १२ २२ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मद रणा गावो न यवसे विवक्षसे॥४
ऋ० १०। २५। १ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (विवक्षसे) आप महान् हो । आप (नः) हमारे (मनः) मन और (दक्षम्) आत्मा या बल को (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (भद्र) कल्याण के प्रति (अपि वातय) प्रेरित करो । (अथा) और (ते) तुझ (अन्धसः) अन्धकार को दूर करने और प्राण धारण करानेहारे प्रभु के (मदे) हर्षकारी (सख्ये) प्रेम में हमें (यवसे) घास के प्रेम में (रणा गावो न) आनन्द प्रसन्न गौवों के समान (विव०) स्वीकार करो, अपनाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[४२३] क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः ।
३ २३ १२ ३२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३२
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्निशिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ५
ऋ० १। ८१। ४ ॥

४२२—'रणन गावो' इतिपाठः, ऋ० । ऋग्वेदे (१०। २०। १) इत्यत्र 'भद्रा' दि 'मनो'न्तः पाठ एव केवलम् ।

भा०—(महान्) सबसे बड़ा वह परमात्मा (भीमः) सबको भय से चलाने और कपाने वाला (अनुष्वधम्) स्वधा स्वरूप जीव या प्रकृति के प्रति (क्रत्वा) अपनी क्रिया शक्ति और प्रज्ञा से (शवः) अपनी क्रिया शक्ति या बल या ज्ञान सामर्थ्य को (आ वावृते) प्रेरित करता है और (श्रिये) समस्त संसार को आश्रय देने के लिये (ऋष्व) वह महान् (शिप्री) शक्तिशाली (हरिवान्) हरण करने वाला या आकर्षण करने वाला, (उपाकयोः) समीपतम (हस्तयोः) आघातकारी साधनों, हाथों में (आयसं वज्रं) लोहे के बने खड्ग को वीर के समान (आयसम्) अयः अर्थात् स्नेह और वेग के बने (वज्रं) पतन और पाप निवारक साधन को (आदधे) धारण करता है।

ईश्वरने अपनी शक्ति प्रकृति में दी। समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया प्रत्येक परमाणु और पिण्ड में आघात प्रयत्न उत्पन्न किया और ऐसी निरन्तर की गति उत्पन्न की कि अपनी गति पर ही प्रत्येक आकाश का पिण्ड निराश्रय खड़ा है। 'हस्तयोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग उपमावश है। वीर राजा और अध्यात्म पक्ष में स्पष्ट है।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४२४] स घा तं वृषणं रथमधितिष्ठाति गोविदम्।
१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २क २र ३ १ ३
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजान्विन्द्र ते हरी॥६॥
ऋ० १। ८२। ४॥

भा०—हे इन्द्र! (यः) जो (हारियोजनं) इन्द्रियों को वश करने हारे योग साधन और (पात्रं) क्रिया साधन को (पूर्णं) उचित प्रकार से पूर्ण रूप से (चिकेतति) जानता है (स घ) वही (तं) उस (वृषणं) सुखप्रद, (गोविदं) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले चेतन (रथम्) रथपर (अधि तिष्ठाति) स्वामी होकर सवारी करता है। हे (इन्द्र)

आत्मन् (ते हरी) तुम अपने अश्वों=प्राण अपान दोनों को (योज नु) इस समय समाधि योग से जोड़ो।

३ १र २र ३ २उ ३ २ १र १र १उ ३ १ २
[४२५] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनं इषं स्तोतृभ्य आभर॥७

ऋ० ५। ६। १॥

भा०—(तं) उसको (अग्निः) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर (मन्ये) मानता हूं या उसको अग्नि-तेज रूप से मनन करता हूं (यः वसुः) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करने हारा, सबको वास देने हारा है। (यं) जिसमें (धेनवः) वाणियें, इन्द्रियां और रश्मियां हैं उसी प्रकार जैसे गौवें (अस्तं) घर में (यन्ति) आती हैं या (अस्तं यंति) आश्रय को प्राप्त होती हैं और (आशवः) व्यापन् स्वभाव वाले (अर्वन्तः) प्राण या वायु आदि पञ्च भूत (अस्त) गृहस्वरूप जिसमें आश्रय लेते हैं और (नित्यासः) नित्य, अविनाशी, (वाजिनः) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसको (अस्तं) अपना गृह या शरण समझ कर आश्रय करते हैं। हे सर्वाश्रय ! (स्तोतृभ्यः) स्तोता विद्वान लोगों को (इषं) अन्न एवं अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ (आ भर) प्राप्त कराओ।

२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[४२६] न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १र २र २ ३ १ २ ३ १ २
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विषः॥८॥

ऋ० १०। १२६। १॥

भा०—हे (देवास) विद्वान् पुरुषो ! (यम्) जिस (मर्त्यं) मरणधर्मा देहवान् पुरुष को (अर्यमा) वह न्यायकारी, (मित्रः) सब का प्रेमी, (वरुणः) सबको पाप से बचाने हारा जगदीश्वर (सजोषसः)

४२५— नमन्ति' इति पाठभेदः, ऋ०।

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विष , अति) विघ्न या बाधाकारियों या अप्रीति करने हारों से दूर कर लेता है (तं) उसको (अह न अष्ट) पाप नहीं स्पर्श करता, (दुरित) और दुष्ट चरित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।

॥ द० ५ ॥ ऋषि —६ त्र्यरुण त्रसदस्यू । ७ वसिष्ठः । ८ वामदेव । ६ वाजिना स्तुति.। १, ३–५, १० ऐश्वरा धिष्ण्या अग्नय. ॥दैवता–१–६, १० पवमान । ७ मरुतः । ८ अग्नि. । ९ वाजिनः ॥ छन्द —१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पंक्ति । ८ पदपंक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टु-पपिपीलिकामध्या ॥ स्वर·—१, ३–८, १० पञ्चम· । २, ६ गान्धार· । ६ ऋषभः ॥

२ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २

[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥

ऋ० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस को बहाने वाले, सब दु खों के ओषधिरूप, परमरस स्वरूप ऐश्वर्यवन् ! (स्वादुः) ओषधिरस के समान परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबको स्नेह करनेहारे (पूष्णे) सब को पोषण करनेहारे (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्द्राय) उस ऐश्वर्य के इच्छुक जीव के लिये (परि प्र धन्व[1]) चारों ओर उत्तमरूप से गति कर, बहा ।

२ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २

[४२८] पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥ ऋ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—१, धन्वतिगतिकर्मा, (नि०) रिवि रवि धवि गत्यर्थाः । भ्वा० ।

४२८—'ईयसे' इति ऋ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) सहनशील होकर आप (परि प्रधन्व) चारों ओर से मार भगाओ । (ऋणया) ऋणों के नाश करने हारे आप (द्विषः) अप्रीति से वर्तने वाले शत्रुओं के (तरध्यै) विनाश करने के लिये (नः) हमें (ईरसे) प्रेरित करो ।

१ २ ३ १ ७ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ७ ३ १र ७र
[४२६] पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३
ऋ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (देवानां) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[४३०] पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥
ऋ० ६ । १०६ । १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्तः) स्नान किया हुआ, निष्णात (वाजी) ज्ञानवान् विद्वान, (अश्वः) क्रियानिष्ठ, सधाया हुआ पुरुष और घोड़ा, जिस प्रकार (धनाय) धनोपार्जन, या संग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (महे) बड़े (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ७ ३ १र २र
[४३१] इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥ ५ ॥
ऋ० ६ । १०६ । १३ ॥

भा०—(अपाम् उपस्थे) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में (मदाय चारुः) हर्ष उत्पन्न करने में श्रेष्ठ, (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् (भगाय) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त (इन्दुः) ऐश्वर्यशील सोम (पविष्ट) गति करता है या प्रकट होता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३२] अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ ऋ० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम! (महे) बड़े भारी तेरे (समर्यराज्ये) श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में (त्वाम् अनु) तेरे अनुकूल (मदामसि) रहने में खूब प्रसन्न होते हैं। हे (पवमान) सबके प्रेरक शासक! (वाजान् अभि) शत्रुओं या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के प्रति तू निर्विघ्न होकर (प्र गाहसे) गति करता है, उनमें रमण करता है। राजा, आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भक्तों का वचन है।

२ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४३३] क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वाः ॥७॥
ऋ० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—(ईं) ये (व्यक्ताः) प्रकट हुए, (सनीडाः) एक ही देह में आश्रय किये हुए, (मर्याः) देहधारी प्राणियों के हितकारी (अथ) और (स्वश्वाः) सुख से पदार्थों का भोग करने हारे, (रुद्रस्य) इस समस्त संसार को रुलाने हारे, उस देव, मुख्य प्राण के (के) कौन हैं? इस आश्चर्य से किये प्रश्न का उत्तर ऋ०मं०६।५६ सूक्त का अगली ऋचाओं में दिया है।

३ २ ३ ३ ३ २ उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[४३४] अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥ ऋ० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अद्य) आज हम (ओहैः) आह्वान करने योग्य (स्तोमैः) स्तुतिपूर्ण सूक्तों द्वारा (अश्वं न) अश्व के समान समस्त संसार के वहन करने हारे, (क्रतुं) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, (भद्रं) कल्याणकारी, (हृदिस्पृशं) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम (तं) उस प्रसिद्ध तुझको लक्ष्य कर (ऋध्याम) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

[४३५] आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन् देवस्य सवितुः सवम् ।
स्वर्गां९ अर्वन्तो जयत ॥९॥

भा०—(वाजिनः) ज्ञानवान् (मर्याः) मरणधर्मा प्राणी, (देवस्य) सबके दाता, (सवितुः) सबके प्रेरक परमात्मा के (वाज सवं) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को (आविः अग्मन्) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं । हे (अर्वन्तः) ज्ञानशील पुरुषो ! (स्वर्गान्) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उन मुक्ति सुखों को (जयत) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

[४३६] पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महां अवीनामनु पूर्व्यः ॥१०॥
ऋ० ९ । १०९ । ७ ॥

भा०—हे सोम ! (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, (द्युम्नी) कान्तिमान्, (सुधारः) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेहारा (अवीना) गतिशील, आत्माओं में सबसे (महान्) बड़ा परम-आत्मा तू (अनु पवस्व) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ द०-६ ॥ ऋषिः—३ त्रसदस्युः । ७ सम्पातः ॥ शेषाणां ऋषयो नोपलभ्यन्ते ॥
देवता—१–५, ८–१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषाः । पङ्क्ति ॥ पञ्चमः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[४३७] विश्वतो दावन्विश्वतो न आभर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥ १॥

भा०—हे (विश्वतो दावन्) सबका संहार करने या सबको दान करनेहारे संहर्त्तः ! या दातः ! (यं त्वा) जिस तुझ (शविष्ठ) बलवान् को (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं कि (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (आभर) सुख सामग्री प्राप्त कराओ ।

३ २ ३ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४३८] एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥ २ ॥

भा०—(यः ऋत्वियः) जो ऋतुओं में प्रकट होने हारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्यरूप कालात्मा परमेश्वर है (एषः ब्रह्मा) वही सबसे बड़ा और सबको बढ़ाने वाला (नाम श्रुतः) विख्यात है । (गृणे) मैं उसकी स्तुति करता हूं ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४३९] ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥ ३ ॥
ऋ० ५ । ३१ । ४ ॥

भा०—(ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अर्कैः) वेदस्तुतियों द्वारा (इन्द्रं) इन्द्र की (महयन्तः) पूजा करते हुए (अहये) मेघ या न नाश होने वाले अन्धकार को (हन्तवा) नाश करने के लिये (उ) ही (अवर्धयन्) उसको बढ़ाते हैं, उसकी महिमा का वर्णन करते हैं । अथवा (अहये) इस समस्त संसार को (हन्तवा) संहार करने के कारण (उ) ही (अवर्धयन्) उसकी महिमा गाते हैं ।

गत्यर्थस्य एतेरपतेरंहतेर्वा व्याप्त्यर्थस्य, आङ् पूर्वाद् हन्तेर्वा, नञो हन्तेर्वा, अहि । अथवा—'य एतत् सर्वमन्तवत् तस्मादहि.' इति वाजसनेयब्राह्मणे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४०] अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम् ॥ ४॥
ऋ० ५ । ३१ । ४ ॥ पूर्वार्धं ॥

भा०—जिस प्रकार (अनव:) प्राणधारण करनेहारे मनुष्य (अश्वाय) समस्त देश में गमन करने के निमित्त (रथं) रमण साधन या गमन साधन या वेगवान् यान=रथ को (तक्षु:) बनाते हैं। उसी प्रकार (अनव) विद्वान् जन (अश्वाय) भोक्ता जीव के लिये (रथ तक्षु:) रसस्वरूप परमेश्वर की साधना करते हैं। (त्वष्टा) सबको रचने हारा शिल्पी विश्वविधाता (पुरुहूतं) सबसे स्तुति किया गया, (द्युमन्तं) दीप्तिमान् (वज्रं) सर्व विघ्ननिवारक, तमोनिवारक सूर्य रूप वज्र को बनाता है।

२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र २ १ २ ३ २ २ ३ २
[४४१] शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥५॥

भा०—(शं) शान्तिकारक (पदं) स्थान और ज्ञान, (मघं) धन धान्य और क्रतु योगादि का उत्कृष्ट फल पहले (रयीषिणे) सुखसामग्री या ऐश्वर्य को अन्यों के लिये परोपकार में लगा देने वाले के लिये होता है। (अव्रत:) निकम्मा, मूर्ख, तपस्या आदि न करने हारा, अकर्म और निषिद्ध कर्म करने हारा पुरुष (कामम्) यथष्ट फल को (न हिनोति) नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि (रयिम्) वह धन धान्य को (न स्पृशत्) छूता भी नहीं अर्थात् दान भी नहीं करता।

२ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४२] सदा गाव: शुचयो विश्वधायस: सदा देवा अरेपस: ॥६॥

भा०—(गाव:) ज्ञानी परिव्राजक, गमनशील किरणें या गौएं (शुचय:) सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त, कान्तिमान् सदा शुद्ध और (विश्वधायस) समस्त संसार को ज्ञान रसपान कराने वाले, सबको पुष्ट करने हारे और सबको रस पिलाने हारे होते हैं। क्योंकि (देवा:) विद्वान्, दानी और प्रकाशमान पदार्थ (सदा) सदा (अरेपस:) निर्दोष और निष्पाप होते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १र २र
[४४३] आयाहि वनसा सह गाव: सचन्त वर्तनिं यदूधभि: ॥७॥
ऋ० १० । १७२ । १ ॥

भा०—हे उष ! तू (वनसा) तेज के साथ (आयाहि) आ, प्रकट हो । (गाव.) जिस प्रकार गौवें दूध भरे थनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (गाव.) तेरी रश्मियां (ऊधभिः) वहनशील शक्तियों द्वारा सबको पालन पोषण करके (वर्त्तनिं) तेरे मार्ग को (सचन्त) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४४४] उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्त॰ पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (मधुमति) मधुर फल से सम्पन्न (प्रक्षे) वट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार पक्षिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (प्रक्षे) विशाल ब्रह्माण्ड में (क्षियन्तः) निवास करते हुए हम जीव (रयिम्) अपने उत्तम कर्मफल को (पुष्येम) प्राप्त करें और उन से वृद्धि को प्राप्त हों और (ते धीमहि) हम तेरा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्णन उपनिषदों में तथा वेदमन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से द्यौ भूमि बनाई गई है । वहां कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । देखो बृहदारण्यक और छान्दोग्य के मधुविद्याप्रकरण जिसमें पृथिवी आदि को मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में वैसे इन्द्रिय गण का आत्मा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १र २र ३ २उ ३१ २र
[४४५] अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आस्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥९॥

भा०—(स्वर्काः) उत्तम कान्तिसम्पन्न ज्ञानी (मरुतः) प्रजाएं या प्राणगण (अर्कं) अपने शक्तिदाता सूर्यरूप आत्मा या परमात्मा को (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (सः) वह (युवा) बलवान् (इन्द्रः)

४४४—'पुष्यन्तो' इति ऋ० ।

परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात कीर्त्ति वाला, (आत्तोभति) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों का सब दिशाओं में विनाश करता है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २

[४४६] प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते १०

भा०—(व.) आप लोग (वृत्रहन्तमाय) वृत्रों को विनाश करने में श्रेष्ठ, (विप्राय) ज्ञानवान्, (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गाथं) ऐसी गान या स्तुति को (प्र गायत) गाओ (यं) जिसको वह (जुजोषते) चाहता है,-स्वीकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है ।

इति षष्ठी दशतिः । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्ध॰ प्रपाठकः ।

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१ पृषध्रव॰ काण्वः सम्पातो वा । २ बन्धुः । ३, ४ बन्धुः सुबन्धुर्विप्रबन्धुश्च । गोपायना लोपायना वा । ५ सम्वर्त्तः । ६ भौवन आप्तय॰ । ७ कवष ऐलूष । ८ भरद्वाजः । ९ आत्रेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ८, १० इन्द्रः । ५ उषा॰ । ६, ७, ९ विश्वेदेवा॰ ॥ छन्दः—१, २, ५, ७ द्विपदापंक्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० एकपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप् ॥ स्वर —१, २, ५, ७ पञ्चमः । ३, ४, १० षड्जः । ६, ८, ९ धैवतः ।

१ २ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २

[४४७] अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

ऋ० ८ । १६ । ५ ॥

भा०—(सुमद्-रथः) शोभायुक्त, रमणीय, तृप्तिकारी रस से युक्त या यश कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, (चिकितिः) ज्ञानवान्, (अग्नि॰) परमात्मा हृदय या ब्रह्माण्ड में और आत्मा देह में (हव्यवाड् न) अन्नादि चरु खाने वाले भौतिक अग्नि के समान (अचेति) चैतन्य है, जागृत है ।

४४७—'चिकितुः' 'हव्यवाट्स॰' इति ऋ० ।

२ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २ २ १ २ ३क १र
[४४८] अग्ने त्वं नो अन्तमः उत त्राता शिवो भुवा वरूथ्यः ॥२॥
ऋ० ५ । २४ । १ । पूर्वार्धः ॥ यजु० ३ । २५ । १५ । ४८ पू० ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (त्वं) तू (नः) हमारा (अन्तमः) समीपतम (त्राता) रक्षक, (शिवः) कल्याणकारी, शिवस्वरूप और (वरूथ्यः) सेनानायक के समान वरण करने योग्य (भुवः) हो।

२ ३ २ ३ २ ३ २१ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४६] भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(महोनां) बड़े २ देवों के बीच में (अग्निः) महान् परमेश्वर (भगः नः) सूर्य के समान (चित्रः) चयन करने योग्य, अद्भुत या पूजा करने योग्य है। वह (रत्नम्) रमणीय शक्ति को (दधाति) धारण करता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र ३र २ ३ ३ २
[४५०] विश्वस्य प्रस्तोभ पुरो वा सन्यदि वेह नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्वस्य प्रस्तोभ) सबके संहारक, सबके उत्कृष्ट पूजापात्र ! तू (पुरः वा) पूर्वकाल में भी (सन्) विद्यमान रहा (यदि वा) और (इह) इस वर्त्तमान काल में भी (नूनम्) तू निश्चय से विद्यमान है। अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है। तू त्रिकाल में सत् है।

३२उ ३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २
[४५१] उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्त्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ५ ॥
ऋ० १० । १७२ । ४ ॥

भा०—(उषा) अन्धकार को नष्ट करने वाली उषा (स्वसुः) जिस प्रकार रात्रि के (तमः) अन्धकार को (सुजातता) अपने उत्तम प्रादुर्भाव के कारण (अप) दूर कर देती है और राहगीर को (वर्त्तनिं) सन्मार्ग में (संवर्त्तयति) रखती है, उसी प्रकार विशोका प्रज्ञा का उदय भी (स्वसुः) स्वयं सरण करने वाली अविद्या के अन्धकार को दूर करती और आत्मा के परम गन्तव्य मुक्ति मार्ग को प्रकाशित कर देती है।

४४८— भग' इति ऋ० ।

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४५२] इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) आत्मा और (विश्वे देवाः च) सब इन्द्रियरूप देव मिलकर (इमा भुवना) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीषधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २उ २ ३ १ २
[४५३] वि स्रुतयो यथापथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पथा) मार्ग पाकर (रातयः) बहने वाली जलधाराएं बह जाती हैं उसी प्रकार (रातयः) नाना पदार्थों की दानराशियां, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वद्) तुझ से (वि यन्तु) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों।

३ १र ३२र ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४५४] अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥८॥
ऋ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—(अया) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति से (देवहितं) परमेश्वर के दिये हुए (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न को (सनेम) हम प्राप्त करें, करावें और (सुवीरा) उत्तम पुत्रों से युक्त, वीर्यवान् सामर्थ्य-वान् होकर (शतहिमा) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्तुष्ट होकर रहें।

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४५५] ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ९

भा०—(मित्रो वरुणः) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर (ऊर्जा) विद्युत्रूप बल, पराक्रम से युक्त होकर (इडाः) जिस प्रकार भूमियों को जलों से (पिन्वत) सेचन करते हैं उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिकाल में आत्मा की मनो भूमियों को धर्म-

मेघ के रस से आ सेचित करें। और हे (इन्द) मेघ ! आप (दृपं) अन्न की फसल को (पीवरीं) खूब अधिक मात्रा में, ज़ोरों पर कसरत से (कृणुहि) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन् ! आप (दृपं) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को (कृणुहि) उत्पन्न करो।

[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही (विश्वस्य) समस्त ब्रह्माण्ड को (राजति) प्रकाशित करता है। और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है।

इति सप्तमी दशतिः । एकादश खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः । २ गौराङ्गिरसः । ३, ५, ९ परुच्छेपः । ४ रेभः । ६ एवयामरुत् । ७ अनानतः पारुच्छेपिः । ८ नकुलः ॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः । २ सूर्यः । ५ विश्वेदेवाः । ६ मरुतः । ७ पवमानः । ८ सविता । ९ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७, ९ अत्यष्टिः । २, ४ ६ अतिजगती । ८, १० अतिशक्वरी ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः । २, ४, ६ निषादः । ८ १० पञ्चमः ॥

[४५७] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिब द्विष्णुना सुतं यथावशम् । स ईं ममाद महिकर्म कर्तवे महामुरु सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
ऋ० १० । ८६ । ४ ॥

भा०—(महिषः) बड़ा पूजनीय, (तुविशुष्मः) बड़ा बलशाली, (तृम्पत्) सबको तृप्त करने हारा आत्मा (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में

४५७—'तृपत्सोम,' 'यथावशम्' 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु' इति ऋ० ।

(विष्णुना) सर्वव्यापक परमेश्वर से (सुतं) प्रेरित या उत्पादित, (यवाशिर) यव आदि अन्नों से मिले हुए (सोमं) ओषधिरसों के समान ज्ञान और आनन्द को (यथावश) अपनी शक्ति के अनुसार (आपिबद्) पान करता है । (स ईं) वही इस प्रकार (महि कर्म) बड़े २ काम (कर्तव्य) करने के लिये भी (ममाद) सदा प्रसन्नचित्त रहता है । वह (महाम् उरु सैन) बड़े भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं के स्वामी, विश्वक्सेन (देवं) परमात्म देव को (देवः) प्रकाशमान, ज्ञानवान् होकर (सश्चत्) प्राप्त होता है । वह (सत्यः इन्दुः) सच्चा, सब का आह्लाद करने हारा, या ऐश्वर्य और विभूतिमान् होकर (सत्यम्) सत्यस्वरूप (इन्दम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे—"स एतान् स्तोमान् अपश्यत् ज्योतिर्गौरायुरिति ।" इमे वै लोकाः स्तोमाः । अयमेव ज्योतिरयम्मध्यमो गौरसावुत्तम आयुः । ऋग्भाष्ये दयानन्दस्तु 'त्रिकद्रुकेषु लोकेषु' ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ २ १ २
[४५८] अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म ।
३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रध्न समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे
३ १ २ ३ २
मन्युमत्तश्चिता गो ॥ २ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्रमानवः) सहस्रों मननशील विद्वानों से उपासित, (दृशः) दर्शनीय, (कवीनां) क्रान्तिदर्शी, मेधावी लोगों से (मतिः) एकमात्र मनन करने योग्य, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप, (विधर्म) नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, (ब्रध्नः) सबको प्राणसूत्र में बांधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा (स्वसरे) स्वयं सरण करने हारे, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में (समीचीः) उत्तम प्रकार से हृदय में प्रवेश करने हारा, (अरेपसः) तम और पाप के लेप से रहित,

रजो भाव से शुद्ध, (सचेतसः) ज्ञानयुक्त, (उषसः) विशुद्ध ज्योतिर्मय दशाओं, उषाओं, प्रज्ञाओं को (सम् ऐरयत्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है। जो (गो॰) सूर्य के (मन्युमन्तः) अत्यन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना (चिता.) एकत्र हुए किरणों के समान होता है।

[४५९] एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता। राजेव सत्पति । हवामहे त्वा प्रयस्वन्त सुतेष्वा पुत्रासो न पितर वाजसातये मंहिष्ठ वाजसातये ॥३॥ ऋ० ३।२३।१॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार (अयम्) यह (सत्पति॰) सज्जनों का या सत्य का प्रतिपालक यजमान (विदथानि) यज्ञों में (राजा इव) राजा के समान (सत्पति॰) सज्जनों का पालक होकर (अस्ता राजा इव) शत्रुओं पर बाण आदि फेंकने वाला, वीर धनुर्धारी राजा जिस प्रकार शत्रु आदि के संकटों को दूर करने के लिये प्राप्त होता है उसी प्रकार तू (नः) हमारे पास (परावत.) दूर देशों से भी (उप आयाहि न) आ ही तो जा। (पुत्रास॰ पितरं न) जिस प्रकार पुत्र लोग पिता की (वाजसातये) दायभाग की प्राप्ति के लिये स्तुति करते है उसी प्रकार हम भी (प्रयस्वन्तः) अन्नादि हवि को आपके अर्पण करने के लिये अपने हाथों में लिये हुए (वाजसातये) अन्न और ज्ञान के लाभ के लिये (सुतेषु) इन यज्ञ स्थानों में (मंहिष्ठं) सबसे बड़े दानशील (त्वा) तुझको (आ हवामहे) आह्वान करते हैं, आदर से याद करते हैं।

[४६०] तमिन्द्र जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुत श्रवांसि भूरि । मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥ ऋ० ८ । ९७ । १३ ॥

४६०—'यज्ञियो ववर्तद्' इति ऋ० ।

भा०—(तं) उस (मघवानं) धन धान्य, सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, (उग्रं) वेगवान्, (सत्रा) सत् पुरुषों के त्राता, (भूरि शवांसि) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद ऋचाओं को (दधानम्) धारण करते हुए (अप्रतिष्कुतम्) किसी से भी न पराजित, (इन्द्रं) वीर राजा के समान परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूं। वह (मंहिष्ठः) सबसे महान् दानशील (गीर्भिः) वेदमन्त्रों द्वारा (यज्ञिया) यज्ञ के कार्यों में (आ ववर्त्त) पुनः २ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह (वज्री) सब विघ्नों का नाशक (नः) हमारे लिये (राये) धन प्राप्त करने के लिये (विश्वा) सब (सुपथा) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन (कृणोतु) करे, खोल दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
[४६१] अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं
३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे। यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३२उ
सन्दाय नव्यसे। अध प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवाँ
३ २ ३ १ २
अच्छा न धीतयः ॥५॥ ऋ० १। १३९। १॥

भा०—(धिया) आधानकर्म या ध्यानबल से (पुरः) साक्षात् (अग्निं) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को (दधे) धारण करता हूं, (त्यत् शर्धो) उसके बल में (दिव्य) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृणीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष वरण करते या प्राप्त करते हैं और (इन्द्रवायू) आत्मा और प्राण दोनों का (वृणीमहे) साक्षात् करते हैं। (यत्) जो दोनों (ह) निश्चय से (नव्यसे) सदा नवीन (विवस्वते) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के (नाभौ) आकर्षण शक्ति में (संदाय) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर (क्राणा) समस्त देहों को रचते हैं। (अध)

४६१—'तच्छर्धो,' 'विवस्वति', 'सदायिनव्यसा,' 'प्रस्न उपयन्तु' इति ऋ०।

और हम (धीतय) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अध्ययन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे (धीतय इव) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अंगुलियों या शिष्यों के समान (देवान्) देवों विद्वानों के (नूनं प्र उपयन्ति) अत्यन्त समीप पहुंचते हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
[४६२] प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवया-
२ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ६
मरुत् । प्र शर्द्धाय प्र यज्यव सुखादये तवसे भन्ददिष्टये
१ २ ३ १ २
धुनिव्रताय शवसे ॥६॥ ऋ० १ । ८७ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार (मरुत्वते) पवनों वाले मेघ के लिये (गिरिजाः) बिजुलियां चलती हैं । उसी प्रकार (वः मतयः) आपकी बुद्धियां या स्तुतियां (गिरिजाः) बड़े मस्तक वाले विद्वान् प्रवक्ताओं से उत्पन्न हुई हुई (महे) बड़े (मरुत्वते) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त, या प्रजाओं से युक्त, (विष्णवे) व्यापक जगदीश्वर को (यन्तु) पहुंचे । (एवयामरुत्) और प्राणों को चलानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी (शर्धाय) बलवान्, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के सम्पादक, (सुखादये) उत्तम आयुधों से भूषित (तवसे) वीर्यवान् (भंदद्-इष्टये) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र (धुनि-व्रताय) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे (शवसे) बल-स्वरूप उस ईश्वर के (प्र यातु) खोज में प्रवृत्त होजायँ ।

३ २ ३ १२ २२ ३ २उ ३ ३ २ ३ १
[४६३] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयु
२ ३ २ ३ २ ३१ २ १ २ ३१ २ ३ १
ग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो
२ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिः
१ २
ऋक्वभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । १११ । १ ॥

भा०—(सयुग्वभिः) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा (सूरः न) जिस प्रकार प्रेरक नेता (विश्वा द्वेषांसि तरति) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार (सयुग्वभि.) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अश्वों, योग-साधनों द्वारा (सूर) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य के समान तेजस्वी (हरिः) गतिशील आत्मा (अया) इस (हरिण्या) अज्ञान हरने वाली (रुचा) ज्योति से (पुनानः) मल आदि का परिशोधन करता हुआ (विश्वा द्वेषांसि) सब प्रकार के विरोधियों को (तरति) पार कर जाता है। उस (वृष्ण्स्य) सबके धारण करने हारे सोम की (धारा) धारण पोषण करनेहारी शक्ति (रोचते) सर्वत्र प्रकाशित होती है। वह (हरिः) सर्व-व्यापक, सर्वदु.खहारक, (अरुष) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, (पुनान) सबको प्रेरित करता हुआ, (यद्) जो वह (विश्वा रूपा) सब पदार्थों या आकाशस्थ पिण्डों को (ऋक्वभि) प्रकाश ज्ञानयुक्त (सप्तास्येभि.) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल ब्रह्माण्ड में सब नक्षत्रों को चलाने हारे सात महावायुओं द्वारा (परि याति) घेरे बैठा है, व्यापक है।

[४६४] अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभिप्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युत-त्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतु कृपास्व. ॥ ८ ॥

यजु० ४ । २५ ॥ अथर्व० ७ । १४ । १, २ ॥

भा०—(ओण्योः सवितारं) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक, (कवि-क्रतुं) क्रान्तदर्शी, एवं ज्ञानसम्पन्न मेधावी, (सत्यसवं) सत्य को प्रकट करने हारे, (रत्नधाम्) रमणीय विभूतियों को धारण करने वाले, (अ-

४६४—प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वा अनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि इत्यधिक. पाठ, यजु० 'कृपात् स्व' इति अथर्व० ।

(प्रियं) सबके प्रिय, (मतिं) मनन योग्य (त्यं देव) उस देव को (अभि अर्चामि) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान (भा:) सूर्यरूप तेजःकान्ति, (अमतिः) अचिन्त्य, अद्वितीय, (सवीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में (अदिद्युतत्) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हिरण्यपाणि:) क्रियारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला, (सुक्रतु:) उत्तम कारीगर (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्व:) सब प्रकाशमान सूर्य आदि द्यौलोक और परमसुख को (नि:-अमिमीत) बनाता और देता है ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र १र ३ १ २ ३
[४६५] अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदसं
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य
३ १ २
सर्पिषः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (दास्वन्तं) दान करने हारे, सबके दाता, (वसो) उस वास करने वाले (सहसः) बलरूप जीवात्मा के (सूनुं) प्रेरक, (जातवेदसं) समस्त भूतिमान् धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हारे, (विप्रं न) विप्र, मेधावी पुरुष के समान (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे (अग्निं) परमेश्वर को (होतारं) इस महा ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का कर्त्ता (मन्ये) स्वीकार करता हूं (यः) जो (ऊर्ध्वया) ऊपर आकाश में स्थित ज्वाला द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम अहिंसित, अविनाशी, हिंसारहित यज्ञ का करनेहारा (देवाच्या) देवों तक पहुंचने हारे (कृपा) सामर्थ्य से (शुक्रशोचिषः) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, (सर्पिषः) सर्वव्यापी, प्रसरणशील (घृतस्य) कान्तियुक्त सूर्य या अग्नि में आहुति किये

४६५—'विभ्राष्टिमनुवष्टि' इति ऋ० । 'वसुं' इति ऋ० ।

घी के समान (विभ्राष्टिम्-अनु) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं (वष्टि) विराजमान, प्रकाशित होरहा है ।

[४६६] तव त्यं नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिणन्नपः । भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम् ॥१०॥
ऋ० २ । २२ । ४ ॥

भा०—हे (नृत) समस्त संसार को नचाने या अपनी इच्छानुकूल चलाने हारे ! (त्यत्) वह (अप:) कर्म (प्रथमं) सबसे उत्कृष्ट (दिवि) द्यौलोक में भी (पूर्व्यं) सबसे पूर्व (प्रवाच्यं) उत्तम रीति से वर्णन करने योग्य (कृतं) किया हुआ सर्ग (तव) तेरा ही है । (य:) जो (शवसा) अपने वेग या बल से (देवस्य) प्रकाशमान, विजिगीषु, महाप्राणधारी हिरण्यगर्भ के (असुम्) पवनरूप प्राण को (रिणन्) गति देता हुआ (अप:) नाना लोकों को (प्र अरिणा:) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव (विश्वम्) समस्त (अदेव) न प्रकाशित होने वाले, मृतप्राय, नाना पृथिवी आदि लोकों, पिण्डों को भी (ओजसा) अपने बल से, कान्ति से (भुवत्) व्याप्त होकर उनमें (ऊर्जम्) अन्नादि खाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ (विदेद्) प्राप्त कराता है, उत्पन्न करता है वह (शतक्रतु:) सैकड़ों कर्मों का करने हारा शिल्पी (इषं विदेत्) हमें जीवन, प्राण और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशति: । इति द्वादशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

४६६—'भुवद्' 'विदादिषम्' इति ऋ० ।

अथ पावमानकाण्डम् ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

॥ द० १ ॥ ऋषि:—१, ४ अमहीयु । २ मधुच्छन्दा: । ३ भृगुर्वारुणिः जमदग्निर्वा । ५ त्रितः आप्त्य: । ६ कश्यप: । ७ जमदग्निः । ८ दृढच्युत आगस्त्य: । ९, १० काश्यपोऽसित: । पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज: ॥

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र
[४६७] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे ।
३ २उ ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य से (जातं) उत्पन्न हुए (दिविसद्) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान (उग्र) उग्र, उत्कृष्ट, (शर्म) सुख, शरण और (महि श्रवः) महान् ज्ञान या बल, अन्न को (भूमि) भूमि पर के पुरुष भी (आददे) प्राप्त करते हैं । अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि पर भी प्राप्त करते हैं ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६८] स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । १ । १ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ईश्वर ! आप (स्वादिष्ठया) अत्यन्त रस दायक (मदिष्ठया) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक (धारया) अपनी धारण शक्ति से (पवस्व[1]) सब में व्यापक हो । (इन्द्राय) इस आत्मा के

४६७—'दिविषद्' इति ऋ० ।

४६८—१. पवतिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४)

(पातवे) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस (सुत.) उत्पन्न किया जाता है ।

[४६६] वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।
विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वृषा) धर्मस्वरूप, सुखों का वर्षक, सबसे श्रेष्ठ, (मत्सरः) सबको तृप्त करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके हृदयों में व्यापक, (मरुत्वते) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये (धारया) अपनी धारक पोषक शक्ति द्वारा (विश्वा) समस्त प्राणियों, लोकों और प्रजाओं को अपने (ओजसा) बल से (दधान.) धारण करता हुआ (पवस्व) प्रकाशित हो ।

[४७०] यस्त मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (मद.) आनन्द या हर्ष प्रकाश, (देवावीः) देवों, विद्वानों या इन्द्रियगण में प्रकट होता है और जो (अघ-शंसहा) पाप की शिक्षा देने वाले दुष्ट पुरुष या अचेतनता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधादि दुष्ट भावों का भी नाश करता है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणशक्ति से (आ पवस्व) प्रकट हो ।

[४७१] तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ३३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (धेनवः) दुधार (गाव.) गौएं (मिमन्ति) अपना दूध देने के लिये हंभारती हैं उसी प्रकार (तिस्रः वाच.) तीनों

वेदसंहितायें अपना २ विज्ञान, ज्ञान और कर्म का रस पान कराने के लिये (उद्-ईरते) अपना २ अभिप्राय प्रकट करती हैं और (हरिः) सर्व-व्यापक जगदीश्वर, एवं विद्वान् (कनिक्रदत्) अपनी ध्वनि या उपदेश मेघ के समान करता हुआ, ज्ञान और सुखों के वर्षक रूप से (एति) हमें प्रतीत होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७२] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६४ । २२ ॥

भा०—हे इन्दो ! ऐश्वर्यशील ! (मरुत्वते) मरुत् प्राणों, वायुओं और समस्त तीव्र, वेगवान् बलशाली पदार्थों के स्वामी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमः) मधु के उत्तम रूप से धारण करने द्वारा तू (अर्कस्य) ज्ञान के सूर्य, प्रकाश या जीवन रूप यज्ञ के (योनिं) उत्पत्ति स्थान पर (आसदम्) विराजमान होने के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २
[४७३] असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
३ २ ३ ३ १ २
श्येनो न योनिमासदत् ॥७॥ ऋ० ९ । ६२ । ४॥

भा०—(गिरिष्ठा:) पर्वतों या मेघों में स्थित और विद्वानों की वाणियों में स्थित, या विद्वानों में रहने वाला, (अंशु:) सर्वव्यापक (अप्सु) कर्मों और ज्ञानों को उत्पन्न करने में (दक्ष:) बलशाली, सोम, आनन्दरस (असावि) प्रकट होता है । वह (योनिम्) अपने प्रादुर्भाव होने के स्थान में (श्येनः न) श्येनस्वरूप आत्मा के समान ही (आसदत) विराजमान होता है । आत्मा के समान परमात्मा भी हृदय में विराजमान है ।

४७२—'ऋतस्य' इति ऋ० ।

२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[४७४] पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
३१ २ ३ २ ३ १ २
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥ ऋ० ९ । २५ । १ ॥

भा०—हे (हरे) हरितवर्ण ! अथवा पापहरणशील, गतिशील, सर्वव्यापक ! (दक्षसाधनः) समस्त कार्यों को करने हारा (मदः) आनन्द रूप तू (मरुद्भ्यः) प्राणस्वरूप या प्रजारूप (देवेभ्यः) दानशील पुरुषों या इन्द्रियों को और (वायवे) सर्वव्यापक आत्मा के (पीतये) उपभोग के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १२ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४७५] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
१ २ ३ २
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥ ऋ० ९ । १८ । १ ॥

भा०—(सोमः) सोम, वह आनन्दमय (स्वान.) सबको प्रेरित करता हुआ, या स्वयं प्रकाशित होता हुआ (गिरिष्ठाः) वाणी और हृदय में विद्यमान भी (पवित्रे) पवन साधन, शोधक या स्वत पवित्र हृदय में (अक्षरत्) क्षरित होता है द्रवित होता है, प्रकट होता है । हे (सोम) हे सर्वप्रेरक ! आनन्दमय ! तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा) सब रूपों से उनको धारण करता हुआ, तन्मय होकर (असि) विद्यमान है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३क २र ३ २
[४७६] परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
३ १ २ ३ १ २
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥ ऋ० ९ । ९ । १ ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सोम, आत्मा (नप्त्योः) अभिसवन करने के फलकों, या द्यौ और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों के

४७४—१ हरे पापहर्त., इति सायणः ।

४७५—सुवान॰, 'अक्षरा' इति ऋ० ।

४७६—सुवाना, इति ऋ० ।

बीच (हितः) विद्यमान (दिवः) सूर्य या ज्योति के (प्रिया) प्रिय (वयांसि) आत्माओं जीवों तक वह (कविक्रतुः) ज्ञानानुसार कार्य करने द्वारा (स्वानः) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने हारे विद्वानों द्वारा (परि याति) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है।

इति नवमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।

॥द० १०॥ ऋषिः—१ कविर्मेधावी । २ श्यावाश्वः । ३ त्रितः । ४, ८ अमहीयुः । ५ भृगुः । ६ काश्यपः । ७ निध्रुविः काश्यप । ६, १० काश्यपोऽसितः ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४७७] प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—(मदच्युतः) आनन्द को बहाने वाले (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस (विदथे) यज्ञ या ज्ञान के अवसर पर (सुताः) नियुक्त या अभिषिक्त, द्रवित होकर (मघोनां) हवि या धनादिसम्पन्न (नः) हमारे (श्रवसे) ज्ञान, कीर्ति, अन्न प्राप्त करने के लिये (प्र अक्रमुः) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं।

[४७८] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ ऋ० ६ । ३३ । १ ॥

भा०—(ऊर्मयः) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र में नाना देशों के भीतर पहुंचा देती हैं या जैसे (महिषाः) बड़े २ बालू पशु

४७७—'मघोनः' इति ऋ० ।

४७८—'नयन्ति' इति ऋ० ।

भैंसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार (विपश्चितः) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् (सोमास) सौम्य स्वभाव वाले जन (अपः) प्रजाओं को (वनानि) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति (नयन्त) प्राप्त कराते हैं।

[४७९] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! (सुतः) तू तैयार होकर (जने) राष्ट्र में (पवस्व) प्रकट हो। और (नः) हमें (यशसः) कीर्तिसम्पन्न (कृधि) बना, (विश्वा द्विष) समस्त द्वेष करने वालों को (अप जहि) नाश कर।

[४८०] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।
पवमान स्वर्दृशम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६५ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे (पवमान) सबको पवित्र करनेहारे ! (वृषा हि असि) तू सब सुखों के वर्षण करनेहारा है। (भानुना) सूर्य, या कान्ति से (द्युमन्तं) दीप्तिमान् (स्वर्दृशम्) सुख या सब के द्रष्टा (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं।

[४८१] इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः।
सृजदश्वं रथीरिव ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १० ॥

भा०—(चेतनः) चेतनास्वरूप (कवीनां) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञों का (प्रियः) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र (मतिः) मननशील (रथीः इव) सारथी के समान (अश्वम्) अश्व=इन्द्रियगण को (सृजत्) प्रेरण करता हुआ (पवते) व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

४८१—'मती' इति ऋ०।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[४८२] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
३ १ २ ३ १र २र
शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६४ । ४ ॥

भा०—(वाजिनः) बलवान् (आशवः) शीघ्रकारी आलस्यरहित (शुक्रासः) कान्तिमान् (सोमासः) योगिजन, (गव्या) गौ या वाणी की कामना से (अश्वया) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को वश करने की इच्छा से और (वीरया) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से (प्र असृक्षत) प्रयत्न करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[४८३] पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
३ १र २ र ३ १ २
वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २२ ॥

भा०—हे (देव) द्योतमान रसस्वरूप आत्मन् ! (पवस्व) तू प्रकट हो और (आयुषक्) साथ ही (ते मदः) तेरा आनन्दप्रवाह (इन्द्रं गच्छतु) आत्मा के पास जावे । और तू (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न से (वायुं) प्राणवायु को (आरोह) वश कर, उस पर आरूढ़ हो ।

१ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[४८४] पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
१ २ ३ २ ३ २
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १६ ॥

भा०—(पवमानः) अन्तःकरण और बुद्धितत्त्व को विमल करने वाला साधक योगी सूर्य के समान (दिवः) द्युलोक, मूर्धा के (चित्रं) विचित्र आदर योग्य (वैश्वानर) सब नरों में व्यापक, (बृहत) विशाल (ज्योतिः) प्रकाश को (तन्यतुं न) बिजली के समान (अजीजनत्) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४८५] परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २
मधो अर्षन्ति धारया ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । १० । ४ ॥

४८५—'परि सुवानास', 'सुता अर्षन्ति' इति ऋ० ।

भा०—(स्वानासः) सवन किये, सुसम्पादित, (इन्दवः) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान्‌जन (मदाय) अति आनन्द के लिये (बर्हणा) बहुत बड़ी (गिरा) वेदवाणी से (मधोः) मधु, सारभूत आनन्दरस की (धारया) धारा या धारणा शक्ति से (परि अर्षन्ति) सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं।

[४८६] परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ ऋ० ६। १४। १ ॥

भा०—(कवि) तत्वदर्शी, विद्वान् (सिन्धोः) आनन्दमय समुद्र के (ऊर्मौ) तरङ्ग में (अधिश्रित) बहता हुआ (पुरुस्पृहं) प्रजा के प्रेमपात्र (कारुं) आत्मारूप शिल्पी को (बिभ्रत्) धारण करते हुए जहाज़ के समान (परि प्र असिष्यदत्) सब ओर वेग से गमन करता है।

इति दशमी दशतिः । द्वितीय. खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ षष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० १ ॥ ऋषिः—१, ८, ६ अमहीयुः । २ बृहन्मतिराङ्गिरसः । ३ काश्यपोऽसितः । ४ प्रभूवसुः । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निध्रुविः काश्यपः । १० उचथ्यः ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४८७] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥ ऋ० ६। ६१। १३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुजातं) उत्तम गुणों से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, (अप्तुरं) प्रजाओं या इन्द्रियों या कर्मों, ज्ञानों में व्यापक, गतिमान्, (गोभिः) गौओं, उनके दुग्धों, वाणियों, रश्मियों से (परिष्कृतम्) सुशोभित, सुमिश्रित, (भङ्गं) सब दुःखों और

शत्रुओं के तोड़ने हारे (इन्दुं) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को (उप अयासिषुः) प्राप्त करते हैं। ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस चारों पक्षों में स्पष्ट है।

[४८८] पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ४० । १ ॥

भा०—(विचर्षणिः) विविध प्रजाओं का द्रष्टा (सोमः) आत्मा (विश्वाः) समस्त (मृधः) संग्रामों को (पुनानः) पवित्र करता हुआ, सबके कलह मिटाता हुआ (अभि अक्रमीत्) प्रत्यक्षरूप से सबको व्यवस्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊंचा होकर विराजता है। उस (विप्रं) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी को विद्वान्‌जन (धीतिभिः) अपनी मतियों और स्तुतियों से (शुम्भन्ति) अलंकृत करते हैं।

[४८९] आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः ।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १९ ॥

भा०—(सुतः) अभिषिक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा (कलशं) सोलह कलाओं से बने इस औंधे मस्तक या ब्रह्माण्ड में (आविशन्) व्याप्त होता हुआ (विश्वाः) समस्त (श्रियः) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाओं, ज्ञाननाड़ियों एवं सब लोकभूमियों में (अभि अर्षत्) व्याप्त होता है। (इन्दुः) वही इन्दु परमैश्वर्यसम्पन्न सिद्धयोगी, (इन्द्राय) उस महान् ऐश्वर्यवान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये (धीयते) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।
कार्ष्मन्वाजी न्यक्रमीत् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ३६ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्यः) रथयोग्य (वाजी) वेगवान् अश्व (कार्ष्मन्) आकर्षण करनेहारा (सुतः) प्रेरित होकर (चम्वोः) दोनों सेनाओं के बीच (पवित्रे) पैंतरे पर (नि-अक्रमीत्) वेग से दौड़ता है। इसी प्रकार यह आत्मा (सुतः) ऐश्वर्य से युक्त होकर (चम्वोः) निष्पादन फलकों, द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण वायु में (कार्ष्मन्) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ (रथ्यः) इस देह के योग्य (वाजी) वेगवान् अति बलवान् (असर्जि) होकर (नि-अक्रमीत्) नाना स्थानों में गमन करता है। सोम और रथ के घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु का वर्णन है।

[४६१] प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमु ।
घ्नन्तः कृष्णामपत्वचम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ४१ । १ ॥

भा०—(यत्) जो (गावः न) किरणों के समान (भूर्णयः) सब के पालन करने हारे वा क्षिप्रगामी, (त्वेषाः) कान्तिमान् (अयासः) गतिशील, (कृष्णां) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक (त्वचम्) त्वचा, ऊपर की खाल या देखावे, अन्धकार, ढोंग, देहबन्धन को (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (प्र अक्रमुः) विचरते हैं।

[४६२] अप घ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २४ ॥

४६१—'प्रये गावो' इति ऋ० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने भ्वादिः, उन्दनं क्लेदन । मृधः सङ्कोपा०, बन्धनानि ... कर्मासक्ता इति वा ।

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! हे रसरूप (मत्सरः) हर्षकारी होकर विचरने हारा तू (क्रतुवित्) सब उत्कृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने हारा (मृधः) परस्पर के कलहों, संग्रामों या बन्धनों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अदेवयुं) देवों, विद्वानों के प्रतिकूल नास्तिक (जनं) पुरुष को (नुदस्व) परे कर ।

[४९३] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । ७ ॥

भा०—हे विद्वन् ! रसरूप (यया) जिस (धारया) धारा या धारण पोषण शक्ति से (मानुषीः) मनुष्य (अपः) प्रजाओं या प्राणों को (हिन्वानः) प्रेरित करता है (यया) जिससे (सूर्यं) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरु को (अरोचयः) सब में प्रकाशित करता है (अया) उस धारा से (पवस्व) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४९४] स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
वव्रिवांसं महीरपः ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप ! (यः) जो (महीः) बहुत सारे (अपः) जलों, कर्मों, प्राणों या लिंग-शरीरों और प्रज्ञानों को (वव्रिवांसं) आवरण किये, रोके हुए (वृत्राय) आवरणकारी मेघ के समान अज्ञान अन्धकार या कर्मबन्धन को (हन्तवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रं) सूर्य के समान आत्मा की (आविथ) रक्षा करता है (सः) वह तू (पवस्व) प्रकाशमान हो ।

[४९५] अया वीती परिस्रव यस्त इन्द्रो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १ ॥

भा०—हे रसरूप ! (ते) तेरे (मदेषु) आनन्द-रसों में बह कर (इन्द्रः) आत्मा (नवतीः नव) ९९ वर्ष (यः) जो (अवाहन्) पार

कर जाता है (अधा) इस (वीती) रीति से (परिस्रव) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पक्ष में इन्द्र का ९९ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आलंकारिक है ।

[४९६] परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा ।
स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण सामर्थ्य से, (द्युक्षं रयिं) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (न. वाजं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । हे (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेहारे दशा पवित्र नामक वस्त्रखण्ड के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या ब्रह्म में तू (आ अर्ष) स्वयं व्यापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

॥ द० २ ॥ ऋषिः—१ मेध्यातिथिः । २, ७ भृगुः । ३ उचथ्यः । ४ अवत्सारः । ५, ६ निध्रुविः काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० असितः । ११ कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ अमहीयुः ।
पवमानो देवता ॥ गायत्री । षड्जः ॥

[४९७] अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
सं सूर्येण दिद्युते ॥ १ ॥ ऋ० ९ । २ । ६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने हारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति स्नेही, सूर्य के समान

४९६—'परीणस' 'सनद्रयिः' 'सुवानो' इति ऋ० ।
४९७—'सूर्येण रोचते' इति ऋ० ।

(दर्शतः) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (सं दिशुते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४९८] आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६५ । २८ ॥

भा०—हे प्रभो ! (ते) तेरे (मयोभुवं) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्तं) पालक, (पुरुस्पृहं) सबके अभिलाषा योग्य, (दक्षं) बल की (अद्य) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से याचना करते हैं ।

[४९९] अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय ।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ५१ । १ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) यज्ञनिष्पादक ! (अद्रिभिः) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुतं) निष्पादन किये (सोमं) ज्ञान या आनन्द रस को (पवित्रे) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करा और (पातवे) पान करनेहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इसे विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ५८ । १ ॥

भा०—(सः) वह (मन्दी) स्तुति करने हारा, स्वतः शुद्ध आत्मा (तरत्) इस देहबन्धन को तर जाता है । वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही (तरत्) अज्ञान

४९९—'पुनीहि' इति ऋ० ।

को पार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०१] आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम्।
३ १र २र
अस्मे श्रवांसि धारय ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन्! तू (सहस्रिणं) सहस्रों (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयिं) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा। (अस्मे) हमें (श्रवांसि) नाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[५०२] अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः।
३ १ २ ३ २
रुचे जनन्त सूर्य्यम् ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नासः) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयवः) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीयः) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम (पदं) प्राप्तव्य ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमुः) अनुसरण करते हैं। वे (रुचे) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त (सूर्यं) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[५०३] अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
३ २ ३ २ ३ २
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । ६५ । १६ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक! हे (द्युमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्मपदों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्रोणानि अभि) द्रवणशील, विनाशशील

५०३—'सीदन् श्येनो न योनिमा' इति ऋ०।

इन कलशस्वरूप देहों में भी (रोरुवत्) प्राणरूप से नाद करता हुआ तू (आ अर्ष) व्याप्त हो।

[५०४] वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन्! (वृषा) सब काम्य-सुखों के वर्षक आप (द्युमान्) दीप्ति से युक्त (असि) हो। हे (देव) सुखों के देनेहारे! (वृषा) तू सबसे श्रेष्ठ (वृषव्रतः) धर्मानुकूल कार्य करने और सुखों के वर्षाने वाले मेघ के समान (वृषा) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ रूप होकर (धर्माणि) सबको धारण करने वाले नियमों को (दध्रिषे) धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है।

[५०५] इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन्! तू (मनीषिभिः) मनन करने वाले या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा (मृज्यमानः) विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर (धारया) निरन्तर आनन्द के प्रवाह रूप में (इषे) अन्न और ब्रह्म सम्पादन के निमित्त (पवस्व) प्रकट हो। और (रुचा) अपनी कान्ति द्वारा ही हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न! प्राणशील! तू (गाः) वाणियों या इन्द्रियों के प्रति भी (अभि इहि) प्राप्त हो।

[५०६] मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः।
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ६ । १ ॥

५०४—'दधिषे' इति ऋ०।

५०६—'अव्यो वारेभिरस्मयु' इति ऋ०।

भा०—हे सोम ! (वृषा) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, (देवयुः) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू (मन्द्रया) आनन्ददायक (धारया) रसरूप धारा से (पवस्व) प्रवाहित हो, और (अस्मयु) हमारा हितकारी (वारेभिः) विघ्ननिवारक बलों से (अव्याः) हमारी रक्षा कर। अथवा—(अव्याः) चिति शक्ति के (वारेभिः) आवरण करनेहारे कोशों में से भी तू (पवस्व) क्षरित होकर प्रकट हो।

[५०७] अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्द्धथाः।
मन्द्रान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अया) इस (सुकृत्यया) उत्तम सदाचाररूप विधि से तू (महान् सन्) बड़ा होता हुआ (अभि अवर्धथाः) साक्षात् बढ़ा और (मन्द्रानः) हर्ष से (इद्) ही (वृषायसे) मेघ के समान नाद कर।

[५०८] अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति।
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १० ॥

भा०—(अयं) यह आत्मा (विचर्षणिः) सबको विशेष रूप से देखने वाला, (पवमानः) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वव्यापक (सः) वह (बृहत्) बहुत अधिक (आप्यं) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (चेतति) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान ग्रहण करता है।

[५०९] प्र न इन्दो महे तुन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि।
अभि देवाँ अयास्यः ॥ १३ ॥ ऋ० ९ । ४४ । १ ॥

५०७—'सोम', 'महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः', 'मन्द्रान इद्वृषायसे' इति ऋ०।
५०९—'महे तने' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप (महे तुने) विशाल ज्ञान प्राप्त करने के लिये (नः) हमारे लिये (ऊर्मिम् न) तरङ्ग के समान (बिभ्रद्) हर्ष उत्पन्न करते हुए (अर्षसि) प्रकट हो और (देवान् अभि) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति (अयास्यः) 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होते हो। 'अयास्य' का वर्णन बृहदा० उप० में देखो।

[५१०] अप घ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २५ ॥

भा०—(सोमः) ज्ञानवान् आत्मा (मृधः) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अराव्णः) अदानशील, कृपण वृत्तियों को भी (अप) दूर करता हुआ (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (निष्कृतम्) मोक्षपद को (गच्छन्) प्राप्त होता है।

इति द्वितीया दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ द० ३ ॥ ऋषि —भरद्वाजः काश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चैते सप्तर्षयः । पवमानो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

[५११] पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥
ऋ० ९ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (धारया) धारा से (अपः वसानः) कर्मों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर सबको (पुनानः) पवित्र करता हुआ (अर्षसि) विराजता है। (रत्नधा) रमणीय पदार्थों

५११—'देव' इति ऋ० ।

का पोषक (ऋतस्य) इस जीवन या ज्ञान के (योनिम्) मूलकारण में (आ सीदसि) स्थित है । और स्वयं (हिरण्यय.) कान्तिस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमणीय होता हुआ (देव.) सबका तर्पक, सबके प्रति (उत्सः) रस का सञ्चार कराने हारा है । यहां शुक्र, ज्ञान और योगसाधन से प्राप्त विशेष आनन्दमय अनुभव का वर्णन है ।

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५१२] परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
३ १२ २२ ३ २ २उ ३ २ ३ २ ३ १ ३
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥२॥
ऋ० ९ । १०७ । १ ॥

भा०—(अध्वर्युः) इस जीवनयज्ञ या योगयज्ञ का सम्पादक, (सोमम्) अन्तरात्मा के आनन्द को (अद्रिभि.) मेघों से जल के समान, और विद्वानों से ज्ञानों के समान योगसाधनों द्वारा (सुषाव) पैदा करता है । (यः) जो सोम (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (अप्सु) प्रजाओं या कर्मों या प्रज्ञाओं प्राणों के (अन्तरा) बीच में (दधन्वान्) व्याप्त रहता है, (यः सोम.) जो सोम (उत्तमं) उत्तम (हवि.) हविः=तृप्ति परम संतोष और परम आनन्द का साधन है उसको वह योगी (इतः) इस हृदय स्थान से (सुतं) उत्पन्न हुए को (परिषिञ्चति) सब ओर को बहाता है ।

१ २ ३ १२ ३२ ३ १२ २२ ३ १ २
[५१३] आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
३ २ ३ २ ३क २२ ३ १ ३ २ ३ १
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥ ३ ॥
ऋ० ९ । १०७ । १० ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अद्रिभि.) योगसाधनों या योगियों द्वारा (सुवान.) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर (अव्यया) अवि-भेड़ के बालों के बने, छानने के कपड़े के समान तमोमय (वाराणि) आवरणों

५१३—'सुवानो', 'दध्रिषे' च ऋ० ।

को (तिर॰) पार करता हुआ (जन न पुरि) जिस प्रकार वीर पुरुष कोट लांघता हुआ नगर में प्रवेश करता है उसी प्रकार (चम्वो॰) चमसों या द्यौ और पृथिवी में और आत्मा मस्तक के दोनों भागों में (विशद्) प्रवेश करता हुआ, (हरि) सब तमोमय बाधाओं को दूर करता हुआ (वनेषु) सेवन करने योग्य स्थान, हृदय में (सद) स्थिति (दधिषे) प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द या योगज सुख का समान रूप से वर्णन है।

[५१४] प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥
ऋ० ६ । १०७ । १२ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों के अथवा परमेश्वर के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अर्णसा) जल के समान ज्ञान, विशेष अनुभव, या प्राणशक्ति से (सिन्धु॰ न) महान् नदी या समुद्र के समान (पिप्यसे) बढ़ता है। और (मदिरः) हर्ष का उत्पादक, (जागृवि) निरन्तर जागने वाला, (अंशोः) व्यापनशील आत्मा के (पयसा) ज्ञान या स्वाभाविक आनन्द रस से मिलकर (मधुश्चुतं) मधुर आत्मज्ञान को बहाने वाले (कोश) आनन्दमय कोश या परमसुख की निधि को (अच्छ) प्राप्त हो।

मधु और देवों के मधुश्चुत् कोश का वर्णन अथर्ववेद और बृहदारण्यक (बृहदा० उप० अ० २ । ५) में उत्तम रूप से वर्णित है।

[५१५] सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधिष्णुभिरवीनाम्।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥
ऋ० ६ । १०७ । ८ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (सोतृभि.) सवन करनेहारे साधकों द्वारा (अवीनां) इन्द्रियों के (अधिष्णुभि.) मार्गों से (स्वानः उ) सवन किया जाता हुआ (हरितया) गतिशील (अश्वया) व्यापक चेतना से (मन्द्रया) आनन्दजनक (धारा) प्रवाह के रूप में (याति) हृदय में प्रकट होता है और (मन्द्रया धारया याति) उत्तम अश्व के समान आनन्दजनक धारा के रूप में प्रकट होता है, अर्थात्, जैसे राजा तेज़ घोड़ी पर दुडकी चाल से चलकर नगर में सर्वत्र जाता है उसी प्रकार (सोम) आत्मानन्द भी मन्द्रा-धारा से हृदय में प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५१६] तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २
पुरूणि बभ्रो निचरन्ति मामव परिधीँरति ताँ इहि ॥६॥
ऋ० ६ । १०७ । १६ ॥

भा०—हे (सोम) परम रस ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (अहं) मैं (इन्द) आत्मा (रारण) निरन्तर रमण करूं । हे (बभ्रो !) समस्त प्रजा के भरण पोषण करने हारे ! (पुरूणि) ये इन्द्रियां या प्रजायें (मा) मुझ को (नि-अव चरन्ति) नीची वृत्तियों में ला दौड़ती हैं । इसलिये (तान्) उन (परिधीन्) चारों ओर से घेरे हुए वैरी रूप इन इन्द्रियों को (अति इहि) पार करले, वश करले उनपर विजय कर जिससे वे विषयरसों में न भागकर भीतरी आनन्द की ओर ही अन्तर्मुख होजायं ।

३ १ २ ३ १ २ २ २
[५१७] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३क २२
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ ७ ॥
ऋ० ९ । १०७ । २१ ॥

५१७—'सुहस्त्य' इति ऋ० ।

भा०—हे (सुहस्त्या) उत्तम हाथ की अंगुलियों के समान दश प्राण साधनों से युक्त ! अथवा अज्ञान को उत्तम रीति से हनन करनेहारे कुशल ! (सोम) आत्मन् ! तू (समुद्रे) समुद्र, आनन्द-रस के उत्पत्तिस्थान हृदयाकाश में (मृज्यमानः) पवित्र होता हुआ (वाच) व्यक्त वेदवाणी को (इन्वासि) प्रेरित करता है । हे (पवमान) हृदय को पाप से शून्य, एवं पवित्र करनेहारे ! आप (पिशङ्ग) पीले, सुवर्ण के समान कान्तिमान । (बहुलं) अति अधिक (पुरुस्पृहं) प्रजाओं और इन्द्रियों के स्पृहा, अभिलाषा के विषय (रयिं) भोग्य पदार्थ, ऐश्वर्य विभूति को (अभि अर्षसि) स्वतः व्यापता है ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५१८] अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ।८॥
ऋ० ९ । १०७ । १४ ॥

भा०—(सोमासः) सोम=सौम्य स्वभाव के, शान्त, तपस्वी (आयवः) दीर्घजीवी, (मदच्युतः) हर्ष, सुख का प्रकाश करनेहारे मौजी (मत्सरासः) स्वयं गौरव से परिपूर्ण, आनन्दयुक्त, (मनीषिणः) मन को अपने वश करने हारे, योगि जन (समुद्रस्य) उमड़ते हुए आनन्दसागर की (अधिविष्टपे) चरम सीमा में स्थित होकर (मद्य) हर्षजनक (मदं) आनन्दरस को (अभि पवन्ते) चारों ओर बहाते या साक्षात् करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २
[५१९] पुनान सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१र २र ३ १ २ ३ १ २
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः ॥९॥
ऋ० ९ । १०७ । ६ ॥

५१८—'अधिविष्टपि', 'मत्सरास स्वर्विदः' इति ऋ० ।

५१९—'जागृविरव्यो' 'वारे' अभिर्नोगिरस्तमो' 'मिमिक्ष नः' इति च ऋ० ।

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (जागृविः) जागरणशील, (अव्या) अवि, चेतना या प्राण के (वारैः) वृत्तियों, चेष्टाओं या ऊहापोहों द्वारा (पुनानः) पवित्र करता हुआ (प्रियः) सबका प्रिय, (विप्रः) मेधावी, (त्वं) तू (अङ्गिरस्तमः) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस में (परि प्रसवः) प्रकट होता है । तू (नः) हमारे (यज्ञं) जीवन-यज्ञ को (मध्वा) उस आनन्दरूप मधु से (मिमिक्ष) सींच दे, भर दे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
[५२०] इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
३१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥ १० ॥

ऋ० ९ । १०७ । १७ ॥

भा०—(सुतः) सोमरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ, परिशोधा हुआ (मदः) आनन्दस्वरूप (सोमः) सोम (मरुत्वते) प्राणों, प्रजाओं और मध्यस्थानीय मरुद्गण के अधिपति (इन्द्राय) आत्मा, राजा और परमात्मा के लिये (पवते) बहता है । वह (सहस्रधारः) सहस्रों शक्तियों के रूप में (अव्यम्) अवि=चेतनामय मन साधन को (अति) अतिक्रमण करके (अर्षति) प्रकट होता है । (तम्) उस (ईं) इस सोम रस को (आयवः) परम आयु से सम्पन्न साधक लोग (मृजन्ति) और भी परिष्कृत करते हैं । अवि मेषी रूप चेतना का वर्णन अथर्व में विस्तार से है । जैसे—अविर्वै नाम देवतर्त्तेन परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः । अथर्व० (१०८ । ३१)

इसीका वर्णन वशा, ब्रह्मगवी, मेषी, शतौदना, मधुकशा आदि नाना नामों से वेदों में आया है । वही सप्तर्षियों की ब्रह्मगवती है जिसका सोम वत्स और छन्द पात्र है, ब्रह्म और तप उसका दूध है । इत्यादि । अथर्व० ८ । १० (४) १४ ॥

[५२१] पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या ।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥

ऋ० ६ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मानन्द! (विश्वानि) समस्त (वार्या) आवरणकारी बाधाओं को (अभि) मुकाबला करके, उनको हटाकर (वाजसातमः) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर (पवस्व) प्रकाशित हो। (त्वं) तू हे (सोम) परमरस ! हे (विधर्मन्) नाना प्रकार से पोषण करने वाले (मत्सरः) आनन्द रस में बहने वाला, (समुद्रः) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला (देवेभ्यः) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी (प्रथमे) श्रेष्ठ कर्म, मुख्य उपदेश में (पवस्व) प्रकट हो।

[५२२] पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋ० ६ । १०७ । २५ ॥

भा०—(पवमानाः) पवित्र, परिशोधित किये गये, (मत्सरा.) आनन्दरस में विचरण करने वाले (धारया) अपनी धारणा के बल से (पवित्रं) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान को (अति) अतिक्रमण करके (मरुत्वन्त) मरुत्, प्राणों से युक्त (इन्द्रियाः) आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त (हया.) गतिशील ज्ञानी होकर (मेधाम्) मेधा (प्रयांसि) और बलों को (अभि) साक्षात् प्राप्त करते हैं।

इति तृतीया दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

५२१—'वाजसातये' 'काव्या' 'समुद्र' इति ऋ० ।

५२२—'पवमाना' 'अभिप्रयासि' इति ऋ० ।

॥ द० ४ ॥ ऋषिः—१, ९ उशनाः काव्यः । २ वृषगणो वासिष्ठः । ३, ७ पराशरः शाक्त्यः । ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । ५, १० प्रतर्दनो दैवोदासिः । ८ प्रस्कण्वः काण्वः । पवमानो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

[५२३] प्र तु द्रव परि कोशं निषीद नृभिः पुनानो अभिवाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्हीं रशनाभिर्नयन्ति ॥ १ ॥

ऋ० ९ । ८७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परम आनन्दरस ! (प्र द्रव) तू द्रवित हो । और (कोशं) कोश, ब्रह्माण्ड, मूर्धास्थान को (परि निषीद) व्याप्त करके विराजमान हो और (नृभिः पुनानः) विद्वान् पुरुषों से पवित्र या विवेचित, परिशोधित होकर (वाजम्) ज्ञान के प्रति (अभि अर्ष) साक्षात् प्रवाहित हो, ज्ञान को प्राप्त हो । (वाजिन) बलवान्, वेगवान् (अश्व न) अश्व को जिस प्रकार (मर्जयन्तः) परिमार्जन करते हुए, झाड़ते पोंछते हुए, या सान्त्वना देते हुए (रशनाभिः) बागों से पकड़ कर संग्राम में ले जाते हैं उसी प्रकार (वाजिनं) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप आत्मा को परिमार्जन, या शोधन करते हुए (रशनाभिः) योगसाधनाओं से (बर्हिः) हृदयरूप यज्ञ में या बृहद् ब्रह्म में (नयन्ति) लेजाते हैं ।

[५२४] प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥ २ ॥

ऋ० ९ । ९७ । ७ ॥

भा०—(उशना इव) विद्वान् मेधावी, सौम्यस्वभाव, (देवः) विद्वान्, सुखप्रद होकर (काव्यं) सुन्दर काव्य, वेदज्ञान या संसार के रहस्य को (प्र ब्रुवाणः) उत्तम रीति से वर्णन, उपदेश करता हुआ (देवानां) वसुओं, रुद्रों और आदित्यों, एवं इन्द्रिय गण, और प्राण अपानादि नव प्राणों के

(जनिम्) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को (आ विवक्ति) स्पष्ट रूप से बतलाता है। और (महिव्रतः) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला, (शुचिबन्धु.) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बांधने हारा, सब पवित्र हृदयों का बन्धु, (पावकः) सबको पवित्र करने हारा, अग्निस्वरूप (वराह =वर-आह.) श्रेष्ठ उत्तम वाणी का बोलने हारा (रेभन्) उत्तम ज्ञानोपदेश करता हुआ (पदा) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम स्थानों, ज्ञानदशा और सुखप्रद दशाओं को (अभि एति) प्राप्त होता है।

'उशनाः—वशे, कनसिरौणादिः। वश कान्तौ अदादि ।

[५२५] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥ ३ ॥ ऋ० ९। ६७। ३४ ॥

भा०—(वह्नि) ज्ञान का वहन करने वाला (तिस्र: वाच) ऋग्, यजु, साम स्वरूप तीन वेदवाणियों को (प्र-ईरयति) उत्तम रूप से प्रकट करता है। (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान और यज्ञ को धारण करने वाली (ब्रह्मणः) ब्रह्म या वेदज्ञ की (मनीषा) मनको प्रेरणा करने वाली वाणी स्तुति को भी प्रेरित करता है। जिस प्रकार गौएं गोपाल के पास आजाती हैं उसी प्रकार ये (गावः) गोरूप वेदवाणियां मानो अपना रहस्यतत्व (पृच्छमाना.) पूछती हुई (गोपतिं) वेदवाणियों के परिपालक विद्वान् के पास (यन्ति) पहुंच जाती हैं (मतय) मननशक्तियां या सुन्दर विचार धाराएं भी (वावशाना.) अपने अनुकूल पालक की कामना करती हुई (सोम) उस शम, दम आदि गुणसम्पन्न तत्वज्ञानी के पास (यन्ति) चली जाती हैं।

अपि यास्क के मत से वह्निरात्मा भवति। स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम्। ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि।

अयमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात्-वह्नि आत्मा है। वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या, मति और बुद्धि को। ऋत अर्थात् आत्मा के कर्म ब्रह्म को अभिमत हैं। यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है। विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्त्व, बुद्धि अर्थात् अहंकार, मन अर्थात् प्रधानता से पांचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनको प्रेरित करता है। ऋतरूप आत्मा को धारण करने वाली मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है। इन्द्रिय रूप गौएं गोपति आत्मा से उसको पूछती हैं अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना से उसी में लीन हो जाती है।

३ २ ३ २३१२३१२ ३२३२३ १२ ३१२
[५२६] अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
३२ ३२३१२३ १२ ३२३१२ ३२ ३ १२
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता॥४॥

ऋ० ९।९७।१॥

भा०—(अस्य) इस विद्वान् आत्मा के (प्रेषा) प्रेरणा करने वाले (हेमना) स्वर्ण के समान कान्ति वाले तेज से (पूयमानः) पवित्र, परि-शुद्ध होता हुआ (देव.) अति दीप्तिमान्, या सबको आनन्दरस का देने द्वारा. (देवेभिः) इन्द्रियगण के साथ (रसं) आनन्द रस का (सम् अपृक्त) सम्पर्क करा देता है। उस समय (सुतः) वह प्रकट होकर (रेभन्) उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनाहत ध्वनि करता हुआ (पवित्रम्) परम पावन पद को (परि-एति) प्राप्त होता है और (मिता इव) जिस प्रकार कार्यकर्त्ता आकर (पशुमान्त) पशुओं से युक्त (सद्म) घर में आता है और पशु को जोतकर रथ में लगाता है-उसी प्रकार यह (होता) साधक (मिता) ज्ञानी होकर (पशुमन्ति) पशुरूप इन्द्रियगणों से युक्त (सद्म) इस शरीर को (परि-एति) पूर्ण वश कर लेता है। सोमरस के

प्रादुर्भाव होने पर साधक की वृत्तियां स्वयं संसार के भोगों से विरत होकर आत्मानन्द में लग जाती हैं, उसी दशा को दर्शाया गया है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५२७] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
३ १ २ २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥५॥

ऋ० ९ । ९६ । ५ ॥

भा०—(मतीनां) सब मनोवृत्तियों का (जनिता) प्रादुर्भाव करने हारा, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशमान, तेजः पुञ्ज का (जनिता) उत्पादक, (पृथिव्याः) पृथिवी के समान विस्तृत त्वचा का (जनिता) उत्पादक, (अग्नेः) अग्निरूप वाणी का (जनिता) उत्पादक, (सूर्यस्य) सूर्यरूप चक्षु का (जनिता) उत्पादक, (इन्द्रस्य) प्राणरूप इन्द्र का उत्पादक, (विष्णोः) सर्वव्यापक आकाश के समान श्रोत्र या हृदयाकाश का (जनिता) उत्पादक वह (सोम) आत्मा (पवते) प्रकट होता है। (देखो निरुक्त यास्क परि० २ । २२)

समष्टि व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड में परमात्मा और पिण्ड में आत्मा समानरूप से स्पष्ट हैं। इसका विवरण देखो (कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् अ० ३, प्रतर्दनेन्द्र संवाद)

३ १ २ ३१र ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[५२८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि॥६॥

ऋ० ९ । ९० । २ ॥

भा०—(वाणी) वेद की वाणियां, या आत्मा का निरूपण करने हारी सब वाणियां (त्रिपृष्ठं) वाणी, मनः और काय तीनों स्थानों पर स्पर्श करने वाले, (वृषणं) सब सुखों, ज्ञानों और बलों के वर्षक, (वयो-धाम्) प्राणरूप बल को धारण करने हारे, (अङ्गोषिणम्)

प्रत्येक अङ्ग में निवास करने वाले, आत्मा को (अभि वावशन्त) नित्य कामना करती हैं अर्थात् अपना सब गुप्त रहस्य उसी के प्रति प्रकट करती हैं और वह (वना) सब देहों में (वसानः) निवास करता हुआ (वरुणः) सबको व्याप्त करने वाला, सबके वरण योग्य, नदियों के लिये, (सिन्धुः न) महासमुद्र के समान (वार्याणि) सबके मनन करने हारे, वरण योग्य धनों को (रत्नधाः) रत्नों को धारण करनेहारा, होकर (वि-दयते) नाना प्रकार से प्रदान करता या पालन करता है।

१ २ ३ १ २ ३१र २र ३ २ ३ ३ १र २र १ २
[५२९] अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३१र २र ३ १र २र
वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥७॥
ऋ० ९ । ९७ । ४० ॥

भा०—(बृहत् सोमः) वह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा और आत्मा (स्वानः) प्रकट होता हुआ (अद्रिः) कभी न टूटने वाला, अभेद्य, नित्य, अमर आत्मा (वृषा) सब सुखों के वर्षाने हारा, (अव्ये) अविनाशी, चिन्मय (पवित्रे) सबको पवित्र करने हारे (सानोः अधि) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में या मूर्धा प्रदेश में (वावृधे) बढ़ता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है। वह (समुद्रः) समुद्र के समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, (प्रथमे) अति उत्कृष्ट (विधर्मन्) नाना आश्रयस्थानों में या अन्तरिक्ष स्थानों में या इन्द्रियों के छिद्र देशों में (प्रजाः) अपनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (भुवनस्य) इस ब्रह्माण्ड और इस देह का (गोपाः) पालक (अक्रान्) सबको लांघ कर बैठा है, वह सबसे परे विद्यमान है।

५२९—'धामाङ्गृषिण' इति ऋ० ।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने लगाया है (यास्क परि० २ अ०) ।

[५३०] कनिक्रन्ति हरिरासृज्यमानः सीदन्वनस्य जठरे पुनानः ।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥
ऋ० ६ । ६५ । १ ॥

भा०—(आसृज्यमानः) सब ओर से प्रकट होता हुआ (पुनानः) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर (हरि.) सर्वव्यापक, आत्मा (वनस्य) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के (जठरे) मध्य भाग में (सीदन्) विद्यमान, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा, (यत.) संयत होकर (गाम्) वाणी को (निर्णिजं) अति शुद्ध, परिमार्जित (कृणुते) कर देता है । (अतः) इसलिये आप लोग (स्वधाभिः) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व= आत्मा को धारण करनेहारी चिति शक्तिद्वारा (मतिं) मनन, विचार (जनयत) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो ।

[५३१] एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः ।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरावाज्यस्थात् ॥९॥
ऋ० ९ । ८७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (वृष्णः) वर्षणशील (ते) तेरे लिये (एषः स्यः) यह वह (सोमः) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस (वृषा) आनन्द का वर्षक (मधुमान्) ब्रह्मज्ञान रूप मधु से युक्त (पवित्रे) पवित्र ज्योतिर्मय रूप में (परि अक्षाः) चारों ओर से स्रवित होता है । वह (सहस्रदाः) हज़ारों सुखों का देने वाला, (शतदाः) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, (भूरि-दावा) बहुत आनन्द को देने वाला, (शश्वत्तमं) निरन्तर, स्थायी, नित्य, (बर्हिः) महान् आत्मा में (वाजी) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है ।

[५३२] पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सरः इन्द्रपानः ॥१०॥
ऋ० ९ । ९६ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (मधुमान्) मधुर ब्रह्मरस से युक्त, (ऋतावा) सत्यज्ञान से युक्त, (सानोः अधि) हृदय देश या मस्तक भाग में (अव्ये) अवि-चेतना या प्राण के बने चित्त पर भी (अपः) नाना ज्ञान वृत्तियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ। (घृतवन्ति) दीप्ति या ज्योति से सम्पन्न (द्रोणानि) कलशों, मस्तकों में (मदिन्तमः) अति हर्ष आनन्द या आत्मा में संतोष उत्पन्न करने वाला (मत्सरः) हर्ष के रूप में हृदय में व्यापने वाला (इन्द्रपानः) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर (अव रोह) नीचे की ओर बह आ।

इति चतुर्थी दशतिः । षष्ठः खण्डः ।

॥ द० ५ ॥ ऋषि —१ प्रतर्दनः । २, १० पराशरः शाक्त्यः । ३ इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः । ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५ कर्णश्रुत् मृडीको वा वासिष्ठः । ६ नोधाः गौतमः । ७ कण्वो घोरः । ८ मन्युर्वासिष्ठः । ९ कुत्स आङ्गिरसः । ११ कश्यपो मारीचः । १२ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ पवमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

[५३३] प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥१
ऋ० ९ । ९६ । १ ॥

भा०—(सेनानीः) सेना का नायक, (शूरः) बलवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार (रथानां अग्रे) रथों, रथारोही सैनिकों के आगे (गव्यन्) पृथिवी के विजय के लिये (प्र एति) आगे २ बढ़ता है और

५३२—'वृषावृष्णो' 'सहस्रसाः शतसा' इति ऋ० ।

(अस्य सेना) इसकी सेना (हर्षते) उत्साह से प्रसन्न होती है, वह (सोमः) वीर राजा (सखिभ्यः) अपने मित्रों के लिये (भद्रान्) अति कल्याणकारी, सुखदायक (इन्द्र-हवान्) ऐश्वर्ययुक्त राजोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों को (कृण्वन्) करता हुआ (रभसानि) अति वेग वाले (वस्त्रा) ढक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को (आ दत्ते) हटा देता है उसी प्रकार (सेनानी:) इन्द्रियगणों का नेता (रथानाम् अग्रे) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर (गव्यन्) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आत्मभूमियों पर वश करता हुआ (प्रएति) आगे बढ़ता है। (अस्य सेना हर्षते) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं। (सखिभ्यः) मित्र साधकों या प्राणगण को वह (भद्रान्) ऐश्वर्ययुक्त (इन्द्रह-वान) आत्मा के नाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ (रभसानि वस्त्राणि) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों को (आदत्ते) दूर कर देता है। इन्द्रिया तन्मुख होजाती हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के संस्मरण उस समय मंगल-जनक जंचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं।

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[५३४] प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥
ऋ० ६ । ६७ । २२ ॥

भा०—हे सोम आनन्दमय! (मधुमतीः) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई, ब्रह्मज्ञान की (ते धाराः) तेरी रस-धाराएं तब (प्र असृग्रन्) खूब उत्पन्न होती हैं (यत्) जब तू (पूतः) छने हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर (अव्यम्) प्राणमय कोश में से (अति एषि) पार होकर प्रकट होता है। हे (पवमान) पवित्रकारक! (गोना) इन्द्रियों के

५३४—'अत्येष्यव्यान्' 'जज्ञान.' इति ऋ० ।

भीतर तू अपना (धाम) तेजो रूप रस (पवसे) चुआता है और वहां प्रकट होकर (अर्कैः) अपनी पवित्र किरणों से (सूर्यं) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को (आपृण्वः) आनन्दरस से पूर्ण करता है। इस दशा में आदित्य के समान साधक तमतमाता है।

१ २ ३क २र ३ १र २र ३१र २र
[५३५] प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय।
३ १ २ ३ २ ३ २३२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २र
स्वादुः पवतामतिवारमव्यमासीदतु कलशं देव इन्दुः ॥३॥
ऋ० ९।९७।४॥

भा०—हे विद्वान् लोगो! (महते) बड़े भारी (धनाय) खजाने के प्राप्त करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से स्तुति गान करो। और (देवान्) विद्वानों की हम (अभि अर्चाम) सब प्रकार से अर्चा, पूजा, सत्कार और प्राणों की साधना करें। (सोमं हिनोत) सोम, आत्मानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो। (अव्यं वार) प्राणमय आवरण को (अति) पार करके (स्वादुः) आनन्दकारक आनन्दरस (पवताम्) प्रस्रवित हो और (इन्दुः, देवः) वह प्रकाशमान, ऐश्वर्यवान् देव (कलशं) इस घट, देह हृदयाकाश, या सोलहोंकला वाले आत्मा में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर, (आसीदतु) राष्ट्र में राजा के समान आ विराजमान हो।

१ २ ३ २ ३१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत्।
३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥
ऋ० ९।९०।१॥

भा०—(हिन्वानः) सबको प्रेरणा करने वाला, (रोदस्योः जनिता) सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों का उत्पादक, या प्रेरक

५३५—'स्वादुः पवते' 'देवयुनः' इति ऋ०।

५३६—'सनिष्यन्' इति।

(वाजं सनिषन्) ज्ञान, बल और अन्न का विभाग या प्रदान करता हुआ (रथः न) रथ, या रमणीय सूर्य के समान योगी या स्वच्छ आत्मा (प्र अयासीत्) उत्कृष्ट मार्ग से गति करता है और (आयुधा) उत्तम हथियार, योगसाधनों से (इन्द्रम्) आत्मा या परमात्मा की ओर (गच्छन्) जाता हुआ (संशिशानः) अच्छी प्रकार और भी तीक्ष्ण, प्रखर तेजस्वी होता हुआ (विश्वा वसु) समस्त जीवन के वास हेतु सम्पदाओं को (हस्तयोः) अपने वश में (आदधानः) करता हुआ (प्र अयासीत्) आगे २ बढ़ता चला जाता है ।

[५३७] तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं द्युक्षोरनीके ।
आदीमायन्वरमावावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥
ऋ० ६ । ६७ । २२ ॥

भा०—(वेनतः) कान्तिमान्, अज्ञान, तम से पार ज्ञानी (मनसः) मननशील योगी की (वाग्) वाणी (यदि) जब आनन्दरस को (ज्येष्ठस्य) इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा के (धर्मन्) धारण करनेहारे, (द्युक्षोः) प्रदीप्त, प्रकाशित तेज के (अनीके) प्रमुख स्थान मे (तक्षत्) प्रकट करता है । (आत्) तब (वरं) वरण करने योग्य (जुष्टं) सेवनीय, (पतिं) अपने पालक (इन्दुम् ईं) इस हृदय में साक्षात् द्रवित होने वाले आनन्दमय रस के पास (गावः) इन्द्रिय या प्राणगण (आ वावशानाः) अत्यन्त कामना करती हुई गौओं के समान (आयन्) आजाते हैं। आनन्द रस के वर्णन में जब वाणी मग्न होजाती है तब और इन्द्रिय वृत्तियां भी अन्तर्मुख होजाती हैं ।

[५३८] साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥
ऋ० ६ । ६३ । १ ॥

५३७— 'धर्मणिद्युक्षोरनीके' इति ऋ० ।

भा०—(धीरस्य) ध्यानवान् योगी की (साकमुक्षः) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सेचन करने हारी (दश स्वसारः) दश बहनों के समान स्वयं सरण करनेहारी दश (अनुश्रीः) प्रेरणा करने वाली (धीतयः) ध्यानवृत्तियां, इन्द्रियां, या स्तुतियां (मर्जयन्त) आत्मा को निरन्तर अधिकाधिक पवित्र करती हैं। (हरिः) सब दुःखों को हरण करनेहारा आत्मानन्दरस (सूर्यस्य) कान्तिमान्, मुख्य, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा के (जाः) स्त्रियों के समान उसके अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों के प्रति (पर्यद्रवत्) बहता है। और वह स्वयं (अत्यः न वाजी) वेगवान् अश्व के समान (द्रोणं) पात्र या कलश में सोम रस के समान होनेवाली आत्मा में (ननक्षे) व्याप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[५३९] अधियदस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्द्धन्ते धियः सूरे न विशः।
३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
अपो वृणानः पवते कवीयान्व्रजं न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

ऋ० ९ । ९४ । १ ।

भा०—(वाजिनि-इव शुभः) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देते हैं और (सूरे न विशः) जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के समक्ष प्रजा के लोग भेट चढ़ाने में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार (विशः) अन्तःप्रवेश करनेहारी (शुभः) शोभादायक, कल्याणकारिणी (धियः) चित्तवृत्तियां भी (अस्मिन्) इसके राजा रूप आत्मा के समक्ष (अधि स्पर्द्धन्ते) एक से एक बढ़ने का यत्न करती हैं। और (मन्म) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले (व्रजं न) गौओं के बाड़े में गोपालक (पशुवर्द्धनाय) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार (कवीयान्) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

५३९—'सूर्येन विशः' इति 'कवीयन्' इति च ऋ०।

आत्मा (अपः वृण्वान.) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ (पशु-वर्धनाय) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति को बढ़ाने के लिये (मन्म) मनोमय सकल्पमय (व्रज) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद, आत्मस्वरूप ब्रह्म में (पवते) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ? ३ २ ३ २ ३ १ २
[५४०] इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यराति वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥८॥
ऋ० ६ । ६७ । १० ॥

भा०—(वाजी) ज्ञान और बल से सम्पन्न (इन्दुः) हृदय में द्रवणशील (सोम.) आत्मानन्दरस (मदाय) आनन्द हर्ष की वृद्धि करने के लिये (सह.) सहन करने योग्य बल को (इन्द्राय) आत्मा में (इन्वन्) प्रेरित करता हुआ (गो नि ओघा) रश्मियों या ज्ञान वाणियों, स्तुतियों को नीची तरफ बहाने वाला होकर चन्द्र के समान अथवा दुग्ध-मिश्रित सोमरस के समान (पवते) क्षरित होता है । उस समय वह आनन्दरस (रक्ष) आत्मोन्नति के बाधक, विघ्न करने वाले, कारण को भी (बाधते) दूर करता है और (अरातिं) प्रिय न लगने वाले अप्रिय कारण को (परि बाधते) दूर करता है । (वृजनस्य) समस्त बल का (राजा) स्वामी होकर वही (वरिव॰) वरणीय आत्मगुह्य धन, अणिमादि सिद्धि और नवतुष्टियों को (कृण्वन्) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ ३र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४१] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्व ।
३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ २
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥९॥
ऋ० ६ । ६७ । ५२ ॥

५४०—'पर्यरातीर्वरिवः' इति ऋ० ।

५४१—'ब्रध्नश्चिदत्रवातो न जूतः' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्दो) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! (अया) इस (पवा) पवित्र करने हारी धारा से (एना) इन (वसूनि) वास या जीवन के साधन प्राण या ऐश्वर्यों को (पवस्व) प्रेरित कर, प्रकट कर । हे (इन्दो) सोम ! (साश्वत्वे) मन के एकमात्र गमनस्थान, मनोहर (सरसि) जलाशय में जल के समान, कलश में ओषधि रस के समान, मानस हृदय में (प्रधन्व) द्रवित हो । (यस्य) जिस तेरे (जूतिं) वेग को (ब्रध्नः) सूर्य के समान रश्मियों और आकर्षण से अपने साथ इन्द्रियों को बांध रखने वाला आत्मा (चित्) भी (वातः न) वायु के समान (धात्) धारण करता है और (पुरुमेधाः) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक (नरं) नायक आत्मा को (तकवे) परमपद तक पहुंचने के लिये (धात्) धारण करता है ।

ब्रध्नः—बध्नातेरौणादिर्नक्, बन्धेश्च ब्रध्नादेशः (उणा० ३ । ५)

३२र   २र   ३ १ २ २ ३१र   २र   ३ २
[५४२] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
१२ ३ २२१२ ३ १र २र ३ २ ३१ २ ३ १ २
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥
ऋ० ९ । ९० ४१ ॥

भा०—(महिषः) महान् आत्मा (महत्) बड़ा भारी कार्य तो (तत्) यह (चकार) करता है (यद्) कि (अपां गर्भः) सब कर्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपने भीतर ग्रहण करने में समर्थ होकर (देवान्) सब इन्द्रियों को (अवृणीत) अपने भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है । (पवमान) व्यापनशील प्राण (इन्द्रे) आत्मा में (ओजः) बल और तेज (अदधात्) प्रदान करता है (यत्) जिससे (इन्दुः) शरीर में व्यापक एवं द्रवणशील वीर्य, (सूर्ये) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्य प्राण में (ज्योतिः) प्रकाश, कान्ति, को (अजनयत्) उत्पन्न करता है ।

[५४३] असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ॥ ११॥
ऋ० ९१। ९१। १॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्ये) रथों से विजय करने योग्य (आजौ) संग्राम में (धिया) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्वक (वक्वा) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति (असर्जि) नियत किया जाता है, उसी प्रकार इस (रथ्ये) शरीर—साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाले एक से दूसरे देह में जाने वाले आत्मा के हितकारी (आजौ) योग साधनों के यज्ञ रूप संग्राम में (धिया) ध्यान, धारणा द्वारा (वक्वा) ओंकारादि जप और स्तुति मन्त्रों को बोलने वाला साधक ही (असर्जि) सेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं (प्रथमा) सब से श्रेष्ठ, (मनीषा) मन या मनन करने हारे साधन की ईषा-प्रेरणा, चेष्टा की आश्रय चित्त शक्ति है जिसमें (मनोता) मनकी सब वृत्तियां ओत प्रोत हैं। (अधि सानो) अति उन्नत प्रदेश में-(दश स्वसार) दश बहनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने हारी दश प्राण वृत्तियां (वह्निं) सबके वहन करने वाले आत्मा को (मृजन्ति) परिष्कृत, सुशोभित करती हैं और (सदनेषु) अपने २ स्थानों में (अच्छ) प्राप्त होती हैं।

[५४४] अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा च विशन्त्युशतीरुशन्तम्॥ १२॥
ऋ० ९। ९५। ३॥

भा०—(मनीषाः) मनन करने वाले आत्मा की ईषा अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही (अपां ऊर्मयः इव) जलों की तरङ्गों के समान,

५४३—'प्रथमो मनीषा' 'सदनानि' इति ऋ०।

प्राणों की तरङ्ग (तर्तुराण्याः) अति वेगवती होकर (सोमं) आनन्द-रस रूप आत्मा को (अच्छ) उत्तम रीति से (प्र-ईरते) द्रवित करती है। वे ध्यानमयी बुद्धिवृत्तियां ही (नमस्यन्तीः) उस आत्मा को आदर से नमस्कार करती हुईं, उसके प्रति झुकती हुईं, अन्तर्मुख होकर (उशन्तम् उशतीः) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के समान, मानो स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के समान चमकती हुई स्वयं वे (उशन्तम्) प्रकाश के पुंजस्वरूप आत्मा को ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही (सं विशन्ति च) लीन हो जाती हैं, उसके संग सो सी जाती हैं। और (आ च विशन्ति) उसी रूप में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं।

इति पञ्चमी दशतिः। सप्तम, खण्डः।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः।

[द० ६] ऋषिः—१ आन्धीगुः श्यावाश्विः। २, ३ ययातिर्नाहुषः। ४ मनुः सावरणः। ५, ८ अम्बरीषऋजिश्वानौ। ६, ७ अग्नयः धिष्ण्याः ऐश्वराः। काश्यपौ। प्रजापतिर्वाच्यः॥ पवमानो देवता॥ छन्दः—१—६, ८ अनुष्टुप्। ७ बृहती॥ स्वरः—१-६, ८, ९ गान्धारः। मध्यमः॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४५] पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
३ १ २ ३ १ २ ३क२र
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्॥ १॥
ऋ० ९। १०१। १॥

भा०—हे (सखाय.) मित्रो! (वः) आप लोग (पुरोजिती) आगे बहिर्मुखता को विजय करने हारी (अन्धसः) जीवन को धारण करने वाली शक्ति से सम्पन्न सोम के (सुताय) उत्पन्न, (मादयित्नवे) अतिपरम आनन्द-जनक रस को प्राप्त करने और उसकी रक्षा के लिये (दीर्घजिह्व्यम्) लम्बी

जीभ वाले, दूर तक विषय-रस लेने हारे । अतितृष्णालु इस (श्वानम्) कुक्कुर के समान लोभी, भोगी मनको (अप श्नथिष्टन) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करो ।

३ २ ३ २ ३ २ङ ३ १ २ ३ १ २
[५४६] अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥ २ ॥

ऋ० ८ । १०१ । ७ ॥

भा०—(पूषा) पुष्टिकारक, (भगः) सब के भजन सेवन योग्य, कल्याणकारी, ऐश्वर्यवान्, (रयिः) कान्तिजनक, परम धनस्वरूप (अयं) यह (सोमः) परमानंद (पुनानः) सब बाह्याभ्यंतर को पवित्र करता हुआ या स्वयं-शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होता हुआ (अर्षति) द्रवित होता है । (विश्वस्य) समस्त (भूमनः) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का (पतिः) पालक होकर (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (वि अख्यत्) अपने तेज से प्रकाशित करता है ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४७] सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥३॥

ऋ० ९ । १०१ । ४ ॥

भा०—(मधुमत्तमाः) आत्मरसानुभव से युक्त (मन्दिनः) आनन्द और हर्ष के जनक (सुतासः) तैयार किये, प्रकट हुए (सोमाः) परमानन्दरस और विद्वान् जन (पवित्रवन्तः) पवित्रस्वरूप को धारण करने वाले, दीप्तिदशा में वर्तमान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (अक्षरन्) क्षरित होते हैं । हे सोमरसो ! (वः) तुम्हारे (मदाः) आनन्द, हर्ष (देवान्) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों को (गच्छन्तु) प्राप्त हों जिससे वे अन्तर्मुख हो जायं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४८] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २र ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १० ॥

भा०—(गातुवित्तमाः) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे, (इन्दवः) आत्मा के प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप, (सोमाः) ब्रह्मरस या योगिजन (मित्राः) हृदय अन्तःकरण के या सब के मित्र, (अरेपसः) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, (स्वाध्यः) उत्तम ध्यानयोग के साधक (स्वर्विदः) प्रकाश के प्रापक, सर्वज्ञता के दायक, (स्वानाः) प्रकट होते हुए (पवन्ते) क्षरित होते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और योगियों का समानरूप से वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४९] अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ ५ ॥

ऋ० ९ । ९८ । १ ॥

भा०—हे (इन्दो) दीप्यमान ! सोम ! विद्वन् ! (नः) हमें (वाजसातमं) अन्न, ज्ञान, बल को देने वाले, (शतस्पृह) सैकड़ों की अभिलाषा के पात्र, (सहस्रभर्णसं) सहस्रों का भरण पोषण करनेहारे, (तुविद्युम्न) बहुत ऐश्वर्य या तेज से सम्पन्न (विभासहम्) विशेष दीप्ति को भी मात करने वाले (रयिं) उस दिव्य धन आत्मा का (अभि अर्ष) प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उस तक पहुंच ।

५४८—सुवानाः, इति ऋ० ।

५४९—'अभि' 'पुरुस्पृहम्' 'विभ्वासहम्' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २
[५५०] अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियामिन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २उ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । १० । १ ॥

भा०—(मातरः) गौएं, माताएं (पूर्वे आयुनि) पूर्व, बाल अवस्था में (जातं) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बच्चे को (न) जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं, स्नेह से चूमती हैं, उसी प्रकार (अद्रुहः) समस्त संसार के प्राणियों के प्रति द्रोह का त्याग करनेहारे, अहिंसा के पालक, साधक (इन्द्रस्य) भीतरी आत्मा के (काम्यं) अत्यन्त कामना या स्नेह के विषय, जीवनरस के (अभि नवन्ते) निमित्त झुकते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसको स्नेह करते हैं। योग के प्रथम अंग अहिंसा का निरूपण किया है।

'अहिंसा, सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः'। इति व्यासभाष्यम् । अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः सर्वप्राणिनां भवति' । (यो० सू० । व्या० भा०) सब कालों में सब प्रकार से प्राणियों का द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा पालन से समस्त प्राणी वैर त्याग देते हैं।

१ २३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५५१] आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ १उ ३ १ २ ३ १ २ २ १२ ३२ ३ १ २
शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥ ७ ॥
ऋ० ६ । ११ । १ ॥

भा०—(हर्यताय धृष्णवे) अति प्रेमयुक्त राजा के लिये जिस प्रकार उसके सैनिक (पौंस्यं धनु तन्वन्ति) बलयुक्त धनुष तानते हैं, जो-आन से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्जन (हर्यताय) सबके अभिलाषा के योग्य कमनीय (धृष्णवे) सब वृत्तियों को दबाने हारे, उस सोम अर्थात् आत्मा के हित के लिये (पौंस्यं) सर्वांगी दर्शाने वाले (धनु०)

५५१—'धनुस्तन्वन्ति', 'शुक्रा व्यञ्जन्त्यसुराय निर्णिजं' इति ऋ० ।

धनुष कामरूप धनु को (तन्वन्ति) साधते, वश करते हैं । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते हैं उसका जप और मनन करते हैं । और (महीयुवः) महत्त्व की आकांक्षा करने हारे साधक (विपाम् अग्रे) विद्वान् मेधावी पुरुषों के समक्ष (असुराय) प्राणों के प्रेरक इस आत्मा के (निर्णिजे) स्वरूप को शोधन करने के लिये (वियन्ति) विशेष रूप से जाते हैं । पौंस्य धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पालन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थसंयमः । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यस्य-लाभादप्रतिघान् गुणान् अणिमादीन् उत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-माधातुं समर्थो भवति (व्यासभाष्ये) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः (यो० सू०) तस्य वाचकः प्रणवः । २७ । तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ । ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ उपस्थ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है। इससे वीर्य प्राप्त होता है । इससे अखण्ड बल प्राप्त होता है इसी के बल पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में भक्ति होती है । 'ओ३म्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र आत्मा का साक्षात् होता और सब विघ्न दूर होते हैं ।

२ ३ १ २ ३१र २र १ ३ २ ३ १ २
[५५२] परि त्य हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३१र २र
यो देवान् विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ ८ ॥

ऋ० ९ । ९० । ७ ॥

भा०—(हर्यतं) सब के मनों को हरनेवाले अति कान्तियुक्त (हरिं) सर्वव्यापक, सब दुःखों के हरणकारी (बभ्रुं) कान्तिमान्, सबके भरण पोषण करने हारे, (त्यं) उस आत्मा को (वारेण) वरण करने वाले भीतरी अन्तःकरण द्वारा या दोषों का वारण करने वाले प्रतिपक्ष-भावना या वितर्क-बाधन द्वारा स्वच्छ करते हैं । (यः) जो आत्मा (विश्वान्

देवान्) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी (मदेन) आनन्द-रस के (सह) साथ (परि गच्छति) भर देता है, प्राप्त होता है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (यो० सू० २ । ३३, ३४) । प्रतिपक्षभावना से वितर्कों के नष्ट होजाने पर योगी को सिद्धि के शीघ्र ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[५५३] प्रसुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ६ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १३ ॥

भा०—(अन्धस) अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले, परमानन्दस्वरूप सोमरस को (प्रसुन्वानाय) उत्पन्न करने हारे साधक के लिये प्रकट हुई (तद् वचः) उस सोम की अनाहत वाणी को (मर्त) साधारण मरणधर्मा पुरुष जिसको अमृत, सोमरस प्राप्त नहीं हुआ, वह (न वष्ट) नहीं प्राप्त कर सकता। (भृगवः) ज्ञानाग्नि से अज्ञान और पाप को भून डालने वाले ज्ञानी लोग जिस प्रकार (मख न) कर्मकाण्ड को दूर कर देते हैं उसी प्रकार (अराधसं) साधना न करने हारे, (श्वान) कर्मफल के लोभी कुकुर के समान, त्यक्तभोगों को पुनः २ चाहने वाले, वान्ताशी, चित्त को (अप हत) मारो ।

इति षष्ठी दशतिः । अष्टमः खण्डः ।

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१—३, ५ कविर्भार्गवः । ४ ऋषिगणः । ६ सिकता निवावरीः, खि [ऋषि]गणो (?) वा । ७ वेणुर्वैश्वामित्रः । ८ वेनो भार्गवः। ९ भारद्वाजो वसुः । १० वत्सः । ११ अत्रिर्भौमः । १२ पवित्र आङ्गिरस । पवमानो देवता ॥ जगती ॥ निषादः ॥

५५३—'प्र सुन्वानस्य' 'भृततद्वचः' इति ऋ० ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२उ ३ १ ३
[५५४] अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु
१ २ १ २र ३ २ ३२उ ३ २ ३ १ २
वर्द्धते । आ सूर्य्यस्य बृहतो बृहन्नधिरथं विष्वञ्चमरुहद्वि-
२ ३
चक्षणः ॥ १ ॥ ऋ० ९।७५।१॥

भा०—(चनोहितः) पाकयोग्य अन्न के समान प्रवचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारण किया गया, (यह्वः) महान् आत्मा (येषु) जिन विशेष गुणों के आधार पर (अधि वर्धते) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब (प्रियाणि) अत्यन्त प्रिय (नामानि) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में (अभि पवते) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही (बृहतः) सबको बढ़ाने वाले (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा के बनाये (विश्वञ्चं) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले (रथं) इस देह-रथ को (विचक्षणः) साक्षी, द्रष्टास्वरूप होकर (अधि-आ-अरुहद्) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५५५] अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः ।
१ २ ३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो
१ २
धियः ॥ २ ॥ ऋ० ९।७९।१॥

भा०—(हरयः) स्वयं हरणशील, गतिशील, (अचोदसः) बिना किसी के बाह्य बल के स्वयं प्रेरित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् जीव, (स्वानासः) प्रकट रूप से प्रकट हुए (देवेषु) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में (नः) हमें (बृहद्) खूब (धन्वन्तु) प्राप्त हों और (नः) हमारे (अर्यः) अरि-शत्रुस्वरूप, (अरातयः) सुख, काम्यफल के न देने

५५५—'प्रसुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः । विचनशन्न इषो अरातयाऽर्यो नशन्त सनिषन्त नो धियः' इति ऋ० ।

वाले (इषय.) केवल कामोपभोग या अन्न की कामना करने वाले, कामी, तृष्णालु इन्द्रियगण (अशानाः) भोग करते हुए (वि चित) न (सन्तु) रहें । (नः) हमें (धियः) उत्तम ध्यानवृत्तियाँ, ज्ञान और उत्तम कर्मों का (सनिषन्तु) प्रदान करें ।

[५५६] एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः। अभ्यृतस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥३॥ ऋ० ९ । ७७ । १ ॥

भा०—(एषः) यह सोम (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रः) वज्र के समान सब विघ्नों और पापों का नाशक (वपुषः) बीजों को वपन करने हारे से भी अधिक (वपुष्टमः) बीज वपन करने वाला, वीर्यवान् (कोशे) हृदय-कोश, आभ्यन्तर मनोमय कोश के बीच में (मधुमान्) ब्रह्मानन्द के मधुर रस से पूर्ण (प्र अचिक्रदद्) उत्कृष्ट रूप से अनाहत नाद उत्पन्न करता है । जिस प्रकार (वाश्रा.) हम्भारव करती हुई (सुदुघाः) उत्तम दूध देने हारी (धेनवः) दूध पिलाने वाली गौएं (पयसा) दूध से (अर्षन्ति) धाराएं बहाती हैं उसी प्रकार ये (घृतश्चुतः) कान्ति की धाराएं बहाने वाले (ऋतस्य) ज्ञान के (सुदुघाः) दोहने वाले परमानंदरस (च) भी (अर्षति) हृदय में प्रेरित होते हैं, प्रकट होते हैं ।

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' । (पातं० सू०)

[५५७] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥४॥ ऋ० ९ । ८६ । १ ॥

५५६—'वपुषो वपुष्टर:' 'अभीमृतस्य' 'पयसेव' इति ऋ० ।

५५७—'शतयाम्ना' इति ऋ० ।

भा०—(इन्दुः) प्रकाशमय जीव, आत्मा (इन्द्रस्य) इन्द्र परमेश्वर का (सखा) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके (निष्कृतं) पद, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी (अयासीद्) प्राप्त हो जाता है तो भी (सख्युः) अपने सखा परमात्मा की (संगिर) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को (न) नहीं (प्र मिनाति) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लंघन करता। वह (सोमः) सौम्य स्वभाव होकर (युवतिभिः) युवा स्त्रियों के साथ (मर्य इव) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष (सम् अर्षति) संग करता है उसी प्रकार वह अपनी (युवतिभिः) सदा साथ रहने वाली प्राण और ज्ञानवृत्तियों सहित (शतयामना) सैंकड़ों प्रकार से जाने योग्य (पथा) मार्ग से (कलशं) षोडश-कलासम्पन्न ब्रह्म या आनन्दमय कोश में (सम् अर्षति) विचरण करता है।

३ २ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५१८] धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः
१ २ ३ २ ३ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे
३ २
नदीष्वा ॥५॥ ऋ० ९ । ७६ । १ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के समान देहमें मूर्धाभाग, या प्रकाशरूप सूर्य या ज्ञान का (धर्त्ता) धारण करने वाला (कृत्व्यः) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनन्दरस स्वरूप (देवानाम्) ३३ देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दक्षः) बलदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्यः) हर्ष प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने हारे अश्व या आत्मा के समान (सत्वभिः) अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनाहत नाद करने वाली धाराओं में, नदियों में जल के समान (वृथा) विना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजांसि) नाना प्रकार के बल (कृणुषे) प्रकट करता है।

५१—'कृणुते नदीष्वा' इति अ०।

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
[५५९] वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्ना प्रतरीतोषसो
३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवः । प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्या
३ १ २ ३ १ २
विशन्मनीषिभिः ॥९॥ * ऋ० ९ । ८६ १ ॥

भा०—(वृषा) सुखों का वर्षण करने वाला (सोमः) सोम (मतीना) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों को (विचक्षणः) विविध प्रकार से साक्षात् करने वाला (अह्ना) दिनों, (दिवः) आकाश और (उषसां) प्रभात वेलाओं के समान, प्राणों, मूर्धाभाग और तेज दीप्तियोंके (प्रतरीता) खूब बढ़ाने वाला (सिन्धूनां) देह की नाड़ियों में (प्राणा) जीवन सञ्चार करने वाला आनन्दरस (इन्द्रस्य) आत्मा के (हार्दि) हृदय में (मनीषिभिः) मन की प्रेरणाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (अचिक्रदत्) भीतर २ नाद करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५६०] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥
ऋ० ९ । ७० । १ ॥

भा०—(यद्) जब (ऋतैः) सत्य ज्ञानों से आत्मा स्वयं (अवर्धत) समृद्ध हो जाता है तब (अस्मै) इस के लिये (सप्त) सात (धेनवः) रसपान कराने वाली गौवों के समान ये सात इन्द्रियां जो मस्तक के सात छिद्रों में विराजमान हैं (परमे) सब से उत्कृष्ट (व्योमनि) अपने रक्षास्थान मूर्धा, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर (सत्याम्) सत्यस्वरूप, यथार्थ (आशिरं) ज्ञानधारा को (त्रिः) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों प्रकारों से (दुदुह्रिरे) दोहन करता है । और (अन्या) अन्य (चत्वारि भुवनानि) चारों देह के भागों या अवस्थाओं को (निर्णिजे)

५६०—'दुदुहे' 'पूर्व्ये' इति ऋ० ।

परिशोधन करने के लिये वह (चारुणि) उत्तम कान्ति और बल से युक्त कर देता है।

[५६१] इन्द्राय सोम सुषुतः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह। मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥
ऋ० ९। ८५। १॥

भा०—हे (सोम) ब्रह्मानन्दरस! (सुषुतः) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) बह, प्रकट हो (अमीवा) शरीरगत रोग (रक्षसा) मनोगत बाधक विघ्नों के (सह) साथ (अप भवतु) दूर हों। (द्वयाविनः) अमीवा और रक्षः अर्थात् शरीरगत रोग और मन की कुटिलता दोनों से भरे हुए पापी लोग (ते रसस्य) तेरे रस को (मा मत्सत) पाकर कभी प्रसन्न न हों। (इह) इस योगसाधना में (इन्दवः) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस (द्रविणस्वन्तः) द्रुत गति वाले होकर बहते (सन्तु) रहें।

[५६२] असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्। पुनानो वारमत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥९॥
ऋ० ९। ८२। १॥

भा०—(राजा इव) राजा के समान (दस्मः) दर्शनीय, सबका शरण्य, (अरुषः) अरुणवर्ण, देदीप्यमान, कान्तिमान्, (वृषा) मेघ के समान सुखों का वर्षक (हरिः) सबको हरण करने वाला, या सर्वव्यापक नेता, (सोमः) योगी आत्मा (असावि) तय्यार किया गया है। जो (गा अभि) इन्द्रियों, वाणियों और जलों के प्रति (अचिक्रदत्) अपना नाद करता है। और (पुनानः) प्रकाशमान होता हुआ (अव्ययं) कभी

५६२—'पर्येत्यव्ययं' 'आसदत्' इति ऋ०।

क्षीण न होने वाले, अभेद्य (वार) निवारक, रुकावट को भी (अति-एपि) पार कर जाता है। और (श्येन न) गतिशील आत्मा बाज के समान अपने (घृतवन्तं) अत्यन्त दीप्ति युक्त (योनिं) मूलकारण, आश्रय परमेश्वर को (आसदत्) प्राप्त करता है।

३१२ ३ १२ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ २३
[५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न
३१२ ३ १२ ३१२ ३ १ २ ३ १२३१२
धेनवः। बर्हिषदो वचनवन्त ऊधभिः परि स्तुतमुस्रिया
३ १ २
निर्णिजं धिरे ॥ १० ॥ ऋ० ६। ६८। १॥

भा०—(मधुमन्त) मधुर रस वाले, ब्रह्मज्ञानी (इन्दवः) सौम्य-गुणसम्पन्न, सबके आह्लादक, ब्रह्म की तरफ जानेहारे योगी, (धेनवः गावः न) दूध देनेहारी गौएं जिस प्रकार अपने बच्चे के प्रति (प्र आसिष्यन्दत) अपना दूध प्रवाहित करती हैं उसी प्रकार (देव) प्रकाशस्वरूप उपास्य देव के प्रति (अच्छा) साक्षात् (प्र-असिष्यदन्त) गति करते हैं। और वे (बर्हिषदः) महान् ब्रह्म में रमण करने वाले, (वचनवन्तः) वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, (ऊधभिः) ऊर्ध्व, मूर्धास्थान में आनन्दरस धारण करने हारे स्थानों से (परिस्नुत) चुए हुए (निर्णिज) अति शुद्ध पवित्र आनन्दरस को (उस्रियाः) सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होकर (धिरे) धारण करते हैं, या पान करते हैं।

१ २३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
[५६४] अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
सिन्धोरुऽच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु
२
गृभ्णते ॥ ११ ॥ ऋ० ९। ८६। ४३॥

५६३—'वचनावन्त' इति ऋ०।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुमासु' इति ऋ०।

भा०—योगी, साधक, भक्तजन (अञ्जते) साक्षात् करते हैं, (वि-अञ्जते) उसको नाना प्रकार से प्रकट करते हैं (सम्-अञ्जते) उसमें उत्तम रीति से अपने को लीन करते हैं, तब (क्रतुं) कर्म करनेहारे आत्मा के आनन्द को (रिहन्ति) आस्वादन करते हैं, उसका रस लेते हैं, उसको सतृष्ण हृदयों से पान करते हैं। (मध्वा अभि-अञ्जते) उसको भीतरी आनन्दरस के साथ एकरस कर लेते हैं। वे (हिरण्यपावाः, ज्ञान से आत्मा को परिष्कार करने वाले (सिन्धोः) समुद्र के समान सर्वत्र गतिशील, या कर्मबन्धनों से बंधे जीवों को धारण करनेहारे आनन्द के अगाध सागर परमात्मा के (उत्-श्वासे) अपनी ओर ऊपरकी तरफ प्रबल श्वास या प्राण के आकर्षण बल में (पतयन्त) गति करते हुए (उक्षणं) आनन्दवर्षी (पशुम्) द्रष्टा जीव को (अप्सु) अपने ही प्रज्ञानों में (गृभ्णाते) ग्रहण करते हैं, ज्ञान करते हैं। अथवा (सिन्धोः) गतिशील प्राणों के (उच्छ्वासे) ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की ओर की गति में (पतयन्त उक्षणं पशुं) धावन करते हुए आनन्दवर्षी द्रष्टा जीवात्मा को (हिरण्यपावाः) हिरण्यमय, दीप्तिमान् ढकने को भी पार करने हारे साधक (अप्सु गृभ्णाते) अपने ही प्रज्ञानों या प्राणों के बीच में साक्षात् करते हैं।

[५६५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥ १२॥
ऋ० ९। ८३। १॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानरूप ब्रह्म के स्वामिन्! प्रभो! (ते) तेरा (पवित्रं) पवित्र ज्ञान (विततं) बड़ा विस्तृत, सर्वत्र व्यापक है। (प्रभुः) प्रकृष्ट सामर्थ्यवान् आप (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि)

५६५—'तत्समाशत' इति ऋ०।

सब देहों में (परि-पुषि) व्यापक हो । (अतप्ततनूः) इस शरीर को तपस्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (आमः) कच्चा पुरुष (तद्) उस तेरे पवित्र ज्ञानमय स्वरूप को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता । (शृतासः) तपोमय अग्नि में परिपक्व विद्वान् (इत्) ही (वहन्तः) ज्ञान को स्वयं धारण करने हारे (तद्) उस सुख को (सम् आशत) उत्तम रीति से प्राप्त करते और भोगते हैं ।

इति सप्तमी दशतिः । नवम खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, ७, ११ अग्निश्चाक्षुषः । २ चक्षुर्मानवः । ३, ४, ९, १० पर्वतनारदौ काश्यप्यावप्सरसौ वा । ५ त्रित आप्त्यः । ६ मनुराप्सवः । ८, १२ द्वित आप्त्यः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

[५६६] इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः ।
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ५८ । १ ॥

भा०—(इमे) ये (सुताः) उत्पन्न किये हुए (हरयः) हरणशील, मनोहर (श्रुष्टे जातास) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव हुए, या सुखस्वरूप ईश्वर में लीन हुए, (स्वर्विदः) प्रकाश, ज्ञान, और आनन्द का लाभ करनेहारे, (इन्दवः) सौम्य गुण वाले, साधक योगी (वृषणं) सुखों के वर्षक (इन्द्रम्) उस परमात्मा को (अच्छ यन्तु) भली प्रकार प्राप्त होते हैं ।

[५६७] प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।
द्युमन्तं शुष्ममाभर स्वर्विदम् ॥२॥ ऋ० ९ । १०६ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सौम्यगुण वाले ! (इन्दो) ईश्वर के प्रति रस प्रवाह के समान गति करनेहारे साधक ! (जागृविः) जागरणशील, कर्म

५६६—'श्रुष्टी जातास' इति ऋ० ।

आलस्य तन्द्रा को न प्राप्त होकर, (इन्द्राय) उस ईश्वर या आत्मा को लक्ष्य करके (परिस्रव) वह, आगे वढ़ ! (द्युमन्तं) कान्तियुक्त, (स्वर्विदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले (शुष्मम्) आत्मज्ञान रूप बल को (आ भर) सञ्चित कर ।

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
[५६८] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।
३ २ ३ १र २र ३ २
शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ॥३॥ ऋ० ९ । १०४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! (आ निषीदत) आओ बैठो । (पुनानाय) योग-साधन द्वारा अपने त्रिविध मलों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में (प्र गायत) उत्तम रूप से सत् स्तुति करो उसका वर्णन करो । और (शिशुं न) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सजाते हैं उसी प्रकार उस (शिशुम्) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को (यज्ञैः) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के यज्ञों द्वारा (श्रिये) आत्म सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (परि भूषत) सब प्रकार से अलंकृत करो, उसकी शोभा बढ़ाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६९] तं वः सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्त्तिभिः ॥४॥ ऋ० ९ । १०५।१॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (वः) आप लोग (तं) उस (पुनानं) तपस्या आदि से मलों को शोधन करने हारे साधक, या मुख्य प्राण की (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये (अभि गायत) साक्षात् गुण स्तुति करो । और (गूर्त्तिभिः) स्तुतियों द्वारा और (हव्यैः) उत्तम सात्त्विक पदार्थों और विचारों द्वारा (शिशुम् न) जिस प्रकार मधुर अन्नों का (स्वदयन्त) रस चखाकर बालक को वश करते हैं उसी प्रकार

५६९—'यज्ञैः' इति ऋ० ।

(शिशुम्) सबके भीतर विद्यमान आत्मा को (स्वदयन्त.) अमृत का रस स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुंचा ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५७०] प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वा परिप्रिया भुवदध द्विता ॥५॥ ऋ० ९ । १०२ । १ ॥

भा०—(प्राणा) देहों को प्राण देने वाली (महीनाम्) बड़ी भारी ईश्वरीय शक्तियों में (शिशु) प्रसुप्त रूप से विद्यमान, व्यापक चित् रूप आत्मा (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (दीधितिम्) दीप्ति किरण या धारणा को (हिन्वन्) प्रेरित करता हुआ (विश्वा) समस्त (प्रिया) उत्तम प्रिय पदार्थों को (द्विता) दो प्रकार से, समष्टि व्यष्टि रूप से, स्थूल और सूक्ष्म भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद स (परि भुवत्) व्याप्त करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ ३ १ २
[५७१] पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
२ ३ १ २
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥७॥ ऋ० ९।१०६।७॥

भा०—हे (सोम) रस स्वरूप ! हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों, पञ्चभूतों को कान्तिमान्, बलवान्, ज्ञानवान् करने के लिये तू (धाराभिः) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्तियाँ द्वारा (ओजसा) अपने बल से (पवस्व) प्रकट हो । और (मधुमान्) ज्ञानवान् तू (नः) हमारे (कलश) देह या अन्त करण में (आसदः) अधिष्ठित रूप में आ विराजमान हो ।

१ २ ३ २ ३ २१ ३ २ ३ १ २
[५७२] सोमः पुनान ऊर्मिणाव्य वारं विधावति ।
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥७॥ ऋ० ९ । १०६ । १० ॥

५७०—'प्राणा' इति ऋ० । ५७२—'अव्यो वारं' इति ऋ० ।

भा०—(पुनानः सोमः) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मलादि रहित अन्तःकरण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन (ऊर्मिणा) अपनी ऊर्ध्व गति से (अव्य वारं) अज्ञान के आवरण को (विधावति) पार कर जाता है। (पवमान) वह और भी अधिक उज्वल और पवित्र होकर (वाचः) वेदवाणी के (अग्रे) उत्तम, रहस्य भाग में (कनिक्रदत्) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥ ऋ० ६ । १०३ । १ ॥

भा०—(वेधसे) स्वयं कर्म के विधाता मेधावी (पुनानाय) अन्तःकरण को मलादि से रहित करने वाले (सोमाय) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगिजन के लिये (वचः) सब अध्यात्म वाणियों का (प्र उच्यते) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है। (मतिभिः) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक (जुजोषते) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है। हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार (भृतिं न) श्रमी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आजीविका दी जाती है उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली (भृतिं) भरण पोषणकारिणी चिति शक्ति को (भर) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ।

द्वितो नाम ऋषिः स्वामान प्रत्याह, इति सायणः। सोमाय 'मेधाविने' इति माधव.।

५७३—'वच उक्थम्' इति ऋ०। 'उच्यते' इति सायणः।

[५७४] गोमन्न इन्दो अश्वमत्सुतः सुदक्ष धनिव ।
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥ ऋ० ९ । १०५ । ४ ॥

भा०—हे इन्दो ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । हे सुदक्ष ! उत्तम कर्म के साधक ! (नः) हमें (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (अश्वमत्) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों से युक्त धन (धनिव) दो। और (गोषु) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में (शुचिं वर्णं च) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ण को (धारय) धारण करो।

[५७५] अस्मभ्य त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥ऋ० ९ । १०४ । ४ ॥

भा०—(अस्मभ्यं) हमें (वसुविदं) प्राणों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ कराने हारे (त्वा) तुझको (वाणीः) सब वेदवाणियां (अनूषत) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! (ते वर्णम्) तेरे वरण करने योग्य स्वरूप को (गोभिः) इन वेदस्तुतियों द्वारा (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं, ढकते हैं, अलंकृत करते हैं ।

[५७६] पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यश ॥११॥ ऋ० ९ । १०६ । ४॥

भा०—(हर्यतः) हरण-गमन करने योग्य, सब का प्राप्य, (हरिः) सोम, आत्मा (रंह्या) वेग से (ह्वरांसि) कुटिल, कष्टकारी विघ्नों को भी (अति पवते) अतिक्रमण करके चमचमाता है । हे सोम ! (स्तोतृभ्य) स्तुति करनेहारे ,यथार्थ गुणवक्ताओं को (वीरवद्) सामर्थ्यसम्पन्न (यशः) तेज (अभि अर्ष) प्रदान कर ।

५७४—'धन्व' 'शुचि ते' 'गोष्वधारम्' इति ऋ० ।

५७६—'क्रन्दसि' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७७] परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अभिवाणीर्ऋषीणां सप्तानूषत ॥१२॥ ऋ० ९ । १०३ । ३ ॥

भा०—(पुनानः) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या चरित होनेवाला (सोमः) आत्मा (मधुश्चुतं) मधुर आनन्द रस को चुआने वाले आनन्दमय (कोश) कोश को (परि अर्षति) व्याप्त कर लेता है । (ऋषीणां) ब्रह्माण्ड या मूर्धादेश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों की (सप्त वाणीः) सात वाणियां, सातों ज्ञानप्रवाह (अभि-अनूषत) आत्मा की साक्षात् स्तुति करते हैं ।

इति अष्टमी दशतिः । इति दशमः खण्डः ।

॥ द० १ ॥ ऋषिः—१ गौरिवीतिः शाक्त्यः । २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः । ३, ८ ऋजिश्वा भारद्वाजः । ४ कृतयशा आङ्गिरसः । ५ ऋणञ्चय आङ्गिरसः । ६ शक्तिर्वासिष्ठः । ७ उरुराङ्गिरसः । पवमानो देवता । १—४, ६ ककुप् । यवमध्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथः । १—४, ६ ऋषभः । ५ षड्जः । ७, ८ मध्यम ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७८] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमो मदः ॥ १ ॥   ऋ० ९ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द और ज्ञानसम्पन्न ! (क्रतुवित्तमः) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का ज्ञान करने या कराने हारों में सबसे श्रेष्ठ (मदः) आनन्दस्वरूप आप (इन्द्राय) विभूतिसम्पन्न आत्मा के लिये (पवस्व) प्रकट होइये, आप (मदः)

५७७—'सप्तनूषत' इति ऋ० ।

अत्यन्त आनन्दस्वरूप होकर (द्युक्षतमः) सब दिव्य, तेज सम्पन्न पदार्थों में आप ही सबसे श्रेष्ठ और (महि) सबसे महान् हैं ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५७९] अभिद्युम्नं बृहद्यश इषस्पत दीदिहि देव देवयुम् ।
१र २र ३ २ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥ ऋ० ९ । १०८ । ९ ॥

भा०—हे (इषस्पते) अन्न, एवं ज्ञान और मानस प्रेरणा के स्वामिन् ! हे देव ! (देवयु) विद्वानों और समस्त दिव्य लोकों को अपने वश करनेहारे, आपके प्रति हम प्रार्थना करते हैं कि (बृहद् यशः) बहुत अधिक यश, अन्न, ज्ञान, सामर्थ्य (द्युम्न) और धन, बल को (अभि दीदिहि) साक्षात् प्रकाशित करो, और (मध्यमं) बीच के (कोश) आवरण करने वाले मनोमय, विज्ञानमय कोश को (वियुव) काट दो अर्थात् उन कोशों को काट कर आप आनन्दमय कोश को प्रवेश कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[५८०] आ सोता परि षिञ्चताश्वन्न स्तोममप्तुर रजस्तुरम् ।
३ १ २ ३ १ २
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ७ ॥

भा०—हे साधकगण ! (स्तोम) स्तुति योग्य, (अप्तुरं) ज्ञान और कर्मों से प्राप्त करने योग्य, (रजस्तुरम्) समस्त लोकों में व्यापक (वनप्रक्षम्) सबके आत्माओं में कूटस्थरूप से व्यापक, फलों को जैसे वृक्ष देता है उसी प्रकार सेवन करने योग्य आनन्दरसों को चूने वाले (उद प्रुतम्) ज्ञान से परिपूर्ण, शान्ति के दायक, आत्मरस को (आसोत) अपने हृदय में प्रकट करो । (परि षिञ्चत) पुनः उसके आनन्दमय रसों का आ सेचन करो ।

५७९—'देवयुः' इति ऋ० ।

५८०—'वनक्रक्षम्' इति ऋ० । 'वनप्रक्षम्' इति केचित् ।

[५८१] एतमु त्य मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहम् ।
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ११ ॥

भा०—(एतम् उ) इस ही (मदच्युतं) हर्ष रस के बरसाने हारे (सहस्रधारं) सहस्रों लोकों को धारण करने वाले, या सहस्रों सुखधाराओं के बहाने वाले, (वृषभं) सुखों के वर्षक, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का (दुहम्) दोहन करने वाले (विश्वा वसूनि) सब प्राणों और समस्त वास के देने हारे वसु रूप लोकों को (बिभ्रतं) धारण करने वाले आत्मा, परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

[५८२] स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १३ ॥

भा०—(य) जो (रायां) ऐश्वर्यों, (वसूना) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों के और (इळाना) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अन्नों का (आनेता) प्राप्त कराने हारा है और (य. सुक्षितीना) जो उत्तम निवास योग्य शरीरों, क्षेत्रों का नेता, निर्माणकर्त्ता है (सः सोमः) वह सबका प्रेरक आत्मा और परमात्मा (सुन्वे) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

[५८३] त्वं ह्यांऽग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ३ ॥

भा०—(अंग पवमान) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (द्युमत्तम) सबसे अधिक कान्तिमान् (त्वं हि) तू ही (दैव्यं) दिव्=अन्तरिक्ष द्युलोक या देव, पञ्चभूतों और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की (जनिमानि) उत्पत्तियों और प्रकट होने वाले अद्भुत २ विकासों के मूल-

५८१— दिवो दुहः' इति ऋ० । 'दिवदुह' इति सा० ।
५८३—'त्वंह्य१ङ्ग दैव्या', 'घोषयः' इति ऋ० । 'घोष.' इति सा० ।

कारणों का (अमृतत्वाय) नित्य, निरन्तर विद्यमान अमृतस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (घोषयन्) उपदेश करता है ।

२ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८४] एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
३ २ ३ २ २ १ २
क्रीळन्नूर्मिरपामिव ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । १०९ । ५ ॥

भा०—(सुतः) निष्पन्न, अभिव्यक्त आनन्दरस (अव्या वारेभिः) चितिशक्ति के आवरणों से पार होकर (मदिन्तमः) अति अधिक आनन्द से समृद्ध (अपा) जलों के (ऊर्मि इव) प्रवाह या तरंग के समान ज्ञानों, कर्मों का तरंग (धारया) अपनी निरन्तर धारा या धारक शक्ति से (क्रीळन्) संसार में क्रीड़ा सी करता हुआ, लीला करता हुआ (स्यः एष) जिसको ढूंढते हैं वह यह (पवते) हृदय देश में प्रकाशित होता है ।

२ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २
[५८५] य उस्रिया अपिया अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवारुज ॥८॥ ऋ० ९।१०८।६॥

भा०—(यः) जो सोम (उस्रियाः) ऊर्ध्व गति करने वाली (अप्याः) कर्म और ज्ञान की बनी हुई (गाः) गतिशील इन्द्रियों को (ओजसा) अपने बल से (अन्तः अश्मनि) अश्मा=व्यापक या प्रस्तर के समान किसी से न हारने वाले, परिपक्व 'अश्माख्य' नामक मुख्य प्राण के भीतर (निर्-अकृन्तत्) बनाता है, निर्माण करता है और जो (गव्यं) ज्ञान-सम्बन्धी और (अश्व्यं) कर्म या मनः सम्बन्धी (व्रजं) इन्द्रियगण को (अभि तत्निषे) अपने चारों ओर विस्तारित करता है, हे (धृष्णो !) सबको विजय करने हारे परमात्मन् ! तू हमारे (वर्मी इव) कवचधारी सुरक्षित योद्धा के समान (आ रुज) सब विघ्न बाधाओं को दूर कर ।

इति नवमी दशतिः । एकादशः खण्डः ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पावमानकाण्डं समाप्तम् ।

५८५—'अप्या अन्तरश्मनो' इति ऋ० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् *

गा० द० १० ॥ ऋषिः—१ भरद्वाजः । २ वसिष्ठ । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेपः । ५ गृत्समदः । ७, ८ अमहीयुः । ९ आत्मा । २—३ इन्द्रः । ४ वरुणः । ५, ७, ८ पवमानः । ६ विश्वेदेवाः । ९ अन्नम् । १ बृहती । २, ६ त्रिष्टुप् । ३, ७, ८ गायत्री । ४, ५ चतुष्पदा गायत्री । ६ एकपदा गायत्री । १ मध्यमः । २, ६ धैवतः । ३, ८ षड्जः ।

७ ३ १२ ३ १२३ १२३१२३१ २
[५८६] इन्द्र ज्येष्ठं न आभर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः ।
१र २र ३ १२३ १र१ २र
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥ १ ॥
ऋ० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्येष्ठं) अत्यन्त प्रशंसनीय (ओजिष्ठं) कान्ति और बल से युक्त, (पुपुरि) पूर्ण करने वाला, (श्रवः) ज्ञान (नः) हमें (आभर) प्राप्त कराओ । हे (वज्रहस्त[1]) सब विघ्नों को निवारण करने हारे ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, या ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने हारे परमात्मन् ! हे (सुशिप्र[2]) उत्तम दाढ़ों या रश्मियों वाले तेजस्विन् ! समस्त संसार के प्रलयकाल में भक्षण करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! (यद्) जिसको

---

* क्वचित्संहितासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत एव तासु 'प ठत्रिया' इति ऋचोऽन्त्यपादाभ्यासो दृश्यते इति हेतोः तत्रैव पूर्वार्चिकस्य समाप्तिरिति विज्ञायते, क्वचिच्चाभ्यासो न दृश्यते, षष्ठोध्यायश्च तृतीयार्धप्रपाठकरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममध्यायं परिशिष्टमिव मन्यते । विविधा हि देवता अत्र स्तूयन्ते इति प्राक्परिगणितकाण्डत्रयाद् भिन्नमिदमारण्यकं काण्डं व्यवहरन्ति ।

५८६—'आभर', 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओमे' इति ऋ० ।

(दिधृषेम) हम धारण करना चाहते हैं उस ज्ञान को (उभे रोदसी) इस लोक परलोक दोनों में (पप्रा) पूर्ण कर, प्राप्त करा। अथवा धारण करने योग्य समस्त ज्ञान और चेतना को ब्रह्माण्ड में तू पूर्ण कर रहा है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३र ३ १ २ ३ १ २
[५८७] इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूपं यदस्य।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥२॥

ऋ० ७ । २७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्र) परमात्मा (जगत.) जगम प्राणिसंसार का और (चर्षणीनाम्) मानवों का और (अधिक्षमा) इस पृथिवी पर (विश्वरूप) नाना प्रकार के पदार्थ, जीव, या ब्रह्माण्ड (यत्) जो भी हैं (अस्य) इस सब का (राजा) स्वामी है। (ततः) वह सर्वव्यापक ईश्वर (दाशुषे) दानशील पुरुष को ही (वसूनि) जीवनोपयोगी नाना ऐश्वर्य (ददाति) देता है। वही (उपस्तुतः) सबसे स्तुति किया गया (राधः) धन और ज्ञान (अर्वाक्) हमें (चोदयद्) दे।

२ ३ २ ३ २ ३१ २ ३२उ ३ २ ३क २र
[५८८] यस्येमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः।
१ २ ३ १ २ ३२
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य) जिस (रजोयुज) कान्ति, ज्योति से युक्त या प्रकृति के रजोगुण से योग करने हारे आत्मा का (तुजे जने) दानशील पुरुष में (इदं) यह (स्वः) सुखकारी, दिव्य, समस्त (वनं) सेवन करने योग्य नाना सम्पदा हैं उस (इन्द्रस्य) परमात्मा का (रन्त्यं) रमणीय ऐश्वर्य भी (बृहत्) बहुत अधिक बड़ा है।

---

१ हस्नो हन्तेः (निरु०), २ दिम्र सर्पते ।

५८७—'अधिक्षमि', 'विपुरूप', 'उपस्तुतः' इति ऋ०।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ २३१२ २ ३ १ २
[५८६] उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
१ २ ३ २ ३१२ २ ३ २ १ २
अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २४ । ५ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वव्यापक, सब पापों के निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! (उत्तमं) उत्कृष्ट अपने (पाशं) पाश, प्राकृतिक तेजोमय सात्विक बन्धन को (उत् श्रथाय) उत्तम भोगों द्वारा शिथिल कर और (अधमं) निकृष्ट तामस, काम मोहादि बन्धन को (अव श्रथाय) नीचे निम्न कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर । और (मध्यमं) मध्य-स्थानीय राजस-बन्धन-आवेश, क्रोध, लोकैषणा आदि को (विश्रथाय) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सब को अपने भीतर लेने हारे ! तेजस्विन् ! (तव व्रते) तेरी नियम व्यवस्था में (वयं) हम (अनागसः) निरपराध, निष्पाप होकर (अदितये) दीनतारहित होने में (स्याम) समर्थ हों ।

१ २ ३ -२ ३२ ३ १ २ ३१२ ३२ ३ १ २
[५६०] त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृत विचिनुयाम शश्वत् ।
१ २ ३ १२ २२ ३१२ ३ १ २ ३ २ ३२
तन्नो मित्रा वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धु पृथिवी उत द्यौः ॥५

भा०—हे सोम ! जगदीश्वर ! (पवमानेन) समस्त संसार को पवित्र करने हारे (त्वया) तुझ सहायक से (भरे) फल प्राप्त कराने हारे इस जीवन में (शश्वत्) निरन्तर (कृत) अपने उत्तम किये कर्म को (वि चिनुयाम) विशेष रूप से संग्रह करें । (मित्र) स्नेहवान्, (वरुण) सब पापों का निवारक (अदिति) कभी न खण्डित होनेवाला अखण्ड, (सिन्धु) समुद्र के समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, (पृथिवी) पृथिवी के समान सबको धारण करने हारा (उत) और

५८६—'अथा वयमादित्य व्रते तवा०' इति ऋ० ।

(द्यौः) सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप (नः) हमें (तत्) वह अभिलषित उत्तम फल (मामहन्ता) प्रदान करें ।

१ १२ २२ ३ २उ ३ २
[५६१] इम वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥ ६ ॥

भा०—हे प्राणो ! विद्वानो ! (इमं मां) इस मुझ (एकं) अकेले को (वृषणं) सब सुखों का वर्षण करने हारा (कृणुत इत्) बनाओ ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५६२] स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
३ १२ २२
वरिवोवित्परिस्रव ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । ६१ । १२ ॥

भा०—(सः) वह सोम (नः) हमारे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के कर्त्ता, (वरुणाय) व्यवस्थापक वरणस्वरूप आत्मा (मरुद्भ्यः) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों के लिये (वरिवोवित्) हितकारी पदार्थों को दाता होकर (परि स्रव) हमारे प्रति प्रकट हो ।

३ १२ २२ ३ २उ ३ २ ३ १ २
[५६३] एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
१ २
सिषासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ६१ । ११ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप (अर्यः) सब के स्वामी (मानुषाणां) मनुष्यों के (विश्वानि) समस्त (एना) ये (द्युम्नानि) धन, रत्न आदि (आ) हमें प्राप्त करावें । हम (सिषासन्तः) उनको सेवन करने या सब में बांट देने की इच्छा से (वनामहे) याचना करते हैं ।

३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५६४] अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥ ९ ॥

भा०—(अहम्) मैं महान् आत्मा, परमात्मा (ऋतस्य) इस सत् आभिव्यक्त जगत् से (प्रथमजा) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ (अस्मि) हूं। (देवेभ्य) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी (पूर्व) पूर्व में विद्यमान रहा। मैं ही (अमृतस्य) कभी विनाश न होने वाले, नित्य आत्मा का (नाम) स्वरूप हूं। (यः) जो (मां) मुझको, मेरे स्वरूप को अन्यों के प्रति (एव) इस प्रकार से (ददाति) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म या आत्म ज्ञान का उपदेश करता है (स. इत्) वही (मा) मेरी (आवत्) रक्षा करता है। (अहम् अन्नम्) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूं। मैं ही (अन्नम्) अन्न रूप से सबको धारण कराता हू। मैं ही (अदन्तम्) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को (अद्मि) अपने में मग्न कर लेता हूं।

ब्रह्म की अन्नोपासना उपनिषदों में कही है। 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वेदा० सू०)

इति दशमी दशतिः। प्रथम खण्डः।

॥ द०११ ॥ ऋषिः—१ श्रुतकक्षः। २ पवित्रः। ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। ५ प्रथः। ६ गृत्समदः। ७ नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता–१, ३, ४, ७, इन्द्रः ५ पवमानः। ५ विश्वेदेवा। ६ वायुः॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री २ जगती। ५ त्रिष्टुप॥ ७ अनुष्टुप ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ षड्जः। २ निषादः। ५ धैवतः। ७ गान्धारः॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५९५] त्वमेतद्धारय कृष्णासु रोहिणीषु च।
१ २ ३ २ ३ १ २
परुष्णीषु रुशत्पयः ॥१॥ ऋ० ६। १३। १४॥

५९५—१ इरावती परुष्णीत्याहु। पर्ववती भास्वती, कुटिलगामिनी (निरु० ९।२६)

भा०—हे आत्मन्[1] (त्व) तू ही (कृष्णासु) प्राणों को कर्षण करने हारी पिङ्गला नाम नाड़ियों और (रोहिणीषु) प्राणों का रोहण, परिवर्धन करने वाली इड़ा नाड़ियों में और (परुष्णीषु[1]) पोरु २, या अंग २ में निवास करनेहारी, ज्ञानवाहिनी चिकुण्डलिनी सुषुम्ना आदि नाड़ियों में (रुशत्) कान्तिमय (पय) तेज या रस को सूर्य के समान (अधारयः) धारण करता है[2]। सूर्यपक्ष में—कृष्णा=रात्रियें, रोहिणी=उषाएं, परुष्णी[3]=दिन मध्याह्नवेला।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५९६] अरूरुचदुषस. पृश्निरग्रिय उक्षा ।ममंति भुवनेषु वाजयु ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरा गर्भमादधु ॥२॥

ऋ० ९ । ८३ । ३ ॥

भा०—(उषस) साधक की साधना के अवसर पर त्रिपुटी में प्रकट होने वाली कान्ति का (पृश्नि·) आदित्य ही (अग्रिय उक्षा[1]) सब से प्रथम सुखों का सेचन करने हारा, (भुवनेषु) समस्त प्राणों और प्राण कोशों में (वाजयु.) बल की कामना करने हारा आनन्दघन आत्मा, (अरूरुचद्) प्रकाशित होता है । (मायाविन) चिति शक्ति या प्रज्ञा, प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न देवरूप इन्द्रिया या अग्नि आदि पाचों भूत (अस्य मायया) इसकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर (नृचक्षस) मनुष्यों के द्रष्टा (पितर) सबके पालन करने हारे (ममिरे) पदार्थों का ज्ञान करते हैं, या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और (गर्भम्) हिरण्य गर्भस्वरूप विराट्रूप को (आदधु.) धारण करते हैं। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है । अध्यात्म में—(पितर) प्राणगण।

---

२ द्रष्टव्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् इम मे गङ्गे यमुने इत्यादि व्याख्यानम् (प्र० ३०) ।३। परम उष्णवत्यो घटिका ।

५०६—'उक्षा बिभर्ति भुवनानि' इति ऋ० ।

२ ३ २र ३ २ ३१ १ ३२ ३१ २
[५९७] इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥३॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—(इन्द्र इत्) आत्मा ही (वचोयुजा) वाणीमात्र से योग रखने वाले (हर्योः) हरण करने वाले अश्वों, शक्तियों ज्ञान, कर्म और इन्द्रियों को (सचा) एक साथ (संमिश्ल) मिला कर रखने वाला है। वही (वज्री) संहारक शक्ति से युक्त और (हिरण्ययः) सूर्य के समान कान्तिमान्‌रूप वाला या स्वतः हित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है।

१ ३ १ २ ३ १ २
[५९८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥४॥ ऋ० १ । ७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उग्र) उग्र स्वभाव के आप (उग्राभि ऊतिभि) अति वेगवाली शक्तियों द्वारा (वाजेषु) ज्ञानों और बलों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) बलशाली सहस्रों अन्नों के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में (नः) हमारी (अव) रक्षा करो।

१ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
[५९९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् ।
३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥५॥
ऋ० १० । १८१ । १ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रथः) विस्तार करने वाला, प्राण और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही (नाम) स्वरूप हैं वह (वसिष्ठ) मुख्य आत्मा (आनुष्टुभस्य) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य (यत्) जो (हविषः हवि) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उत्तम है उस 'अमृत' (रथन्तरं) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण को (धातुः) सबके पालन पोषण करने

द्वारे और (सवितुः) सबके उत्पादक (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के पास से ही (आ जभार) प्राप्त करता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६००] नियुत्वान्वायवागह्ययं शुक्रो अयामि ते।
१ २ ३ २ ३ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४१ । २ ॥

भा०—हे (वायो) प्राण ! या व्यापक आत्मन् ! आप (नियुत्वान्) नियमकारी बलों से सम्पन्न (आ गहि) हमें प्राप्त हों। (अय) यह (शुक्रः) कान्तिमान् सूर्य, और देह में वीर्य, आज (ते) तेरे (अयामि) नियम में बंधा है। आप (सुन्वतः) योग साधना करने हारे, (गृहम्) ग्रहण करने वाले आभ्यन्तर इन्द्रिय, मन में भी (गन्तासि) प्राप्त होते हैं।

१ २र ३ १ २ १ ३ २
[६०१] यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय।
१ २ ३ २ २ ३ २ १ ३ १ २र
तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ८९ । ५ ॥

भा०—हे (अपूर्व्य) अद्वितीय! आदि मूलकारण ! हे (मघवन्) समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! (यत्) जो तू (वृत्रहत्याय) आवरणकारी तामस बन्धन को नाश करने के लिये (जायथा) प्रकट होता है (तत्) वह तू (पृथिवीम्) इस विशाल भूमि को भी (अप्रथयः) प्रकट करता है और (दिवम् उत) द्यौलोक को भी (अस्तभ्ना) मध्य आकाश में थामता है।

इति एकादशी दशतिः। इति द्वितीयः खण्डः।

॥ द० १२ ॥ ऋषि.—१, ५, ७, १० वामदेवः । २, ३ गौतमः । ४ मधुच्छन्दाः । ६ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ हिरण्यस्तूपः । १२, १३ विश्वामित्रः । देवता—१ प्रजापति. । २, ३ पवमान. । ४—६, १३ अग्नि. । ७ रात्रि । ८ वैश्वानर । विश्वेदेवाः । १० लिङ्गोक्ताः । ११ इन्द्रः । १२ सर्वात्मा । छन्दः—१, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ त्रिष्टुप् । ४ गायत्री । ८ जगती । १० महापङ्क्तिः । स्वरः—१, ७ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ धैवतः । ४ षड्ज. । ८ निषादः । १० पञ्चम. ॥

[६०२] मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥ अथर्व० ६ । ६९ । ३ ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा (प्रजापति.) समस्त स्थावर और जंगम प्रजा का पालक (दिवि) आकाश में जिस प्रकार (द्याम् इव) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार (मयि) मुझ में (वर्च.) बल, तेज, (अथो) और (यशः) यश (अथो) और (यज्ञस्य) आत्मा या परमेश्वर का (यत्) जो (पयः) मोक्ष नामक परम आनन्दरस है उसको (दृंहतु) नित्य बनाये रक्खे ।

[६०३] सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥ २ ॥
ऋ० १ । ९१ । १८ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (अभिमातिषाहः) अभिमान करने हारे पुरुषों को दण्ड देने वाले (ते) तेरे (पयांसि) पोषक ज्ञानरस, (वाजाः) समस्त ऐश्वर्य और अन्न, (वृष्ण्यानि) समस्त बल (सं यन्तु) प्राप्त हों और तू आप (आप्यायमान) खूब परिपूर्ण होता हुआ (अमृताय)

६०२—'तन्मयि प्रजापतिर्दिवि' इति अथर्व०' ।

इस अमृत, जीव के लिये (दिवि) मोक्षरूप स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्तम (श्रवांसि) ज्ञानों, बलों और सुखों को (धिष्व) धारण करा ।

२ ३ १र २र ३ २ १ २ ३ १ ३
[६०४] त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
१र २र ३ २ १ २ ३ १ २र ३ १र २र
त्वमाततन्थोर्वाऽन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥३॥
ऋ० १ । ९१ । २२ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (त्वं) तू (इमाः) इन (विश्वाः) समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों, वनस्पतियों को (अजनयः) उत्पन्न करता है । (त्वम् अपः) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है । और (त्वं गाः) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है । (त्वं) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य आदि के प्रकाश से (तमः) अन्धकार को (वि ववर्थ) विविध प्रकारों से दूर करता है । अध्यात्मपक्ष में-ओषधि -देह । अपः-ज्ञान और कर्म । गाः—इन्द्रिय, चित्तवृत्तियां । सोम-आत्मा । तमः-तामस आवरण ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[६०५] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
१ २ ३ १ २
होतारं रत्नधातमम् ॥४॥ ऋ० १ । १ । १ ॥

भा०—(यज्ञस्य देवम्) समस्त यज्ञों, उपासनाओं के उपास्य देव (पुरोहितम्) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, साक्षीरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुख्य स्थान पर स्थापित (ऋत्विजम्) ऋतुओं आदित्यों और प्राणों द्वारा पूजनीय, (होतारं) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेहारे, सबके प्रतिपालक (रत्नधातमम्) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की (ईडे) स्तुति करता हूं ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ ७ ३ १ २ ३ १र २र
[६०६] ते मन्वत प्रथमन्नाम गोनाम्त्रिः सप्त परमन्नाम जानन् ।
१ ७ ३ ७ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गाव' ॥ ५ ॥
ऋ० ४ । १ । १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् लोग (गोनां) वेद वाणियों के (प्रथमं) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल (नाम) उत्पत्ति स्थान को (अमन्वत) मनन करते हैं और वे (त्रि. सप्त) इक्कीस प्रकार से (परमं नाम) परम नाम को (जानन्) जिज्ञासा करते हैं । (ताः) वे वाणियां (जानती) सब रहस्य जनाती हुई (क्षा.) अपनी निवासभूमियों आदि मूलकारणों की (अभिनूषत) स्तुति करती हैं । और (यशसा) तेज से (अरुणीः) अरुण वर्ण वाली, (गाव') किरणों के समान वाणियों में (आविर्भुवन्) प्रकट होती हैं ।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार के छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात । अतिजगती, शक्करी अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ये सात । और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, उत्कृति ये सात । सब मिल कर २१ हुए ।

२ ३ १र ७र ३ १ २ ३ २ ३ ७ ३क ७र
[६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति ।
७ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र ७र ३ २ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुपयन्त्यापः ॥ ६ ॥
ऋ० २ । ३५ । ३ ॥

६०६—'नाम धेनो' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः, इति ऋ० ।

६०७—'अपा नपात परितस्थुरापः' इति ऋ० ।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्य) भिन्न २ नदियां (सं यान्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न २ नदियां (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती है और (समान) समानरूप से एक ही (ऊर्व) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आपः) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्य·) समृद्ध स्तुति वाणियां अथवा आप्त प्रजाएं (अन्या.) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रजाएं (संयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्या. उपयान्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के अर्थ का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और कर्म का उपदेश करने हारी वाणियां (शुचय.) शुद्ध प्रकाश करनेहारी (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दीदिवांसम्) देदीप्यमान (अपां नपातम्[1]) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं । (आप·=वाणियां, बुद्धियां, प्रजाएं, आप्तजन, लोक, नद्य.=स्तुतियां, वाणियां, नदियां) ।

१र २र ३ १ २ ३१र २र ३ १ २र
[६०८] आप्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनेहारी रात्रि के समान ब्रह्मविद्या (विश्वस्य) समस्त (जगत) जगम संसार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है । वह (अह्न) कभी नाश न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवति) उदयकालीन सूर्य के साथ संगत उषा और तेजस्वी पुरुष के संग स्त्री के समान ही सदा सत्संगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेहारी (आ) सब ओर

१. नपात्—नेत्युपमार्थे. । पतंन्तीव यत्र स नपात् "नपात्" इति निपातः ।

(प्रागात्) प्रकट होती है और (केतून्) किरणों के समान ज्ञानों को (सम् इर्त्ते) प्राप्त कराती है ।

[६०६] प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे । वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ८ । १ ॥

भा०—(प्रक्षस्य) सब के भीतर सम्पर्क करने हारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, (वृष्णः) सुखों के वर्षक, (अरुषस्य) कान्तिमान्, (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जाननेहारे परमेश्वर के (महः) पूजनीय तेज को (विदथा) ज्ञान काल में, या यज्ञ में (नः) हमारी (वचः प्र) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, (नव्यसे) स्तुति करने योग्य (वैश्वानराय) समस्त नरों में नाना प्रकार से व्यापक (अग्नये) उस ज्ञानस्वरूप, सबके अग्रणी, परमात्मा के लिये (शुचिः) शुद्ध, (मतिः) ज्ञान, संकल्प, (सोम इव) प्रेरक ब्रह्मानन्द के समान (चारु) अत्यन्त उत्तम रूप में (पवते) प्रकट होता है ।

[६१०] विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म । मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । ५२ । १४ ॥

भा०—हे (विश्वेदेवा) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग (मम) मेरे (मन्म) मनन करने योग्य (यज्ञम्) इष्ट उपासना को (शृण्वन्तु) सुनो । वह (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों लोक और (अपा नपात् च) समस्त प्रजाओं, प्रज्ञाओं और कर्मों का आश्रय ईश्वर भी उसको श्रवण करता है । (वः) आपके (वचांसि) वचनों को (मा

६०९—'पृक्षस्य' 'सन. प्रनुवोच' 'जातवेदसे' 'नव्यसीं' इति ऋ० ।

परित्यक्ष्याणि) मैं परित्याग न करूं, प्रत्युत उनको (सुम्नेषु इत्) सुख के अवसरों में भी (वोच) उच्चारण करूं । (व अन्तमा.) आप लोगों के अत्यन्त समीप होकर हम (मदेम) आनन्दित रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[६११] यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ।
३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यशस्व्य३ स्याः संसदोऽहम् प्रवदिता स्याम् ॥ १० ॥

भा०—(मा) मुझको (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी का (यशः) यश प्राप्त हो । मुझे (इन्द्र-बृहस्पती) सूर्य और वायु का (यशः) यश प्राप्त हो । (भगस्य) ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर का (यशः) यश (विन्दतु) प्राप्त हो । (यशः) यश मुझे (मा) मत (प्रतिमुच्यताम्) छोड़े । (अहम्) मैं (यशस्वी) कीर्तिमान् होकर (अस्याः) इस (संसदः) उत्तम प्रकार से विद्वानों को अपने में स्थिति प्राप्त कराने हारी सभा या इस ब्रह्मविद्या का (वदिता) प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशक (स्याम्) होजाऊं ।

१ २ ३ १ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
[६१२] इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ११ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) विद्युत् या सूर्य के समान बलवान्, शक्तिमान् परमेश्वर के (वीर्याणि) नाना पराक्रम के उन कार्यों को मैं (प्रवोच नु) कहता हूं (यानि) जिन (प्रथमानि) अतिश्रेष्ठ महत्वपूर्ण कार्यों को (वज्री) अणु से अणु तक को पृथक् करने हारा परमेश्वर (चकार) किया करता है । वह (अहिम्) कभी नष्ट न होनेवाले, स्वभावतः विद्यमान अन्धकार को (अहन्) विनाश करता है, स्वयं (अनु) बिजुली जिस प्रकार मेघों

६१०—'यशिमा' इति ऋ० ।

मे जलों और पर्वतों से झरनों को पैदा कर देती है उसी प्रकार वह भी अज्ञानरूप 'अहि' का नाश करके (अप.) प्रज्ञानों को (ततर्द) प्रवाहित करता है। और (पर्वतानां) बड़े २ पर्वतों के (वक्षणाः) नदियों के समान विद्वानों के हृदय ग्रन्थियों या अंगों से बने देहादि बन्धनों को (प्र-अभिनत्) काट देता है।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[६१३] अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे चक्षुरमृतम्म आसन्।
३ १ २ ३ १२ ३२ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रञ्ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥

ऋ० ३ । २६ । ७ ॥

भा०—मैं (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (जन्मना) श्रवण, मनन, निदिध्यासन की अपेक्षा विना किये ही, स्वभावत (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने वाला (अस्मि) हूं। (मे) मेरा (चक्षु) सबको देखने और दिखाने वाला साधन (घृतं) अतिदीप्तिमान् है। (मे आसन्) मेरे मुख्य स्थान या मुख अर्थात् स्वरूप में (अमृतम्) कभी नाश न होने वाला अमृत मोक्ष है। और मैं (त्रिधातुः) समस्त पदार्थों को तीन धर्मों से धारण करने वाला (अर्क) तेज स्वरूप सूर्य, (रजस) समस्त लोकों को (विमान) निर्माण करता हुआ (अजस्र) कभी नाश न होने वाला, अविनाशी, सदा वर्तमान, (ज्योति.) प्रकाशस्वरूप और (सर्वं) सर्वव्यापक (हवि) हवि=भोग्य पदार्थों का दाता भी मैं ही (अस्मि) हूं।

२ ३ २ ३ १२ ३१ ३ १२ ३२ ३ १२ ३२ ३ १ २

[६१४] पात्यग्निर्विपो अग्रम्पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ ३ २

पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥१३॥

ऋ० ३ । ५ । ५ ॥

६१३—'विमानो घर्मो' इति ऋ०।

६१४—'पाति प्रिय रिपो अग्रं' इति ऋ०।

भा०—(विप्र:) मेधावी, ज्ञानी (अग्नि:) परमेश्वर (वे) गतिशील पृथिवी के (अग्रम्) गमन के (पदं) मार्ग को (पाति) सुरक्षित करता है। (यह्वः) वह महान् (सूर्यस्य) सूर्य के (चरणा) चलने के मार्ग को भी (पाति) पालन करता है (नाभा) नाभिस्थान, केन्द्र अथवा अन्तरिक्ष या बन्धनस्थान मूर्धा में (अग्निः) वह अग्नि ही (सप्तशीर्षाणम्) सात शिर के स्वामी प्राणों के स्वामी जीव को भी (पाति) रक्षा करता है। (ऋष्वः) दर्शनीय देवता (देवानाम्) अग्नि आदि देवों और विद्वानों को आनन्दकारक आत्मा या इन्द्रियों के ग्राह्य विषय को भी (पाति) रक्षा करता है।

इति द्वादशी दशतिः। तृतीय खण्डः।

॥ द० १३ ॥ ऋषि:—१, २, ८-१२ वामदेवः। ३-७ नारायणः। देवता—अग्निः। २ ऋतुः। ३-६ पुरुषः। ७ त्वष्टा। ८ द्यावापृथिवी। ९, ११ इन्द्रः। १० आत्मा। १३ गौ ॥ छन्दः—१, २ पङ्क्ति। ३-७, ९, १० अनुष्टुप्। १, २ पञ्चमः। ४-७, ९, १० गान्धारः। ७, ११, १२ धैवतः ॥

[६१५] भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशे दाः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान्! हे (समिधान) प्रकाशमान! हे (दीदिवः) देदीप्यमान! (अन्तः, आसनि) प्रत्येक आश्रय स्थान देह में, मुख में जीभ के समान (भ्राजन्ती) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चित्-शक्तिरूप (जिह्वा) ज्ञान ग्रहण करने हारी शक्ति (चरति) विचर रही है। हे अग्ने! (स त्वं) वह तू (वसुवित्) वास कराने हारे प्राणों या ऐश्वर्यमय लोकों को जानने, या कर्मानुसार प्राप्त कराने हारा (नः) हम

(पवस्मा) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ (रयि) जीवन और (वर्चः) बल और कान्ति, रक्षा सामर्थ्य (अदा॰) प्रदान कर।

[६१६] वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—(वसन्त इत्) वसन्त ही (नु) निश्चय से रमण करने योग्य है। और (ग्रीष्म.) ग्रीष्म भी (इत् नु) निश्चय से (रन्त्य॰) आनन्द लाभ करने योग्य है। (वर्षाणि) वर्षाकाल और (अनु शरद॰) बाद में आने वाले शरद् के दिन और (हेमन्तः) हेमन्त और (शिशिरः) शिशिर (इत्) ये सभी (नु) निश्चय से (रन्त्यः) जीवन का आनन्द लाभ करने के लिये ही हैं।

ऋतुनामों से ईश्वर को याद किया गया है। (वसन्तः) सब प्राणियों को बसाने हारा वह परमात्मा (इत् नु) ही तो केवल (रन्त्य) आनन्द लाभ करने योग्य है। (ग्रीष्मः) सबको ग्रास करने हारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है। (वर्षाणि) सब सुखों की वर्षा करने वाली (अनु शरद॰) तथा उनके समान ही सब दुखों का नाश करने वाली शक्तियों और (हेमन्तः) सब पदार्थों को प्रेरणा या ताड़ना करने वाला और (शिशिर.) शनै. २ प्रत्येक पदार्थ की आयुबल और शरीर को घिसाने वाला काल रूप परमात्मा (इत् नु) ही (रन्त्यः) एकमात्र आनन्द लाभ कराने वाला है।

[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥
ऋ० १० । ६० । ४ ॥ यजु.० ३१ । ४ ॥

६१७—'स भूमिं विश्वता वृत्वा' इति ऋ०। 'सर्वतः स्पृत्वा' इति पाठभेद. यजु॰०। 'सहस्त्रशीर्षा' इति यजु॰०।

भा०—(सहस्रशीर्षाः) सहस्रों शिरों वाला, (सहस्राक्ष:) हज़ारों आखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों पगों वाला, (पुरुष) पुरुष, ईश्वर विराट् (सः) वह (भूमिम्) ब्रह्माण्ड नामक भुवन को (वृत्वा) घेरकर, व्याप्त होकर और भी (दशाङ्गुलम्) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी (अति अतिष्ठद्) परे तक विराजमान है ।

१० अङ्गुल–परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्तिया हैं । आत्मपक्ष में भूमि–नाभि, दश अङ्गुल दश इन्द्रिय । सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों के सभी शिर, आखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर को सहस्रशीर्षा आदि विशेषणों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा ब्रह्माण्डगत नाना द्यौलोक उस के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुएं और नाना वास योग्य भूमियां उसके चरण हैं ।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६१८] त्रिपादूर्द्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
२ ३ २ ३क २र ३ २ ३ २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९० । ४ । यजु० ३१ । ४ ॥

भा—(पुरुष:) इस महान् ब्रह्माण्डरूप पुर में शयन करने द्वारा सर्वव्यापक, परमात्मा (त्रिपात्) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप (उद् ऐत्) सबसे उत्कृष्ट होकर, सब पर वश किये हुए अधिष्ठाता के समान होकर वर्त्तमान है । (अस्य) इसका (पादः) ज्ञान और क्रियारूप शासन ही (इह) इस ब्रह्माण्ड पर (पुनः) वार वार (अभवत्) सत्तारूप में प्रकट होता और विलीन होता है । (तथा) और वही (विष्वङ्) सर्वत्र (अशनानशने अभि) भोजन करने हारे प्राणियों और न भोजन करने हारे स्थावर, जड़ पदार्थों में भी (वि-अक्रामत्) व्यापक है ।

६१८—'साशनानशने' इति ऋ० यजु:० ।

[६१९] पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥४॥

ऋ० १० । ९० । २ पूर्वार्ध, ३ उत्तरार्ध, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—(यद् भूतं) जो अबतक उत्पन्न जगत् है, (यत् च भाव्यं) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है (इदं सर्वं) यह सब (पुरुष एव) पुरुष ही है । अर्थात् (सर्वा) समस्त (भूतानि) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिगण (अस्य पादः) इसके चरण हैं, इससे व्याप्त हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और (अस्य त्रिपाद्) इसके तीन चरण (दिवि) अपने प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म का एक पाद है और अमृतस्वरूप तीन शक्तियां सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, अविकारी कारणस्वरूप हैं ।

[६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ९० ३ ॥ यजु० ३१ । ३ पू०, २ उ० ॥

भा०—(तावान्) इस संसार में जितना (अस्य) इस जगत् का (महिमा) विस्तार है (ततः) उससे भी (ज्यायान्) बड़ा वह (पूरुष) पुरुष परमेश्वर है । (उत) और वही (अमृतत्वस्य) इस अमर जीव संसार का (ईशानः) स्वामी है (यत्) जो (अन्नेन) अन्न या कर्मफल भोग के द्वारा (अतिरोहति) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

६२०—'एतावानस्य' 'अतो ज्याया' इति ऋ०, यजु० ।

[६२१] ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ६ । ५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(ततः) उस पुरुष से (विराट्) हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्माण्ड (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराज अधि) उस विराट् से (पूरुषः) पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, (सः) वह विराट् ही (अति अरिच्यत) सबसे बड़ा रहा । (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्) इस भूमि को और (अथो पुरः) इन देहों को या इन सौर जगतों को भी उत्पन्न किया ।

[६२२] मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितम-भियोजनम् । द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चत-मंहस. ॥ ८ ॥

अथर्व० ४ । २६ । १ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सबको प्रकाश देनेहारे गुरो ! सूर्य के समान प्रकाशक परमात्मन् ! और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति ! मैं (वाम्) आप दोनों को (सुभोजसौ) उत्तम पालन करने वाले (मन्ये) मानता व जानता हूं । आप दोनों (अमित) अपरिमित अनन्त (योजनं) इस संसार को (अप्रथेथाम्) विस्तृत कर रहे हो । हे (द्यावापृथिवी) पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति ! आप हमारे लिये (स्योने) सुखकारक (भवत) होओ । (ते) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहस.) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो ।

६२२—"मन्ये वां द्यावा · · · ममिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूना ते नो०" इति अथर्व० ॥

[६२३] हरी न इन्द्र श्मश्रूण्युत ते हरितौ हरी ।
तन्त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरी (श्मश्रूणि) किरणें (हरी) हरणशील, सर्वव्यापक हैं (उत उ) और (ते हरी) तेरे गतिमान् अश्व, प्राण और अपान (हरितौ) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं । (तं त्वा) उस परम स्मरणीय तुझको (वनर्गवः) सुन्दर वाणियों वाले (कवयः) मेधावी (पुरुषास.) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं ।

[६२४] यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा संसृजामसि ॥ १० ॥

भा०—(हिरण्यस्य) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का (यद् वर्चः) जो बल, तेज है (उत वा) और (यत्) जो (वर्च) तेज, बल (गवा) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो (वर्च) तेज (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मण) वेद का है (तेन) उससे हम (मा) अपने आत्मा को (संसृजामसि) युक्त करें ।

[६२५] सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन् ।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरञ्च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! हे (विरप्शिन्) हे सत्यज्ञानमय ! (नः) हमें (तत्) वह (सह) बाधक, दोषों को दबाने वाला सहन बल और (ओजः) तेज पराक्रम (दद्धि) प्रदान करो जिससे आप (अस्य महतः) इस महान् संसार पर (ईशे) प्रभुता करते हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! स्वामिन् ! (न·) हमारे आप (क्रतुं न) कर्म के समान ही (नृम्ण) उपभोग योग्य धन धान्य और (स्थविरम्) स्थिर (वाजं) बल, अन्न और

ऐश्वर्य (कृधि) करो और (नः) हमारे (स-हना) हथियारों वाले हिंसक (शत्रून्) शत्रुओं को (वृत्रपु) नाना विघ्नों में (कृधि) डाल।

[६२६] सहर्षभा. सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौओ ! आप (सहर्षभा) सांडों के साथ और (सहवत्सा) बछड़ों के साथ (द्व्यूध्नीः) दोहरे स्तनमण्डल को वहन करती हुई (विश्वा) नाना प्रकार के (रूपाणि) रूप (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (उत् एत) उन्नति को प्राप्त होओ। (अयं लोकः) यह लोक (वः) तुम्हारे लिये (उरु पृथु) खूब बड़ा विशाल (अस्तु) रहे। (इमाः) ये (आपः) जल (सु प्र-पाणाः) उत्तम पान करने वाले स्थानों से सज्जित रहें। (इह स्त) तुम यहां रहो। रश्मियों के पक्ष में—ऋषभ, सूर्य, वत्स, ग्रहादि और रस धारण करने हारे दो ऊधस् मेघ और पर्वत हैं। इन्द्रियों के पक्ष में—ऋषभ आत्मा परमात्मा। वत्स—मन, दो ऊधस् ज्ञान और कर्म, आप—प्रज्ञान और लोक।

इति त्रयोदशी दशतिः। चतुर्थः खण्डः।

॥द० १४॥ ऋषिः—१ वैखानसः। विभ्राट् सूर्यपुत्रः। ३ कुत्स। ४–६ सार्पराज्ञी। ७–१४ प्रस्कण्व काण्वः ॥देवता—१ अग्निः पवमान। २–१४ सूर्यः ॥ छन्दः २ जगती। ३ त्रिष्टुप्। १, ४–१४ गायत्री ॥ स्वर १ निषाद। ३ धैवत। १, ४–१४ षड्ज ॥

६२७] अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥ ऋ० ९। ६६। १९॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (नः) हमें (आयूंषि) आयु (पवसे) प्रदान कर । (नः) हमें (ऊर्जम्) बल और (इष) अन्न (च) भी दो । (दुच्छुनाम्) बुरे पागल कुक्कुर के समान लोभ और क्रोध से अन्धे पुरुषों को (आरे) दूर ही (बाधस्व) पीड़ित कर ।

[६२८] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति बहुधा विराजति ॥२॥ ऋ० १० । १७० । १ ॥ यजु० ३३ । ३० ॥

भा०—(विभ्राट्) विशेषरूप से देदीप्यमान सूर्य के समान स्वतःप्रकाश, परमात्मा (बृहत्) बड़ा भारी (सोम्य) उत्पादक और प्रेरक गुणों से युक्त (मधु) जीवनरस को (पिबतु) पान अर्थात् अपने भीतर धारण करे । और (यज्ञपतौ) यज्ञ जीवनयज्ञ या अन्य देवपूजा आदि सत्कर्मों के अनुष्ठाता पुरुष को (अविह्रुतम्) सरल, अकुटिल धार्मिक (आयु) जीवन (दधत्) धारण कराता है । (यः) जो परमात्मा (वातजूतः) वात, वायु के समान गतिमान् शक्तियों से युक्त होकर (त्मना) स्वयं (प्रजाः) प्रजाओं को (अभि रक्षति) रक्षा करता है, (पिपर्ति) पालन पोषण करता है और (बहुधा विराजति) बहुत प्रकारों से सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

[६२९] चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥
ऋ० १ । ११५ । १ ॥

भा०—(देवानां) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राणादि रुद्रों और १२ आदित्यों के (अनीकं) प्राण,

६२८—'प्रजाः पुपोष पुरुधा' इति ऋ० ।

बल देनेहारे, प्रमुख (चित्रं) पूजनीय, (मित्रस्य) स्नेहवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप लोकों के (चक्षुः) प्रकाशक या द्रष्टा और (द्यावापृथिवी) द्यौलोक, पृथिवीलोक और (अन्तरिक्ष च) अन्तरिक्ष को भी (आप्रा) व्याप्त करनेहारा (जगतः) जगम ससार और (तस्थुषः च) स्थावर ससार का (आत्मा) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, (सूर्यः) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

१२ २२ ३१२३ ३१२३२
[६३०] आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुरः ।
३१२ ३१ २
पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १८९ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—(अयं) यह (गौः) गमनशील, सर्वत्रव्यापक या वेदवाणीस्वरूप, (पृश्नि) सर्वान्तर्यामी समस्त ससार के तेजःपुञ्जों को स्पर्श करनेहारा, (पुरः) साक्षात् (आ अक्रमीत्) प्रकट होता है । और (मातरं) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ज्ञाता के (पुरः) समक्ष ही (असदत्) विराजता है और (पितरं) अपनी प्रजाओं और तत्स्थानीय इन्द्रियों के पालक को भी (स्वः) सुखस्वरूप होकर (प्रयन्) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, माता पिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त है उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के हृदय में प्रकट होता है । वे ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

३ १ २ ३२उ ३ १ २ ३ १
[६३१] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
२र ३ १ २र
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १८९ । २ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (रोचना) सबको रुचिकर, प्रेममयी दीप्ति (प्राणद्) प्राण प्रदान करती हुई (अपानती) प्राण वायु को बाहर करती हुई (अन्तः) देह के भीतर (चरति) गति करती है,

कर्मफल-भोग करती है। (महिष.) वह महान् परमात्मा (दिवम्) सूर्य को भी (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३२] त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभि.॥ ६॥ ऋ० १० । १८९ । ३॥

भा०—वह परमात्मा (वस्तो) दिन के (त्रिंशद् धाम) तीसों स्थान, तीसों घड़ियों तक (द्युभि.) दीप्तियों से (विराजति) हृदय में विराजता है। (वाक्) वह वेदवाणी, उसी (पतंगाय) सर्वव्यापक ईश्वर के लिये (प्रति धीयते) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३३] अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
१ २ ३ १ २
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥ ऋ० १ । ५० । २॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अक्तुभि.) रात्रियों के साथ २ (नक्षत्रा) नक्षत्र (विश्वचक्षसे) सब के दर्शक, प्रकाशक, (सूराय) सूर्य के कारण (अप यन्ति) लोप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे परमात्मन्! (विश्वचक्षसे सूराय) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब के प्रेरक आपके उदय होने के कारण (त्ये) वे (तायव.) हृदय के चोर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी पाप (अप यान्ति) दूर भाग जाते हैं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६३४] अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।
१ २ ३ १ २
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥ऋ० १ । ५० । ३॥

भा०—(भ्राजन्त.) प्रकाशमान् (अग्नयः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष (यथा) जिस प्रकार सब प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार (अस्य)

६३४—'अदृश्रमस्य' इति ऋ०।

इस परब्रह्म परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (जनान् अनु) जन्म लेने वाले प्राणियों को (अदृश्रन्) बराबर देखते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३५] तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
२ ३ १ २ ३ २
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥ ऋ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (तरणि) सबको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, (विश्वदर्शतः) समस्त संसार में एकमात्र दर्शनीय, (ज्योतिष्कृद्) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योतियों को पैदा करने हारे, (असि) हैं । आप ही (विश्व) समस्त (रोचन) मनोहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों को (आभासि) प्रकाशित करते हो । सूर्य एक सैकण्ड में २२०० योजन जाने से और रोगों से पार करने के कारण 'तरणि' और ग्रहों को प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृद्' कहाता है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[६३६] प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।
३ २२ ३क २२ ३ २
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥ ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (देवानां) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के (विशः) भीतर निवास करने वाली प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सामने और (मानुषान्) मनन करने हारे प्राणियों के (प्रत्यङ्) सन्मुख और (स्वः) द्यौलोक आनन्दमय मोक्ष के (दृशे) दर्शन करने के निमित्त (विश्वम्) समस्त संसार के (प्रत्यङ्) प्रति (उद्-एषि) उदय को प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६३७] येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
१ २ ३ १ २
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे ! हे (वरुण) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (चक्षुषा) चक्षु से (जनान्) जन्तुओं को (भुरण्यन्तं) भरण पोषण करने हारे तुझको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से (त्वं) तू समस्त जीवों को (पश्यसि) देखता है ।

१२ २र३१२ ३२३१२ ३१२
[६३८] उ द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
२ ३ १ २
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! (अक्तुभिः) व्यापनशील, शक्तियों द्वारा (पृथु) विशाल (रजः) समस्त लोकसमूह को (अह) और (द्याम् उ) समस्त सूर्य और द्यौलोक के भी (जन्मानि) जन्म लेने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को (पश्यन्) देखता (एषि) रहता है ।

१२ ३२ ३ २३ १२ ३कर२
[६३९] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
१ २ ३ १२
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूरः) सबको प्रेरणा करने हारा परमात्मा (रथस्य) सब देहों में आत्मा के साथ (शुन्ध्युवः) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, (नप्त्यः) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को (अयुक्त) जोड़ देता है और (ताभिः) उन द्वारा ही (स्वयुक्तिभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (याति) वह सर्वत्र व्यापक है ।

३१ २३२ ३ २३ १२
[६४०] सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
३ १ २
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

६३८—'वि द्यामेषि' इति ऋ० ।

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक ! हे (देव) प्रकाशमान ! हे (विचक्षण) सबके आत्मन् ! (रथे) इस शरीररूप रथ में (त्वा) तुझको (शोचिष्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले (सप्त हरितः) सात ज्ञान प्राप्त कराने वाले इन्द्रियगण (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

इति षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन मीमांसातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्री पण्डितजयदेव-शर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये आग्नेयैन्द्रपावमानारण्यककाण्डचतुष्टयात्मकः सामवेदसंहितायाः पूर्वार्चिकाख्यो भागः समाप्तः ।

ओ३म् ।

अथ महानाम्न्यार्चिकः *

प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रस्त्रैलोक्यात्मा देवता ।

[१]

[६४१] विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
शिक्षा शचीनाम्पते पूर्वीणाम्पुरूवसो ॥१॥

[६४२] आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वा३ऽर्नांशुः ।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥२॥

[६४३] एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः ।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे महिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस ।
आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥

भा०—(१) हे (मघवन्) परमेश्वर ! (विदा) आप सब कुछ जानते हैं। अतः (गातुं) मार्ग का (विदाः) आप प्राप्त करावें, आप (दिशः) दिशाओं का (अनुशासिषः) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुंचने की दिशा दर्शावें। हे (पूर्वीणां) पूर्ण (शचीनां) शक्तियों के (पते) स्वामिन् ! हे (पुरूवसो) समस्त प्रजाओं के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या अति अधिक धन सम्पन्न ! (शिक्ष) हमें शिक्षा करो, नियमों का उपदेश करो

---

* अयमार्चिकं न तु छन्दआर्चिकं नाप्युत्तरार्चिकं । सर्वत्र एवमेव पूर्वोत्तरयोर्मध्ये पठितत्वात्परिशिष्टमिति केचित् । तदयुक्तम् । सर्वत्र सामसंहितासु तथोपलब्धेः । यज्ञे च होतुः पृष्ठेऽस्य विनियोगदर्शनाच्च ।१। सोपसर्गाया अस्याः शक्वर्याः सामगाः स्वरक्रम क्रमम् । तत्र प्रथमे आद्यपादद्वयमुपसर्गः द्वितीये मध्यमपादद्वयमुपसर्गः तृतीये चान्तिमपाद उपसर्गः । शेषैः सप्तभिः पादैरष्टाक्षरैः षट्पञ्चाशदक्षरा शक्वरी पूर्यते । सर्वत्र रेखाङ्किताः पादा उपसर्गाः ज्ञेयाः ।

(२) हे त्रैलोक्यपते ! हे (प्रचेतन) उत्कृष्ट चेतनासम्पन्न ! चिन्मय जगदीश्वर ! हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! आप (स्वः न) सबको प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान (अंशु) सर्वव्यापक, (आभिः) इन (अभिष्टिभि) अभीष्ट उपासनाओं से (इषे) अन्न और जीवन प्राप्त करने के लिये और (द्युम्नाय) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (प्रचेतय) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो ।

(३) हे (मंहिष्ठ) सबसे महान् ! सबसे बड़े दाता और पूजा के योग्य ! हे (वज्रिवः) पापों का वर्जन करने हारे, ज्ञान से सम्पन्न ! आप (शक्र) शक्तिमान् (एव हि) ही हैं । अत हे (शविष्ठ) सबसे अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें (राये) धन, ज्ञान, शक्ति, तेज और (वाजाय) बल, अन्न के निमित्त (ऋञ्जसे) समर्थ करो । हे वज्रिन् ! (ऋञ्जसे) आप हमें समर्थ बनाओ । (आयाहि) आप हमारे हृदय में प्रकट होओ । (पिब) यह ज्ञान, स्तुतिमय भक्तिरस मेरे हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करो (मत्स्व) और आनन्दमय होकर विराजो ।

[२]

[६४४-६४६] विद्मा राये सुवीर्यम्भवो वाजानाम्पतिर्वशाँ अनु ॥
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥
यो मंहिष्ठो मघोनामंशुर्न शोचिः ।
चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि ॥५॥
ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥६॥

६४४-६४६—रेखाङ्किता, पादा उपसर्गाः । शेषं महाप. पादैः शक्वरी ।

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें (राये) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम (सुवीर्यं) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य, ब्रह्मचर्य को (विदाः) प्राप्त कराओ। (यः) जो (शूराणाम्) शूरवीरों में भी (शविष्ठ) सब से अधिक बलवान् है, हे (महिष्ठ) सबसे महान् ! (वज्रिन्) बलवन् ! पापनाशक ! आप (वाजाना पतिः) समस्त ऐश्वर्यों, ज्ञानों और बलों के पति (भवः) हैं। और (वशान्) आपके वशीभूत समस्त लोकों के (अनु) अनुकूल हितके लिये उनपर (ऋञ्जसे) वश करते हो ॥४॥

भा०—(यः) जो (मघोना) समस्त ऐश्वर्य वालों में (मंहिष्ठः) सबसे बड़ा दाता है वही (अंशुः न) समस्त संसार में अपनी प्रसरणशील रश्मियों से व्यापक सूर्य के समान (शोचिः) शुद्ध, कान्तिमान् है। हे (चिकित्व) सर्वज्ञ ! आप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यशाली (नः) हमें भी (विदे) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये (अभि नय) आगे ले चलो। हे मनुष्य ! तू (तम्) उसकी ही (स्तुहि) स्तुति कर ॥५॥

भा०—(हि) क्योंकि (शक्रः) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही (ईशे) सब का शासन करता है इसलिये (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अपराजितं) किसी से भी न हारे हुए, (जेतारं) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को (हवामहे) हम स्मरण करते हैं। (सः) वह (नः) (हमारे (द्विषः) शत्रुओं को (सु अर्षद्) विनाश करे। वह महान् परमेश्वर ही (क्रतुः) सब दुनिया का कर्ता (छन्दः) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा है ॥६॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४७] इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥७॥

[६४८] पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोऽंशुर्मदाय।
सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं सन्न्यसे ॥८॥

[६४९] प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥

भा०—(धनस्य) परमैश्वर्य को (सातये) प्राप्त करने के लिये हम (अपराजित जेतारं) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता (इन्द्रं) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं। (स नः द्विषः अति स्वर्षद् २) वह हमें शत्रुओं से पार करे, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे (अद्रिवः) ज्ञानस्वरूप, अखण्ड ! सबके प्रलय करने हारे ! (पूर्वस्य) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा (यद्) जो स्वरूप (अंशुः) सर्वव्यापक (मदाय) आनन्द देने के लिये है, हे (वसो) सबको बसाने हारे ! वह (नः सुम्ने) हमारे सुख के लिये हमें (आ धेहि) प्रदान कर। हे (शविष्ठ) सर्व शक्तिमान् ! तेरा (पूर्तिः) सबका पालन पोषण करने वाला स्वरूप ही (शस्यते) प्रशंसा किया जाता है। (नूनं) निश्चय से आप (शक्रः) शक्तिमान् होकर (वशी) सब पर वश करने हारे हो। (तत्) इसीलिये उस (नव्य) स्तुतियोग्य आपको ही (स न्यसे) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हूं ॥८॥

भा०—हे (प्रभो, वृत्रहन्) समर्थ ! हे विघ्नविनाशक ! हम स्त्री पुरुष, गुरु या शिष्य (जनस्य) प्राणियों के (अर्येषु) बड़े २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान (ब्रवावहै) तेरी स्तुति करते हैं। (यः) जो आप (गोषु) वेदवाणियों में (गच्छति) प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वह (सखा) हमारे आत्मा के मित्र, (सुशेवः) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य (अद्वयुः) एकमात्र अद्वितीय है ॥ ९ ॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि

SSS SS

[६५०] (१) एवाह्यो३ऽ३ऽ३ऽ३व

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर आप (एव) ऐसे (हि) ही (एव) निश्चय से हो।

(२) एवा ह्यग्ने

हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (एवं हि) आप ऐसे प्रकाशस्वरूप ही हो।

(३) एवाहीन्द्र

हे (इन्द्र) सर्वैश्वर्यसम्पन्न ! सब के प्रकाशक, स्वयं प्रकाशमान ! (एव हि) निश्चय आप ऐसे ही हो।

(४) एवा हि पूषन्

हे (पूषन्) सबके पोषण करने हारे परमात्मन् ! (एव हि) आप ऐसे ही हो।

(५) एवा हि देवाः

हे (देवा.) हे समस्त देवगण 'दिव्यगुणों से सम्पन्न पदार्थों ! एवं विद्वानो ! (एव हि) आप सब परमेश्वर के गुणों से ही इस प्रकार के हो।

इति पञ्च पुरीपपदानि ।

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये सामवेदसंहितायाः महानाम्न्यार्चिकाख्यो भागः पूर्तिमगात् ॥

* ओ३म् *

सामवेदसंहितायाः

उत्तरार्चिके

प्रथमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—१ असितः काश्यपो देवलो वा । २ कश्यपो मारीचः । ३ वैतानमा आङ्गिरस. । ४ भरद्वाजः । ५ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा । ६ इरिमिठः । ७ विश्वामित्रो गाथिनः । ८—१० अमहीयुराङ्गिरसः । ११ वसिष्ठ. । १२ वामदेवः । १३ नोधा काक्षीवतः । १४ कलि. प्रागाथ. । १५ पुष्कलोऽग्निः । १६ [सदित । १७ शफः । १८ श्यावाश्वः । १९ आन्धीगवः । २० अग्निर्वैश्वानरः । २१ साकमश्वः । २२ सौभरिः । २३ नृमेध ॥ देवता—१-३, ८—१०, १५—१९ सोमः । ४, २०, २१ अग्निः । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १३, १४, २२, २३ इन्द्रः । ७ इन्द्राग्नी । १२ सर्वे देवाः ॥ छन्द.—१—८, १२, १५, २१ गायत्री । ९, ११, १३, १४, २० बृहती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ ककुप् । १७ उष्णिक् । १८ अनुष्टुप् । १९ जगती ॥ स्वरः—१—८, १२, १५, २१ षड्जः । ९, ११, १३, १४, २० मध्यम. । १० धैवतः । १६, १७, २२, २३ ऋषभः । १८ गान्धारः । निषादः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५१] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३ १ २र
अभि देवाँ इयक्षते ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २र
[६५२] अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २
देवं देवाय देवयु: ॥ २ ॥
१ २ ३ १क ३ १ २र ३ १ २र
[६५३] स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
१ २३ १ २
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १ । ११ । १-३ ॥

भा०— (१) हे (नरः) मनुष्यो ! (अस्मै) इस (पवमानाय) शुद्धिकारक (देवा अभि इयक्षते) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) (ते) तेरे (देवं) दिव्यगुणसम्पन्न (देवयुः) देवों, विद्वानों से अभिलषित, (पयः) पोषणकारी आनन्द रस को (अथर्वाणः) अहिंसक तपस्वी लोग (मधुना) मनन करने योग्य ब्रह्मज्ञान के संग (अशिश्रयुः) मिलाकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे (राजन्) देदीप्यमान परमेश्वर ! (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में (शं) कल्याण, सुख (पवस्व) प्रदान कर । (जनाय) हमारी समस्त प्रजाजन को, (शं) सुख कल्याण हो और (अर्वते) कर्मेन्द्रियों या अश्वादि सेनाओं में (शं) शान्ति सुख हो । और हमारे (ओषधीभ्यः) उष्णता, प्रताप या तेज को धारने हारे लोगों को भी (शं) सुख हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६५४] दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा ।
१ २ ३ १ २र
सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३क २र
[६५५] हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाजं वाज्यक्रमीत् ।
१ २ ३ १ २
सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

[६५६] ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे ।
पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६४ । २८-३०॥

भा०—(१) (सोमाः) सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगीजन, (शुक्राः) शुक्ल कर्म अर्थात् निष्पाप कर्म करने हारे, (गवाशिरः) अपनी इन्द्रियों पर वश करने हारे, (दविद्युतत्या) अधिक प्रकाशमान (रुचा) कान्ति और (परिष्टोभन्त्या) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे (कृपा) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (नृधूपः) हिंसक योद्धा लोग (सीदन्तः) विशेष पैतरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार (वाजी) बलवान् घोड़ा (हेतृभिः) हण्टरों से (हिन्वान) ताड़ा गया (वाजं) युद्ध के मैदान में (अक्रमीत्) दौड़ता है उसी प्रकार (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (हेतृभिः) लौकिक कष्टों या हेय, त्याज्य दुःखों से (हिन्वानः) प्रेरित होकर (हितः) सन्मार्ग में आकर (वाज) ज्ञानपथ पर (अक्रमीत्) क़दम रख देता है ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् ! मेधाविन् ! हे (सोम) सौम्यगुणों से युक्त महानुभाव ! विद्वन् ! (दिवा) प्रकाश, ज्ञान के बल पर (ऋधक्) दूर २ भी, लोक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (संजग्मानः) गमन करता हुआ तू (सूर्य) सूर्य के समान (दृशे) सबको सत्य पदार्थों के दर्शाने के लिये (पवस्व) सर्वत्र जा ।

[६५७] पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत ।
अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥ १ ॥

[६५८] अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये ।
अवावशन्त धीतयः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[६५९] अच्छा समुद्रमिन्दवाऽस्तं गावो न धेनवः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
अग्मन्नृतस्य यानिमा ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ६६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वान् पुरुष ! हे (वाजिन्) ज्ञानवन् ! (अर्वन्तः न) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष के घोड़े बराबर सरपट होजाते हैं उसी प्रकार (ते पवमानस्य) योगसाधना के मार्ग पर गमन करते हुए तेरे (श्रवस्यव) ज्ञान को प्राप्त करने हारे (सर्गाः) प्रयत्न (असृक्षत) आप से आप सफल होने लगते हैं ।

(२) (धीतयः) ध्यान करने हारे साधक लोग (अक्ष्यये) कभी न क्षीण होने वाले, या प्राणमय (वारे) आवरण के ऊपर (मधुश्चुतं) मधु, ब्रह्मानन्द रस को चुवाने वाले (कोशं) आनन्दमय कोश को (अच्छा) उत्तम रीति से (असृग्रं) प्रकट करते हैं और (अवावशन्त) उसी की कामना करते हैं । अर्थात् तामस आवरण पार करके वे ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त करते हैं और उसी में मग्न होजाते हैं ।

(३) (धेनवः गावः) दुधारी गौएं जिस प्रकार (अस्तं न) घर को स्वयं आजाती हैं उसी प्रकार (इन्दवः) ऐश्वर्यसम्पन्न, ज्ञान से प्रकाशित चित्त वाले विद्वान् लोग (समुद्र) उत्तम रीति से उमड़ने वाले आनन्द-सागर, परम धाम, (ऋतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान और समस्त यज्ञ के मूल कारण परमेश्वर को (अच्छ) भली प्रकार (आ, अग्मन्) प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथम खण्ड. ।

— ० —

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६६०] अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
३ १२ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

[६६१] तं त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ २ ॥

[६६२] स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकल संख्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे (अंगिरः) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (तं) उस प्रसिद्ध (त्वा) तुझ परमेश्वर को (समिद्भिः) दीप्ति के साधन ज्ञानों और (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (वर्धयामसि) हम आपको बढ़ाते हैं, आपकी विशालता प्रकट करते हैं, अतः हे (यविष्ठ्य) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ! सर्वशक्तिमन् ! (बृहद्) आप अति अधिक (शोच) हृदय में प्रकाशित हों।

(३) हे देव ! अग्ने ! विद्वन् ! प्रभो ! आप हमें (पृथु) अति विशाल (बृहद्) बड़े, (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (श्रवाय्य) श्रवण करने योग्य वेदज्ञान को (अच्छ) भली प्रकार (विवाससि) प्रकट करें।

[६६३] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १ ॥

[६६४] उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथ ।
द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥ २ ॥

[६६५] गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम् ।
पात सोममृतावृधा ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकल संख्या [२२०] पृ० ११३ ॥

(२) हे (मित्रावरुणा) प्राण और अपान ! तुम दोनों (शुचिव्रतौ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेहारे, (उरुशंसौ) अति प्रशंसनीय, (नमोवृधौ) ज्ञान

बल, अन्न और स्तुति से बढ़ने वाले (दक्षस्य) आत्मा के (मह्ना) महान् सामर्थ्य से और (द्राघिष्ठाभिः) अति दीर्घ दृष्टियों से आप (राजथः) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हो ।

(३) तुम दोनों (ऋतावृधा) सत्य और ज्ञानयज्ञ के बढ़ाने हारे, (जमदग्निना) हृदय के भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रज्वलित आत्मा वाले योगी द्वारा (गृणाना) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान (ऋतस्य) इस जीवनयज्ञ या उपासना या योगयज्ञ के (योनौ) मूल भाग में (सीदतम्) स्थिति को प्राप्त करो और (सोमं) सर्वप्रेरक बल को (पातं) प्राप्त करो ।

[६६६] आयाहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

[६६७] आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

[६६८] ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६॥ ऋ० ८ । १७ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र संख्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्रह्मयुजा हरी) ब्रह्म, ब्रह्मविद्या या वेद मन्त्रों के ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले (हरी) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय (केशिना) दीप्तियों से युक्त होकर (त्वा) तुझको (वहताम्) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें । और तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को (शृणु) सुन और मनन कर । ज्ञानी पुरुषों का अपने आत्मा के प्रति सम्बोधन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (सोमपाः) सोमरस का पान करने वाले (सुतावन्तः) सम्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुझ (सोमपाम्) सोम, समस्त विश्व का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (हवामहे) पुकारते हैं ।

[६६९] इन्द्राग्नी आगत सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पातं धियेषिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
अया पातमिमं सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।
ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । १,३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अस्य मध्ये) इस संसार के बीच में (इषिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीर्भिः) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि से (नभ) समस्त जगत् की ओर (वरेण्यं सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पात) रक्षा करो । अथवा—(नभः) सब को एक सूत्र में बांधने वाले (वरेण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्यों को कराओ, उपदेश करो।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेतनः) चेतनास्वरूप (यज्ञः) आत्मा (युवा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप उस (जरितु) सत्य गुणगान करने हारे पुरुष के (सचा) साथ रहकर (अया) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इमं सुतं) इस उत्पन्न संसार का (पात) पालन करो ।

(३) मैं (कविच्छदी) मेधावि पुरुष के आच्छादन, सत्संग और रक्षा करने वाले (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् और (अग्नि) ज्ञानवान् पुरुष को (यज्ञस्य) इस पूज्य आत्मा में (जूत्या) भीतरी ज्योति से (वृणे) वरण करता हूं, अपनाता हूं। (तौ) वे दोनों (इह) इस संसार मे (सोमस्य) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा (तृम्पता) स्वयं तृप्त हों, और सबको तृप्त करें।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[६७२] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे ।
उग्रं शर्म महि श्रवः ।

[६७३] स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोवित्परिस्रव ॥२॥

[६७४] एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥३॥ ८॥ ऋ० ९। ६१। १०,१२,११॥

भा०—इन तीनों ऋचाओं का व्याख्यान क्रम से देखो अविकल संख्या [४६७] पृ० २३६, और [५६२, ५६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥

[६७६] दुहान ऊधर्दिव्यं मधुप्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत् ।
आ पृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥२॥६॥
ऋ० ९। १०७। ४, ५ ॥

भा०—(१) इसकी व्याख्या देखो अविकल संख्या [५११] पृ० २५२।

(२) (विचक्षणः) चतुर, बुद्धिमान्, (वाजी) ज्ञानी, (ऊधः) उन्नति के पथ में ले जाने वाले, (दिव्यं) दिव्य (प्रत्नम्) मल और

भीतरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र, (प्रियं) उत्तम, (प्रत्नं) प्राचीन आनादि (सधस्थं) नित्य साथ रहने वाले, (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या ज्ञान को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है और बाद में वही योगी (नृभिः) ज्ञानवान् पुरुषों से भी (आपृच्छ्य) गुरुओं से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने योग्य (धरुणं) सबके आश्रयभूत ईश्वर को (अर्पसि) प्राप्त होता है।

[६७७] प्रो तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्हिरशनाभिर्नयन्ति॥१॥

[६७८] स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः
पृथिव्याः ॥२॥

[६७९] ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम्।
॥३॥१०॥ ऋ० ९ । ८७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [५२३] पृ० २५१ ॥

(२) (इन्दुः) ऐश्वर्यशील, (देवः) देव, ईश्वर और राजा (स्वायुधः) उत्तम आयुधों से युक्त (अशस्तिहा) शासन न मानने वालों का नाश करने वाला, (वृजना) सेनाबलों की (रक्षमाणः) रक्षा करता हुआ, (देवानां पिता) सब देवों, विद्वानों का पालक (सुदक्षः) उत्तम बलशाली, कार्यकर्त्ता (दिवः) ज्ञान प्रकाश, और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, द्यौलोक और सात्विक पुरुषों को (विष्टम्भः) थामने वाला, वशकारक (पृथिव्याः) इस पृथिवी, और राष्ट्र का एकमात्र धारण करने हारा है।

६७८—(२) 'वृजिना' इति ऋ० ।

(३) (ऋषिः) अतीन्द्रिय ज्ञानों का द्रष्टा, (विप्रः) ज्ञानवान् मेधावी, (जनाना पुरः एता) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्रेसर, (ऋभु.) सत्य ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीरः) कर्म और प्रज्ञानों का दाता, (उशनाः) सब पर वश करने वाला, एकमात्र योगी (काव्येन) ज्ञानमय वेद साहित्य द्वारा (आसा) इन (गोना) वेदवाणियों का (अपीच्यं) मनोहर, गुप्त, (गुह्यं) हृदय से जानने योग्य (निहितं) भीतर रक्खा हुआ (नाम चिद्) सार (विवेद) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीयः खण्ड, ।

---

[६८०] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगत. स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

[६८१] न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

॥११॥ ऋ० ७ । ३२ । २२–२३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे जैसा (अन्य.) दूसरा (दिव्य·) दिव्य गुणों से युक्त (न जात.) न पैदा हुआ और (न जनिष्यते) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य (पार्थिव.) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का मालिक भी (न जातः न जनिष्यते) न हुआ और न होगा । हम (अश्वायन्तः गव्यन्तः) अश्व और गौओं या प्राण और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, (वाजिनः) ज्ञान और बल के इच्छुक होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

६८१—(३) 'खसं भवास्यूतिभिः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[६८३] कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥
३ २उ ३ २ ३ २ ३ २
[६८४] अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
३ १ २ ३ १ २
शतं भवास्यूतये ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ४ । ३१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६६] पृ० ६३ ।

(२) (मंहिष्ठः) पूजनीय, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (मदानां) हर्षों, आनन्दों के बीच में (कः) कौनसा (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाला या अन्धकार का नाश करने वाला परम रस है जो (आरुजे) आरोग्य के लिये और (दृढ चिद् वसु) दृढ वास योग्य जीवनरूप धन होकर (त्वा) आपको (मत्सत्) आनन्दित करे।

(३) हे इन्द्र ! आप (नः) हमारे (सखीनां) मित्र (जरितॄणां) सद्विद्या का उपदेश करने वाले विद्वानों के (ऊतये) रक्षा के लिये (शतं) सौ वर्षों तक (अविता) रक्षक (भवासि) बने रहें।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[६८५] तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[६८६] द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १र २र
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ८८ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।

(२) (वसुं) दिव्य गुणों में निवास करने हारे (सुदानु) उत्तम दाता, (तविषीभि.) बलों से (आवृतम्) घिरे हुए, परिपूर्ण, (पुरुभोजस) प्रजाओं के पालक से हम (क्षुमन्तं) निवास योग्य गृहादिसम्पन्न, (शतिन) सैकड़ों (सहस्रिण) सहस्रों सुखों और लाभों से युक्त (गोमन्तं) गो धन से पूर्ण (वाज) ज्ञान और ऐश्वर्य को (ईमहे) याचना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८७] नरोभिर्वो चिदद्वसुमिन्द्र सवाथ ऊतये ।

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २

बृहद्गायन्त: सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥

२उ ३ १र २र ३ १ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र

[६८८] न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३र २उ

य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम् ॥२॥

॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ६६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल संख्या [२३७] पृ० १२१ ।

(२) (य) जिस (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को (दुध्राः) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य क्रोध, काम आदि के वेग भी (न वरन्ते) वारण नहीं करते, या नहीं घेरते और (स्थिराः न) स्थिर, तामसभाव या आलस्य आदि भी जिसको रोक नहीं सकते । और जिसको (मुर) मरणशील क्षणिकभाव भी विचलित नहीं कर सकते वह आत्मा (अन्धस) सोमरस, जीवनदायक, अज्ञान नाशक ज्योति के (मदे) आनन्द में (शशमानाय) स्तुति उपासना करते हुए (सुन्वते) योग साधना करनेहारे (जरित्रे) अन्यों को सद्विद्या का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को (उक्थ्य) वेदमय ज्ञान को (आदृत्य) आदरपूर्वक (दाता) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[६८९] स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥

[६९०] रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते ।
द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

[६९१] वरिवो धातमो भुवो मंहिष्ठो वृत्रहन्तम ।
पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० ९ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४६८] पृ० २३६ ।

(२) (रक्षोहा) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्षणिः) संसार का द्रष्टा, प्रभु (अयोहते द्रोणे) लोह के बने कूंडे में जलराशि के समान (अयोहते) गतिदायक शक्ति से गतिमान् (द्रोणे) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले, स्वाभाविक (योनिं) इस अन्तरिक्ष को (अभि आसदत्) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) हे (वृत्रहन्तम) आवरणकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् ! आप (वरिवः धातमः) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धनों, रत्नों को धारण करने हारे, (मंहिष्ठः) और सब से बड़े दानी (भुव) हैं । आप ही (मघोनाम्) बड़े २ धनाढ्यों को भी (राध) धन (पर्षि) देकर पूर्ण करते हो ।

[६९२] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
महि द्युक्षतमो मद ॥ १ ॥

[६९३] यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः ॥ २ ॥ १६ ॥
ऋ० ९ । १०८ । १-२ ॥

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को (चेतति) ऐसे जान लेता है (यथा विदे) मानो उसे साक्षात् प्राप्त ही कर लेता है।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मंदेषु) अपने आत्मिक ज्ञान के आनन्द प्रवाहों में (सानसिं) सेवन भजन करने और (आभ) ग्रहण करने योग्य (वज्रं) काम क्रोधादि के वर्जन करने में समर्थ ज्ञानशक्ति को (आ अयंसत्) चारों ओर फेंके, फैलावे । (अप्सुजित्) क्रियाओं, प्रज्ञानों और प्राणों पर विजय प्राप्त करने हारा योगी (स भरत्) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का संग्रह करता हुआ (वृषणा) सुखों की वर्षा करने हारे उस परमात्मा को (गृम्णाति) पकड़ता, उसका आश्रय लेता या प्राप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६७] पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥१॥
१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६८] यो धारया पावकया परि प्र स्यन्दते सुतः ।
२ ३२ ३ २र
इन्दुरश्वो न कृत्व्य ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६६९] तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वाच्या धिया ।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञाय सन्त्वद्रयः ॥३॥१८॥ ऋ० ६ । १०१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४५] पृ० २७३।

(२) (इन्दुः) वह परम ऐश्वर्य, विभूतियों से सम्पन्न योगी (अश्वः न) अश्व के समान (कृत्व्यः) कर्म करने में कुशल होता है। (यः) जो (पावकया) पवित्र करने वाली (धारया) धारणा या ज्ञान धारा में (सुतः) निष्पन्न, विख्यात, उसमें निष्ट होकर (परि प्र स्यन्दते) चारों तरफ अपने ज्ञान-उपदेशों द्वारा विचरण करता है।

६६७—(३) 'यज्ञ हिन्वन्त्यद्रिभिः' इति ऋ० ।

(३) (तं) उस (दुरोपं) दुःखकारी रोष या दाह, प्रताप या तेज वाले (सोमं) सोम्य योगी के पास (नरः) लोग (विश्वाच्या धिया) विश्वव्यापी प्रेमबुद्धि से (अभि) आते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि वे (अद्रयः) पर्वत के समान स्थिर, अभेद्य हृदय या मेघ के समान आदरपूर्ण, उदार हृदय होकर (मशाय) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त (सन्तु) लगे रहें।

[७००] अभि प्रियाणि पवते चनो हितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते। आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुह द्विचक्षणः ॥ १ ॥

[७०१] ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्य। दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचनं दिवः ॥ २ ॥

[७०२] अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमाण कोश आ हिरण्यये। अभी ऋतस्य दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो विराजसि ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ७५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५४] पृ० २७६।

(२) (ऋतस्य) सत्यवादी, योगाभ्यासी की (जिह्वा) वाणी (प्रियं) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करने वाले, (मधु) आनन्दजनक रस और ज्ञान को (पवते) बहाती है। (अस्याः) इस (धियः पतिः) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और (वक्ता) सत्य वाणी का बोलने हारा (अदाभ्य) कभी नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता।

७००—(२) 'अधिरोचने' इति ऋ०।

(३) 'अभीमृतस्य' 'विराजति' इति ऋ०।

तब वह योगी (पुत्र॰) अपने मा बाप का सुपुत्र (पित्रोः) मा बाप से भी (अपीच्यं) अज्ञात, (तृतीयं) तीसरे (दिव अधि रोचनं) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश से युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला (नाम) स्वरूप या तेजस्वी पद (दधाति) प्राप्त करता है । एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, तीसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा, लोकमान्य, देशबन्धु आदि । यहा सत्यवाणी सोम है ।

(३) वह योगी आत्मा (द्युतानः) दीप्तिमान् होकर (नृभि॰) नयन करने हारे प्राणों से (येमानः) नियन्त्रित होकर (हिरण्यये) हिरण्मय, आनन्दमय (कोशे) कोश में (अव अचिक्रदद्) शनैः २ प्रवेश करता है । (ऋतस्य) सत्यमय ज्ञान के (दोहनाः) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाह (इम्) इसका (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं । (त्रिपृष्ठे) तीन प्राणों के स्पर्श या संगम-स्थान त्रिपुटी स्थल पर (उषस) प्रातःप्रभा के समान विशोका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विराजति) विराजमान होता है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७०३] यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥

[७०४] ऊर्जो नपात स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ २० ॥
ऋ० ६ । ४८ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्नि० सं० [३५] पृ० १५ ।

(२) (ऊर्जं) बल को (नपातं) न क्षीण होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हूं । (सः) वह (हिना) तो सदा (अस्मयु॰)

हमारा हितकारी है । (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को दान करने वाले उस परमात्मा को हम भी (दाशेम) अपना आत्मा समर्पण करें । वह (वाजेषु) संग्रामों या बल के कार्यों में (अविता) रक्षक (भुवद्) होता है और (वृधे) हमारी उन्नति के अवसरों पर (तनूनाम्) देहों और देहधारियों का (त्राता) पालक (उत) भी (भुवद्) होता है ।

२ ३ १ ३र ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७०५] एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
३ १ २ ३ १ ३
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १ ॥
२३क २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०६] यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।
१ ३ १ २
तत्रा योनिं कृणवसे ॥ २ ॥
१ २र ३ १ २ ३ १ २र ३
[७०७] न हि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां पते ।
२ ३ १ २
अथा दुवो वनवसे ॥३॥२१॥ ऋ० ६ । १६ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानी आत्मन् ! हे परमात्मन् ! तू (ते) अपने (मन) चित्त या मनन करनेहारे आत्मा का (उत्तरं) उन्नत (दक्ष) कर्म (दधसे) धारण कर । (तत्र) वहां तू (योनिं) आश्रयस्थान (कृणवसे) बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन् ! हे (नेमानां) इन्द्रियों और शरीर के (पते) पालक ! प्रभो ! (ते पूर्तम्) तेरा पूर्ति या तृप्ति करने वाला तेज या बल (अक्षिपद्) इन्द्रियों का नाश करने वाला (नहि) न (भुवद्) हो । (अथ) और इस कारण (दुवः) परिचर्या, सेवा या साधना को (वनवसे) स्वीकार कर ।

३ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २
[७०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०६] उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥
ऋ० ८ । २१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०८] पृ० २०७ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कर्मन्) समस्त कर्मों में (ऊतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको (उप) उपासना करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (उग्र.) तेजस्वी है (य) जो (धृषत्) शत्रु, काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वामिद् हि) तुझको ही हम (सखाय·) मित्र जीवगण मिलकर (सानसिं) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करने योग्य (अवितार) रक्षक रूप से (ववृमहे) वरते हैं ।

[७१०] अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
उदेव ग्मन्त उद्भिः ॥ १ ॥

[७११] वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांस चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

[७१२] युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा।
इन्द्रवाहा स्वर्विदा ॥३॥२३॥ ऋ० ८ । ९८ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०६] पृ० २०७

(२) हे (अद्रिव) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने हारे ! हे शूर ! नदियों से (वा न) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान या वेदमन्त्र (वावृध्वांस) सबसे बड़े महान् (त्वा) तुझको (यव्याभिः) तुझ तक पहुंचने वाली स्तुतियों से (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, अर्थात् वे तेरी महिमा को उससे और बढ़ाते हैं ।

(३) (इषिरस्य) सबको प्रेरणा करने वाले ईश्वर की (गाथया) स्तुति द्वारा ही योगी लोग (उरुयुगे) विशाल २ समाधि वाले (रथे) रमण-योग्य स्थान इस देह या रसस्वरूप आत्मा में, रथ में, घोड़ों के समान (वचोयुजा) वाणी द्वारा ही समाहित या वश होजाने वाले (हरी) हरणशील प्राण और अपान दोनों को (युञ्जन्ति) योग से अपने वश कर लेते हैं । वे ही दोनों (स्वर्विदा) ज्योति और सुख को प्राप्त कराने हारे (इन्द्रवाहा) आत्मा के वहन करने वाले दो अश्व के समान हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः । इति प्रथमोर्धः प्रपाठकः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयोर्धः प्रपाठकः ।

ऋषिः—१, ४ श्रुतकक्षः । २ १४, १५ वसिष्ठः । ३ मेध्यातिथिप्रियमेधौ । ५ इरिमिठिः । ६ कुसीदः काण्वः । ७ त्रिशोकः । ८ काण्वः प्रियमेधः । ९ विश्वामित्रः । १० मधुच्छन्दाः । ११ शुनःशेपः । १२ नारदः । १३ वामदेवः । १६ अवत्सारः । १७, १८ असितः काश्यपो अमहीयुर्वा । १९, २१ श्यावाश्वः । २० भरद्वाजादयः सप्त ऋषयः । २२ प्रथममन्त्रस्य श्यावाश्वः द्वितीयमन्त्रस्य प्रजापतिः, तृतीयमन्त्रस्य अम्बरीषः ॥ देवता—१—१२ इन्द्रः । १३, १६ अग्निः । १४ उषाः । १५ अश्विनौ । १७—२२ सोमः ॥ छन्दः—१, ११, १६—१९, २१ गायत्री । १२ उष्णिक् । १३—१५, २० बृहती । २२ प्रथमद्वितीयमन्त्रयोः उष्णिक् तृतीयस्या अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—११, १६—१९, २१ २२ षड्जः । १२ ऋषभः । १३—१५, २० मध्यमः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[७१३] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
३ १२ ३१२३ २३ ३२
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३१ २ ३ २ १२
[७१४] पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्याऽ३ऽसनश्रुतम् ।
२ ३ १ २
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २ ॥
२ ३१ २ ३१२ ३ २ ३२
[७१५] इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
३ १ २ ३ १ २
महाँ अभिज्ञ्वायमत् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक स० [१५५] पृ० ८७ ।

(२) (पुरुहूतं) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारे गये, (पुरुष्टुत) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, (गाथान्यं) गाथारूप, वेदवाणियों के श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सनश्रुत) सदाकाल से गुरूपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा को (इन्द्र) इन्द्र, (इति) इस प्रकार (ब्रवीतन) कहो । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान है ।

(३) (इन्द्र इत्) परमेश्वर ही (नः) हमें (महोनां) दिव्य तेजों से युक्त महान् (वाजानां) अन्नों और बलों का दाता, (नृतु) सबको अपने बल पर नचाने वाला (महान्) सबसे बड़ा (अभिज्ञु) सर्वत्र (आयमत्) सबको व्यवस्था में बांधता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७१६] प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥ १ ॥
१२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
[७१७] शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः ।
३ २ ३ १ २
चकृमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

७१३—(२) 'गाथान्यं' (३) 'महोनां' इति ऋ० ।

[७१८] त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो ।
त्वं हिरण्ययुर्वसो ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२६] पृ० ८७ ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (नरः) नेता लोग (सुदानवे) उत्तम दानी के लिये (द्युक्षं) दिव्य विशेषणों से युक्त (उक्थ) स्तुति करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस (सुदानवे) उत्तम दानी परमेश्वर के लिये (द्युक्षं) श्रेष्ठ दिव्य, (उक्थं) ओंकार पद वाली वेदमन्त्रमय स्तुति (शंसेद्) उच्चारण करे। हम भी (सत्यराधसे) सत्य ही से प्रकट होने वाले, या सत्यरूप उसी परमात्मा की स्तुति (चकृम) करें।

(३) हे (इन्द्र) ईश्वर ! (त्व) तू (न) हमारे (वाजयु) ज्ञान और अन्न, बल के देने वाला (त्वं गव्यु) तू आप ही इन्द्रिय, वाणी और रश्मियों गौवों के देने वाला है। और हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के करने वाले ! हे (वसो) सबको बसाने वाले परमात्मन् ! (त्वं) तु ही (हिरण्ययु) स्वर्ण के समान मनोहर हितकारी प्रिय, काम्य पदार्थों का भी देने वाला है।

[७१९] वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

[७२०] न घेमन्यदापपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमैश्चिकेत ॥ २ ॥

[७२१] इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥३॥३॥ ऋ० ८ । २ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२७] पृ० ८८ ।

(२) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान-वज्र के धारक इन्द्र ! (अपसः) कर्म के (नविष्ठौ) प्रारम्भ में मैं (अन्यद्) और किसी की (न च ईम्, आपपन) स्तुति नहीं करता। (तव इत् उ) तेरा ही (स्तोमैः) स्तुतियों द्वारा (चिकेत) ज्ञान करता हूं।

(३) (देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुन्वन्तं) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या सोम सवन या ईश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान-ऐश्वर्य लाभ करते हुए पुरुष को ही (स्पृहयन्ति) प्रेम करते हैं। (स्वप्नाय) सोते हुए आलसी पुरुष को (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते। (अतन्द्राः) आलस्य रहित होकर ही ये विद्वान्, देव या इन्द्रियगण (प्रमादं) अत्यन्त हर्ष को (यन्ति) प्राप्त होते हैं।

[७२२] इन्द्राय मद्वने सुत परिष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् विश्वा अधिश्रियो रणन्ति सप्त संसदः।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥३॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५८] पृ० ८८।

(२) (यस्मिन्) जिस इन्द्र में (विश्वा श्रियः) समस्त विभूतियां (अधि) अधिक शोभा देती हैं और जिसमें (सप्त संसदः) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किये हुए होता स्वरूप सात इन्द्रियगण (रणन्ति) ज्ञान-यज्ञ में आनन्दलाभ करते हैं उस (इन्द्रम्) आत्मा को (सुते) योग यज्ञ में ऋतम्भरा सिद्ध होने पर (हवामहे) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं।

[७२८] आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥१॥

[७२९] विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रमवोभिः ॥२॥

[७३०] न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम् ।
भीमं न गां वारयन्ते ॥३॥६॥ ऋ० ८ । ८१ । १ ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६७] पृ० ६३ ।

(२) हे इन्द्र (त्वा) तुझको हम (अवोभिः) तेरी रक्षाओं, ज्ञानों और कृपाओं के कारण (तुविकूर्मिम्) बहुत से कर्मों के करनेहारा (तुविदेष्णं) बहुतसे धन सम्पदाओं का दाता, (तुवीमघम्) बहुत उत्तम धनों, ज्ञानों से सम्पन्न (तुविमात्र हि) बहुतसे ज्ञान साधनों से युक्त भी (विद्म) जानते हैं ।

(३) हे शूर ! (भीम) भयजनक (गां न) जिस प्रकार सांड को कोई हटाने का साहस नहीं करता उसी प्रकार (भीमं) सबको भयजनक, सर्वव्यापक (दित्सन्तं) दान की कामना करते हुए तुझको (न देवाः) न विद्वान् लोग और (न मर्तासः) और न साधारण लोग (वारयन्ते) वारण करते हैं ।

[७३१] अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषं वनः ॥२॥

६९०—[२] 'तर्मातिसं' इति ऋ० ।

[७३३] इह त्वा गोपरीणसं महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥३॥७॥ ऋ० ८ । ४५ । २३-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मूरा.) मूर्ख (अविष्यव.) तुझे पालने पोषणे की चेष्टा करने हारे भोगी विलासी लोग (त्वा) तुझे (मा दभन्) नाश न करें । (मा उपहस्वान) तुझ पर उपहास करनेहारे, तेरे उपेक्षाकारी भी तेरा विनाश न करें । और (ब्रह्मद्विष.) वेद और ब्रह्मज्ञान का प्रेम न रखने वाले तेरा कभी सेवन न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें ।

मूर्ख लोग देह की पालना कर आत्मा का नाश करते हैं उपहासकारी लोग नास्तिक भी आत्मा का नाश करते हैं, पापों में वह जाते हैं और वेद और ब्रह्मविद्या के द्वेषी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते ।

(३) (यथा) जिस प्रकार (गौर. मृग.) गौर मृग (सर·) जल से भरे तालाब पर जाकर जल पीता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू यहा इस हृदय में विराज कर ब्रह्मानन्द के रस को (पिब) पान कर । (इह) यहा ही (गो-परीणस) इन्द्रियगण से परिवृत, जितेन्द्रिय (त्वा) तुझको (महे राधसे) बड़ी भारी ब्रह्मज्ञान-साधना के लिये (मन्दन्तु) साधक लोग आनन्दित करते हैं, जगाते हैं ।

[७३४] इदं वसो सुतमन्ध पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन् ररिमा ते ॥१॥

[७३५] नृभिर्धौतः सुतो अश्नैरव्या वारैः परिपूत. ।
अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥

[७३६] तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्त. ।
इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥८॥ ऋ० ८ । २ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्नि० स० [१२४] पृ० ६६ ।

(२) (नदीषु) नदियों में (निक्तः) स्नान कराये गये (अश्व न) अश्व के समान (नृभिः) नेता लोगों द्वारा (धौतः) मलादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया (अश्नैः) सूक्ष्म तत्वों तक पहुंचने, एवं आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा (सुतः) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान (अव्याः) चिति शक्ति या प्राण के (वारैः) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा (परिपूतः) परिशोधित, (नदीषु निक्तः) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है ।

(३) (यथा) जिस प्रकार हम (गोभिः) गो-रसों से (श्रीणन्तः) मिलाते और परिपाक करते हुए (यवं) यव के बने पकान्न को (स्वादुं) आनन्ददायक यवागू पाक (अकर्म) बना लेते हैं उसी प्रकार (तं) उस ज्ञानमय आत्मा को (ते) वे साधक लोग (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से (श्रीणन्तः) मिलाते, परिपक्व या दृढ़ करते या अभ्यास करते हुए (अस्मिन्) इस (सधमादे) आनन्द-जनक समाधि-दशा में हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तुझको (स्वादुं) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से (अकर्म) साक्षात् करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[७३७] इद ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।
पिबा त्वाऽ३स्य गिर्वणः ॥१॥

[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुते नियच्छ तन्वम् ।
स त्वा ममत्तु सोम्य ॥२॥

[७३९] प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।
प्र बाहू शूर राधसा ॥३॥९॥ ऋ० ३ । ५१ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [१९९] पृ० ९२ ।

(२) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (यः) जो (स्वधाम्) स्व-अर्थात् अपने स्वरूप में धारण करने के (अनु) अनन्तर (असत्) प्रकट होता है (सुते) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ! (तन्वं) अपने स्वरूप को (नि यच्छ) नियमित कर, समर्पित कर । हे सोम्य ! सोमरस के पान करने योग्य आत्मन् ! वह ज्ञानरस (त्वा) तुझको (ममत्तु) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! वह ज्ञानरस और आनन्दरस (ते कुक्ष्योः) तेरे दोनों ज्ञान और कर्मरूप पार्श्वों को और (शिरः) शिर को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अश्नोतु) व्याप्त करे या दुःखों को बाधे । और हे शूर ! (ते बाहू) तेरी बाहुओं को (राधसा) बल, ऐश्वर्य से पूर्ण करे ।

आत्मा के दोनों कानों और शिर का व्याख्यान देखो (तैत्ति० उप० १)

[७४०] आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१॥

[७४१] पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२॥

[७४२] स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्याम् ।
गमद्वाजेभिरा स नः ॥३॥१०॥ ऋ० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [१६४] पृ० ८१ ।

(२) (पुरूणां) प्रजाओं और इन्द्रियों में सबसे (पुरूतमम्) श्रेष्ठ (वार्याणाम्) वरण करने योग्य ज्ञानों और धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्)

राजा और आत्मा की (सुते सोमे) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबके प्रेरक, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सचा) साथ मिलकर (अभि प्र गायत) गान करो, उसकी स्तुति करो।

(३) (स घ) वही आत्मा (नः) हमारी (योगे) समाधिदशा में (आभुवत्) साक्षात् होता है। (स राये) वही नाना ज्ञान, तप, रूप धनप्राप्ति के अवसर में और (स) वही (पुरन्ध्या) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या देह को धारण करने हारी बुद्धि द्वारा भी (आभुवत्) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। (स. न.) वह हमारे पास (वाजेभिः) ज्ञानों द्वारा (गमत्) प्राप्त हो।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[७४३] योगे योगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[७४४] अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७४५] आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजेभिरुप नो हवम् ॥३॥११॥ऋ० १। ३०। ७, ९, ८॥

भा० —(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१६३] पृ० ६१।

(२) (प्रत्नस्य) बहुत प्राचीन (ओकसः) परम आश्रयरूप मोक्ष के प्रति (नरं) लेजाने वाले (तुविप्रतिं) बहुतों की कामना पूर्ण करने हारे परमेश्वर को (अनु हुवे) पुनः २ प्रतिदिन स्मरण करता हूं। (यं) जिस (ते) तुझको (पिता) हमारे पालन करनेहारे साक्षात् गुरु, आचार्य आदि (पूर्वं) हमसे पहले (हुवे) स्तुति करते रहे।

(३) (यदि) यदि वह परमेश्वर (नः) हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रवत्) सुनले तो वह (सहस्रिणीभिः) सहस्रों बलशालिनी (ऊतिभिः)

रक्षा करनेहारी शक्तियों से और (वाजेभिः) सहस्रों सत्य ज्ञानों के सहित (उ आगमत् च) साक्षात् प्रकट ही होजावे ।

[७४६] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।
विदे वृधस्य दक्षस्य महां हि षः ॥ १ ॥

[७४७] स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः ।
सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् ।
भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८।१३।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८१] पृ० १६७ ।

(२) (स) वह परमेश्वर (प्रथमे) सबसे श्रेष्ठ (व्योमनि) विशेष रूप से शरण प्राप्त करने योग्य (देवानां सदने) विद्वान् ज्ञानी और मुक्त पुरुषों के आश्रय या निवास करने योग्य लोक में (वृधः) सबसे बड़ा है । वह (सुपारः) उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, और कष्टों से तराने वाला (सुश्रवस्तमः) उत्तम यश और ज्ञान का धारण करनेहारा, (समप्सुजित्) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फंसे जीवों में सबसे उत्कृष्ट एवं आदि मूल कारण प्रकृति पर भी वश करने वाला है ।

(३) (तम्) उस (भराय) भरण पोषण करनेहारे, अथवा (भराय=हराय) कर्मजाल को हरण करके मुक्तिमार्ग में लेजाने वाले (शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् को ही मैं (इन्द्रं) 'इन्द्र' नाम से (हुवे) पुकारता हूं । वह परमात्मा (नः) हमारे (सुम्ने) सुखप्राप्ति और (वृधे) वृद्धि करने के निमित्त (अन्तमः) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

७४६—(३) 'तमु हे' इति ऋ० ।

[७४९] एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

[७५०] स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥२॥१३॥

ऋ० १० । ६ । ५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४५] पृ० २० ।

(२) (सः) वह परमात्मा (अरुषा) दीप्तिमान्, (विश्वभोजसा) विश्व, समस्त संसार का भोग कराने हारे पालक सूर्य और पृथिवी दोनों को (योजते) नियुक्त करता है । वह (स्वाहुतः) उत्तम रूप से कीर्तित परमात्मा ही (दुद्रवत्) सर्वत्र व्यापक है । वही (सुब्रह्मा) उत्तम ज्ञानवान्, सबका उत्पादक है और वही (यज्ञः) महादानी, यज्ञस्वरूप, (सुशमी) उत्तम शान्त गुण सम्पन्न है । (वसूनां) वास करने हारे (जनानां) जन्तुओं के (राध देवं) उस आराधनीय देव की उपासना करो ।

[७५१] प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३ऽच्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

[७५२] उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥२॥१४॥

ऋ० ७ । ८१ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०३] पृ० १४४ ।

(२) (सूर्यः) सबका प्रेरक उत्पादक परमात्मा (उस्रियाः) वास करने योग्य किरणों और भूमियों को (सचा) एक साथ सूर्य के समान (उत्सृजते) प्रकट करता है और (उद्यन्) उदित होता हुआ भी स्वयं (नक्षत्रम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाले नक्षत्र के समान स्थिर तथा

व्यापक (अर्चिवत्) तेजोमय है। हे (उषः) पापदाह करने वाली ज्योतिष्मतिः! प्रज्ञे! (तव इत्) तेरे और (सूर्यस्य च) सूर्य के समान तेजोमय आत्मा के (वि उषि) प्रसर तेज से प्रकट होने के अवसर में (भक्तेन) भजन करने योग्य उस इष्टदेव से (सं गमेमहि) हम सत्संग करें, उसका ध्यान करें।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
[७५३] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५४] युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
अर्वाग्रथं समनसा नियच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥१५॥
ऋ० ७ । ७४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०४] पृ० १५५ ।

(२) (अश्विना) हे अश्वियो! प्राण अपान नामक नेताओ! या विद्वान स्त्री पुरुषो! आप दोनों (चित्रं) संग्रह करने योग्य, विविध प्रकार के (भोजनं) भोग योग्य पदार्थ (ददथुः) देते हो। और (सूनृतावते) सूनृता, नाम वेदवाणी को धारण करनेहारे के लिये धन (चोदेथा) प्रदान करते हो। आप (समनसा) समान मन वाले होकर (अर्वाग्) नीचे की ओर या (अर्वाग्) इन्द्रियों के प्रति जानेहारे (रथं) अपने वेग या वेगवान् आत्मा या मन और शरीर को (नियच्छतं) नियन्त्रित करो, वश करो और आप दोनों (सोम्यं मधु) सोमरसयुक्त मधुररस उत्तम शुद्धवायु, और आरोग्यता का (पिबतम्) पान करो।

प्राणायाम का अभ्यासी प्राण को अपान में और अपान को प्राण में आहुति दे और ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करे।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५५] अस्य प्रत्नामनुद्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रय ।
१ २ ३ १र २र
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १ ॥
३ १र २ १र ३ २ ३ १र २र
[७५६] अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति ।
३ २ ३ २र ३ १र २र
सप्त प्रवत आदिवम् ॥ २ ॥
३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[७५७] अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि ।
१ २ ३ १र २र
सोमो देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ५४ । १, ३ ॥

भा०—(१) (अस्य) इस सोमस्वरूप परम आत्मा की (प्रत्नाम्) अनादि काल से चली आई, पुरानी (द्युतम्) वेदज्ञानरूप कान्ति को (अनु) अनुसरण करके (अह्रय.[1]) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, (सहस्रसाम्) सहस्रों फलों को देने वाले, (शुक्रं) शुद्ध, पापरहित (ऋषिं) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे (पयः) ज्ञान, वेदराशि को (दुदुह्रे) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(२) (अयं) यह सोम (सूर्य इव) सूर्य के समान (उपदृग्) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, एव लोकों का द्रष्टा है (अयं) यह सोम (सरांसि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, (दिवम्) आकाश के (सप्त) सात प्रकार के (प्रवत) गतिमान् पदार्थों को चलाता है। अध्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा (सरांसि) इन्द्रियों में स्वयं गति करता है और द्यौः अर्थात् मूर्धास्थान में (सप्त प्रवत.) सात शीर्षण्य प्राणों को भी गति देता है।

(३) (अयं) यह (सोमः) सोम, परमात्मा (सूर्यः न) सूर्य के समान (विश्वानि) समस्त (भुवना उपरि) लोकों के ऊपर (पुनान)

७५५—१, अह्रयो गाव इति महीधरः।

उनको गति देता हुआ और पवित्र करता हुआ (तिष्ठति) उनपर शासन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है ।

३ २ ३ १ ३ १ २   ३ १ ३ १ २   ३ १
[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्य सुतः ।
१ २ ३ १ २
हरिः पवित्रे अर्षति ॥ १ ॥   ऋ० ९ । ३ । ९ ॥
३ २ ३ १ ३ १ २   ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि ।
३ १ २   २ २
कविर्विप्रेण वावृधे ॥ २ ॥   ऋ० ९ । ४२ । २ ॥
३ १ ३ १ २   २ २   ३ ३ ३ १ २
[७६०] दुहान. प्रत्नमित्पयः पवित्रे परिषिच्यसे ।
१ २ ३ १ २
क्रन्दन् देवां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । ४२ । २ ॥

भा०—(१) (एष·) यह सोम (देव·) ज्योतिर्मय आत्मा (प्रत्नेन) अनादिकाल से चले आये (जन्मना) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ (सुत) प्रकट होकर (हरि) हरणशील, उनको गति देनेहारा होकर (पवित्रे) प्राण और अपान के बने मलशोधन करने वाले, साधन में (अर्षति) गति करता है ।

प्राणापानौ पवित्रे । तै० ३ । ३ । ४ । ४ ।

(२) (एष·) यह सोमस्वरूप जीव (प्रत्नेन) अनादिकाल से वर्त्तमान (मन्मना) मनन शक्ति द्वारा (देवेभ्य·) अपनी दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त (देव.) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन (कवि·) मेधावी, ज्ञानी होकर भी (विप्रेण) मेधावी परम ब्रह्म प्रजापति के साथ (परिवावृधे) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है ।

प्रजापतिर्वै विप्रः, देवा· विप्रा· । शतपथ ६ । ३ । १ । १६ ॥

७५९—'धारयापवते सुतः ।' इति ऋ० । ७६०—'अजीजनन्' इति ऋ० ।

(३) हे सोम ! (प्रत्नम् इत्) पुराने, अनादिकाल से चले आये (पय:) प्राण, जीवन को ही (दुहानः) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही (परि सिच्यसे) पवित्र किया जाता है। (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ, 'सोहं' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू (देवान्) इन्द्रियगण को (अजीजनः) प्रकट करता है।

प्राणा पय. ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १५ । और १२ । ३ । ३ । ३१ । अन्तर्हितमिव वा एतद् यत् पयः । ताण्ड्य० ८ । ६ । २ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६१] उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे।
१ २ ३ २ ३ २
पवमान विदा रयिम् ॥१॥ ऋ० ९ । १९ । ६ ॥

२ ३ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ र
[७६२] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्।
१ २ ३ १ २
इन्दुं देवा अयासिषु ॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६३] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे।
३ २ ३ १ २ र
अभि देवाँ इयक्षते ॥३॥१८॥ ऋ० ९ । ११ । १ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) पावन करने वाले! हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (अपतस्थुषः) नीचवृत्ति से स्थिति रखने हारों को (उपशिक्ष) शिक्षा दो कि वे अपनी बुरी वृत्ति को छोड़कर भले मार्ग में आवें। (शत्रवे) शत्रु को (भियसम्) भय (आधेहि) दिखाओ। हे प्रभो ! (रयिम्) धन को (विदा) प्राप्त कराओ।

अग्निर्ऋषिः पवमान: । ऐ० २ । ३७ ॥ प्राणो वै पवमान: ॥ श० ९ । २ । १ । ६॥ आत्मा वै पवमानः । तां० ७।३।७ ॥ पुष्टं वै रयिः । श० २।३। ७।१३ । वीर्यं वै रयि: । श० १३ । ४ । २ । १३ ॥ पशवो वै रयिः ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६२१] पृ ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७६४] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥१॥

[७६५] अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।
वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

७६६ सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥ १६॥ ऋ० ९ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) (बभ्रव.) बभ्रु वर्ण वाले, काषाय वस्त्रधारी विद्वान् लोग (ऋतस्य) ज्ञान और तप की (धारया) धारणा से (शुक्राः) कान्तिमान्, (अभि द्रोणानि) राष्ट्रों के प्रति (अभि) आकर (गोमन्तम्) वेदवाणी से युक्त या पश्वादि से सम्पन्न (वाजं) ज्ञान या धन को (अभि क्षरन्) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अध्यात्म में—(बभ्रव) पुष्टिकारक प्राण और (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धारया) धारण करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा से (शुक्राः) कान्ति या ज्योति से सम्पन्न होकर (द्रोणानि) प्राणेन्द्रियों के प्रति (अक्षरन्) प्रवाहित होते हैं । और (गोमन्त) वाणी से युक्त (वाज) ज्ञान को (अभि अक्षरन्) साक्षात् प्रकट करते हैं ।

राष्ट्रं द्रोणकलशः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणो वै द्रोणकलशः ता० । ६ । ५ । १९ ।

७६४—'अपो नयन्त्यूर्मयः' इति ऋ० ।

७६६—'अर्षन्ति' इति ऋ० ।

(३) (सुताः सोमाः) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ (वायवे) प्राणस्वरूप (वरुणाय) ज्ञानी (विष्णवे) सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन (इन्द्राय) आत्मा के लिये और (मरुद्भ्यः) विद्वानों के लिये (अर्षन्तु) प्राप्त हों ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६७] प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥१॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[७६८] आ हर्यतो अर्जुने अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ॥२॥२०॥

ऋ० ६ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५१४] पृ० २२४ ।

(२) (हर्यतः) हरण करने योग्य, प्रिय (अर्जुनः[1]) इन्द्र, आत्मा (प्रियः) प्राणों का प्रिय, इष्ट (सूनुः न) पुत्र के समान (मर्ज्यः) संभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह (अत्के) सर्वव्यापक ब्रह्म में (आ अव्यत) मग्न होजाता है और (तम् ईं) उसको ही (गभस्त्योः) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इडा और पिंगला के बीच की (नदीषु) धाराओं या नाड़ियों में (अपसः) वेगवान् प्राण या ध्यान वृत्तियों को उसी प्रकार (आ हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (यथा) जिस प्रकार (अपसः) वेगवान् सुभट (रथं) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।

१. अर्जुनो ह वा इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम ॥ श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[७६९] प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
३ २ ३ १ २
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

७६९—'मघोन' इति ऋ० ।

[७७०] आर्द्रं हसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम् ।
अत्यो न गोभिरज्यते ॥२॥

[७७१] आर्दो त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥३॥ २१॥ ऋ० १० । ३२ । १, ३, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७७] पृ० २४० ।

(२) (आत्) और (गणं) उत्पन्न होने वाले (ईं) इस शरीर-गत प्राणगण को (हंस) आत्मा (यथा) जिस प्रकार से (अवावशत्) वश करता है उसी प्रकार वह परमात्मा (विश्वस्य) समस्त संसार के (मतिं) मनों को भी (अवीवशत्) वश करता है । और (अत्य न) जिस प्रकार अश्व (गोभिः) नाना प्रकार की चालों से (अज्यते) अपने गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख, दुःख, ज्ञान आदि गतियों से और वह प्रभु अपने बनाये गतिशील पिण्डों और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है ।

[७७२] अया पवस्व देवयुरेभन् पर्येषि विश्वत ।
मधोर्धारा असृक्षत ॥ १ ॥ ऋ० ६ । १०६ । १४ ॥

[७७३] पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यश' ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १०६ । १३॥

[७७४] प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वच. ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगव' ॥ ३ ॥ २२ ॥
ऋ० ६ । १०१ । १३ ॥

भा०—(१) हे सोम ! योगिन् ! (देवयु.) अर्थों का प्रकाश करने वाले विद्वानों और इन्द्रियगणों से युक्त होकर । (अया) इस (धारणा)

७७२—(१) द्वितीयतृतीयपादयोर्विपर्ययः, ऋग्वेदे ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २ ३ १ २ ३ १ २
[७७५] पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः ।
३ १ २र ३ १ २
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ २ १र २र ३ १ २
[७७६] त्वं समुद्रिया अपाग्रियो वाच ईरयन् ।
१ २
पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥
२ ३ १र २र ३ १ २
[७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
१ २ ३ १ २
तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २५-२७ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी (चित्राभिः) पूजनीय (ऊतिभिः) शक्तियों और रक्षा-कार्यों और ज्ञानों सहित (वाचः) हमें वेदवाणियां (पवस्व) प्राप्त कराते हो । और (विश्वानि) समस्त (काव्या) क्रान्तदर्शी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के (अभि) साक्षात् वाच्य हो ।

(२) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के देखने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार (अग्रियः) सबके अग्रणी सबसे प्रथम वर्त्तमान, सबसे मुख्य, अनादि (वाचः) वेदवाणियों को (ईरयन्) प्रकट करते हुए आप (समुद्रियाः) भली प्रकार उन्नति की ओर लेजाने वाले (अप) कर्मों को (पवस्व) उपदेश करते हो ।

(३) हे (कवे !) मेधाविन् ! हे (सोम) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! (महिम्ने) विशाल महिमास्वरूप (तुभ्यं) तेरे लिये (इमा भुवना) ये समस्त लोक (तस्थिरे) स्थिर हैं । (तुभ्यं) तेरे लिये ये (धेनवः) वाणियां और नदियां (धावन्ति) गति कर रही हैं, प्रकट होती

७७५—(१) 'विश्वमेजय' इति ऋ० । (३) 'तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः' इति ऋ० ।

हैं, दौड़ रही हैं। अर्थात् ये समस्त लोक और देववाणियां, नदियां काम-धुक् भूमियां तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७७८] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३१ २ ३ १२ ३ २
[७७९] यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः।
१ २ ३ १ २ ३ २
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे।
३ २ ३ २
रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९। ६१। २८, ३०॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! आप (सुतः) सामर्थ्यवान् (वृषा) सब सुखों के वर्षाने वाले (पवस्व) हमारे समीप प्रकट होओ। और (जने) जनसमूह में (नः) हमें (यशसः) यशस्वी (कृधि) करो। और (विश्वा) समस्त (द्विषः) हमसे अप्रीति करने हारे, हमारे अनिष्टकारियों को (अप जहि) दूर करो।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (यस्य ते) जिस तेरे (सख्ये) मित्र भाव में रहते हुए (पृतन्यतः) सेनाएं लेकर चढ़ाई करने हारे विरोधियों को (सासह्याम) पराजित करें उस (तव) तेरे (उत्तमे) उत्तम (द्युम्नम्) तेज या ऐश्वर्य या यश के अधीन हम सदा रहें।

(३) हे प्रभो! (या) जो (ते) तेरे (तिग्मानि) तीक्ष्ण (आयुधा) हथियार (धूर्वणे) हिंसाकारियों के लिये (सन्ति) हैं उन द्वारा (नः) हमारी (समस्य) समस्त (निदः) निन्दाकारियों से (रक्ष) रक्षा कर।

राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है।

७८०—(३) द्वितीयतृतीययोः पादयोर्विपर्ययः, ऋ०। ,, ,,

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८१] वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
२ ३ २ ३
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः।
१र २र३ १र २र
स त्वं वृषन्वृषेदसि ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ ३ १र २र ३ १र २र
[७८३] अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः।
१ २ ३ १र २र
वि नो राये दुरो वृधि ॥३॥३॥ ऋ० ६। ६४। १–३॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अर्चि० सं० [४०४] पृ० २४० ।

(२) हे वृषन्! सबसे महान् सब सुखों के वर्षा करने हारे! हे (सोम) सर्वोत्पादक! सर्वप्रेरक! (वृष्णः) वर्षणशील (ते) तेरा (शव) बल और ज्ञान (वृष्ण्यं) सुखवर्षक है। तेरा (वनं) भजन सेवन भी सुखदायक है और (सुत.) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक है। (स त्व) वह तू (वृषा इव्) सदा सुखवर्षक (असि) है।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (वृषा) सब सुखों के वर्षक आप (अश्व. न) भोक्ता आत्मा के समान (गाः) ज्ञानेन्द्रियों को (सं चक्रद्) अच्छी प्रकार नादित करो, ज्ञानवान् करो। और (अर्वत.) अश्व के समान दौड़ने हारी प्राणेन्द्रियों को भी (प्र चक्रद्) बलवान् करो। अथवा (अश्वः न) राष्ट्र या राजा जिस प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता है उसी प्रकार आप सर्वव्यापक, सर्वेश्वर होकर (गा.) वेदवाणियों का उपदेश करो और (अर्वत) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो। आप (नः) हमारे (दुर.) द्वारों को (राये) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त (वि वृधि) और अधिक खोल दो।

७८१—(२) 'धर्माणि' 'दधिषे' इति ऋ०।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८४] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
१ २ ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥१॥
२ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८५] यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥
१ २ ३ २ ३ १ २
[७८६] आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध ।
३ १ २ ३ १ २
इहो ष्विन्दवागहि ॥३॥४॥ ऋ० ९ । ६५ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्नि० सं० [४८०] पृ० २४१ ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! (आयुभिः) मनुष्यों या प्राणों द्वारा (मर्मृज्यमान) परिशोधित होकर (यद्) जब (अद्भिः) योगाभ्यास के कर्मों द्वारा, या ज्ञान धारणाओं द्वारा (परिषिच्यसे) पुन. २ स्वच्छ किया जाता है तब (द्रोणे) इस मूर्धास्थल या देह में (सधस्थम्) अपने साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा को भी (अश्नुषे) प्राप्त कर लेता है ।

(३) हे (स्वायुध) उत्तम आयुधों से सम्पन्न समाधि में ध्येय इष्ट देव के संग मिलने के लिये उत्तम यम नियम के साधनों से सम्पन्न आत्मन् ! आप (मन्दमान) आनन्दमय होकर (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य को (आ पवस्व) प्रकट करो । हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! द्रवणशील, रस रूप से बहने वाले ! (इह उ) यहां ही इस अन्तःकरण में (सु आगहि) उत्तम रूप से आ, प्रकट हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७८७] पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।
३ १ २र
सखित्वमावृणीमहे ॥१॥

७८५—'मृज्यमानो गभस्त्योः वृषा' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २, ३ १ २
[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया।
१ २
तेभिर्नः सोम मृळय ॥२॥
१ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८९] स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम् :
१ २ ३ १ २
ईशानः सोम विश्वतः ॥३॥५॥ ऋ० ९। ६१। ४-६॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा या अन्त करण को (अभि उन्दतः) साक्षात् द्रवित करते हुए, आपकी तरफ बहते हुए भावयुक्त बनाते हुए (पवमानस्य) सबके परम पावन (ते) आपके (सखित्वं) मित्रभाव को हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं।

(२) हे (सोम) समस्त संसार के उत्पादक ! प्रेरक ! (ते ऊर्मय०) तेरी शक्तियां (धारया) समस्त संसार को धारण करने वाली शक्ति के रूप में (पवित्रम्) हमारे अन्त करण में (अभि चरन्ति) प्रकट होती हैं तू (तेभि.) उनसे (न) हमें (मृडय) सुखी कर।

(३) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! (स) वह अतिप्रसिद्ध आप (ईशानः) समस्त संसार पर वश करने हारे स्वामी (न.) हमें (पुनानः) पवित्र करते हुए (रयिं) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त कराइये और (वीरवतीम्) बलसम्पन्न (इषम्) अन्न आदि पदार्थों या इच्छा शक्ति को (विश्वत.) सब ओर से प्राप्त कराइये।

इति प्रथम खण्ड।

—:0:—

३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७९०] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

[७६१] अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् ।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

[७६२] अग्ने देवाँ इहावह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
असि होता न ईड्य ॥३॥६॥ ऋ० १ । १२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिः सं० [३] पृ० २ ।

(२) विद्वान् लोग (अग्निम्-अग्निम्) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद, आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक (विश्पतिं) सब प्रजाओं के स्वामी, (पुरुप्रियं) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, (हव्यवाहं) समस्त स्तुतियां को धारण करने वाले परमात्मा को ही (हवीमभि) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से (सदा) नित्य (हवन्ते) स्म-रण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप (देवान्) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को (वृक्तबर्हिषे) देह-बन्धनों को काट देनेहारे, जीवन्मुक्त, कुशल पुरुष के लिये (इह) इस संसार में (जज्ञानः) उनके सब रहस्यों को प्रकट करते हुए (आ वह) हमें प्राप्त कराओ। आप (होता) सबको अपने भीतर आहुतिरूप में ले लेने हारे एवं सबको सुख ऐश्वर्य के दाता होकर (नः) हमारे (ईड्यः) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७६३] मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये ।
या जाता पूतदक्षसा ॥ १ ॥

[७६४] ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती ।
ता मित्रावरुणा हुवे ॥ २ ॥

[७९५] वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः ।
करतां नः सुराधसः ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २३ । ४-६ ॥

भा०—(१) (वयं) हम लोग (सोमपीतये) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये (मित्रं) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और (वरुण) शरीर के विघ्नों का वारण करने हारे अपान को (हवामहे) परस्पर में आहुति देते या उनको वश करते हैं। (या) जो दोनों (पूतदक्षसा) पवित्र कर्म करने हारे, मल के शोधक होकर (जाता) विद्यमान एवं प्रकट हैं।

(२) मैं (तौ) उन (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को (हुवे) पुकारता हूं (यौ) जो दोनों (ऋतेन) जीवनमय यज्ञ मे या सत्य के बलपर (ऋतावृधौ) वास्तविक सत्य और जीवन को वृद्धि करने हारे (ऋतस्य) सत्य आत्मा को (ज्योतिषःपती) आनन्दमय विशोका, ज्योति के पालन करने हारे हैं।

(३) (वरुणः) वरुणस्वरूप अपान (प्राविता) देह को दुःखों से बचाने वाला (प्र भुवत्) होता हुआ और (मित्रः) मित्र, प्राण (विश्वाभिः सब प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षण शक्तियों से (नः) हमारे (सुराधसः) उत्तम साधनाएं (करताम्) सिद्ध करें।

[७९६] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥

[७९७] इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ २ ॥

[७९८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ ३ ॥

१ २ ३१ ३ १२३ १र २र ३ २
[७९९] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।
३क ३ १ ३
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । १,२,४,३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१९८] पृ० १०४ ।

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [२९७] पृ० ३०१ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [२९८] पृ० ३०१ ।

(४) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (दीर्घाय) दूर देश तक के पदार्थों को (चक्षसे) दर्शन करने अर्थात् दिखलाने के लिये (दिवि) आकाश में सूर्य के समान उच्च ज्ञान में (सूर्यं) तेजस्वी विद्वान् को (आ ऐरयद्) स्थापित करता है । और (गोभि:) रश्मियों द्वारा (अद्रिम्) मेघ के समान आनन्दवर्षी आत्मा को (ऐरयत्) विशेष रूप में प्रेरित करता है ।

१ २ ३ १र ३र ३ १ २ ३ १र २र
[८००] इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे ।
३ १र २र ३ १ २
धिया धेना अवस्यवः ॥ १ ॥

१र २र ३ १ २ ३ १र २र २ १ २
[८०१] ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये ।
३ २ ३ १ २
सबाधो वाजसातये ॥ २ ॥

३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २
[८०२] ता वां गीर्भिर्विपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे ।
३ १ २ ३ १ २
मेधसाता सनिष्यवः ॥ ३ ॥९॥ ऋ० ७ । ९४ । ४–६ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, (अग्नौ) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित और अन्धकारमय, अज्ञान मार्गों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता, अग्निस्वरूप परम आचार्य में (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार और (बृहद्) बहुत (सुवृक्तिम्) उत्तम गुण स्तुतियों का (आ ईरयामहे) प्रयोग करें । और (अवस्यवः) ज्ञान, रक्षा, तेज और उत्तमगुणों की कामना वाले

होकर हम (धिया) ध्यान और मननपूर्वक (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

(२) (विप्राः) मेधावी विद्वान् लोग (ता) इन्द्रस्वरूप और अग्निस्वरूप परम गुरुओं के प्रति (शश्वन्तः) अनादि काल से (ऊतये) आत्मरक्षा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये (इत्था) इसी प्रकार की सत्यवाणियों द्वारा (सबाधः) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन (वाजसातये) ज्ञानप्राप्ति के लिये (ईडते) स्तुति करते हैं ।

(३) हम (विपन्यवः) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी (मेधसातौ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये (सनिष्यवः) भजन करने की कामना से (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (ता वा) उन आप दोनों को (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[८०२] वृषा पवस्व धारया । मरुत्वते च मत्सरः ।
विश्वा दधान ओजसा ॥ १ ॥

[८०३] तं त्वा धर्त्तारमोण्योऽ३ऽपवमान स्वर्दृशम् ।
हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया ।
युजं वाजेषु चोदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [४६३]

(२) हे (पवमान) समस्त संसार को गति देने हारे परमात्मन् ! (ओण्योः) दुःखों को दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के (धर्तारं) धारण करने वाले (स्वर्दृशम्) परमसुख या ज्ञान के प्रकाश को

दर्शाने हारे (वाजिन) ज्ञान और बल के भंडार आपको (वाजेषु) बल के कार्यों, संग्राम आदि के अवसरों पर (हिन्वे) स्मरण करता हूं।

(३) हे सोम ! (हरि॰) सब दुःखों के हरण करने हारे आप (अया) इस (विपानया) विशेष रूप से पान करने योग्य (धारया) ब्रह्मानन्द की धारा से (चित्तः) चेतनामय स्वरूप से पृथक् प्रकट होकर (वाजेषु) ज्ञानों और ऐश्वर्यों में आप (युजम्) योग करने हारे इस साधक को (चोदय) प्रेरित करो।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३१
[८०५] वृषा शोणो अभि कनिक्रदद्गा नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम्।
१ २ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम्॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २ ३ ३ २
[८०६] रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम्।
१ २ २ ३१२ ३ १ ३ २र ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः॥
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०७] एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन् वधस्नुम्।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्तः

॥ ३ ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ९७ । १३—१५ ॥

भा०—(१) (शोणः) गतिमान्, सर्वव्यापक (वृषा) सब सुखों की वर्षा करने हारा परमात्मा (कनिक्रदद्) शब्द या ज्ञानोपदेश करता हुआ, या मेघ जिस प्रकार (गाः) भूमियों को जलसे सींचता है और महावृषभ जिस प्रकार गर्जता हुआ गौओं में वीर्य सेचन करता है और आचार्य जिस प्रकार गम्भीर उपदेश से शिष्यों रूप भूमियों को या उनकी चित्त-भूमियों को ज्ञान से सींचता है उसी प्रकार (नदयन्) प्रतिध्वनि करता हुआ

८०५—(१) 'नदयन्नेति' 'प्रचेनयन्नर्षति' इति ऋ० ।
[२] "नमयन् वधस्नैः' इति ऋ० ।

(पृथिवीम्) पृथिवी (उत द्याम्) और आकाश में सर्वत्र (एषि) व्यापक है (इन्द्रस्य इव) भीतर बैठे २ अपने अन्तरात्मा के समान उसकी (वग्नु:) वाणी (आजौ) हृदय में (शृण्वे) सुनता हूं। वह तू (प्रचोदयन्) अन्त:करणों को प्रेरित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ (इमाम् वाचम्) वेदवाणी या स्तुति को (अर्षसि) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त होता है।

१. शुन गतौ इत्यस्माच्छ्रोण:।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (रसाय्य:) आनन्द रस से परिपूर्ण, (पयसा) ज्ञान से (पिन्वमान:) तृप्त करता हुआ, (मधुमन्तं) मधुर, ज्ञान, ब्रह्मविद्या से युक्त (अंशुम्) व्यापक आत्मा को तू (एषि) प्राप्त होता है। तू (पवमान) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ (इन्द्राय) अन्तरात्मा के लिये (परिषिच्यमानः) रसके समान सेचन किया जाता हुआ, पुनः २ ध्यान किया गया (सन्तनिं) निरन्तर बंधी धारणा को (कृण्वन्) दृढ़ करता हुआ (एषि) हृदय में आ, विराज।

(३) हे (सोम) आनन्दमय ! रसस्वरूप ! (मदिर:) हर्ष को जागृत करने हारा (उद्-ग्राभस्य) सत्य ज्ञान के ग्रहण करने हारे आत्मा के (वधस्नु) विद्युत् द्वारा ताड़ना करने पर स्रवण करने वाले मेघ के समान, प्राणों के वश करने पर धर्ममेघ द्वारा आनन्द रसको वर्षा देनेहारे, चित्त या आत्मा को (नमयन्) अपने अधीन करता हुआ (पवस्व एव) अवश्य प्रकट हो। और (रुशन्तं) कान्ति से सम्पन्न (वर्ण) वरण करने योग्य स्वरूप को (परि भरमाणः) सब ओर से धारण करता हुआ (सिक्त:) सर्वत्र व्याप्त या आनन्द से पूर्ण होकर (गव्यु:) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ (अर्ष) स्रवित हो, प्रकट हो।

इति तृतीय: खण्ड:।

[८०८] त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्ववर्तः ॥ १ ॥

[८०९] स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र संकिर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥२॥१२॥
ऋ० ६। ४६ । १-२ ॥

भा०—व्याख्या देखो आर्चि० सं० [२३४] पृ० १२० ।

(२) हे (चित्र) पूजनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! (वज्रहस्त) खड्ग के धारण करने वाले वीर पुरुष के समान ज्ञानमय खड्ग को अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! हे (अद्रिवः) अभेद्य, अखण्डनीय बलधारक ! परमात्मन् ! (धृष्णुया) आप सबका धर्षण करने वाले, (महः) महान्, तेजःस्वरूप (स्तवानः) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर (जिग्युषे) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष के प्रति (वाजं न) जिस प्रकार ज्ञान ऐश्वर्य आप देते हैं उसी प्रकार (रथ्य) इस रथरूप देह के हितकारी हमें (गाम्) गौः=ज्ञानेन्द्रियां और (अश्वम्) अश्व, कर्मेन्द्रियों को भी (सत्रा) उत्तम रीति से (संकिर) प्रदान करो ।

[८१०] अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥

[८११] शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ४९ । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [२३५] पृ० १२० ।

(२) (धृष्णुया) अपनी इन्द्रियों पर और चित्त के शत्रु काम क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के पति

विजिगीषु पुरुष के समान (प्र जिगाति उत्तम प्रकार से आगे बढ़कर विजयकर लेता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे के लिये (वृत्राणि) उसको घेर लेने वाले पाप विकल्पों को भी वह प्रभु (हन्ति) विनाश करता है। (अस्य) इस (पुरुभोजसः) इन्द्रियों के भोग भोगने हार आत्मा के (दत्राणि) त्याग किये हुए विषय ही (गिरेः इव वृत्राणि) मेघ से बरसे जलों के समान या पर्वत से झरते झरनों के समान आनन्दों को बहाने वाले आनन्द घन, ज्ञानोपदेशक परमेश्वर से बहते (रसा) आनन्दरस ही उसको (प्र पिन्विरे) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते हैं।

२ ३ १र २र ३ १ २
[८१२] त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ।
१ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[८१३] मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्तमीमहे त्वया भूषन्ति वेधसः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ २॥ १४ ॥
ऋ० ८ । ९९ । १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक स० [३०२] पृ० १५४

(२) हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानसम्पन्न ! (हरिवः) व्यापनशील शक्तियों से युक्त ! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (तं) उस तुझ इष्टदेव को हम (ईमहे) प्राप्त होते हैं। हे देव ! (वेधसः) विद्वान् मेधावी लोग (त्वया) तुझ से, तेरे उत्तम गुणों से (भूषन्ति) अपने आपको अलकृत करते हैं। तू स्वयं (मत्स्व) अपने ही में आनन्दस्वरूप होकर रह। हे (उक्थ्य) प्रशंसा के योग्य (श्रवांसि) सब श्रवण करने योग्य श्रुतियां (ते) तेरी ही (उपमानि) ज्ञान देने हारी हैं।

इति चतुर्थः खण्डः ।

८१३—'सुशिप्र इति ऋ० ।

[८१४] यस्त मद्रो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥१॥

[८१५] जघ्निर्वृत्रमामित्रियं सस्निर्वाजं दिवे दिवे ।
गोषातिरश्वसा असि ॥ २ ॥

[८१६] सम्मिश्लो अरुषो भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभिः ।
सीदञ्छ्येनो न योनिमा ॥३॥१५॥ ऋ० ६।६१। १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७८] पृं० २३७ ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (त्वम्) तू 'अमित्रियं' मित्रता या स्नेह से शून्य (वृत्र) हृदय को अज्ञान से घेरने वाले पाप को (जघ्निः) नाश करने वाला है । और (दिवे दिवे) दिनों दिन (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न, पुष्टि को (सस्निः) देने हारा है । और तू ही (गोषातिः अश्व-सातिः) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देने वाला (असि) है ।

(३) हे (सोम) सर्वैश्वर्यवन् ! ज्ञान के दातः ! (सूपस्थाभिः धेनुभिः न) सुख से समीप प्राप्त होने वाली, सुशील गौएं जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू (सूपस्थाभिः) आचार्य के समीप जाकर सुख से प्राप्त करने योग्य (धेनुभिः) ब्रह्मास्वाद, रस का पान कराने हारी वेद और उपनिषद् की स्तुति वाणियों से (सम्मिश्लः) उत्तम रीति से युक्त होकर (अरुषः) अतिरोचक, कान्तिसम्पन्न (भुवः) होता है और तभी (श्येनः न) बाज़ के समान शीघ्र गतिकारी एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप (योनिम्) अपने आश्रय रूप, शरणप्रद परमेश्वर में (आसीदन्) विराजमान होता है ।

८१४—(२) 'गोत्रा, उ अश्वसा' इति ऋ० ।

अथवा—(सूपस्थाभिर्न धेनुभिः) सुशील गायों से जिस प्रकार (अरुषः) लाल साण्ड (संमिश्लः भुवः, युक्त रहे और जिस प्रकार (श्येनः न योनिम् आसीदत्) बाज़ अपने आश्रय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप से स्थित रहने वाली, रसप्रद इन्द्रियों या वाणियों द्वारा युक्त होकर आत्मा अपने गृह के समान परम आश्रयप्रद शरण, परब्रह्म में मग्न होजाता है ।

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
[८१७] अयं पूषा रयिर्भगः सोम पुनानो अर्षति ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८१८] समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ॥२॥
१ २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[८१९] य ओजिष्ठस्तमाभर पवमान श्रवाय्यम् ।
१ २र ३ १ ३ २ ३ २उ ३ १ २
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ९ । १०१ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अर्चिक सं० [५४९] पृ० २७४ ।

(२) (प्रियाः) मनोहर (गावः) वाणियां या इन्द्रियां (घृष्वयः) परस्पर स्पर्द्धा करती हुई, या अति तेजोयुक्त होकर (मदाय) आनन्द प्राप्त करने के लिये (सम् अनूषत) आत्मा की स्तुति करती हैं । (पवमानासः) हृदय को विमल करते हुए (इन्दवः) परमैश्वर्यसम्पन्न साधक (सोमासः) शमदम आदि से सम्पन्न होकर मुमुक्षु गण (पथः) मोक्ष साधनों को (कृण्वते) करते हैं ।

(३) हे (पवमान) सबके हृदयों को पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (यः) जो तू (ओजिष्ठः) सबसे अधिक वह कान्ति और तेज से युक्त है वह तू (श्रवाय्यं) श्रवण करने योग्य, श्रुति से ज्ञान करने योग्य

रसरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आभर) प्राप्त कराओ। (यः पञ्चचर्षणीः) जो पाचों ज्ञानद्रष्टा इन्द्रियों का व्याप्त करता है, जिस से हम (रयिं) पुष्टि, वीर्य या ऐश्वर्य को (वनामहे) प्राप्त किया चाहते हैं वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः । प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषिभिः ॥ १ ॥

[८२१] मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परि कोशाँ अचिक्रदत् । त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरदिन्द्रस्य वायुं सख्याय वर्धयन् ॥२॥

[८२२] अयं पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत् । अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥३॥१७॥ ऋ० ९।८६।२०-२२॥

भा०—(१) (पूर्व्यः) सबसे आदि में वर्तमान, सनातन, (कविः) ज्ञानी मेधावी, आत्मा (मनीषिभिः) मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले विद्वान् (नृभिः) पुरुषों द्वारा (यतः) संयत, नियमित किया गया (पवते) प्रकट होता है और (कोशान्) पाँचों कोशों को (परि अचिक्रदत्) व्याप्त कर लेता है उनपर अपना अधिकार कर लेता है । (त्रितस्य) तीनों स्थानों पर अर्थात् कण्ठ के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर [illegible] (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम) स्वरूप को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (मधु) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म रस को (क्षरत्) क्षरण करता हुआ (वायुम्) प्राणबल को (सख्याय) अनुकूल रूप में (वर्धयन्) बढ़ाता है, पुष्ट करता है ।

(३) (अय) यह सोम (पुनानः) पवित होता हुआ (उषसः) प्रकाशित तेजःपटल को (अरोचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अय) और यह सोम (सिन्धुभ्य) शरीर के भीतर बहने वाली ज्ञान-धाराओं या नाड़ियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवत्) होता है । (अयं सोमः) यह सोम, ब्रह्मानन्दरस (त्रिःसप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (दुदुहान) उत्पन्न करता हुआ (हृदे) हृदय में (मत्सर.) आनन्द बहाता हुआ (चारु) उत्तम रूप से (पवते) प्रकट होता है ।

[८२३] एवाह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिर. ।
एवा ते राध्य मनः ।

[८२४] एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभि ।
अधा चिदिन्द्र न सचा ॥२॥

[८२५] मा पु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमत. ॥३॥१८॥ ऋ० ६ । १८ । २८-३०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३२] पृ० ११८

(२) हे (तुवीमघ !) ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) आत्मन् ! (विश्वेभिः) समस्त (धातृभि) धारण करने वाले लोग (राति) तेरे दिये दान को (एव) ही (धायि) धारण करते हैं । (अध चित्) और हे (इन्द्र) आत्मन्! आप (नः) हमारे (सचा) सदा सहायक हो ।

(३) हे (वाजानां पते !) ज्ञानों, ऐश्वर्यों बलों के स्वामिन् ! आप (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा, वेदज्ञ विद्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्रयु) कभी आलस्ययुक्त, निकम्मा (मा उ षु भवः) नहीं रहते प्रत्युत (गोमतः) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से मिले (सुतस्य) योगज

सुख को (मत्स्व) आनन्द-लाभ करो । प्राय. केवल ज्ञानी लोग अजगरी वृत्ति धारण कर लेते हैं । परन्तु ज्ञान, बल दोनों से युक्त पुरुष को तो उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥१॥

[८२७] सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र नोनुमो जेतारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतय ।
यदा वाजस्य गोमतस्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥३॥१६॥

ऋ० १ । ११ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४३] पृ०१७८

(२) हे (शवसस्पते) बलों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देने हारे ! (ते सख्ये) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम (वाजिनः) बलशाली, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी होकर (मा भेम) भय न करें (जेतार) सबसे उत्कृष्ट (अपराजित) किसी से पराजित न होने वाले (त्वा) तुझ को (अभि प्र नोनुम) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर के (पूर्वीः) सब से आदि काल से चले आये (रातय) दिये दान और (ऊतयः) रक्षायें (न विदस्यन्ति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, (यदा) क्योंकि वह (स्तोतृभ्य.) सद्गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (गोमत) ज्ञान वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) बल या ज्ञान के (मघम्) ऐश्वर्य को भी (मंहते) प्रदान करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति तृतीयोऽध्यायः । इति द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयोऽर्धः ।

ऋषिः—१ जमदग्निः । २ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा । ३ कविर्भार्गवः । ४ कश्यपः । ५ मेधातिथिः काण्वः । ६, ७ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ९ सप्तर्षयः । १० पराशरः । ११ पुरुहन्मा । १२ मेध्यातिथिः काण्वः । १३ वसिष्ठः । १४ त्रितः । १५ ययातिर्नाहुषः । १६ पवित्रः । १७ सौभरिः काण्वः । १८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १९ तिरश्चीः ॥ देवता—३—४, ६, १०, १४—१६ पवमानः सोमः । ५, १७ अग्निः । ६ मित्रावरुणौ । ७ मरुत इन्द्रश्च । ८ इन्द्राग्नी । ११—१३, १८, १९ इन्द्रः ॥ छन्दः—१—८, १४ गायत्री । ९ बृहती सतोबृहती द्विपदा क्रमेण । १० त्रिष्टुप् । ११, १३ प्रगाथः । १२ बृहती । १५, १९ अनुष्टुप् । १६ जगती । १७ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । १८ उष्णिक् ॥ स्वरः—१—८, १४ षड्जः । ९, ११—१३ मध्यमः । १० धैवतः । १५, १९ गान्धारः । १६ निषादः । १७, १८ ऋषभः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३०] एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः ।
१ २ ३ १ २र
विश्वान्यभि सौभगा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८३१] विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ।
१ २ ३ २ ३२ १ २
त्मना कृण्वन्तो अर्वतः ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २उ २र ३ २
[८३२] कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् ।
१ २३ १ २ ३ १ २
इडामस्मभ्यं संयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १–३ ॥

(१) जिस प्रकार (तिरः) तिरछे रूप से थामे हुए (पवित्रं) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड पर (एते) ये (आशवः) शीघ्र गति करनेहारे

सोम ओषधि के रस (विश्वानि) समस्त (सौभगा) सौभाग्यों को (अभि) प्राप्त करने के लिये (असृग्रम्) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं। उसी प्रकार (आशव.) व्यापनशील (इन्दव) आह्लादकारक, आनन्द रस (एते) ये (तिर.) सत्स्वरूप, (पवित्र) शुद्ध, मलादि दोषों से रहित चित्त में (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों के साक्षात् करने के लिये (असृग्रम्) प्रवाहित होते हैं।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है। तदनुसार सृष्टि प्रकरण में (आशवः) गतिशील (इन्दवः) प्रकाशमान पिण्ड (एते) ये सब (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् प्रकट करने के लिये (तिर. पवित्रम्) सत्स्वरूप, परम ब्रह्मरूप मूलकारण से (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं।

(२) (वाजिन.) ज्ञानवान् सोम शम दमआदि साधनों से सम्पन्न विद्वान् लोग (पुरु) बहुत से (दुरिता) दुष्ट कर्मों को (विघ्नन्त) नाश करते हुए (त्मना) अपने सामर्थ्य से (अर्वत) प्राणों की (कृण्वन्त.) साधना करते हुए (तोकाय) अपने सन्तान के लिये, अथवा अपने विविध दुखों के नाश करने के लिये या अगली जन्म-परम्परा के सुधार लिये (सुगा) सुखपूर्वक अनुगमन करने योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं।

(३) और वे ही विद्वान् लोग (गवे) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के लिये (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (कृण्वन्तः) करते हुए (अस्मभ्य) हमारे लिये (वरिव') धन और (इडाम्) उत्तम अन्न और (संयतं) उत्तम व्यवस्था (अभि अर्षन्ति) प्रकट करते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र

[८६३] राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि।

३ १ २ ३ १ २

अन्तरिक्षेण यातवे ॥ १ ॥

[८३४] आ न सोम महो जुवो रूप न वर्चसे भर ।
सुष्वाणो देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम् ।
वहा भगत्तिमूतये ॥३॥२॥ ऋ० ६ । ६१ । १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (राजा) प्रकाशमान रूप में (पवमानः) प्रकट होता हुआ, आत्मानन्द रस (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्त:करण से (यातवे) जाने के लिये (मतौ अधि) मननशील चित्त के भीतर (मेधाभिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (ईयते) व्याप्त होता है ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (देववीतये) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये (सुष्वाणः) स्वत उत्पन्न होता हुआ (नः) हमें (वर्चसे) दीप्त कान्तिमान् तेजस्वी होने के लिये (सह) सहनशीलता (जुवः) वेग और (रूपं) कान्ति (आ भर) प्राप्त करा ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये हमें (शतग्विन) सैकड़ों गौओं और (स्वश्व्यं) उत्तम २ घोड़ों से युक्त (पोष) पुष्टिकारक पदार्थ और (भगत्तिम्) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य (आ वह) प्राप्त कराइये ।

[८३६] तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः ।
चारुं सुकृत्यये महे ॥ १ ॥

[८३७] संवृक्तधृष्णुमुक्थ्य महामहिव्रतं मदम् ।
शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः ।
सुपर्णो अव्यथी भरत् ॥ ३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २

[८३९] अया हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।

३ १ २र

अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥ ४ ॥

१र २ ३ १ २ १ २र ३ १ २

[८४०] विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् ।

३ १ ३ २ ३ १ २

गोपामृतस्य विर्भरत् ॥५॥३॥ ऋ० ९ । ४८ । १-५ ।

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (नृम्णानि) नाना धनों को (बिभ्रतं) धारण करते हुए (ते) उस (दिव) द्यौलोक या सूर्य के (सधस्थेषु) समान स्थान, अन्तराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में (चारुं) व्यापक (महः) महान् (त्वा) तुझको हम (सुकृत्यये) उत्तम पुण्य कर्म करके (ईमहे) प्राप्त होते हैं ।

(२) और पुनः (संवृक्तधृष्णुं) आत्मा का धर्षण करने हारे काम क्रोधादि नाना शत्रुओं का मूल काट डालने वाले, (उक्थ्य) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (महामहिव्रतं) बड़े भारी पूजनीय कर्म करने वाले (शतं पुर) सैकड़ों देहों के समान ब्रह्माण्डों के भोक्ता, या सैकड़ों देहधारियों को (सनितारं) उच्च लोक-मोक्ष में उठा लेने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

(३) (अतः) इसी कारण (त्वा राजानं) तुझ समस्त संसार के प्रकाशक स्वामी के पास हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म से सम्पन्न ! (दिवः) सूर्यलोक का भी (रयिः) समस्त बल और ऐश्वर्य (त्वा अभि अयद्) तुझको ही प्राप्त है । तू ही (सुपर्णः) उत्तम ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त संसार को (अव्यथी) बिना व्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही (भरत्) पालन पोषण और धारण करता है ।

(४) (अया) और (विचर्षणिः) सब संसार का द्रष्टा, निरीक्षक तू (अभिष्टिकृद्) सबको अभीष्ट कर्मफल देने वाला होकर (इन्द्रियं) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से युक्त देहों को प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बहुत

बड़े (महित्व) महान् सामर्थ्य को (आनशे) धारण करता है। अथवा (इन्द्रिय ज्याय॰ महित्वम् आनशे) परमैश्वर्य युक्त, सबसे अधिक बड़े महान् सामर्थ्य को प्राप्त है।

(५) (विः) देह से देहान्तर में गति करने हारा, पक्षि के समान यह जीव आत्मा (विश्वस्मा) सब प्रकार के (इ) ही (स्वः) सुखों या ज्ञानों का (दृशे) दर्शन करने के लिये (साधारणं) समस्त लोकों को समान रूप से धारण करने हारे, (रजस्तुर) समस्त लोकों को गति देने हारे (ऋतस्य) समस्त जगत् और ज्ञान की (गोपाम्) रक्षा करनेहारे परमात्मा को (भरद्) अपने चित्त में धारण करे।

[८४१] इष पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ १ ॥
[८४२] पुनानो वरिवस्कृध्यूर्ज जनाय गिर्वणः।
हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥
[८४३] पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम्।
द्युतानो वाजिभिर्हितः ॥३॥४॥ऋ० ६ । ६४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५०१] पृ०२५० ।

(२) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! प्रभो ! (आशिरं) इस शीर्ण होने वाले देह को (सृजान॰) बनाता हुआ, (पुनान॰) स्वतः मलरहित, पवित्र बन्धन रहित होकर भी (जनाय) उत्पन्न होने हारे इस मनुष्य के लिये (वरिव॰) ज्ञानरूप उत्तम धन, और (ऊर्ज) अन्न आदि बल (कृधि) उत्पन्न कर और प्रदान कर।

(३) हे परमात्मन् ! (वाजिभि) विद्वानों द्वारा (हितः) समाधि में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया (द्युतान॰) प्रकाशस्वरूप

लिये (अग्निं) अग्नि के समान ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा के (आविवासति) उपासना करता है । हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे परमेश्वर ! आप (तस्मै) उसको (मृडय) सुख शान्ति दें ।

३ २ २   ३ १ २ ३ १ २   ३ १ २
[८४७] मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ १ ॥
३ १ २
[८४८] ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।
१ २ ३ १ २
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ २ ॥
३ १   २ ३ १ २र   ३ १ २ ३ १ २
[८४९] कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।
१ २   ३ १ २
दक्षं दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० १ । २ । । ७-९ ॥

भा०—(१) मैं (पूतदक्षं) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र बल वाले, मित्रं) सबके स्नेही और सबको मृत्यु के भय से बचानेहारे, ब्रह्माण्ड में वर्त्तमान सूर्य के समान और देह में वर्त्तमान प्राण के समान (रिशादस) शत्रुओं के समान कष्टदायी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) वरिष्ठ प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसके समान सब कष्टों के निवारक तेरा (हुवे) रहस्यपूर्ण अध्यात्म पदार्थों के ज्ञान के साथ २ ज्ञान करता हूं ! (घृताचीं) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सर्व देशों में लेजाते हैं उसी प्रकार ये दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले घृत या शुक्ररूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी (धियं) क्रिया को (साधन्ता) साधने वाले होते हैं । उसी प्रकार हे परमेश्वर ! मृत्यु से त्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक तेरा रुद्र और वरणीय दोनों रूप ही (घृताचीं धियं साधन्ता) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली बुद्धि को साधते हैं ।

(२) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों (ऋतस्य) गति, ज्ञान और सत्य के बल पर (ऋतावृधौ) जल से बढ़ने हारे वायु सूर्य के समान, ऋतरूप ब्रह्म की शक्ति से बढ़ने वाले (ऋतस्पृशा) जल के द्रावक सूर्य, वायु के समान (ऋत वृधौ) ज्ञान का सर्वत्र प्रचार करने हारे (बृहन्तं) बड़े भारी (क्रतुं) संसार रूप यज्ञ को ब्रह्माण्डों और पिण्डों को (आशाथे) व्याप्त किये हुए हैं।

(३) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (कवी) क्रान्तदर्शी सब प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने हारे, (तुविजाता) बहुत से कार्यों से प्रसिद्ध, (उरुक्षया) नाना जगत् के पदार्थों में व्यापक (दक्षं) बल और (अपसं) क्रिया को (दधाते) धारण करते हैं, स्थापन करते हैं।

[८५०] इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥

[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥२॥

[८५२] वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ६ । ७, ४, ५ ॥

(१) हे प्राण ! तू (अबिभ्युषा) अपराजित (इन्द्रेण) इन्द्रस्वरूप आत्मा के साथ (संजग्मानः) गति करता हुआ (सं दृक्षसे हि) दिखाई देता है। इस कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा (समानवर्चसा) समान कान्ति वाले होकर (मन्दू) आनन्द के उत्पादक होते हो। जीव और पर मात्मा के पक्ष में, एवं सूर्य और वायु के पक्ष में भी स्पष्ट है।

(२) मरुद्गण, इन्द्रियां या दशों प्राण (स्वधाम् अनु) अपने स्व रूप, या देह को स्वयं धारण करने में समर्थ जीवात्मा के साथ (आत्)

बाद में (पुनः) फिर (गर्भत्वम्) गर्भरूप से (एरिरे) प्रकट होते हैं और (यज्ञियं) जीवनरूप यज्ञ के योग्य (नाम) संज्ञा को (दधाना) धारण करते हैं। आधिदैविक पक्ष में स्वधा=जलके साथ वायुएं आकाश में गर्भित होकर यज्ञ के योग्य जलवर्षा कराते हैं।

(२) जिस प्रकार सूर्य का तेज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पदार्थों तक पहुंचता है और उनके भीतर प्रवेश करने हारी वायुओं से अन्तरिक्ष में जल को धारण करता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! (गुहा चित्) भीतरी गुहा, गर्भस्थान में भी (वीळु-चित्) अति दृढ स्थान को (आरुजत्नुभि) पीड़ित करते हुए (वह्निभिः) वहन करने वाले प्राणों से प्रकट होकर (अनु) पश्चात् (उस्रियाः) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा (अनु अविन्दः) तू ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कर। अथवा हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी दृढ़ शरीर के भागों को फोड़ कर जीवन को वहन करने वाले इन प्राणों से अपने (उस्रियाः) ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करता है।

[८५३] ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥

[८५४] उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृडात ईदृशे ॥२॥

[८५५] हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती।
हथो विश्वा अप द्विषः ॥३॥८॥ ऋ० ६। ६०। ४-६॥

भा०—(१) मैं उन (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को (हुवे) स्तुति करता हूं (ययोः) जिनके आधार पर

८५३—३. 'हतो' ऋ०।

(इदं) यह (विश्वम्) विश्व (पप्रे) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है। और (यपो) जिन्हों के आधार पर यह जगत् (पुराकृतम्) प्रथम काल में भी बनाया गया था, जो इसको (न मर्धतः) विनाश नहीं होने देते।

(२) उन (मृध·) हिंसक शत्रुओं को (विघनिता) विशेषरूप से आघात करने हारे (उग्रा) वेग वाले (इन्द्राग्नी) पूर्व उक्त इन्द्र और अग्नि दोनों को (हवामहे) स्वीकार करते, स्तुति करते हैं जिनके आधार पर हम और (ता) वे दोनों (नः) हमें (ईदृशे) इस प्रकार के जीवन संग्राम में भी (मृडात) सुखी करें।

(३) (आर्यो) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों (वृत्राणि) मेघों के समान आवरक विघ्नों को (हथ) आघात करते, या नाश करते हैं। (सत्पती) और वे दोनों सज्जनों के पालक (दासानि) नाशकारी पदार्थों को (हथ·) विनाश करते हैं और (विश्वा) समस्त (द्विषः) शत्रुओं को (अप हथ) दूर मार भगाते हैं।

इति द्वितीयः खण्ड·।

---

[८५६] अभि सोमास आयव पवन्त मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥१॥

[८५७] तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्।
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥२॥

[८५८] नृभिर्येमाणो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रय· ॥४॥
॥६॥ ऋ० ९ । १०७ । १४ १३॥

८५६—१. "मत्सरास· स्वर्विद" इति ऋ०।

२ 'अर्षन् मित्रस्य,' 'प्रहिन्वान' इति ऋ०।

३ 'देवः समुद्रियः' इति ऋ०।

भा०—(१) व्याख्या देखो पूर्वार्चिक सं० [५१८] पृ० २५६ ।

(२) (पवमानः) समस्त मलों को शोधन करने हारा (राजा) सूर्य के समान योगी (देवः) विद्वान् (ऊर्मिणा) अपनी उच्चगति द्वारा (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्यज्ञान स्वरूप परिपक्व (समुद्र) समस्त रसों के आश्रय ब्रह्म को (तरत्) प्राप्त हो जाता है । और (मित्रस्य) सबके स्नेहशील प्राणस्वरूप (वरुणस्य) सब पापों के निवारक परमात्मा को (धर्मणा) यम नियम पूर्वक प्राप्त धारक बल से, या सदाचार से (हि-न्वानः) सन्मार्ग में गति करता हुआ स्वयं (बृहत्) बड़े (ऋतं) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म को (प्र अर्ष) प्राप्त होता है ।

(३) (नृभिः) विद्वान् नेताओं, या प्राणों के द्वारा (यमानः) सुव्यवस्थित (राजा देवः) प्रकाशस्वरूप योगी आत्मा (हर्यतः) सबके प्रेमका पात्र (विच-क्षणः) और सब का साक्षी रूप होकर (समुद्रः) महान् रससागर में आनन्द प्राप्त करने वाला होकर उसी में मग्न हो जाता है ।

[८५९] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वाव-
शानाः ॥१॥

[८६०] सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छ-
मानाः । सोमः सुत ऋच्यते पूयमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः
सन्नवन्ते ॥२॥

[८६१] एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति ।
इन्द्रमा विश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम्
॥३॥१०॥ ऋ० ९ । ९७ । ३४-३६ ॥

८६१—३. 'बृहता रवेण' इति ऋ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५२५] पृ० २४०'।

(२) (धेनवः) दुग्धपान कराने हारी (गावः) गौओं के समान ज्ञानरस का पान कराने वाली, ज्ञानवाणियां (सोमं) सोमस्वरूप आत्मा या परमात्मा के प्रति (वावशाना) कामना प्रकट करती है। उसी को चाहती अथवा उसी की स्तुति करती हैं। और (विप्राः) मेधावी पुरुष (मतिभिः) अपने मननों द्वारा (सोमम्) उसी रसस्वरूप आत्मा की (पृच्छमाना) जिज्ञासा करते हैं। वही (सोम) रसरूप आत्मा (पूयमान) विशुद्ध स्वरूप (सुतः) अन्तर्हृदय में प्रकट होकर (अभ्यर्षते, स्तुति किया जाता है। और (अर्का) सूर्य के समान तेजस्वी, वेद के विद्वान् ज्ञानी पुरुष (सोमे) उसी परमात्मा के विषय में (त्रिष्टुभ) तीनों प्रकार से मनसा, वाचा, कर्मणा, उसकी स्तुति करने हारे होकर उसकी (स नवन्ते) अच्छी प्रकार स्तुति करते हैं।

(३) हे (सोम) रसस्वरूप ! (परिसिच्यमान) बार २ निदिध्यासन द्वारा साक्षात् किया गया, (पूयमानः) विशुद्धरूप (स्वस्ति) कल्याणकारी होकर (नः आपवस्व) हमारे प्रति प्रकट हो। और (बृहता) बड़े भारी (मदेन) आनन्दरस से (इन्द्रम्) आत्मा को (आविश) प्राप्त कर और (वाचं) वाक्शक्ति को (वर्धय) बढ़ा। और (पुरन्धिम्) देह रूप पुर का धारण करने हारी चितिशक्ति या बुद्धि को (जनय) प्रकट कर।

१ २र ३ २र ३ १ २र ३२
[८६२] यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥१॥
३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
[८६३] आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥२॥ ११ ॥ ऋ० ८। ७०। ५-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७८] पृ० १४२ ।

(२) हे (धृषन् !) सुखों की वर्षा करने हारे परमात्मन् ! हे (शविष्ठ !) सर्वशक्तिमन् ! आप (महिना) बड़े भारी (शवसा) बल, शक्ति, सामर्थ्य से (विश्वा) समस्त (धृष्णया) सुखवर्षक और जलवर्षक सबके पोषक मेघ, पृथिवी आदि पदार्थों को (आ पप्राथ) पूर्ण कर रहे हो, सब में व्याप्त हो । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (वज्रिन्) पापनाशक ज्ञान के स्वामी ! (गोमति) इन्द्रियों से सम्पन्न इस (व्रजे) गतिशील नश्वर देह में (चित्राभिः) नाना आदरणीय (ऊतिभि) रक्षाओं या ज्ञानधाराओं से आत्मा की (अव) पालन कर, पुष्ट कर ।

३ २ ३   ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[८६४] वय घ त्वा सुतावन्त. आपो न वृक्तबर्हिषः ।
३ १ २   ३ १ २   ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥ १॥
१ २   ३ २ ३ ३ १ २   ३ २ ३ १ २
[८६५] स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिन ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३   ३ १ २ ३ १ २   ३ २ ३ १ २
कदा सुतं तृषाण ओक आगम इन्द्र स्वब्दीव वंसग. ॥२॥
१ २   ३ २ ३ २ २   ३ १ २
[८६६] कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाज दर्षि सहस्रिणम् ।
३ १ २   ३ २   २ २
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥१३॥

ऋ० ८ । ३३ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६१] पृ० १३३ ।

(२) हे (वसो) सब को वास देने हारे परमात्मन् ! (सुते) इस उत्पन्न जगत् में (एके) बहुत से (उक्थिन.) ज्ञानी, स्तोता लोग (त्वा) तुझ को ही (नि. स्वरन्ति) पुकारते हैं तेरी ही स्तुति गाते हैं । (तृषाण.) प्यासा पुरुष जिस प्रकार (ओकः) जल के स्थान के प्रति आता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) परमेश्वर! आप (स्वब्दी इव) उत्तम मेघवान् वायु के समान (वंसगः) शुभ,

गमन युक्त होकर इस (सुते) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति (कदा) कब (आगमः) आएँगे, कब कृपादृष्टि और आनन्दवृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है–हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुझे ही स्वरसे गाते हैं। जिस प्रकार प्यासा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार तू भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघ-वान् वायु के समान मनोहर गति वाला होकर कब हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे (मघवन् !) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों के स्वामिन् ! हे (विचर्षणे !) समस्त संसार के द्रष्टा ! हे (सह्यो) सहनशील ! समस्त संसार के भार को वहन करने हारे ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करन हारे ! आप (कण्वेभि) मेधावी पुरुषों के निमित्त (सहस्रिणम्) सहस्रों ऐश्वर्यों से युक्त (स्पर्द्ध) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले (वाज) बल को (आदर्षि) देते हैं । उस ही (पिशङ्गरूपं) अत्यन्त मनोहर, पीतवर्ण के, सुवर्ण आदि और (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त (वाज) धन की (मक्षू) निरन्तर हम (ईमहे) याचना करते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[८६७] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

२ ३ १ २' ३ १ २ ३ २ ३ १२ २र ३ १ २

आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[८६८] न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १र २र ३ २

सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥२॥

॥१३॥ ऋ० ७ । ३२ । २०–२१ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२३८] पृ० १२१ ।

८६७—२. 'न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु' इति ऋ० ।

(२) (द्रविणोदेषु) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हारे उदार पुरुषों के विषय में (दुः-स्तुतिः) बुरी निन्दा (न शस्यते) नहीं कही जाय और (सेधन्तं) दूसरों की हिंसा करने हारे पापी पुरुष को (रयि.) धन प्रजा और पुष्टि (न नशत्) प्राप्त हो । (यत्) जो (पार्ये) पालन करने हारे (दिवि) आकाश या सूर्य में (मावते) मेरे जैसे पुरुष के लिये (देष्णं) दान करने योग्य तेज जल वृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे मघवन् ! (तुभ्यं इत्) तेरी ही यह (सुशक्ति.) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।

---

[८६९] निर्त्रो वाच उदीरत गावो भिमन्ति धेनव ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ १ ॥

[८७०] अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीरृतस्य मातरः ।
मर्जयन्तीर्दिव शिशुम् ॥ २ ॥

[८७१] राय. समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वत· ।
आपवस्व सहस्रिण. ॥ ३ ॥ १४ ॥   ऋ० ९ । ३३ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [४७१] पृ० २३७।

(२) (ब्रह्मी) ब्रह्म-वेद की वाणियें (ऋतस्य मातर·) सत्य का ज्ञान कराने हारी (दिवः) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में (शिशुं) शयन करने वाले, व्यापक परमात्मा को (अभि-अनूषत) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक ! परमेश्वर ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिण) सहस्रों पदार्थों से सम्पन्न (रायः) धनों से पूर्ण

८६९— २ 'मर्मृज्यन्ते' इति ऋ० ।

(चतुरः) चारों (समुद्रान्) समुद्रों, या उन्नति के साधन रूप या नाना ऐश्वर्यों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को (आ पवस्व) प्राप्त करा ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७२] सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७३] इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७४] सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमस्पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३ ॥ १५ ॥
ऋ० ६ । १०४ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४७] पृ० २६४।

(२) (इन्दुः) सोम्य गुणवाला आनन्दस्वरूप, सोममय ईश्वर (इन्द्राय) इस आत्मा के हित के लिये (पवते) प्रकट होता है। (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् लोग (अब्रुवन्) कहते हैं। और वही सोम (ओजसः) विशेष बल और प्रभाव के कारण (विश्वस्य) समस्त संसार का (ईशानः) प्रभु और (वाचस्पति) वेदवाणियों का स्वामी होकर (मखस्यते) यज्ञों द्वारा पूजा करने योग्य है।

(३) (सहस्रधारः) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, (समुद्र) समस्त रसों का भण्डार, या समुद्र के समान महान्, (वाचम् ईङ्खयः) समस्त विश्व की वेदमय वाणियों को प्रकट करने हारा, (रयीणां) समस्त जड़ और चेतन पदार्थों और ऐश्वर्यों का (पतिः) स्वामी और (इन्द्रस्य)

८७३— २ 'ईशान ओजसा' इति ऋ० ।

इस आत्मा का (सखा) परम मित्र (सोमः) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पवते) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१॥

[८७६] तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधिरोहन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः । मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । ८३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५६५] पृ० २६५।

(२) (तपो॰) समस्त संसार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का (पवित्र) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, (दिव॰) समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थों में (विततं) व्याप्त है । (अस्य) इस परमेश्वर के (अर्चन्त॰) गुणों को प्रकट करते हुए (तन्तव.) नाना तन्तु, यज्ञमय सूत्र (व्यस्थिरन्) नाना प्रकारों से विद्यमान हैं । (अस्य) इसके (आशव.) व्यापक और अति वेगवान् सामर्थ्य या शक्तियां (पवितारं) सबके शोधक सूर्य और वायु को (अवन्ति) नष्ट होने से बचाते हैं । और (तेजसा) तेज के रूप में (दिव॰) आकाश के (पृष्ठ) सबसे उन्नत भाग में भी (अधिरोहन्ति) पहुंचे हुए हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[८७८] प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥

[८७९] आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।
कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ॥२॥१७॥

ऋ० ८ । १०३ । ८, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ०४७ ।

(२) (मघवा) ऐश्वर्यवान् (समिद्धः) प्रकाशमान, (द्युम्नी) यशस्वी, कान्तियुक्त, (आहुतः) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा (वीरवद्) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्र भृत्य मित्र आदि से युक्त (यशः) अन्न और तेज (आ वंसते) प्रदान करता है । (अस्य भवीयसी) सबसे अधिक शक्तिशाली (सुमतिः) उत्तम मनन या संकल्प शक्ति (नः) हमें (वाजेभिः) नाना बलों ऐश्वर्यों और ज्ञानों सहित (कुवित्) बहुधा (आगमत्) आवे, प्राप्त हो ।

[८८०] तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥

[८८१] येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो विराजसि ॥ २ ॥

[८८२] तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥३॥ १८ ॥ ऋ० ८।१५।४-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ०१६८।

(२) (येन) जिस सामर्थ्य से हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (आयवे) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और (मनवे) मननशील पुरुष

के प्रति अपनी (ज्योतींषि) ज्ञानदीप्तियों को (विवेदिथ) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से (मन्दानः) आनन्दपूर्ण होकर (अस्य इस (बर्हिष) महान् ब्रह्माण्डरूप यज्ञ के आश्रय बन कर (विराजसि) विराजते हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उक्थिनः) ज्ञानी लोग (अद्य चित्) आज तक भी (पूर्वथा) पहले के समान ही (ते) तेरी (अनुष्टुवन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू (वृषपत्नीः) भीतरी आनन्दरस वर्षण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी (अपः) शक्तियों और बुद्धियों को (दिवेदिवे) प्रतिदिन नित्य (जय) विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] श्रुधी हव तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥ १ ॥

[८८४] यस्त इन्द्र नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत् ।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २ ॥

[८८५] तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थानि वावृधुः ।
पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे ॥३॥१९॥

ऋ० ८ । ९५ । ४—६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४६] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! (यः) जो (ते) तेरे लिये (नवीयसीम्) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी (मन्द्रां) गम्भीर (गिरं) वाणी को (अजीजनत्) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (पिप्युषीम्) पुष्ट करनेहारी (प्रत्नां) अति प्राचीन (चिकित्विन्मनसं) ज्ञानशील मन से संयुक्त (धियं) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

(३) (तं) उस (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (उ) ही हम नित्य (स्तवाम) स्तुति करें (यं) जिसकी (उक्थानि) वेदमन्त्र (वावृधुः) सदा महिमा बढ़ाते हैं। हम अल्पशक्ति जीव (अस्य) उस परमात्मा के (पुरूणि) नाना प्रकार के (पौंस्या) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन, धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, या बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को (सिषासन्तः) नाना प्रकार से उपयोग और सेवन करते हुए (वनामहे) उसकी स्तुति या भजन करते हैं।

इति षष्ठः खण्डः।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (प्रथमोर्धः)।

ऋषिः—१ आकृष्टामाषाः। २ अमहीयुः। ३ मेध्यातिथिः। ४, १२ बृहन्मतिः। ५ भृगुर्वारुणिर्जमदग्नि। ६ सुतम्भर आत्रेयः। ७ गृत्समदः। ८, २१ गोतमो राहूगणः। ९, १३ वसिष्ठः। १० दृढच्युत आगस्त्यः। ११ सप्तर्षयः। १४ रेभः काश्यपः। १५ पुरुहन्मा। १६ असितः काश्यपो देवलो वा। १७ शक्तिरुरुश्च क्रमेण। १८ अग्निः। १९ प्रतर्दनो दैवोदासिः। २० प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—१—५, १०—१२, १६—१९ पवमानः सोमः। ६, २० अग्निः। ७ मित्रावरुणौ। ८, १३—१५, २१ इन्द्रः। ९ इन्द्राग्नी॥ छन्दः—१, ६ जगती। २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री। ११ बृहती सतोबृहती च क्रमेण। १३ विराट्। १४ अतिजगती। १५ प्रागाथ। १७ ककुप् च सतोबृहती

न क्रमेण । १८ उष्णिक् । १६ त्रिष्टुप् । २१ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ६, १४ निषाद. । २—५, ७—१०, १२, १६, २० षड्जः । ११, १३, १५, १७ मध्यमः । १८ ऋषभ । १६ धैवत । २१ गान्धारः ॥

[८८६] प्र त आश्विनी. पवमान धेनवो दिव्या असृग्रन् पयसा धरीमणि । प्रान्तरिक्षात् स्थाविरीस्ते असृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः ॥ १ ॥

[८८७] उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परियन्ति केतवः । यदी पवित्रे अधिमृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ कलशेषु सीदति ॥ २ ॥

[८८८] विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोष्टे सतः परियन्ति केतव । व्यानशी पवसे सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ८६ । ४, ६, ५, ॥

भा०—(१) हे (पवमान) परमपावन व्यापक परमात्मन् ! (ते) तेरी (आश्विनी.) सर्वत्र व्यापक, (दिव्या.) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी·) निरन्तर स्थिर रहने वाली, (धेनव·) सबको आनन्दरस का पान कराकर तृप्त करने वाली शक्तियां (पयसा) ज्ञान और बल और, आनन्दरस एवं जल के द्वारा (धरीमणि) धारण करने हारे आत्मा या अन्तरिक्ष में (प्र असृग्रन्) उत्तमरूप से प्रकट होती हैं । हे (ऋषिषाण) ऋषियों, मन्त्रद्रष्टा ज्ञानी पुरुषों द्वारा भजन करने योग्य आत्मन् परमात्मन् ! (ये) जो (वेधसः) विद्वान् पुरुष (त्वा मृजन्ति) तेरे शुद्ध रूप को साक्षात्

(१) 'पवमान धीजुवो', 'प्रान्तरिक्षात् स्थाविरीरसृक्षत' इति ऋ० ।

३. 'व्यानशिः' 'धर्मभिः' इति ऋ० ।

करते हैं (ते) वे (स्थाविरीः) स्थिर कूटस्थ धारारूप धारणाओं को (अन्तरिक्षात्) अपने अन्त करण रूप भीतरी साक्षात् करने वाले साधन मन या अन्त करण से (प्र असृक्षत) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करते हैं, निदिध्यासन करते हैं। आत्मपक्ष में—ऋषिः= इन्द्रियगण।

(२) (पवमानस्य) समस्त संसार में व्यापक, सब को गति देने हारे, परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (ध्रुवस्य सत) सत्स्वरूप उस कूटस्थ ब्रह्म के (उभयतः) जड़ और जगम दोनों प्रकार के संसार के प्रति (परियन्ति) व्याप्त होरहे हैं। (यदि) जब भी (हरि) समस्त संसार को गति देने और समस्त दुःखों को हरने हारा ईश्वर (पवित्रे) पवित्र अन्त.करण में (अधिमृज्यते) विवेक द्वारा साक्षात् किया जाता है तब (सत्ता) हृदयों में सत्यस्वरूप होकर विराजमान वह (कलशेषु) सब शरीरों में भी विद्यमान (योनौ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर (सीदति] विराजमान है।

(३) हे (विश्वचक्षः) समस्त संसार को देखने वाले परमात्मन्! (सोम) सबके उत्पादक ! (सतः) सत्यस्वरूप, महान् (प्रभो) सर्व शक्तिमान्, (ते) आपके (केतव) सूर्य के किरणों के समान महिमा को जतलाने वाले चिह्न और ज्ञापक शक्तियां (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों में (परि यन्ति) फैली हुई हैं। और आप (व्यानशी) सर्वव्यापक (विश्वस्य भुवनस्य पतिः) समस्त संसार के स्वामी, (धर्मणा) अपने धारण करने हारे बल से (विराजसि) सबसे ऊपर विराजमान हैं।

[८८६] पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥१॥

[८६०] पवमान रसस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः ।
वि वारमव्यमर्षति ॥२॥

[८६१] पवमानस्य ते रसो दक्षो विराजति द्युमान् ।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥३॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक म० [४८४] पृ० २४२ ।

(२) हे [पवमान] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! (तव) तेरा (रसः) रस, आनन्दमय (मदः) हर्ष कारक (अदुच्छुनः) दुष्ट कुत्ते के समान भोग तृष्णावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दुःखदायी काम, क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं से रहित होकर । अव्य) आत्मा के (वार) वरण करने योग्य स्वरूप को (वि अर्षति) व्याप लेता है ।

(३) (पवमानस्य) अन्त करण को पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे (ते) तेरा (रसः) आनन्दरस (दक्ष) ज्ञान और बल रूप (द्युमान्) कान्तिमय होकर (विराजति) विशेष रूप से चमकता है । और वह (ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूप (विश्वम्) समस्त (स्व) सुखों को (दृशे) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८६२] प्र यद् गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥१॥

[८६३] सुवितस्य वनामहेऽति सेतुं दुराव्यम् ।
साह्याम दस्युमव्रतम् ॥२॥

[८६४] शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥

---

२. 'पवमानस्य ते रसो' ३. 'पवमानरसस्तव' इति पादयोर्व्यत्ययः ऋ० ।

[८६५] आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
अश्ववत्सोम वीरवत् ॥४॥

[८६६] पवस्व विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण ।
उषा: सूर्यो न रश्मिभि: ॥ ५ ॥

[८६७] परि नः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वत: ।
सरा रसेव विष्टपम् ॥६॥३॥ ऋ० ९ । ४१ । १-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४११] पृ० २१५ ।

(२) (सुवितस्य) सब संसार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रेरक परमात्मा की (मनामहे) हम शरण में जाते और ध्यान करते हैं जिससे (सेतुम् अति) मर्यादा और सामाजिक बन्धन व्यवस्था को तोड़ने हारे, (दुराव्यम्) कष्टसाध्य, बेकाबू, दुर्दान्त (अव्रतम्) कर्तव्य कर्मों से गिरे हुए निकम्मे (दस्युम्) प्रजा के विनाशक, डाकू आदि अपराधी, या आत्मा के नाशक काम क्रोध आदि को (सासह्याम) हम विजय करें ।

(३) जैसे (दिवि) आकाश में (विद्युत:) बिजुलियां (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार जब आत्मा की, या ब्रह्मानन्दरस की (विद्युतः) विशेष कान्तियां, दीप्तियां, (दिवि) समस्त संसार में या सूर्यरूप ब्रह्माण्ड में (चरन्ति) वेग से गति करती हैं तब (शुष्मिण:) अति बलवान् (पवमानस्य) अन्त:करण को पवित्र करने हारे और आनन्द का वर्षण करने हारे ब्रह्म का (स्वनः) घोष (वृष्टेः) मेघ के समान (शृण्वे) सुनता हूं । धर्ममेघ समाधि के अवसर में अनाहत आत्मरूप पर्जन्य ध्वनि का यह वर्णन है ।

८६५—'मनामहे' 'दुराव्य' 'सासह्याम' 'अश्ववद्वाजवत्सुत.' इति ऋ० ।
८६६—'स पवस्व विचर्षणे' इति ऋ० ।

(४) हे (सोम !) परमात्मन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप हमें (गोमत्) गौओं, वाणियों और इन्द्रियों से सम्पन्न (अश्ववत्) घोड़ों और प्राणों और वेगवान् साधनों से युक्त, (वीरवत्) पुत्रादि वीर पुरुषों से युक्त, (इषं) अन्न, प्रबल इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य को और (महीम्) बड़ी प्रसिद्धि को (आ पवस्व) प्राप्त कराओ।

(५) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार को देखने हारे परमात्मन् ! (रश्मिभिः) किरणों से (सूर्यः न) जिस प्रकार सूर्य (उषः) उषा के समयों में (मही रोदसी) बड़े भारी आकाश और पृथिवी दोनों को पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनको पूर्ण करते और पालन करते हो। आप हमारे प्रति (पवस्व) अपनी कृपा दर्शाइये।

(६) हे सोम ! (रसा इव) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी (विष्टपम्) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी (शर्मयन्त्या) सुख देने हारी (धारया) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से (विश्वतः) सब ओर से (नः) हमारे प्रति (परि सर) प्राप्त होइये।

इति प्रथम खण्डः।

---

[८६८] आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना।
यत्र देवा इति ब्रवन् ॥१॥

[८६९] परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः।
वृष्टिं दिवः परिस्रव ॥२॥

[९००] अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ।
सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा।
विचक्षाणो विरोचयन् ॥४॥

[६०२] आशिवासत् परावता अथो अर्वावत सुत. ।
इन्द्राय सिच्यते मधु ॥५॥

[६०३] समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥६॥३॥ ऋ० ६ । ३६ । १-६ ॥

भा०—(१) हे (बृहन्मते) महान् ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आप (आशु) सर्वत्र व्यापक होकर (प्रियेण) अतिमनोहर, श्रेष्ठ, (धाम्ना) धारणशील तेज से (परि अर्ष) व्याप्त हो रहे हैं । (यत्र देवा.) जहां २ विद्वान् गण, या दिव्यगुण से युक्त पृथ्वी, जल वायु आदि पदार्थ हैं वहां ही आप भी व्यापक हैं, वे आप से भिन्न बल नहीं रखते । (इति) इस प्रकार आप (ब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (अ-निष्कृतम्) संस्कार या परिष्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि को (जनाय) जन्तुओं के उत्पत्ति के लिये (परिष्कृण्वन्) सस्कृत, स्वच्छ परिष्कृत करते हुए (इष) मनो कामनाओं, पुष्टिकारक पदार्थों वा ओषधियों और अन्नों का (पातयन्) वहां स्वयं उत्पन्न करते हुए आप (दिव.) सूर्यलोक, आकाश या पुरुष दोनों पक्षों से (वृष्टिं) जलवर्षण वीर्यदान आदि क्रिया के कार्य को (परिस्रव) करवाते हैं । समष्टि और व्यष्टि रूप से सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप से वर्णित है ।

(३) (य) जो सोम (दिवः परि) सूर्य में (रघुयामा) हलका सूक्ष्म रूप होकर विचरता है (स) वह (पवित्रे) मलादि दोष रहित, (सिन्धो) स्रवण करने हारे जल के (ऊर्मौ) सघात रूप में (वि अर्षन्) नाना प्रकार से चरित होता है ।

(४) (सुत) सबका प्रेरक वह सोम, सर्वोत्पादक (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (पवित्रे) स्वच्छ मलरहित पदार्थों में (त्विषिम्) कान्ति को

(दधान) धारण करता हुआ (विरोचयन्) नाना पदार्थों को प्रकाशित करता और (विचक्षाण) समस्त पदार्थों को देखता और दिखाता हुआ अति (आपृति) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (सुन:) वह सबका प्रेरक, सर्वोत्पादक (परावत:) दूर के (अथो) और (अर्वावत) समीप के लोकों को (अविवासत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त (मधु) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से (सिच्यते) सेचन किया जाता है।

(६) (समीचीना:) उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वान् लोग (हरिं) सर्वव्यापक परमात्मा को (अद्रिभि) दृढ़ साधनों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, और (इन्द्राय) अपने आत्मा के (पीतये) ज्ञान और आनन्दरस के पान कराने के लिये (इन्दुम्) हृदय में कान्ति रूप से द्रवित होने वाले आनन्दरस की (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

[६०४] जिन्वन्ति सूरमुस्रय स्वसारो जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुवः ॥ १ ॥

[६०५] पवमान रुचारुचा देव देवेभ्य सुतः ।
विश्वा वसून्याविश ॥ २ ॥

[६०६] आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ।
इषे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १-३ ॥

(१) (उस्रय:) गतिशील, (स्वसार:) स्वयं सरण या गमन करने वाली (जामय) भार्याओं या भगिनियों के समान ये इन्द्रियां या प्रजागण (महीयुव:) महत्त्व की आकांक्षा करती हुई (महा) पूजनीय, (इन्दुं)

६०५—(०) 'देव देवेभ्यस्परि' इति ऋ० ।

आह्लादक उस आनन्दमय (सूरं) प्रेरक और उत्पादक (पतिं) पति के समान पालक को (हिन्वन्ति) स्तुति करती और प्राप्त होती हैं ।

(२) हे (पवमान) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के निमित्त (सुतः) प्रकट होकर आप (विश्वा) समस्त (वसूनि) आवास-योग्य लोकों में (आविश) व्यापक हैं ।

(३) हे (पवमान) परमपावन, सर्वव्यापक ! (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-सम्पन्न विद्वानों की (हुव·) प्रार्थनोपासना और कामनाओं को पूर्ण करने के लिये (सुस्तुतिं) उत्तम प्रशंसा योग्य स्तुतिरूप वेदवाणी और (इषे) अन्नादि पदार्थों के लिये (वृष्टिं) आनन्दरस की वृष्टि को (संयतम्) नियमपूर्वक (पवस्व) प्रदान कीजिये । अर्थात्–हे परमेश्वर ! विद्वान् पुरुषों के सुख के लिये अन्नों के लिये, नियमपूर्वक वृष्टि और भजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणी प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्डः ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[१०७] जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति
३ २ ३ १ २
भरतेभ्यः शुचिः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २र
[१०८] त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वने
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
वने । स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहस
३ १ २
स्पुत्रमङ्गिरः ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
[१०९] यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समि-
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १र २र
न्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन् नि होता
३ १ २र ३ १ २
यजथाय सुक्रतुः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ११ । २, ६, २ ॥

१०९— 'समीधिरे' इति ऋ० ।

भा०—(१) (जनस्य गोपाः) समस्त जनों और जन्तुओं का रक्षक, (जागृविः) सदा जागरणशील, कभी आलस्य न करने वाला (सुदक्षः) उत्तम बल से सम्पन्न, (घृतप्रतीकः) घृत, दीप्ति विशेष, ओजस्विता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, (शुचिः) शुद्ध, स्वच्छ अन्तःकरण वाला, निष्कपट (अग्निः) सबको आगे ले चलने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि के समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके (नव्यसे) नये २ अपूर्व (सुविताय) कल्याण के लिये (अजनिष्ट) प्रकट होता है । और वही (बृहता) बड़े भारी (दिविस्पृशा) आकाश तक को स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से (भरतेभ्यः) भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों के लिये (शुमत्) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर (विभाति) विशेष रूप से शोभा देता है । अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है ।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (वने वने) जिस प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ२में आग गुप्तरूप से रहती है उसी प्रकार जीव, जीव में (शिश्रियाणं) व्यापक (गुहाहितं) हृदय में छुपे हुए (त्वा) तुझको (अंगिरसः) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में (अनु अविन्दन्) खोज करते और प्राप्त करते हैं । (सः) वह आप (सहः) सर्वशक्तिमान् (मथ्यमानः) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण या मनन करने योग्य, (महत्) महान् हैं । हे (अंगिरः) ज्ञानस्वरूप ! (त्वां) आपको (सहसस्पुत्रं) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष की पापों से रक्षा करने हारा (आहुः) कहते हैं । आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों में स्पष्ट है ।

(३) (नरः) विद्वान् लोग (यज्ञस्य) देवपूजा एवं संगति आदि धर्मकार्य के (केतुं) बतलाने वाले, (प्रथमं पुरोहितं) सब से प्रथम, साक्षीरूप से स्थित परमेश्वर को (त्रि-सधस्थे) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में (समिन्धते) प्रज्वलित करते हैं । (सः) वह (बर्हिषि) इस जीवन यज्ञसे सम्पन्न, बराबर वृद्धि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में (इन्द्रेण) इस आत्मा और (देवैः) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी ओर बुलाने द्वारा, सब सुखों का दाता (सुक्रतुः) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने द्वारा, सबका रचयिता परमात्मा (यजथाय) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये (सरथं) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय-देश में (नि सदिन्) विराजमान होता है। आधिदैविक पक्ष में-इन्द्र=महान् विद्युत् और देव=अन्य पंचभूत और बर्हि=अन्तरिक्ष, यजथ=ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ।

[६१०] अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा।
ममेदिह श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[६११] राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आशाते ॥ २ ॥

[६१२] ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती।
सचेते अनवह्वरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० २।४१।४-६ ॥

भा०—(१) हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान के समान अध्यापक और शिष्य ! (ऋतावृधौ) सत्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (वां) आप दोनों के लिये (अयं) यह (सोम) ओषधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान (सुतः) तय्यार है। (मम इत्) मेरा ही (हवं) आह्वान, आदेश (श्रुतम्) आप लोग श्रवण करो।

जिस प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं उसी प्रकार सत्यज्ञान के वर्धक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं। उनके प्रति सब लोग अपना प्रेम प्रकट करें।

(२) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर के राजा, (अनभिद्रुहौ) परस्पर द्रोह न करने हारे (उत्तमे)

उत्कृष्ट (ध्रुवे) नित्य (सहस्रस्थूणे) सहस्रों स्तम्भों के समान सत्कर्मों के आश्रय विराजमान (सदसि) भवनरूप, सत्यस्वरूप, सर्वाश्रय आत्मा में (आशाते) उपविष्ट हों। प्राण और उदान अध्यापक शिष्य, राजा, राजमन्त्री और ब्रह्म, जीव तथा जीव और मन सबका वर्णन भी समान है।

(३) (तौ) वे दोनों (घृतासुती) प्रदीप्त तेज को उत्पन्न करने हारे, (आदित्या) आदित्य के समान प्रकाशमान, अखण्डित, (दानुन पती) धनों के स्वामी (सम्राजौ) सम्राट् के समान तेजस्वी मित्र और वरुण, प्राण और उदान (अनवह्वर) सरल, कपटादि रहित होकर (सचेते) परस्पर मिलकर कार्य करते हैं।

[६६३] इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥

[६६४] इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्।
तद्विदच्छर्यणावति ॥ २ ॥

[६६५] अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥८॥ऋ० १ । ८४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७६] पृ० १७० ।

(२) (पर्वतेषु) पोरुओं वाले मेरुदण्ड के मोहरों में (अपश्रितं) स्थित (अश्वस्य) शरीर में व्यापक, आत्मा का यत् जो (शिरः) मुख्य अंश है उसको (इच्छन्) चाहता हुआ (इन्द्र) आत्मा (शर्यणावति) हृदय-देश में (तद्) उसको (विदद्) प्राप्त करता है।

- मधुविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला दधीचि का शिर, अश्वियों ने काट दिया, वह शर्यणावत् तालाब में पड़ा था। उसको इन्द्र ने, अपना वज्र बनाने के निमित्त उसी स्थान पर पाया। ऐसी कथा प्रसिद्ध

(२) हे (नरा) नेताओ! (इन्द्राग्नी) गुरु, शिष्य! या अध्यापक उपदेशक! या परमेश्वर और आचार्य! सूर्य और अग्नि के समान ब्रह्म और जीव! आप दोनों (नः) हमें (पापत्वाय) पापकार्य के लिये और (अभिशस्तये) पराधीनता या हिंसा कार्य के लिये और (निदे) निन्दा-जनक कार्य, या निन्दा करने के लिये (मा रीरधतं) कभी किसी के वश में न होने दें।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

[९१९] पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ १ ॥

[९२०] सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ २ ॥

[९२१] पवमान धिया हितोऽभियोनिं कनिक्रदत् ।
धर्मणा वायुमारुहः ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । २५ । १,३,२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचिकत सं० [४७४] पृ० २३९ ।

(२) (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला, (पवमानः) सब को ज्ञानदान से पवित्र करने हारा, (अदाभ्य) किसी से हिंसा न करने योग्य, (प्रियः) सबको प्रिय (कवि) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, मेधावी (योनौ अधि) अपने आश्रय में ही (देवैः) अन्य विद्वानों, या सहचर इन्द्रियगणों, या वायु आदि देवों के साथ (शोभते) शोभा देता है।

राजा, योगी आत्मा, परमात्मा सब के पक्ष में समान है।

९१९—'वृत्रहा देववीतये' इति ऋ० ।

९२१—'वायुमाविश,' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२६] नू नो रयिं महामिन्दोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
१ २ ३ १ २
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३॥ १२ ॥ ऋ० ६ । ४० । १-३॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८८] पृ० २४४ ।

(२) (अरुणः) अरुणवर्ण, कान्तिमान्, सोम (योनिम्) मूल-स्थान, हृदय-देश में (अरुहद्) प्रकट होता है और (वृषा) सुखों का वर्षक (इन्द्रः) आत्मा (सुतम्) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसके प्रति (गमद्) झुक जाता है। वह आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे (ध्रुव) स्थिर (सदसि) आश्रयस्थान आत्मा में (सीदतु) सदा विराजमान हो।

(३) हे (इन्दो) सोम ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिणं) सब सुखों से युक्त (महां) विशाल (रयिम्) ऐश्वर्य को (विश्वतः) सब ओर से (नः आ पवस्व) प्राप्त कराओ।

इति चतुर्थः खण्ड ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७] पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा य ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
३२ ३२ ३ १ २ ३ १ ३
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २
[१२८] यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
१२ १२
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१२९] बोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।
३ १२ २२ ३ १ २
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥३॥ १३ ॥ ऋ० ७।२२।१-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० (३६८) पृ० २०४ ।

(२) हे (हर्यश्व) हरणशील, अश्वरूप इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मन् ! (यः) जो (ते) तेरा (युज्यः) योग समाधि से उत्पन्न होने वाला (मदः) आनन्द (चारुः) मनोहर, उपभोग करने योग्य (अस्ति)

है और (येन) जिसके बल पर तू (वृत्राणि) आवरणकारी विघ्नों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! आत्मन्! हे (प्रभूवसो) समस्त प्राणियों में बसने हारे! (सः) वह (त्वा) तुझको (ममत्तु) आनन्दित करे ।

(३) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (वसिष्ठ) वसिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण, या विद्वान् पुरुष (या) जिस (प्रशस्ति) उत्तम गुण वर्णन करने वाली (वाच) वाणी को (अर्चति) प्रकट करता है (इमा) इस (मे) मेरी वाणी को (सुबोध) तू उत्तम रूप से ज्ञान कर । और (इमा) इन (ब्रह्म) वेदमन्त्रों को (सधमादे) एकत्र हर्ष प्राप्त करने के स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदेश में (जुषस्व) सेवन कर, उनका मनन कर ।

[६३०] विश्वाः पृतना अभिभूतरन्नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रञ्जजनुश्च राजसे । क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुताग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥ १ ॥

[६३१] नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे । सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥ २ ॥

[६३२] समु रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये । स्वः पतिर्यदी वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥३॥१४॥

ऋ० ८ । ९७ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३७०] पृ० १६१ ।

(२) (विप्रा) मेधावी, ज्ञानी लोग (चक्षसा) अपने दर्शन कराने हारे आलोक से साक्षात् करके (अभिस्वरे) गायन में (नेमिं) नमन करने हारे (मेषं) सूर्य या मेघ के समान सुखों के वर्षाने वाले उस परमात्मा को ही

(नमन्ति) नमस्कार करते हैं । (च.) आप लोग भी (सुदीतयः) उत्तम कान्तिसम्पन्न और (अद्रुहः) परस्पर द्रोह न करते हुए (तरस्विनः) शीघ्र कार्य सम्पादक होकर (ऋक्भिः) वेदमन्त्रों से (कर्वा) प्रत्येक कार्य में उसी का नमस्कार करें ।

(३) (रेभासः) स्तुति करने हारे, गायक, विद्वान् लोग (सोमस्य) आनन्दरूप सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (इन्द्र उ) इस आत्मा को लक्ष्य करके ही (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर गान करते हैं । (यद् ईं) और जब (धृतव्रतः) सब को धारण करने वाला आत्मा (वृधे) बढ़ता है, शक्तिशाली और उन्नत होता है तब ही वह (ओजसा) अपने तेज से (ऊतिभिः) अपने बलशील, प्राणों सहित (सं) एक साथ वृद्धि को प्राप्त होता है ।

[६३३] यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥ १ ॥

[६३४] इन्द्रन्तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्त्तरि ।
हस्तेन वज्रः प्रतिधायि दर्शतो महो देवो न सूर्यः ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ७० । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये ऋषि० सं० [२७३] पृ० १४० ।

(२) हे (पुरुहन्मन्) इन्द्रियों को वश करने हारे आत्मन् ! (तं) उस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (शुम्भ) पुकार, स्मरण कर (यस्य) जिस तेरे अपने (विधर्त्तरि) विविध प्रकार से पालक पोषक परमेश्वर में (द्विता) स्वामी सेवक, भक्त भगवान् का सा भेद है । और जिसने (हस्तेन) हाथ से खड्ग के समान अज्ञानान्ध-

६३३—१. 'हस्तेन', 'महो दिवे न', इति ऋ० ।

स्तुति और (वीती) रक्षा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अच्छी प्रकार (अर्ष) हमें प्राप्त हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[९३८] त्वं ह्याऽङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
३ १ २ ३ १ २
अमृतत्वाय घोषयन् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
[९३९] येना नवग्वा दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ५ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्याशत॥२॥१७॥
ऋ० ९ । १०८ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५८३] पृ० २९३ ।

(२) (नवग्वा) सदा अभिनव वेदवाणियों को प्राप्त करने वाला, नवशिक्षित (येन) जिस परमब्रह्म के द्वारा (दध्यङ्) विद्वान्, ध्यानवान् होकर (अप ऊर्णुते) ज्ञान प्रकट करता है । (येन) जिसके बल पर (विप्रास) विद्वान् मेधावी जन वेदमन्त्रों के तत्व या परमपद को (आपिरे) पहुंचते हैं । और येन जिसके बल पर (देवाना) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न महात्माओं के (सुम्ने) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में (चारुणः) उत्तम (अमृतस्य) आत्मा के (श्रवांसि) ज्ञान-रहस्यों को (आशत) विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं । हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होवो ।

१ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
[९४०] सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं विधावति ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २
अग्रे वाचः पवमान कनिक्रदत् ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[९४१] धीभिर्मृजन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम् ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥२॥

९३८—२ 'नवग्वो', 'आनशुः' इति इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
[६४२] असर्जि कलशाँ अभि मीढ्वान् त्सप्तिर्न वाजयुः ।
३ १ २र ३ १ २
पुनानो वाचञ्जनयन्नसिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १०६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७२] पृ० २८८ ।

(२) (वने) शरीर में (क्रीडन्तं) नाना कर्मों को या क्रीड़ा, विनोद, करते हुए (वाजिनं) अति बलवान्, ज्ञानी (अत्यविम्) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करके विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को (धीभिः) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा (मृजन्ति) परिशोधन करते, उसको स्वच्छ और समाहित करके और भी अधिक विवेक से उसके दर्शन करते हैं । (मतयः) मननशील मुनि लोग (त्रिपृष्ठं) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा को (अभि सम् अस्वरन्) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

(३) (मीढ्वान्) आनन्दघन, वह सोम (वाजयुः) संग्राम में जाने हारे (सप्तिः न) अश्व के समान (कलशान् अभि) सकल देहों में (असर्जि) प्रकट होता है । और (पुनानः) सब मलों को दूर करता हुआ (वाचम्) वाणी को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (असिष्यदत्) द्रवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[६४३] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता
२ ३ २ ३ १ २र ३ १२ २र ३ १ ३
पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्य्यस्य जनितेन्द्रस्य जनि-
१ २र
तोत विष्णोः ॥१॥

३ २ ३ १ १ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४४] ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
[१४५] प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिरस्तोमान्पवमानो मनीषाः
३ २ ३र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३र ३ २
अन्त॰ पश्यन्वृजनेमावराण्यातिष्ठति वृषभो गोषु जानन्
॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । ६६ । ६,७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५२७] पृ० २६२ ।

(२) (सोम.) सोम (देवाना) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (ब्रह्मा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, (कवीना) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानियों का (पदवीः) मार्गदर्शक, (विप्राणा) मेधावी पुरुषों में (ऋषि.) मन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, (मृगाणा) मृगों के बीच में (महिष.) महिष के समान बलवान्, (गृध्राणा) गृध्र आदि पक्षियों में (श्येन) श्येन के समान आकांक्षा शीलों में बलवान् (वनानां) जंगल के वृक्षों के बीच (स्वधिति) कुठार के समान कर्मबन्धनों के नाश करने द्वारा (सोमः) आत्मा (रेभन्) अनाहत नाद करता हुआ (अति एति) सब जालों को पार करके (पवित्रं) शुद्ध निर्मल ब्रह्म को प्राप्त होता है।

यास्काचार्य के मत से अध्यात्म पक्ष में—(ब्रह्मा देवानां) यह आत्मा देवनकर्मा क्रीडाशील इन्द्रियों का ब्रह्मा अर्थात् साक्षी है । (पदवी कवीना) चेतन के समान काम करने वाली पदार्थों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाला है । (ऋषि विप्राणा) व्यापन कर्मा इन्द्रियों को शक्ति देने वाला है । (महिषः मृगाणां) विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है। (श्येन॰ गृध्राणां) विषयाभिलाषी ज्ञानशक्ति इन्द्रियों के बीच यह आत्मा स्वत चेतन ज्ञाता है । (स्वधिति वनाना) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वय अपने में धारण करता है । ऐसा सोम, आत्मा (पवित्र) इन्द्रियों पर ही (रेभन्) स्वयं स्तुति किया जाकर (अति एति) उन द्वारा सब अनुभव करता, सबसे ऊपर विराजता है (निरु० प० अ० २ । १३) ।

(३) (पवमान:) पवित्र, शुद्ध, ज्योतिर्मय आत्मा (मनीषा) मनन साधनों की प्रेरणा करने वाला (सिन्धुः न) नदी के प्रवाह के समान (वाचं) वाणी के (ऊर्मिम्) तरंग को (प्राचीविपत्) प्रेरित करता है। और (गिरः) वाणियों या स्तुतियों के (स्तोमान्) समूहों को भी प्रकट करता है और स्वयं अपने को (अन्तः) भीतर की ओर (पश्यन्) देखता हुआ (गोषु) इन्द्रियरूप गौओं में (वृषभः इव) बैल के समान वीर्य या बल का सेचन करता हुआ (अवराणि) न वरण करने योग्य, अर्थात् त्याग करने योग्य, अथवा अपने अधीन (इमा) इन (वाजिना) वेगवती इन्द्रियों वृत्तियों को (आतिष्ठति) वश करता है।

इति पञ्चः खण्डः ।

—:o—

३ २र २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६] अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
२ ३ २ ३ १ २
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१४७] अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या ।
३ २उ ३ १ २
अस्य क्रत्वा यशस्वतः ।
३ १ २र ३ २उ ३ २ ३ १ २
[१४८] अयं विश्वा अभिश्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते ।
२उ ३ १ २
आ वाजैरुप नो गमत् ॥३॥२०॥ ऋ० ८ । १०२ । ७-६ ॥

भा०— १) व्याख्या देखो अविकल सं० [२१] पृ० ६ ।

(२) (त्वष्टा इव) जिस प्रकार तरखान शिल्पी (तक्ष्या) काट २ कर बनाने योग्य (रूपा) पदार्थों को बनाता है उसी प्रकार (यथा) यथावत् ठीक ठीक (अयं) यह (अग्निः) सबका अग्रणी, सबसे पूर्व विद्यमान ज्ञानवान् परमेश्वर भी (नः) हमारे लिये सब (रूपा) कान्तिमान् पदार्थों को (आभुवत्) बनाता है। हम लोग भी (यशस्वतः)

समस्त महिमा वाले (अस्य) इसके ही (क्रत्वा) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य के द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

(३) (देवेषु) दिव्यगुणों से युक्त समस्त पदार्थों, लोकों और विद्वानों से (अयं) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमात्मा (विश्वाः) समस्त (श्रियः) लक्ष्मियों को (अभिपद्यते) प्राप्त है, उनका स्वामी है । वह (नः) हमारे पास (वाजैः) अन्नों बलों ज्ञानों और कर्मों और ऐश्वर्यों द्वारा (उप आगमत्) हमें प्राप्त हो।

[६४६] इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥१॥

[६५०] नकिष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।
नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे ॥२॥

[६५१] इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ॥ ३ ॥ २१ ॥

ऋ० १ । ८४ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो पूर्वार्चिक सं० [३४४] पृ० १७८ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) क्योंकि तू संसार को चलाने हारे बलवान् अश्वों के समान (हरी) ज्ञान और शक्तिरूप बलों को (यच्छसे) नियम में रखता है अतः (त्वत्) तुझ से (रथीतरः) बड़ा रथका स्वामी या अधिक आनन्दरस और बलवाला (नकि) कोई दूसरा नहीं है । (मज्मना) बल के कारण भी (त्वां अनु) तेरे मुकाबले पर (नकिः) कोई नहीं है । और (सु-अश्वः) उत्तम व्यापन शक्ति से सम्पन्न या वेगवान् कोई पदार्थ भी (नकिः आनशे) इस संसार में तुझसे बढ़कर और कोई व्यापक नहीं है ।

(३) हे मनुष्यो ! उस (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील परमेश्वर की (अर्चत) उपासना करो और (उक्थानि च) सूक्तों वेदमन्त्रों का (प्रर्चत) उच्चारण करो। जिस के आश्रय में (सुताः) ये समस्त संसार के उत्पन्न (इन्द्रवः) कान्तिमान, दिव्यगुण सम्पन्न पदार्थ और साधकगण (अमत्सुः) आनन्दलाभ कर रहे हैं। उस (सहः) सर्व शक्तिमान् (ज्येष्ठं) सबसे बड़े और अधिक प्रशसनीय परमात्मा को (नमस्यत) नमस्कार करो।

१ २ ३१ ३ २ ३१ २ ३ १ २
[६५२] इन्द्र जुषस्व प्रवहायाहि शूर हरिह।
१ २ ३१ २ ३१ २ २र ३२उ २ १ २
पिबा सुतस्य मतिर्न मधोश्चकानश्चारुमदाय ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २
[६५३] इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।
३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य सुतस्य स्व३र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः॥२॥
१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ २
[६५४] इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न।
३ १ २ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥३॥२२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (जुषस्व) इस आनन्दरस का सेवन कर। (आयाहि) आ प्रकट होओ। हे (शूर) बलवान् शक्ति शालिन् ! हे (हरिह) इन्द्रियरूप घोड़ों का ताड़न करने हारे ! (सुतस्य) इस उत्पन्न आनन्दरस को (पिब) पान कर (मतिः न) मनन करने हारे ज्ञानवान् के समान (चारु) अत्यन्त मनोहर होकर (मदाय)

६५२—'चतुस्त्रिंशदक्षराणि स्तुता भवन्ति इत्यन', 'प्रवह' 'हरिह' 'मतिन' इति नवोपसर्गाक्षराणि प्रथमस्यामृचि, द्वितीयस्या 'नव्यं न' 'दिवो न' 'स्व३र्ण' इति नवोपसर्गाक्षराणि, तृतीयस्यां 'मित्रो न, 'यतिर्न' 'भृगुर्न' इति नवोपसर्गाक्षराणि भवन्ति ॥

हमें आनन्द प्राप्त करने के लिये (मधो.) मधुर ब्रह्मरस की (चकान.) कामना कर सदा उसकी अभिलाषी बना रह उसी को सदा चाह ।

(२) हे आत्मन् ! जिस प्रकार (दिव. न) ज्योति से यह आकाश पूर्ण है उसी प्रकार (मधो) ब्रह्म-आत्मरस से (जठरं) अपने मध्य भीतरी भाग को (नव्यम् इव) सदा तरो ताजा के समान (अस्य सुतस्य) इस सोमरस के (स्व न) अत्यन्त सुखकारक स्वरूपों के समान (मदा) हर्षतरंग रूप (वाच) सुन्दर वाणियां (त्वा) तुझको (सु अस्थुः) प्राप्त हों ।

(३) (इन्द्र.) वह ऐश्वर्यशील आत्मा (मित्रः न) सूर्य के समान (तुरापाट्) हिंसकों का नाशक (यति न) यम नियम के साधक ज्ञानी के समान (वृत्रं) आवरक काम, क्रोधादि शत्रुओं को (जघान) नाश करे (भृगु. न) पापों को भून डालने वाले योगी या आचार्य या अग्नि के समान (वलं) शत्रु की सेना को (बिभेद) भेद डालता है (सोमस्य) उसी सोम के (मदे) हर्ष में (शत्रून्) कामादि अन्त शत्रुओं को (स साह) पराजित करता है ।

इति सप्तमः खण्ड. ।

इति तृतीय प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

इति पञ्चमोऽध्याय.

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

(द्वितीयोऽर्धः)

ऋषि —१ ऋषिगणाः । २ काश्यप. ३, ४, १३ असित काश्यपो देवलो वा । ५ अवत्सारः । ६, १६ जमदग्नि. । ७ अरुणो वैतहव्यः । ८ उरुचक्रिरात्रेयः ९ कुरुसुतिः काण्व । १० भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा १२ मनुराप्सव सप्तर्षयो वा । १४, १५, २ । गोतमो राहूगण. । १७ ऊर्ध्वसद्मा कृतयशाश्च क्रमेण । १८ त्रित आप्त्य. । १९ रेभसूनू काश्यपौ । २० मन्युर्वासिष्ठ २१ वसुश्रुत आत्रेय. । २२ नृमेधः ॥ देवता—१—६, ११—१३, १६—२०, पवमान. सोम. । ७, २१ अग्निः । मित्रावरुणौ । ६, १४, १५, २२, २३ इन्द्र. । १० इन्द्राग्नी ॥ छन्द.—१, ७ जगती । २—६ ८—११, १३, १६ गायत्री । २ । १२ बृहती । १४ १५, २१ पङ्क्तिः । १७ ककुप सतोबृहती च क्रमेण । १८, २२ उष्णिक् । १८, २३ अनुष्टुप् । । २० त्रिष्टुप् ॥ स्वर १, ७ निषाद. । २—६, ८—११, १३, १६ षड्ज. । १२ मध्यम. । १४, १५, २१ पञ्चम । १७ ऋषभ. मध्यमश्च क्रमेण । १८, २२ ऋषभ । १९ २३ गान्धार । २० धैवत. ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५५] गावत्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेताधा इन्द्रो भुवनष्वार्पित.।
२ ३ १ २ ३ १र ३ २ ३ १ २ ३ १र
त्वं सुवीरो असि सोम विश्ववित् तं त्वा नर उप गिरेम
२र
आसते ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
[६५६] त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता
२र १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विधावसि । सन. पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वय स्याम भुवन-
३ १ २
षु जीवसे ॥२॥

७५६—1. 'तं त्वा विप्रा', इति ऋ० ।

३ २ ३ १२ २र   ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २ ३ १ २र

[९८७] ईशान इमा भुवनानि ईयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः।

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २

तास्ते क्षरन्तु मधुमद् घृतम् पयस्तव व्रते सोम तिष्ठन्तु

३ १ २

कृष्टयः ॥३॥१॥ ऋ० ८६ । ३९, ३८, ३७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् ! आप (गोवित्) वेदवाणियों, ज्ञानरश्मियों और इन्द्रियों को प्राप्त कराने हारे, एवं समस्त गतिमान् पदार्थों में व्यापक हैं । आप (वसुवित्) सब धनो के दाता, समस्त जीवों को प्राप्त और समस्त वास देने हारे लोकों में व्यापक हैं, आप (हिरण्यविद्) समस्त धनों को प्राप्त कराने हारे और समस्त तेजोमय पिण्डों में भी व्यापक हैं । हे (इन्दो) इस समस्त संसार में व्यापक ! हे ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप (भुवनेषु) समस्त लोकों में (रेतोधा) जीवों और नाना प्रकार के सर्गों को उत्पन्न करने के सामर्थ्य को स्वयं धारण करके (अर्पितः) सब में व्याप्त हो, (त्वं) आप (विश्ववित्) सर्वज्ञ और (सुवीर) उत्तम शक्तिमान् (असि) हैं । (तं त्वा) उन आपको (इमे नरः) ये समस्त मनुष्य (गिरा) अपनी वाणी द्वारा (उप आसते) उपासना करते हैं । आप (पवस्व) हमारे हृदयों में प्रकट होइये ।

(२) हे (सोम) सबके प्रेरक ! आप (विश्वतः) सब प्रकार से और सर्वत्र (नृचक्षाः) सब मनुष्यों को देखने हारे हैं । हे (पवमान) समस्त हृदयों में प्रकट होने हारे ! हे (वृषभ) समस्त सुखों के वर्षक ! आप ही (ताः) इन प्रजाओं में (वि धावसि) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हैं । (सः) वह आप (वसुमद्) वास योग्य प्राणों से युक्त (हि-

९८७—२ 'हिन्वानो' 'अक्रान्देवो' इति ऋ० ।

३ 'नीयसे' इति ऋ० ।

श्वयवत्) हिरण्य आदि सम्पत्तियों वाले, या आत्मा से युक्त ऐश्वर्य को (न पवस्व) हमें प्रदान करें । (वय) हम (भुवनेषु) लोकों में (जीवसे) दीर्घ जीवन प्राप्त करने के (स्याम) समर्थ हों ।

(३) हे (ईशान) समस्त संसार के स्वामिन् ! हे (इन्दो) ऐश्वर्य से सम्पन्न ! आप (हरितः) हरण करने हारी वेगवान् (सुपर्ण्यः) और सुन्दर, शोभन, कल्याणकारी मार्ग में गमन करने हारी सात्विक, राजस तामस, देव, मानव, तिर्यङ्, द्यौ, अन्तरिक्ष और भूलोक इन सब में उत्पन्न होने हारी तीनों प्रकार की प्रजाओं को (युजान) सन्मार्ग में नियुक्त करते हुए (इमाः) इन समस्त (भुवनानि) लोकों को (ईयसे) शासन करते हैं । (ताः) वे सब प्रजाएं (ते) आपके लिये (मधुमत्) ज्ञान से भरे, मधुर, भक्तिरसपूर्ण (घृत) स्नेह और कान्ति से युक्त (पयः) आनन्दरस को (क्षरन्तु) प्रवाहित करें । (कृष्टयः) श्रमशील मनुष्य प्रजाएं हे (सोम) परमेश्वर ! (तव व्रते) आपकी आज्ञा में, व्यवस्था में (तिष्ठन्तु) रहें ।

[६५८] पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत ।
सूर्यस्येव न रश्मयः ॥१॥

[६५९] केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि ।
समुद्रः सोम पिन्वसे ॥२॥

[६६०] जज्ञानो वाचामिष्यसि पवमान विधर्मणि ।
क्रन्दन्देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६४ । ७, ९ ॥

भा०—(१) हे (विश्ववित्) सर्वज्ञ (सूर्यस्य इव) सूर्य के समान (पवमानस्य) सर्वव्यापक, (ते) तेरे (सर्गाः) बनाये समस्त जगत्, सूर्य

६५८—३. 'हिन्वानो' 'अक्रान्देवो' इति ऋ० ।

से उत्पन्न (रश्मय. न) किरणों के समान (असृक्षत) उत्पन्न होकर गति कर रहे हैं।

(२) हे (सोम) सब जगत् के उत्पादक ! (समुद्र.) समस्त लोकों को अपने भीतर से धारण करने और प्रकट करने हारे आप समुद्र के समान हैं, अनन्त हैं (दिव. परि) आकाश में (केतुं) अपनी महिमा को बतलाने वाले अथवा सब पदार्थों के ज्ञान कराने वाले सूर्य को (कृण्वन्) रचकर (विश्वा रूपा) समस्त कान्तिमान् और रूपवान् पदार्थों को (अभि अर्षसि) प्रकट करते, स्वयं व्यापते और (पिन्वसे) सब को पूर्ण कर रहे हो।

(३) (सूर्यः न) सूर्य के समान (देव.) सर्वत्र प्रकाशक, (जज्ञान.) आप स्वयं हृदयदेश में प्रकट होकर (विधर्मणि) विशुद्ध आत्मा में (पवमान) स्वयं प्रदीप्त होकर, या ज्ञानधारा के रूपमें क्षरित होकर गर्जते मेघ के समान (क्रन्दन्) उपदेश करते हुए आप (वाचं) वेदवाणी को (इष्यसि) ऋषियों के हृदयों में प्रेरित करते हो।

[६६१] प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः।
श्रीणाना अप्सु वृञ्जते ॥ १ ॥

[६६२] अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः।
पुनाना इन्द्रमाशत ॥ २ ॥

[६६३] प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः।
नृभिर्यतो विनीयसे ॥ ३ ॥

[६६४] इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिदीयसे।
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥

६६१—१ 'मृजते', ६६३ 'सोमेन्द्रान् पातवे' ६६४ 'पवित्र परिधावसि' इति ऋ० ।

[६६५] त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीधृतिः ।
सस्निर्यो अनुमाद्यः ॥ ५ ॥

[६६६] पवस्व वृत्रहन्तम उक्थेभिरनुमाद्यः ।
शुचिः पावको अद्भुतः ॥ ६ ॥

[६६७] शुचिः पावक उच्यते सोम सुतः स मधुमान् ।
देवावीरघशंसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । २४ । १-७ ॥

भा०—(१) (पवमानासः) भ्रमण करते हुए, (इन्दवः) ज्ञान-सम्पन्न, (सोमासः) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव, मुक्तजन (श्रीणानाः) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर (अप्सु) प्रजाओं या लोकों में (वृञ्जते) भ्रमण करते हैं ।

(२) (गाव) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, (प्रवता) प्रकृष्ट उत्तम मार्ग में (यतीः) गमन करते हुए (आपः न) जल प्रवाहों के समान (अभि अधन्विषु) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं । और वे (पुनानाः) सब विघ्नों को पार करते हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील उस सबके प्रभु को (आशत) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करते हैं ।

(३) हे (पवमान) गतिशील ! हे (सोम) विद्वन् शिष्य ! तू (इन्द्राय) आचार्यरूप इन्द्र के लिये (मादन) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ (प्र धन्वसि) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और (नृभिः) सन्मार्ग के नेता गुरुओं द्वारा (यतः) नियमों में व्यवस्थित होकर (वि नीयसे) विनयपूर्वक शिक्षित किया जावे ।

६६५. 'चर्षणीसहे' ६६६. 'सुतस्य मध्वः' इति ऋ० ।

(४) हे (इन्दो) उपासक शिष्य ! व ब्रह्मचारिन् ! (अद्रिभिः) पर्वत के समान स्थिर प्रज्ञा वाले विद्वानों से (सुतः) प्रेरित एवं शिक्षित होकर (पवित्र) पावन करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रति तू (परिदीयसे) समर्पित किया जा रहा है । अर्थात् ज्ञान और सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ रहा है । (इन्द्रस्य) ज्ञानवान् आचार्य के (धाम्ने) पद, स्थान के लिये (अरं) तू पर्याप्त रूप से योग्य होजा ।

(५) हे (सोम) शिष्य ! ब्रह्मचारिन् (त्वं) तू (नृमादनः) सब नेता गुरुओं के हर्ष को उत्पन्न करने और (चर्षणीधृतिः) निरीक्षक लोगों की दृष्टि में उत्तम आचार को धारण करने वाला होकर (सस्निः) स्नान करके, स्नातक होकर (य) जो आप पुनः (अनुमाद्य.) सब के हर्ष का कारण बनकर (पवस्व) ज्ञान का प्रदान कर ।

(६) हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों और काम, क्रोध आदि आभ्यन्तर, तामस आवरणों को नाश करने में सबसे उत्तम ! तू (उक्थेभिः) उत्तम वचनों द्वारा (अनुमाद्य) आदर करने योग्य (शुचिः) शुद्ध, कान्तिमान्, (अद्भुतः) आश्चर्यजनक, (पावकः) समस्त प्रजा को पवित्र, निष्पाप बनानेहारा होकर (पवस्व) सर्वत्र भ्रमण कर और ज्ञान प्रदान कर ।

(७) (सः) वह ब्रह्मचारी (मधुमान्) ज्ञानवान्, ब्रह्मवेत्ता, (शुचिः) मन, वाणी और कार्य में पवित्र, (पावकः) औरों को पवित्र करनेहारा, पंक्तिपावन (सोमः) सोम (उच्यते) कहाता है जो (देवावीः) विद्वानों का और दिव्यगुणों का रक्षण करने हारा और (अघशंसहा) पाप की बात बतलाने वालों के पाखण्ड को नाश करने वाला होता है ।

इति प्रथमः खण्डः ।

---

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६६८] प्र कविर्देववीतयेऽव्या वारेभिरव्यत ।
३ १ २र ३ १र २र
साह्वान्विश्वा अभिस्पृधः ॥ १ ॥

[९६९] स हि ष्मा जरितृभ्य आवाज गोमन्तमिन्वति ।
पवमानः सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[९७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।
स नः सोम श्रवो विदः ॥ ३ ॥

[९७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम् ।
इषं स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[९७२] त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ ५ ॥

[९७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः ।
सोमश्चमूषु सीदति ॥ ६ ॥

[९७४] क्रीळुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—(१) ब्रह्मचारी (कविः) क्रान्तदर्शी, विद्वान् वाग्मी, मेधावी (देववीतये) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के लिये (अव्या वारेभिः) भेड़ के बालों से बने कम्बलों द्वारा (अर्षति) अपने को ढांपता है और (विश्वाः) समस्त (अभिस्पृधः) प्रतिस्पर्धी शत्रुओं के समान आगे आने वाली बाधाओं को (साह्वान्) पराजित करता है। अथवा (अव्याः) रक्षा करने हारी विद्या के (वारेभिः) आवरणों, व्रतों, साधनों से (अर्षति) अपने को युक्त करता है।

(२) (स हि) और वही (पवमानः) स्वयं गमन करता हुआ (जरितृभ्यः) विद्या का उपदेश करने हारे आचार्यों के लिये (सहस्रिणं)

९६८—'देववीतये इन्द्या' 'वारेभिरर्षति' ९६९—'मृज्यसे पवसे' इति ऋ० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गवादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (विश्वानि) सबको (परिमृज्यसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है । और (मती) मनन करने हारी शक्ति से (पवसे) तत्त्व तक पहुंचता है । (सः) वही तू (नः) हमें (श्रवः) वेदज्ञान को (विदः) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्) बड़े (यशः) यश को तू (अभि-अर्ष) प्राप्त हो और (मघवद्भ्यः) बड़े धनाढ्य पुरुषों से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोतृभ्यः) सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इषं) उनकी इच्छानुकूल अन्न, धन (आ भर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (वह्ने) ज्ञान को धारण करने हारे ! हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू (सुव्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदाचारी (पुनानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति पात्र राजा के समान (गिरः) वेदवाणियों के (आ विवेशिथ) मर्म में प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

(६) (सः) वही (वह्निः) ज्ञान का नेता (सोमः) ब्रह्मचारी, शान्त, तपस्वी (अप्सु) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय (गभस्त्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृज्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर (चमूषु) सत्पात्रों में, प्रजा के हृदयों में (सीदति) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (क्रीडुः) क्रीडा करने वाला, किशोर-दशा में वर्त्तमान, सुप्रसन्न तू (मखः न) यज्ञ के समान (मंहयुः) पूजनीय (पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आचरण करता है और (स्तोत्रे) सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्यं) उत्तम ज्ञान को और बल को (दधत्) धारण करता है ।

[९७५] यवं यवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परि स्रव ।
विश्वा च सोम सौभगा ॥ १ ॥

[९७६] इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः ।
नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

[९७७] उत नो गोविदश्ववित्पवस्व सोमान्धसा ।
मक्षू तमेभिरहभिः ॥ ३ ॥

[९७८] यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य ।
स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ५५ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! अन्नपते ! (नः) हमें (अन्धसा) प्राण धारण कराने हारे सामर्थ्य से (पुष्टं पुष्टं) खूब पुष्ट हुए (यवं यवं) यव तथा यव के समान अन्य धान्य भी (परि स्रव) प्रदान कर । (विश्वा च) और समस्त (सौभगा) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (अन्धसः) जीवन धारण कराने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाशक तेरी (यथा स्तवः) जिस प्रकार सत्यगुण प्रकाशक स्तुति है और (यथा) जिस प्रकार तेरी प्रसिद्धि है, ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होकर (प्रिये) सबको प्रिय लगने वाले प्यारे, उत्तम (बर्हिषि) सूर्य में तेज के समान, देह में आत्मा के समान विश्व में, या उत्तम आसन पर (नि सदः) विराजमान हो ।

(३) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (उत) और (गोवित्) ज्ञानेन्द्रियों के वश करने हारे और (अश्ववित्) प्राणेन्द्रियों के वश करने हारे आप (अन्धसा) प्राण के धारक आप (मक्षू तमेभिः) शीघ्र ही गुजर जाने वाले (अहोभिः) इन थोड़े से दिनों में ही (नः) हमें (पवस्व) प्राप्त हो ।

(४) (यः) जो (जिनाति) स्वयं जीत लेता है और (न जीयते) दूसरों से नहीं जीता जाता और (अभि-इत्य) सन्मुख आकर (शत्रुम्) शत्रु को (हन्ति) नाश करता है (सः) वह (सहस्रजित्) हज़ारों को जीतने वाला, वज्रस्वरूप तू (पवस्व) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो।

[६७६] यास्ते धारा मधुश्च्युतोऽसृग्रमिन्द ऊतये।
ताभिः पवित्रमासदः ॥ १ ॥

[६८०] सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो वाराण्यव्यया।
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥

[६८१] त्वं सोम परिस्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः।
वरिवोविद् घृतं पयः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ९। ६२। ७-९ ॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरी (मधुश्च्युतः) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने हारी, आनन्दप्रद (धाराः) धारण करने वाली शक्तियां (याः) जो (ऊतये) रक्षा करने के लिये हैं (ताभिः) उन से (पवित्रं) पवित्र करने हारे वायु या सूर्य, प्राण में सूक्ष्म रूप से (आसदः) विराजमान हो।

(२) (सः) वह तू (इन्द्राय) इस अन्तरात्मा के (पीतये) पान के लिये, तृप्ति के लिये, (अव्यया) अवि अर्थात् चित्-प्रकृति के (वारा) आवरण करनेहारे आवरणों को (तिरः) दूर (अर्ष) कर और (ऋतस्य) प्रकाशस्वरूप सत्य के (योनिम्) आश्रय स्थान ब्रह्म को (सीदन्) प्राप्त होकर (आ) प्रकट हो।

९८०—'तिरो रोमाण्यव्यया सदिन्योता वनेषा' इति ऋ०।
९८१—'त्वमिदो परी' इति ऋ०।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (त्व) तू (अंगिरोभ्यः) ज्ञानी आत्माओं के लिये (वरिवोविद्) वरण करने योग्य सुखों, आत्मानन्दों को प्राप्त कराने हारा और (स्वादिष्ठ) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर (घृतम्) अति प्रकाशमय (पयः) अमृत रस को (परिस्रव) प्रदान कर।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

२ ३ १ २ ३क २र ३ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतोऽग्नेश्चिकित्र उषसामिवेतयः ।
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्यनि ॥१॥

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३
[६८३] वातोपजूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वि-
१ २ १ २ ३ २ १ ३ २ ३ १ २
तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्यो३यथा पृथक् शर्द्धांस्यग्ने
३ १ २ ३ १ २
अजरस्य धक्षतः ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[६८४] मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतर
३ २ १र २र ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३
मतिम् । त्वामर्भस्य हविषः समानमित्त्वां महो वृणते
२
नान्यं त्वत् ॥३॥७॥ ऋ० १० । ९१ । ५, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्ने) ज्ञान प्रकाशक (तव) तेरी (श्रियः) विभूतियां (वर्ष्यस्य) मेघ की (विद्युतः इव) विद्युतों के समान (उषसां) प्रभात कालों में निकलती हुई (इतयः) किरणों के समान

६८२—'चित्रादिचकित्र', 'उषसां न केतवः' 'आस्यन्दे' इति ऋ० ।

६८३—'वातोपधूत' 'अजराणि धक्षत' इति ऋ० ।

६८४—'परिभूतम' हविषोमहरिन्द्रा समानमित्वा महो' इति ऋ० ।

(चिकित्रे) सर्वत्र जानी जाती हैं । (यत्) जब कि (ओषधीः) ओषधियों और (वनानि च) वृक्षादि वनस्पतियों में भी (अभिसृष्टः) लग कर उनमें भी व्याप्त होकर, (आसनि) मुख में (अन्नम्) अन्न के समान समस्त पदार्थों को (स्वयं) अपने भीतर लेलेता है ।

ओषधि अन्नादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर जलाकर मानों ग्रास कर जाता है उसी प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान् भी समस्त ओषधि वृक्षादि को अन्न के समान जानकर उनका खाद्यरूप से विवेक करे ।

(२) (वातोपजूतः) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न (इषितः) स्वयं इच्छा पूर्वक (तृपु) शीघ्र ही (वशां) कमनीय उत्तम गुण से युक्त वनस्पतियों को, (अन्ना) और अन्नों को (वेविषद्) प्राप्त कर के (वितिष्ठसे) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है । हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप ! विद्वन् (अजरस्य) कभी वृद्ध न होने वाले, (धक्षत.) अग्नि के समान अज्ञान को भस्म करने हारे, (रथ्यः) रथपर चढ़े महारथी शूरवीर के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार (पृथक्) पृथक् २ लक्ष्यों पर जाते हैं उसी प्रकार (ते) तेरे (शर्धांसि) बल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी (पृथक्) पृथक् २ नाना कार्यों में (आयतन्ते) लग रहे हैं, सफल हो रहे हैं ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् (मेधाकारं) ज्ञान और धारणावती बुद्धि के उत्पादक (विदथस्य प्रसाधनम्) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना के करने वाले (अग्निं) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सर्व प्रकाशक, (होतारं) सबको अपने शरण में लेने और सब सुखों के देने वाले, (परिभूतरम्) सब ओर अपने सामर्थ्य या सत्ता को प्रकट करने हारे, (मतिं) मननशील (त्वाम्) तुझको ही (अर्भस्य) छोटे और (महः) बड़े, थोड़े और बहुत (हविषः) ज्ञान के लिये भी (समानम्-

मित्र और वरुण से प्राण और अपान, सभापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहिये।

[१६८८] उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः।
सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥

[१६८९] अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमानमदेताम्।
इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥२॥

[१६९०] वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतावृधम्।
इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥३॥६॥ ऋ० ८। ७६। १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन्! (चमूसुतम्) सेना दलों में अभिषेक को प्राप्त पदाधिकारी के राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप चमसों में उत्पन्न हुए (सोमं) सबके प्रेरक आत्मा के बल वीर्य और प्राण को (पीत्वा) पान करके (ओजसा) बल और कान्ति सहित (उत्तिष्ठन्) उठते हुए आप (शिप्रे) अपने हनुस्वरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को (अवेपयः) गति देते हो। परमात्म पक्ष में हनू द्यावापृथिवी।

(२) (यद्) जब तू (दस्युहा) विनाशक पदार्थों और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश (अभव) करता है। हे (स्पर्धमान) सब से आगे बढ़ने हारे (इन्द्र) इन्द्रियों के स्वामिन्! आत्मन्! (त्वा अनु) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग (मदेताम्) आनन्द अनुभव करते हैं।

(३) मैं (अष्टापदीं) आठ चरण वाली (नवस्रक्तिं) नौ प्रकार की रचनावली (ऋतावृधम्) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली (तन्वं)

१६८८—'१. 'पीत्वी' २ 'अकृमाणमकृणोताम्' ३. 'मृतावृधम्' इति च ऋ०।

विस्तृत (वाचं) वाणी का (इन्द्रात्) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से (परि भरे) ज्ञान प्राप्त करता हूं ।

अष्टापदी चार वेद और चार उपवेद ये वाणी के आठपद अर्थात् विद्या के आश्रय स्थान हैं । नवस्रक्ति —नव स्रक्तय. रचना यस्या. । १ शिक्षा, २ कल्प, ३, व्याकरण, ४ निघण्टु, ५ निरुक्त, ६, छन्दः, ७ ज्योतिष, ८ धर्मशास्त्र, और ९ मीमांसा । ये नौ प्रकार की रचनाएं वेदों के आशय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[९९१] इन्द्राग्नी युवामिमेऽ३भि स्तोमा अनूषत ।
पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥१॥

[९९२] या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा ।
इन्द्राग्नी ताभिरागतम् ॥२॥

[९९३] ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम् ।
इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥१०॥ ऋ० ६ । ६० ७-९ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) विद्युत् और सूर्य के समान सभापति और सेनापति ! (युवाम्) आप दोनों के (इमे) ये (स्तोमाः) प्रशंसा युक्त कार्य (अनूषत) वर्णन करते हैं । आप (शम्भुवा) सबके सुख और कल्याण का कार्य करने हारे (सुतम्) इस दुग्ध आदि रस एवं ओषधियों के रस और ज्ञान को (पिबतम्) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राण और अपान, गुरु शिष्य, सभापति और सेनापति सूर्य और विद्युत् आदि का ग्रहण उचित है ।

(२) हे (नरा) सबके नेताओ ! (दाशुषे) सबको शान्ति सुख देने हारे नरपति के निमित्त (वां) आपकी (या) जो (पुरुस्पृहः) सबको प्रिय लगने वाली (नियुतः) अनेक निश्चित मतियें (सन्ति) हैं, हे

(इन्द्राग्नी) सूर्य विद्युत् के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अध्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप (ताभि:) उनके सहित (आगतम्) प्रजाओं में आओ।

(३) हे (नरौ) दोनों नेताओ ! (ताभिः) आप पूर्वोक्त विवेचक शक्तियों के साथ ही (इदं) इस (सुतं) उत्पादित (सवनं) यज्ञ मे (सोमपीतये) उत्तम आनन्दमद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये (उप आ गच्छतं) आइये।

इति तृतीय: खण्ड:।

---

[६६४] अर्षा सोम द्युमत्तमोभिद्रोणानि रोरुवत्।
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥१॥

[६६५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः।
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥२॥

[६६६] इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ ऋ० ६। ६४। १६–२१॥

भा०—व्याख्या देखो अविकल स० [५०३] पृ० २५६।

(४) (इन्द्राय) आत्मा के लिये, (वायवे) प्राण के निमित्त, (वरुणाय) अपान के लिये (मरुद्भ्यः) अन्य ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेन्द्रियों के लिये और (विष्णवे) उस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये (अप्सा) नाना ज्ञानों और कर्मों को व्याप्त करने हारे (सोमा:) आनन्दरस और विद्वान् जन (अर्षन्तु) प्राप्त हों।

६६४—'सीदन् श्येनो न योनिमा, ६६५—'सोमा अर्षन्ति' इति ऋ० ।

[१०००] वृषा पुनान आयूषि स्तनयन्नधि बर्हिषि ।
हरिः सन् योनिमासदः ॥२॥

[१००१] युवं हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥१३॥ अ०९। ११। १, ३, २, ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (पुनानः) तू सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमें (यत्) जो (चित्रं) संग्रह करने योग्य उत्तम अद्भुत (दिव्यं) दिव्यगुण सम्पन्न, (पार्थिवम्) इस पृथ्वी पर (वसु) धन है (तत्) वह (आभर) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक (अधिबर्हिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उपदेश करता हुआ (आयूषि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनानः) पुनः नया, शुद्ध पवित्र हराभरा करता हुआ (हरिः सन्) दुःखहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (आ सदः) आ विराजमान हो । ईश्वर, पर्जन्य, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएं हैं ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और रश्मियों के स्वामी (युवं हि) आप दोनों (स्वःपती स्थः) सब सुख और ज्ञान, ज्योतिर्मय पिण्डों और द्यौलोक के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यतं) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अथवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१००६] ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। प्रिया इन्द्रस्य
३२ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥१५॥

ऋ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अर्चि० सं० [४०६] पृ० २०८ ।

(२) (ता) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुवः) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुंचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रियां (सोमं) ज्ञान को (श्रीणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने हारे आत्मा की शक्तियां (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रियां ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रियां अन्तर्वृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (ताः) वे इन्द्रियरूप गौएं (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

[१६६८] कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्।
शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपश्रवत्) सुन लेता है तब वह (वसु) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमतः) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) ब्रह्मदान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपक्षय करने हारे या क्षयशाली विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्तं) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बाड़ा रूप देह को, (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । परन्तु (स्यः) वह ही उसको (शचीभिः) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य[1]) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (नः) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है । अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुनः देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१. कुत्सित विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहूनां स्यति हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

३ १२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[१६६९] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ १२
[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

१२ २१ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

१२ २२ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २
[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २
[१६७४] अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
३ २२ ३ १ २
पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२ । १६–२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया। (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया। (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है। व्याख्या अवि० सं० [२२२] पृ०।

(२) (गोपाः) समस्त गतिशील लोकों का पालक (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (विष्णुः) वह व्यापक परमात्मा (अतः) निरन्तर गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों का (धारयन्) धारण करने हारा होकर (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों से (विचक्रमे) समस्त विश्व को बना और चला रहा है ।

(३) (विष्णोः) उस सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्य जनक कार्यों को (पश्यत) देखो (यत) जिन कर्मों को देखकर (व्रतानि) जीव समस्त ज्ञानों को (पस्पशे) प्राप्त करता है । वह ही परमात्मा (इन्द्रस्य) इस जीवात्मा का (युज्यः), सदा साथ रहने द्वारा (सखा) समान ख्याति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है ।

(४) (विष्णोः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (परमं) परम उत्कृष्ट (पदं) धाम परमपद, या मोक्षज्ञान को शास्त्रदृष्टि से (सूरयः) विद्वान् आदित्य के समान ज्ञानी पुरुष (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) देखते हैं । वह परम ज्ञान (दिवि) आकाश और पृथिवी में (चक्षुः इव) सर्व पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान (आततम्) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर का जो (परम) उत्कृष्ट (पदं) ज्ञानमय स्वरूप है (तत्) उसको (विपन्युवः) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने हारे (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (जागृवांसः) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने हारे, प्रमादरहित होकर (समिन्धते) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी ज्योति जगाते हैं ।

(६) (यत्) जिस कारण से (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विचक्रमे) सर्व संसार को रचता और चलाता है (अतः) उसी बल से

१६७१—६. 'पृथिव्या सप्तधामभिः' इति ऋ०. ।

(देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण (पृथिव्याः) इस लोक के (अधि सानवि) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय में भी (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त करावें।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है। हम संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) सायण—(विष्णुः) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके (विचक्रमे) विशेष रूप से क्रमण किया और तब (त्रेधा पदं निदधे=त्रिभिः प्रकारैः स्वकीयं पदं निक्षिप्तवान्) तीन प्रकारों से अपना पद रक्खा। (अस्य पांसुले समूढं=विष्णोः धूलियुक्ते पादस्थाने इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम्) उस विष्णु के धूली वाले पैर में यह सब जगत् भली प्रकार छिपा है।

(२) उव्वट-यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रख कर इस मन्त्र से होम करता है। ('इदं' 'जगत्' 'विष्णुर्विचक्रमे' विक्रान्तवान्, सर्वप्राणिनो हि भूतेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णुः किंच "त्रेधा निदधे पदं" पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदं। किंच "समूढमस्य पांसुरे" अस्य विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरमित्येवंलक्षणम् समूढमन्तर्हितमविज्ञातमकृतात्मभिः। पांसुरे लुप्तोपममेतत्। पांसुल इव प्रदेशे निहित न दृश्यते तत्समूढमिति, अर्थात्—सब प्राणियों में पंचभूत इन्द्रिय मन और जीव इन सब में प्रवेश करने से वह विष्णु है। उसने इस जगत् का क्रमण किया, जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में वह 'पद (ज्ञानसाधन) या ज्ञापक लिंग रक्खा। इस ही विष्णु का अन्य एक 'पद' है विज्ञानघन, आनन्दस्वरूप, अज, अद्वितीय, अक्षर

स्वरूप जिसको अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तोपमा, है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

(३) महीधर—इस भाष्यकार ने सायण और उव्वट दोनों का आश्रय लिया है । इतना विशेष लिखा है कि ("समूढमस्य पांसुरे" पांसवो भूम्यादिलोकरूपाः विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदं समूढ सम्यग् अन्तर्भूत विश्वमिति शेष यद्वेति उव्वटवत्) अर्थात् पांसुरे-भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पांसुर पद में सब विश्व छिपा है । 'यद्वा' से आगे दूसरा अर्थ उव्वट के समान ही है ।

ग्रीफिथ—'इस संसार में विष्णु ने पैर रक्खे, तीन बार उसने पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल में जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लेकर लगाया है । उव्वट को वह अर्थ सम्मत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिङ्ग किया है । और ससार में ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थ ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान योगी मुमुक्षु लोग करते हैं ।

सायण के आशय से विष्णु ने तीन चरण रक्खे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उसके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उव्वट कृत व्याख्या को माना है । और भूम्यादिलोकमय पांसु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु, सूर्य रूप से तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वीकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविक्रम का निरूपण आलङ्कारिक है । महर्षि दयानन्द—(इदं) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को व्यापक ईश्वर ने (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति परमाण्वादि पादों को अर्थात् अंशों को विक्षेप करके सावयव किया । इस जगत् के

(पांसुरे) प्रशान्त रेणुओं वाले अन्तरिक्ष में (त्रेधा निदधे पदं) और तीन प्रकार से प्राप्त करने योग्य 'पद' धरा। वह उत्तम रीति से जानने योग्य पदार्थ 'पद' कहाता है। भावार्थ यह है कि यह तीन प्रकार का संसार बनाया (१) प्रत्यक्ष पृथिवीमय जो प्रकाश से रहित है, (२) कारणरूप अदृश्य, (३) प्रकाशमय सूर्यादिक।

(२) धर्माणि=अग्निहोत्र आदि, (सा०) कर्माणि=कर्म, (उव्वटो महीधरश्च), स्वस्वभावजान्य धर्म, (दया०), अतः इन तीन लोकों में, (सा०) तीनों पदों से (उ०, म०)

(३) विष्णोः कर्माणि=वीर्याणि (उ०), सृष्टिसंहारादि (म०), जगद्रचन पालनन्यायकरणप्रलय आदि (द०), व्रतानि=अग्निहोत्रादि (सा०), लौकिकवैदिककर्म (म०), कर्म=आधान, पशु सोम याग आदि, अथवा अग्नि वायु और सूर्य का अपना २ कार्य।

(४) विष्णोः परमं पदं=उत्कृष्ट स्थान (सा०), विज्ञानघनबहुल आनन्दस्वरूप विष्णु का परमपद आदित्य (उ०), मोक्षाख्य (म०)।

(५) समिन्धते-दीपयन्ति (सा०, उ०, म०) प्रकाशयन्ते प्राप्नुवन्ति (द०)।

(६) देवाः=विष्णु आदि (सा०) विद्वान् लोग और अग्नि आदि पदार्थ (द०)।

[१६७५] मोषु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्निरीरमन्।
आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सन्नुपश्रुधि ॥ १ ॥

[१६७६] इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे काममजरितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः ॥२॥६॥

ऋ० ७। ३२, १, ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [२८४] पृ० १४५ ।

(२) हे इन्द्र ! (मधौ) मधु=शहद पर (मक्ष. न) जिस प्रकार मक्खी आ बैठती है उसी प्रकार (इमे) ये (ब्रह्मकृत. हि) ब्रह्मयज्ञ करने हारे वेद के विद्वान् गण (ते सचा) तेरे साथ मोक्षानन्द प्राप्त करने के लिये (आसते) आ बैठते हैं और ब्रह्म का रस प्राप्त करते हैं । और (इन्द्रे) उस इन्द्र परमात्मा में ही (वसूयवः) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले (जरितार.) स्तुतिशील विद्वान्गण (कामम्) अपनी अभिलाषा को इस प्रकार (आदधुः) रख देते हैं जिस प्रकार (वसूयवः रथे पादम्) धनाभिलाषी क्षत्रिय लोग अपना चरण रथ पर रखते हैं और फिर देशों को विजय करते हैं ।

[१६७७] अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

[१६७८] समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः
॥ २ ॥ ७ ॥ ऋ० ८ ५२ । ९,१० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की ही स्तुति की जाती है । इसलिये (पूर्व्यं) पूर्ण तृप्तिकारक अति प्राचीन (मन्म) मनन करने योग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (इन्द्राय) उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (वोचत) पाठ करो । (ऋतस्य) वेद की या यज्ञविषयक या आत्म, और ब्रह्मविषयक सत्यज्ञानसम्बन्धी (पूर्वी.) प्राचीन या पूर्ण (बृहतीः) बृहती छन्द के वेद मन्त्रों से (अनूषतः) स्तुति करते हुए (स्तोतु.) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् के (मेधा) नाना प्रकार के ज्ञान (असृक्षत) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (इन्द्रः) परमेश्वर ने (बृहतीः) बड़ी २ (रायः) सम्पत्तियां और शक्तियां (सम् अधूनुत) प्रेरित की हैं (उत) और (क्षोणी) बहुतसी पृथिवियां अर्थात् बहुतसे लोकों को आकाशमण्डल में चला रक्खा है । और (सम् उ सूर्यम्) सूर्य को भी चला रक्खा है । (शुचयः) कान्तिमान् (शुक्रासः) शुद्ध कर्म करने हारे निष्पाप पुण्यात्मा (गवाशिरः) ज्ञान का आश्रय करने हारे या गो=वेदवाणी का आश्रय लेने हारे और गो=इन्द्रियों का दमन करने हारे जितेन्द्रिय (सोमाः) योगी मुमुक्षु आत्माएं उस (इन्द्रम्) इन्द्र परमेश्वर को (सम् अमन्दिषुः) प्रसन्न करते हैं ।

[१६७९] इन्द्राय सोमपातवे वृत्रघ्ने परिषिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ १ ॥
[१६८०] तं सखायः पुरूरुचं वयं यूयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥
[१६८१] परि त्य हर्यतं हरिम्०॥३॥८॥ ऋ० ९ । ९८ । १०, १२, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५०५] ८६ ।

(२) हे (सखायः) मित्रगण ! (सूरयः) विद्वान् (यूयं) आप लोग और (वयं च) हम लोग सब (वाजगन्ध्यं) ज्ञान की सुगंध से युक्त (वाजपस्त्यम्) और बल के एकमात्र आश्रय, सर्वशक्तिमान् (पुरूरुच) अपने प्रकाश से सबके प्रकाशक (तं) उस सोम परमात्मा को (अश्याम) प्राप्त हों । सोम ओषधि पक्ष में—(वाजगन्ध्यं) अन्नगन्धी और (वाजपस्त्यं) बलकारी सोम का भोग करें ।

१६७९—१. 'दधाव सदनासदः' २. 'पुरोरुच यूय वय च सूरयः' ३. 'हरि त्य हर्यतंहरिं' इति ऋ० ।

(३) "परि त्यं हर्यतं हरिम्" यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया है। इसकी व्याख्या देखो अविकल सं० [५५२] पृ० २७७।

१र २र ३
[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
[१६८३] मघोन स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तव प्रणीती हर्यश्वसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥६॥

ऋ० ७ । ३२ । १४,१५॥

भा०—(१) 'कस्तमिन्द्र त्वावसो०' यह प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अविकल स० [२८०] पृ० १४३।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (मघोनः) ज्ञानी पुरुषों को (वृत्रहत्येषु) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में (चोदय स्म) प्रेरित कर। (ये) जो (प्रियाः) प्रिय (वसु) वास योग्य उपकरण गृह आदि अथवा अपने धनों को (तव प्रणीती) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग में (ददति) दान करते हैं उन (सूरिभिः) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से (विश्वा) समस्त (दुरिता) पापों को (तरेम) हम पार करें।

इति द्वितीय खण्ड ।

---

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८४] एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः।
१ २क ३ १र २र ३ १ २
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्त्वमिन्द्रा वसुना, इति ऋ०।

१६८३—१ "एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्चावाध्वर्यो"

[१६८५] इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानंश शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ८ । २४ । १६–१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८५] पृ० १४६।

(२) हे इन्द्र ! हे (हरीणां) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिकों के (स्थातः) प्रतिष्ठापक परमेश्वर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व के ऋषि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथार्थ गुणवर्णना को (शवसा) अपने बल से (नकिः) कोई भी नहीं (उदानंश) पा सकता । और (न भन्दना) न कोई संसार के प्रति सुख कल्याण के कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तू सबसे अधिक शक्तिमान् और सब का कल्याणकारी है तेरे तुल्य दूसरा ' न भूतो न भविष्यति ' न हुआ, न होगा ।

(३) हम लोग (वः) आप लोगों के (वाजानां) ज्ञान, धन, बल और अन्नों के (पतिं) परिपालक, (अप्रायुभिः) प्रमादों से रहित, विनाशरहित, (यज्ञेभिः) बड़े सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि सत्कर्मों से (वावृधेन्यम्) अपने यश और महिमा में सब से बड़े (तं) उस परमेश्वर को (श्रवस्यवः) धन, अन्न, और ज्ञान, वेद की कामना करने हारे हम लोग (अहूमहि) नित्य स्मरण करते हैं ।

यहां 'वः' इस युष्मत् के प्रयोग से समस्त संसार के प्राणी अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्त्ता की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मद् पदवाच्य हैं । परमात्मा केवल 'तद्' पदवाच्य है ।

१ २ ३उ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८७] तं गृधंया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
३ २ ३ १ २
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
[१६८८] विभूतरातिं विप्रचित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम्।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥११॥
ऋ० ८। १९। १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०६] पृ० ५८।

(२) हे (सोभरे) उत्तम रीति से ज्ञान का धारण करने हारे! हे (विप्र) मेधाविन्! ब्राह्मण! ज्ञानोपासक! शिष्य! तू (अध्वराय) अविनश्वर या हिंसादि दोषों से सर्वथा रहित, स्वाध्याय यज्ञ या गुरु परम्परा से कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे, अविच्छिन्न ज्ञानयज्ञ के निमित्त (विभूतरातिम्) बहुत अधिक ज्ञानराशि के दान करने हारे, (चित्रशोचिषं) संग्रह करने योग्य ज्ञान और तप आदि तेजस्कर गुणों से युक्त, (अस्य) इस (सोम्यस्य) ज्ञानयुक्त या ज्ञान के आनन्द प्राप्त कराने हारे (मेधस्य) पवित्र यज्ञ के (यन्तुरं) नियामक, व्यवस्थापक, (पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान, सबसे श्रेष्ठ आचार्य रूप परमेश्वर की (ईडिष्व) उपासना कर।

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[१६८९] आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
२ ३ १ ३ १ ३क २र ३ १ ३ २ ३ १ २
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३क २र ३ २उ ३ १ २ ३ ३
[१६९०] स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः
॥ २ ॥ १२ ॥ ऋ० १० । १०७ । १०, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२१३] पृ० २४३।

(२) जिस प्रकार सोमरस को दृढ़ प्रस्तरों से कूटकर, भेड़ी के लोम से बने दशापवित्र नामक कम्बल के टुकड़े से स्वच्छ कर लिया जाता है उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस को भी स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी का वर्णन करते हैं । योगी का आत्मा (सप्तिः न) अति वेगवान् अश्व के समान (वाजयुः) बल और ज्ञान को प्राप्त करने हारा (सः) वह (मेष्यः) चितिशक्ति के (अण्वानि) सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को (तिरः) प्राप्त करके (मीढ्वान्) सब सुखों का स्वयं वर्षण करने हारा धर्ममेघ होकर (मामृजे) शुद्ध पवित्र हो जाता है । वही (सोमः) शमदमादि गुणों से युक्त सोमस्वरूप आत्मा (पवमानः) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियों, ज्ञानवृत्तियों को पवित्र करता हुआ (मनीषिभिः) मनन करने में गतिशील, (विप्रेभिः) मेधावी (ऋक्वभिः) वेदज्ञों द्वारा (अनुमाद्यः) आनन्द लाभ करने योग्य, प्रशंसनीय होता है ।

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[१६६१] वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६६२] वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
२अ ३ १ २ ३ २अ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
सेमं न स्तोममाजुषाण आगहीन्द्र प्र चित्रया धिया॥२॥१३
ऋ० ८ । ६६ । ७, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० १३६।

(२) (अस्य) इस आत्मा का (वारणः) पापों से निवारण करने हारा साधन (वृकः चित्) कुत्ते या भेड़िये के समान (उरामथिः) भेड़ के

१६६१—१. 'मोष्हे सतिनं' इति ऋ० ।

समान वालों से छिपे चोरों बड़े २ संकटों को भी मथन करने हारा होकर (वयुनेषु) प्रज्ञा या महान् कार्यों में (आभूपति) शोभा देता है। हे आत्मन्! (स.) वह आप (इमं) इस (स्तोमं) स्तुतिमय वचन को (जुजुषाणः) स्वीकारते हुए (चित्रया) ज्ञानयुक्त (धिया.) प्रज्ञाबुद्धि से (आगहि) हमें साक्षात् दर्शन दो।

अथवा—(अस्य) इस इन्द्र का (वृकःचित्) आदित्य ही (वारया.) अन्धकार दूर करने का साधन (उरामथिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने हारा होकर (वयुनेषु) समस्त लोकों में (आभूषति) शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चित्) आदित्य के समान इसका (वारया.) वरणीयस्वरूप (उरामथिः) अज्ञानों का नाश करने हारा (वयुनेषु) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में (आभूपति) शोभा देता है।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारया. उरामथि·) भूमि को काटने हारा हल ही इसका वरण करने योग्य पदार्थ है जो उरामथिः=पृथिवी की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही (वयुनेषु) नाना ज्ञानयुक्त कार्यों में (आभूपति) प्रयोग किया जाता है। शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारया.उरामथिः) सब पापों का निवारक ज्ञानरूप वज्र ही इस आत्मा के शत्रुओं का नाशक वारण=आयुध है जो (वयुनेषु) सब मार्गों में और प्रज्ञाओं में (आभूपति) शोभा देता है।

अथवा—राजाके पक्षमें (अस्य) इस इन्द्र राजा का (वृक·) वज्र अर्थात् खड्ग और (उरामथि) शत्रुओं का मथन करने हारा (वारण.) गज बल दोनों (वयुनेषु) संग्राम के मैदानों में या राजकार्यों में (आभूपति) शोभा देते हैं। वह राजा (इमं) इस (न·) हमारे (स्तोम) ज्ञानसमूह और देश के विद्वान् सघ को (जुजुषाण·) प्रेम से अपनाता हुआ (चित्रया) विचित्र या ज्ञानयुक्त (धिया) बुद्धि, राजनीति या देश को धारण करने हारी दण्डनीति द्वारा (आगहि) उत्तम रूप से शासन करे। अग्य

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द से स्तेन आदि का ग्रहण किया है सो असगत प्रतीत होता है । ४. वृको लाङ्गलं विकर्त्तनात् (नि० ६ । ख० २६) ५; वृक इति वज्रनाम विकर्त्तनादेव । (निघं० २ । २०) । वृक आदान (भ्वादि.) इति इगुपधलक्षणः क । वृणक्तेर्वा पृषोदरादित्वाद् । वृणोतेर्वौ णादिक. क. । यद्वा वृजी वर्जन (अदादि ०) इत्यतः औणादिक. कः नकारजकारलोपश्च । यद्वा वृणक्तेर्मंधकर्मणः । विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वा पृषोदरादि त्वान्निपातनम् । ६. 'दाना मृगो न वारण'(१८८) अत्रापि वारणो गजपर्यायः सायणसम्मत उपलभ्यते ।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथिराव्युनेषु भूषति) जंगली भेड़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है । वारणः— जंगली । श्वा अपि वृक उच्यते । विकर्त्तनात् । वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः । उरणामथि· उरणा ऊर्णावान् भवति । (निरु० ५ । ४ । २) आदित्यो पि वृक उच्यते यदावृङ्क्ते (निरु० ५ । ५ । १)

१ २ ३ १ ३ २उ ३ १ २
[१६१३] इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः ।
१ २ ३ २ ३क २र
तद्वां चेति प्रवीर्यम् ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६०४] इन्द्राग्नी अपसस्परि० ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २
[१६१५] इन्द्राग्नी तविषाणि वां० ॥३॥ १४ ॥ ऋ०३।१२।६,७,८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्राग्नी ! आप (दिवः रोचना) द्यौलोक को प्रकाशित करने हारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युत् के समान प्राण और अपान होकर इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और (वाजेषु भूषथ.) सब कार्यों में या ज्ञानयज्ञों में शोभा देते, कार्य सम्पादन करते हो । (तद् वीर्यं) यह सब सामर्थ्य (वां च) आप दोनों ही का है । राजपक्ष में इन्द्राग्नी सेना सेनाध्यक्ष । और वाजेषु सग्रामों में ।

(२) 'इन्द्राग्नी अपसस्परि०' प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७७] पृ० ६७१ ।

(३) 'इन्द्राग्नी तविषाणि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अविकल सं० [१५७८] पृ० ६७१।

१ २ ३ १२ २२
[१६६६] क ई वेद सुते सचा० ॥ १ ॥
३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६६७] दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नकिष्ट्वा नियमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥ २ ॥
२ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[१६६८] य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवंनेन्द्रो योषत्यागतम् ॥ ३ ॥ १५

ऋ० ८ । ३३ । ७—६

भा०—(१) 'क ईं वेद सुते सचा० प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं०[२६७] पृ० १५२।

(२) (मृग) बनैला (वारणः) हाथी (न) जिस प्रकार (दाना) अपने मदजलों के कारण (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों पर (चरथं) विचरण (दधे) करता है और उसको कोई (नकिः नियमत्) नहीं रोकता उसी प्रकार हे इन्द्र आप भी मस्त हाथी के समान (दाना) अपने नाना प्रकार के दानों, रक्षण सामर्थ्यों सहित (पुरुत्रा) सर्वत्र (चरथं दधे) विचरण करते हो, (सुते) इस उत्पन्न विश्व में (त्वा) आपको (नकिः नियमत्) कोई भी रोकने वाला नहीं है। आप (महान्) सबसे बड़े होकर (ओजसा) अपने पराक्रम सामर्थ्य से (चरसि) सर्वत्र विचरण करते हो। आप (सुते) इस विश्व में और हमारे हृदय और यज्ञ में (आ-गमः) व्याप्त हो।

(३) (यः) जो आत्मा (उग्रः) वीर्यवान्, शक्तिमान् (अनिस्तृतः) अविनाशी, किसी से न मारा गया, (स्थिरः) कूटस्थ, नित्य (रणाय) सर्वत्र विश्व में और इस देह में रमण करने के लिये (संस्कृतः) संस्कार किया गया, नाना कर्म फलों से, या तप साधनों से शुद्ध किया गया है। (यदि) जब (मघवा) ज्ञानवान् आत्मा (स्तोतुः) स्तुति करने हारे विद्वान् की (हवं) पुकार को (शृणवत्) सुनलेता है तो, (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (न योषति) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत (आगमत्) उसे प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा के पक्ष में—(संस्कृतः) नाना गुणों से उपासित होकर जब वह अपने भक्त की पुकार सुनता है तो उसके हृदय में प्रकट होता है।

इति तृतीयः खण्डः।

—o—

[१६९९] पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः।
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

[१७००] पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत।
पृथिव्या अधि सानवि ॥ २ ॥

[१७०१] पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः।
घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ९ । ६३ । २५, २७, २६ ॥

भा०—(पवमानाः) शुद्ध पवित्र (शुक्रासः) शुद्ध शुक्ल कर्मों के करने हारे, (सोमाः) शमादिगुणसम्पन्न, (इन्दवः) योगी, विदेहमुक्त जन (विश्वानि) समस्त (काव्या) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् (असृक्षत) करते हैं।

(२) (पवमानाः) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान् पुरुष (दिवस्परि) द्यौ अर्थात् प्रकाशमान् लोकों में (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि सानवि) उच्च पर्वत शृंगों में (असृक्षत) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं।।

(३) (शुभ्रा) शुभ्रगुणयुक्त, (आशवः) शीघ्र गति करने हारे, अप्रमादी, (पवमानासः) सब को पवित्र करने हारे, (इन्दव) ज्ञानी पुरुष (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेष करने हारे पुरुषों को, या द्वेषभावों को (अप घ्नन्तः) दूर मार भगाते हुए (असृग्रम्) कार्य सम्पादन करते हैं।

यज्ञपक्ष में पवमानाः, शुक्राः, आशवः, शुभ्राः, इन्दवः, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सोमरसों में लगते हैं।

[१७०२] तोशा वृत्रहणा हुवे स जित्वानापराजिता।
इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

[१७०३] प्र वामर्चन्त्युक्थिन० ॥ २ ॥

[१७०४] इन्द्राग्नी नवतिं पुरः० ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ३ । १२ । ४,९॥

भा०—(१) (तोशा) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करने वाले, (सजित्वाना) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, (अपराजिता) कभी न हारने वाले, अनथक, (वाजसातमा) बल के देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि प्राण और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवात्मा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं।

(२, ३) " प्रवामर्चन्त्युक्थिनः० " और "इन्द्राग्नी नवतिंपुर" यह दोनों प्रतीकमात्र हैं। व्याख्या देखो अवि० सं० [१५०५, १५०६] पृ० ६०१।

[१७०५] उप त्वा रण्वसन्दृशं प्रयस्वन्त सहस्कृत ।
अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १ ॥

[१७०६] उपच्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् ।
अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।
अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १६ । ३७-३९ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बल और साधना से साक्षात् करने योग्य अग्ने ! (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी मुमुक्षु हम लोग (रण्वसन्दृशं) रमण करने हारे या रमणीय और दर्शन करने योग्य या सबके द्रष्टा (त्वा) आप परमेश्वर के (उप) समीप प्राप्त होने के लिये (गिरः) स्तुतियों या वेदवाणियों का (ससृज्महे) उच्चारण करें ।

(२) जिस प्रकार (घृणेः) देदीप्यमान सूर्य के तेज से सन्तप्त होकर लोग (छायाम् इव) छाया का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो ! (हिरण्यसन्दृशः) सूर्य समान स्वरूप वाले (ते) आपके (शर्म) शरण सुख को (वय) हम (उप अगन्म) प्राप्त हों ।

(३) (यः) जो (शर्यहा) बाणों से मारने हारे योद्धा के (इव) समान (उग्रः) अति भयंकर शक्तिशाली (वंसगः न) बैल के समान (तिग्मशृंगः) तीक्ष्ण शृंग अर्थात् प्रखर तेज वाले, हैं वही आप हे (अग्ने) प्रभो ! (पुरः) सब देहों को (रुरोजिथ) ज्ञान वज्र से तोड़ डालते हो और मुमुक्षुओं को मुक्त कर देते हो ।

सायण ने अग्नि को रुद्ररूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा को लगाया है । लिखा है–" रुद्रो वा एष यदग्निः " इति श्रुतेः । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निकृतमेवेति श्रूयते । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूतं बाणे अग्नि-नीकाषनावस्थानादग्निः पुराणि भग्नवान् इत्युच्यते । " अर्थात् रुद्र अग्नि का नाम है ऐसी ब्राह्मण श्रुति है । अतः रुद्र का किया त्रिपुरदहन अग्नि ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर के दहन करने में साधन बने बाण में अग्नि सहायक था, इससे अग्नि ने पुरों को तोड़ा ऐसा कहा जाता है । परन्तु इस का रहस्य सायण ने स्पष्ट नहीं किया, यह आलंकारिक है । वस्तुतः—

वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिपुरं त्रिगुणं वपुः । (पु०)

भस्मीकरोति तद्देवस्त्रिपुरघ्नस्ततः स्मृतः ॥ (स्कन्द० महि० कौ० ख० २ । अ० २४)

अर्थात्—रुद्र के तीन वेद तीन नेत्र हैं, त्रिगुण देह त्रिपुर है. उसको वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर देने से त्रिपुरघ्न कहा जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७०८] ऋतावान वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।[1]
१ २ ३ १ २
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[१७०९] य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन् ।
३ २ १ २ ३ २
ऋतूनुत्सृजते वशी ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७१०] अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
३ २ ३ ३ १ २
सम्राडेको विराजति ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋग्वेदे नास्ति ॥ आद्या—यजु० २६ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ३६ । १॥ द्वितीयाऽथ० ६ । ३६ । २ ॥ तृतीया—यजु० १२ । ११७ ॥

१६०८—२. "स त्रिधा प्रतिचाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी यस्य वय उत्तरम्" इति पाठभेदोऽथर्वणि । ३. 'अग्ने: परेषु धामसु' इति अथर्व० ।

भा०—(१) हे अग्ने ! (ऋतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, या इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले (वैश्वानरम्) समस्त नर अर्थात् आत्माओं में भी व्यापक, सबके हितकारक (ज्योतिषः पतिं) सब ज्योतिष्मान् सूर्य आदि विशाल लोकों के प्रतिपालक (अजस्रं) अनादि, नित्य, (घर्म) शुद्ध दीप्ति मान् आपको (ईमहे) उपासना करते हैं ।

(२) (यः) जो अग्नि[1] परमात्मा (यज्ञस्य) आत्मा को (स्वः) आनन्दमय मोक्ष (ततिरत्) प्रदान करता है और (इदं) समस्त ब्रह्माण्ड को (प्रतिपप्रथे) रचता है और सब का वशकर्त्ता, अधिष्ठाता होकर (ऋतून्) प्राणों को और गतिशील पिण्डों और छहों कालरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूर्य के समान (उत्सृजते) उत्कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

(३) वह (अग्निः) सब का पूजनीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा (भूतस्य) समस्त भूतकाल और उसमें उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों और (भव्यस्य) भविष्यत् काल और उसमें होने वाले समस्त जगत् का (कामः) मूल उत्पादक सङ्कल्प के समान आदिकारण (प्रियेषु) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त, श्रेष्ठ (धामसु) लोकों में (एकः) एकमात्र, अद्वितीय (सम्राट्) सार्वभौम, सम्राट् परमेश्वर, स्वामी होकर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः ।

---

१. वशी परमात्मतया जगद्वशीकर्त्ता सोऽग्निः । इति सायण.-

भा०—(१) (अग्नि.) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा (प्रत्नेन) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा (स्वां) अपने (तन्वा) शरीर को (शुम्भान') उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर (विप्रेण) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग (वावृधे) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है ।

सायण ने 'जन्मना' और 'विप्रेण' का अर्थ स्तोत्र किया है । तुलसीरामजी–'प्रत्नेन जन्मना'–पुराने जन्म से–सनातनस्वरूप से । ग्रीफिथ पुराने तरीक़े से ।

(२) (ऊर्जोनपातम्) बल वीर्य का विनाश न होने देने हारे (पावकशोचिषम्) लोकों को शोध कर पवित्र करने हारे तेज से युक्त (अग्निम्) अग्निस्वरूप आत्मा को (अस्मिन्) इस (स्वध्वरे) उत्तमरूप, अविनाशी (यज्ञे) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमात्मा में (आहुवे) समर्पित करता हूं ।

(३) हे (अग्ने) आत्मन् ! हे (मित्रमह॰) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग से स्वतः तेजस्विन् ! (त्वम्) तू (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (देवैः) अपनी इन्द्रियों के साथ (बर्हिषि) इस देह में (आ सत्सि) विराजमान है ।

परमात्म पक्ष में–हे मित्र ! या सूर्य के समान, कान्ति वाले या सब के मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! (त्वं) आप शुद्ध कान्ति से दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यादि 'देव' लोकों के सग इस (बर्हिषि) ब्रह्माण्ड में (आ सत्सि) विराजमान हो ।

२ ३ १ २   ३ १ २ ३ १ २
[१७१४] उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
नुदस्व याः परिस्पृधः ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[१७१५] अथा निजघ्निरोजसा रथसङ्गे धने हिते ।
२ ३ १ २ ३ २
स्तवा अबिभ्युषा हृदा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ २र ३ १ २ ३क २र
[१७१६] अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या ।
३ १र २र ३ १ २
रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥ ३ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१७] तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
२ ३ १, २ ३ २
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥ ४ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ५३ । १–४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! हे (अद्रिव.) आदरणीय अक्षयबलन् ! परमात्मन् ! आदर करने वाले भक्तों के स्वामिन् ! (ते) तेरे (शुष्मास·) बलप्रयोग (रक्षः) दुष्ट पुरुषों को, या विघ्नों को (भिन्दन्तः) विनाश करते हुए (उत् अस्थुः) सबसे ऊपर विराजमान हैं (याः) जो (स्पृधः) तुझ से स्पर्द्धा करते हैं उन नास्तिकों को तू (नुदस्व) नीचे गिरा देता है ।

(२) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! आप (अथा) इस प्रकार के (ओजसा) तेज और बल से विघ्नों और विघ्नकारियों को (निजघ्नि.) विनाश करने हारे हो । (रथसंगे) इस रमण करने योग्य देह या रसस्वरूप तेरा संग प्राप्त हो जाने पर और (धने) तृप्ति योग्य भोग्य पदार्थ के (हिते) प्राप्त हो जाने पर मैं (अबिभ्युषा) निर्भय (हृदा) चित्त से (स्तवै) आपकी स्तुति करता हूं ।

(३) (अस्य) इस (पवमानस्य) पवमान, सर्वप्रेरक, व्यापक और सब को पवित्र करने हारे एवं स्वयं पवित्र परमेश्वर की (व्रतानि) व्यवस्थाएं (दूढ्या) दुष्ट बुद्धि वाले, मूर्ख, अभिमानी पुरुष से (न

१७१४—२. धन, धिनोतीति सतः (निरु०अ० ३ । ख० ९) धिनोतिस्तर्पणार्थः ।

आद्धर्षे) अपमान, या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! (यः) जो (त्वा) आपका (धूतन्यति) विरोध करता है आपके नियमों और आ-ज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, (रुज[१]) पीड़ा उत्पन्न करते हैं या उसका विनाश कर देते हैं।

(२) (तं) उस (मदच्युतं) आनन्द रस के बहाने वाले, (वाजिनम्) ज्ञानमय, (हरिं) दुःखों के हरण करने हारे, सर्वव्यापक (मत्सरम्) स्वयं परमसुखजनक, आनन्दस्वरूप (इन्दुम्) परमेश्वर को (इन्द्राय) अपने आत्मा के हित के लिये (हिन्वन्ति) उपासना करते हैं !

[१७१८] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा केचिन्नियमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥
[१८१९] वृत्रखादो वलं रुजः पुरां दर्मो अपामजः ।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढाचिदारुजः ॥२॥
[१७२०] गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यासि गा इव ।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्या इवाशत
॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४५ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४६] पृ० १२६ ।

(२) (वृत्रखादः) आवरणकारी अज्ञान का नाशक (वलं रुजः) भजन करने वाले, प्राण धारण करने वाले देह, या मोक्ष का अवरोध करने वाले तामस आवरण को तोड़ डालने हारे, (पुरां दर्मः) पञ्चकोश रूप पुरियों के विदारक, (रथस्य स्थाता) इस रथ या देह या विशाल ब्रह्माण्ड

[१] रुजो भङ्गे (तुदादिः) रुज हिंसायाम् (चुरादिः)।

रूप रथ के अधिष्ठाता (अपाम् अजः) कर्मों और मनः संकल्पों के प्रेरणा करने वाले, (हर्योः अभिस्वरः) प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा प्राण और अपान इनका साक्षात् रूप से प्रेरक (इन्द्रः) आत्मा और परमात्मा (दृढाचित्) दृढ़ से दृढ़, कठोर से कठोर बन्धनों या विघ्नों को भी (आरुजः) विनाश कर देता है।

(१) हे इन्द्र ! (त्वं) आप (गंभीरान्) गभीर (उदधीन् इव) समुद्रों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं। और वह सूखते नहीं उसी प्रकार आप इस (क्रतुं) जीवात्मा को नाना जीवन धाराओं से पुष्ट करते हो कभी विनाश नहीं होने देते। और (सुगोपाः) उत्तम गोपालक (गाः इव) जिस प्रकार अपनी गौओं को (प्र पुष्यति) खूब खिलाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों को भी खूब अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं। और (यथा) जिस प्रकार (धेनवः) गौएं (यवसे) अपने चारे पर आती हैं उसी प्रकार ये जीवगण आपके पास पहुंच जाते हैं और (कुल्या इव) जिस प्रकार सब नहरें या नदियां (ह्रदं) विशाल ताल या समुद्र में आ गिरती हैं उसी प्रकार ये जीव आप में ही सब भेदभाव त्याग कर आ मिलते हैं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र
[१७२१] यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७२२] मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधो देयाय सुन्वते।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ १
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः॥२॥४॥

ऋ० ८। ४। ३, ६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो भवि० सं० [२५२] पृ० १२८।

(२) हे (मघवन्) ज्ञानवान् आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (इन्दव.) ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि के विशेष अनुभव (त्वा) तुझको (मन्दन्तु) हर्षित करें । (सुन्वते) ज्ञानरस को उत्पन्न करने हारे साधक विद्वान् योगी के (राधः) सिद्धि (देयाय) प्राप्त कराने के लिये (चमूषुतं) प्राण और अपान रूप चमू दोनों से उत्पन्न किये गये (सोमम्) सोम अर्थात् आनन्दरस को (अमुष्य) गुप्तरूप से प्राप्त करके स्वयं (सोमम्) ब्रह्मानन्द को (अपिवः) पान करता है और तू (तत्) उस अलौकिक (ज्येष्ठं) सबसे महान् (सह) सह, स्वरूप, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अपने भीतर (दधिषे) धारण करता है ।

[१७२३] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

[१७२४] मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदाचना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥५॥

ऋ० १ । ८४ । १९, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [२४७] पृ० १२६ ।

(२) हे (वसो !) सर्व संसार को बसाने हारे परमात्मन् ! (ते) तेरे (राधांसि) बलस्वरूप पञ्चभूत (कदाचन) कभी (मा दभन्) विनाशकारी न हों । और (ते ऊतय.) तेरी समस्त पालक शक्तियां (अस्मान्) हमें कभी (मा दभन्) विनाश न करें । और हे (मानुष) मनुष्य ! तू (विश्वा च) समस्त (वसूनि) आवास-साधनों को (उपमिमीहि) स्वयं उत्पन्न कर और उनको ज्ञान कर । और (नः चर्षणिभ्य) हम विद्वान् पुरुषों को वे नाना पदार्थ जो तू जानता और तैयार करता है (आ) प्रदान कर ।

इति प्रथम खण्ड. ।

—o—

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[१७२५] प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः ।
३ १ २ ३ २
दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७२६] अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी ।
१ २ ३ १ २ ३ २
सखाभूदश्विनोरुषा ॥ २ ॥
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१७२७] उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि ।
३ २ ३ १ २
उतोषो वस्व ईशिषे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ४ । ५२ । १-३ ।

भा०—(१) (स्या) वह (दिवः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री उषा (परि स्वसुः) रात्रि के उपरान्त (व्युच्छन्ती) तम को दूर करती हुई, (सूनरी) उत्तम नेत्री रूप (जनी) स्त्री के समान (प्रति अदर्शि) प्रकट होती है ।

अथवा—(स्या सूनरी जनी) वह उषा उत्तम पुत्र उत्पन्न करने हारी, शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री के समान (स्वसुः परि) अपनी भगनी के पीछे २ (व्युच्छन्ती) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट होती है, इसी प्रकार यह (दिवः) आदित्य के समान प्रकाशमान योगी की (दुहिता) आनन्द रस का दोहन करने वाली ज्योतिष्मती प्रज्ञा (स्वसु) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप प्रकट होने वाली प्रतिभा के (परि) साथ २ (जनी) उत्पन्न होती हुई ज्ञान उत्पन्न करने हारी (सूनरी) उत्तम मोक्ष-मार्ग की नेत्री होकर (प्रति अदर्शि) दिखाई देती है ।

(२) (उषा) अज्ञानाङ्कुरों का दहन करने हारी उषा साधक की विशोका प्रज्ञा (अश्वा) व्यापनशील विद्युत् के समान (चित्रा) विचित्र संज्ञानवती, (अरुषी) सब प्रकार से कान्तिमती तेजस्विनी, (गवां) इन्द्रियरूप गौओं की (माता) उत्पादन करने वाली (ऋतावरी) सत्य

ज्ञान को वरण करने हारी या प्राप्त करने हारी ऋतम्भरा स्वरूप (अश्विना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जाने योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है।

(३) पूर्व ऋचा के समान ही है (उषः) ज्योतिष्मति ! विशोका नामक प्रज्ञे ! (उत) यद्यपि (अश्विनोः) अश्वि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू (सखा असि) सखा है, (उत गवां माता असि) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है। अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी ग्रहण करने हारी, प्रमात्री है (उत) तथापि हे उषः ! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे ! तू (वस्व) आत्मा या प्राण की (ईशिषे) शक्ति को धारण करती है।

[१७२८] एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ १ ॥
[१७२९] या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसु विदा ॥ २ ॥
[१७३०] वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि।
यद्वां रथो विभिष्पतात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १। ४६। १—३॥

भा०—(१) (एषा उ) यह (उषा) उषा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा (अपूर्व्या) योगी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई (दिवः) प्रकाशमान आत्मा की (प्रिया) अत्यन्त प्रेमपात्र है। हे (अश्विना) देह में निरन्तर गति करने हारे प्राण और अपान इस विशोका की प्राप्ति के लिये (वा) आप दोनों के (बृहत्) बहुत अधिक (स्तुषे) गुणकारी होने का यथार्थ वर्णन करता हूं।

(२) (या) जो दोनों (देवा) देव, प्राण और अपान (दस्रा[1]) अत्यन्त दर्शनीय, अथवा काम क्रोधादि मलों के नाशक, अथवा सब कर्म कराने हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे (सिन्धुमातरौ) देह के सब रक्तप्रवाहिनी नाड़ियों या प्राणों को प्रवाहित करने हारे उनको ठीक रीति से संचालक, (रयीणां) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के ज्ञान और कर्मों को (मनोतरा) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे (धिया) ध्यान वृत्ति से (वसुविदा) वसु, आत्मा को ज्ञान कराने वाले या, उस तक स्वयं पहुंचने वाले हैं।

(३) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अश्विनो ! (वां) आप दोनों का (रथः) रमणस्थान यह आत्मा (यत्) जब (विभिः) पदार्थों तक पहुंचने वाले प्राणगणों सहित (जूर्णायाम्) अतिप्रशंसा योग्य या सनातन (अधि विष्टपि) मोक्षस्थान पर (पतात्) गमन करता है तब (वां) आप दोनों के (ककुहासः) उत्तम गुण (वच्यन्ते) वर्णन किये जाते हैं। उन दोनों का (रथः) रमण स्थान यह देह (जूर्णायाम् अधिविष्टपि) जीर्णदशा, वृद्धावस्था तक पहुंच जाता है। पूर्णायु भोग लेता है तब उन दोनों के गुण वर्णन किये जाते हैं।

१७२८—१. दशि दशनदर्शनयोः । दसि दस इत्येके (चुरादिः), दसि भाषार्थः (चुरादिः), तसु उपक्षये दसु च (दिवादिः) इत्येतेभ्यो 'स्फायितञ्चि सि०' औणादिको रक् (उणा० २ । १३) । दस्यति रोगान् उपक्षयति इति दस्रः (दया० उणा०) दस्रा शत्रूणां दासयितारौ, दर्शयितारौ, कर्मणा कृष्यादीनां कारयितारौ । एतावेवंविधौ कर्म कारयन्तौ कुर्वाणौ वा इति दुर्गाचार्यः (निरु० अ० ६ ख० २६) नीलकण्ठटीकायाम् ।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३१] उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३२] उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरी ।
३ २ ३ १ २
रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥ २ ॥
३ १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७३३] युंक्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उष ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अथा नो विश्वा सौभगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋ० १ । ९२ । १३-१५ ॥

भा०—(१) हे (उषः [1]) कमनीय कन्या के समान विशोकप्रज्ञे ! ज्योतिष्मति ! हे (वाजिनी वति) ज्ञानमय वाणी से युक्त ! (अस्मभ्य) हमें (तत्) वह (चित्र) संग्रह योग्य प्राशस्त्यं ज्ञान (आभर) प्राप्त करा । (येन) जिससे (तोक) पुत्र के समान प्रिय एवं क्रीडाशील चित्त और (तनयं) समान लालन पालन योग्य इस देह को (धामहे) धारण करें, चिरकाल तक जितेन्द्रिय, चिरायु होकर रहें।

(२) हे (विभावरि !) ज्योति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से वरण करने योग्य, या कान्ति से सम्पन्न ज्योतिष्मति ! हे (उष) आभ्यन्तर मलों को दाह करने हारी चितिशक्ति ! हे (गोमति) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों या रश्मियों से युक्त ! हे (अश्वावति) अश्व अर्थात् कर्मेन्द्रिय या मनरूप अश्व वाली ! हे (सूनृतावति) उत्तम ऋत अर्थात् त्रिकालबाधित ज्ञान से सम्पन्न

१७३३—१. उष दाहे, (भ्वादि), उपस् प्रभातभावे (कण्ड्वादि.) तयो रूपः किंचेति असिरौणादिः (उणादि० ४ । २३४) । ओषति दहतीति उषः, कर्णच्छिद्र, पर्वतभेदो वा, (स्त्रिया) प्रभातप्रकाशः (दया०) ।

अथवा सूनृता वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने हारी तू (अस्मै) हमारे लिये (रेवत्) रयि, अर्थात् ज्ञान प्राण और ऐश्वर्य से युक्त आत्म स्वरूप को (व्युच्छ) हमारे सामने खोल दे ।

(३) हे उषः ! हे वाजिनीवति ! (अद्य) आज (अरुणान्) चेत नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित (अश्वान्) प्राणों को (युक्ष्व हि) इस देहरूप रथ में प्रेरित कर । (अथा) और (नः) हमें (विश्वा) समस्त (सौभगानि) उत्तम सुखदायी पदार्थों को (आवह) प्राप्त करा ।

[१७३४] आश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत् ।
अर्वाग्रथं समनसा नियच्छतम् ॥ १ ॥

[१७३५] एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्त्तनी ।
उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥ २ ॥

[१७३६] यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः ।
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

ऋ० १ । ९२ । १६, १८ १७ ॥

भा०—(१) हे (अश्विनौ) देह में व्यापनशील ! प्राण और अपान ! आप दोनों (दस्रौ) रोगों के विनाशक हो । अतः आप दोनों (समनसा) हमारे मन के मानस बल के साथ होकर (हिरण्यवत्) आत्मा से युक्त और (गोमत्) इन्द्रियों से युक्त (रथम्) इस रमण योग्य उत्तम रथ रूप देह को (अर्वाग्) अपने अधीन करके साक्षात् रूप से (नियच्छतम्) नियम में रक्खो ।

(२) (इह) इस देह में (उषर्बुधः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा को ज्ञान-जागृति से चेतन कर लेने वाले अथवा प्रबुद्ध योगी जन (हिरण्यवर्तनी)

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप रथ पर चढ़े हुए अथवा हिरण्य=आत्मा को, वर्त्तनि अर्थात् अपना प्रेरक और आश्रय बनाने हारे, (दस्रा) मलादिशोधक, अतएव (मयोभुवा) सुख और आरोग्य के उत्पादक, (देवा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (सोमपीतये) ब्रह्मानन्दरस को पान करने के लिये (आवहन्तु) अपने वश करें।

(३) हे (अश्विनौ) पूर्वोक्त प्राण और अपान! (यौ) जो आप दोनों (इत्था) इस प्रकार से (दिवः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (श्लोकं) प्रशंसनीय या अतिघनीभूत ज्योति विशोका, विवेक ख्याति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रथुः) उत्पन्न करते हो वे ही (युवं) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जं) परम पोषक रसरूप बल को (आवहतम्) प्राप्त कराओ।

इति द्वितीयः खण्डः।

[१७३७] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः। अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥

[१७३८] अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः। अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आभर ॥२॥

[१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः। समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥

१० ॥ ऋ० ५। ६। १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [४२५] पृ० ।

(२) (हि) निश्चय से (विशे) प्रजाओं के हित के लिये (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमें (वाजिनं) बलवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और अन्नादि पदार्थ (ददाति) देता है। वह (विश्वचर्षणिः) समस्त संसार को देखने वाला सर्वसाक्षी, (अग्नि.) प्रत्येक अंग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है।(सः) वह (प्रीत·) उत्तम प्रेम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु (स्वा भुवम्) अपने आश्रय पर प्राण धारण करने वाले जगत् को (राये) उत्तम कल्याण के लिये (याति) प्राप्त होता है और वही (स्तोतृभ्य·) विद्वान् वेदज्ञों को (वार्यम्) वरण करने योग्य (इषं) ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान करे।

(३) (सः) वह (अग्निः) 'अग्नि' (गृणे) कहा जाता है (यः) जो (वसु·) समस्त संसार को बसाने हारा और स्वयं सब में बसने हारा, सब का आच्छादक, शरण्य है। और (यं) जिसके शरण में (धे· नवः) गौएं, वाणियां एवं ज्ञानरस का पान करने और कराने हारे विद्वान्जन (सम् आयन्ति) पहुंचते हैं। और जिसके शरण (रघुद्रुवः) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् (सम्) प्राप्त होते हैं, उपासना करते है, और (सुजातास·) संसार में उत्तम स्थिति को प्राप्त, कृतकृत्य, यशस्वी (सूरयः) सूर्य के समान प्रजाओं को धर्ममार्ग में चलाने हारे महापुरुष जिसके शरण में (सम्) आजाते हैं वह तू परमेश्वर ज्ञानस्वरूप (स्तो· तृभ्य) विद्वान् उपासकों को (इष) उत्तम ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान कर।

---

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठ· सायणादिसम्मत; । अजमेरमुद्रिते तु 'सुप्रीतो' इति निनरामनादरणीय, क्वापि नोपलम्भात्, ऋक्पाठविरो· धाच्च 'सप्रीतो' इत्येव ऋग्वेदीयः पाठ· ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३
[१७४०] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती । यथा चिन्नो
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ १
१ २ ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३
[१७४१] या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः । सा व्युच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ २
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २र २उ ३
[१७४२] सा नो अद्या भरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः । यो व्यौच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते
॥ ३ ॥ ११ ॥ ऋ० ५ । ७९ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (उषः) उषा के समान ज्योतिष्मति विशोका प्रज्ञे ! तू (दिवित्मती) ज्योतिष्मती होकर (अद्य) आज, अब (महे) बड़े भारी (राये) आत्मज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (बोधय) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे (अश्वसूनृते) व्यापक आत्मा में शुभ, ऋत अर्थात् उत्तम ज्ञान को पूर्ण करने और वाणी को धारण करने वाली प्रज्ञे ! (वाय्ये) बुने जाने योग्य सूत्र के समान अविच्छिन्न, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों को उस सूत्र में पिरोने हारे (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होने वाले (नः) हमारे (सत्यश्रवसि) सत्य संकल्पकारी आत्मा में (यथाचित्) जिस प्रकार से उत्तम रीति से हो सके उस प्रकार (अबोधयः) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या अविकल संख्या [४२१] पृ०२१५।

(२) (दिवः) हे सूर्य के समान प्रेरक आत्मा के (दुहितः) आनन्दरस का दोहन करने हारी उषः । ऋतम्भरे ! (या) जो तू (सुनीथे) उत्तम पद पर प्राप्त, मुक्त (शौचद्रथे) अति पवित्र, शुद्ध, चित्स्वरूप आत्मा में, (व्यौच्छः) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैसे ही अब, हे

(अश्वसूनृते) आत्मामें सत्य आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान को सम्यक्वाणी और धारण करने हारी ऋतम्भरे ! (सा) वह तू (वाय्ये) तन्तु या पट के समान निरन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे (सत्यश्रवसि) सत्यज्ञानमय (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत (सहीयसि) सहनशील बलवान् आत्मा में भी (व्युच्छ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

(३) हे (दिवः दुहित०) आत्मा के रस दोहन करने हारी विशोके ! (भरद्-वसु०) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तू (या) जो (सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप से प्रकाशमान आत्मा से (व्यौच्छः) आवरण को दूर करती है (सा) वह तू हे (अश्वसूनृते) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तू (नः) हमारे अज्ञान को भी (अद्य) आज (व्युच्छ०) दूर कर ।

उषा के दृष्टान्त से गृहपत्नी के कर्त्तव्य भी इस सूक्त में बतलाये हैं ।

[१७४३] प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम् ।
स्तोता वामश्विना वृषिः स्तोमेभिर्भूषति प्रति ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहं सना ।
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्त्तनी जुषाणा वाजिनीवसू ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ५।७५।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१८] पृ० १३।

(२) हे (अश्विना) पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अश्विदेवो ! आप (दस्रा) दोषों के परिशोधक, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मा के आश्रय पर विराजमान, (सुषुम्णा) उत्तम सुख के देने हारे, अथवा 'सुषुम्ना' उत्तम रूपसे शरीर में व्यापक, सुषुम्ना रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नाड़ियों में रुधिर को प्रेरित करने हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या से युक्त (सना) सनातन से वर्त्तमान, आप दोनो (अतिआयातम्) सब बाधाओं को पार करके प्राप्त होवो (अहं) और मैं आत्मा (विश्वः) सब को (तिरः) पार करूं। अत. आप (मम) मेरी (हवम्) उपासना या आज्ञा या वचन को (श्रुतं) श्रवण करो।

(३) हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (युवं) आप दोनों (रत्नानि) रमण साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए (न) हमारे पास (आगच्छतं) आओ। आप दोनों (रुद्राः) देह को छोड़ते समय कष्ट देने हारे, रुलाने हारे, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले (वाजिनीवसू) ज्ञानमयी और बलमयी चिति शक्ति में बसने हारे (माध्वी) मधु-विद्या, आत्मविद्या जानने हारे, (सुपाणा) नित्य इस जीवन यज्ञ को सेवन करने वाले (मम हवं श्रुत) मेरे वचन को श्रवण करो। मेरे वशवर्ती रहो।

इति तृतीय. खण्ड.।

[१७४६] अबोध्यग्निः समिधा जनानाम्प्रति धेनुमिवायतीमु-षासम्। यह्वा इव प्रवयामुज्जिहाना. प्र भानवः सस्रत नाकमच्छ ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७४७] अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्नि सुमना·
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान्देवस्त·
२र ३ १ २
मसो निरमोचि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७४८] यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभि·
३ २ १र २र ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रग्निः । आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्यूत्तानामूर्ध्वो अ·
३ १ २
धयज्जुहूभिः ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ५ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [७३] पृ० ३८ ।

(२) (देवान्) विद्वानों और ३३ देवों को (यजथाय) एकत्र संगति करने के लिये, (होता) समस्त जगत् का दान अर्थात् उत्पत्ति और आदान अर्थात् प्रलय का कर्त्ता (अग्निः) सूर्य के समान स्वयं प्रकाशक परमात्मा, (सुमनाः) उत्तम ज्ञान से युक्त (अबोधि) सदा उदित होता है । वही सबसे (ऊर्ध्वः) ऊपर विराजमान होकर भी (प्रातः) प्रकृष्ट रूप से व्यापक होकर प्रातःउदित सूर्य के समान सर्वत्र (अस्थात्) विद्यमान रहता है । (समिद्धस्य) देदीप्यमान उस महान् प्रभु का (रुशत्) तेजस्वी (पाजः) बल (अदर्शि) साक्षात् दीखता है । वही (महान् देव·) महान् देव, सूर्य के समान महा देव समस्त चर अचर संसार को (तमसः) मृत्युरूप तम से (निरमोचि) सर्वथा मुक्त कर निश्रेयस प्राप्त कराता है । प्रातः—आप्तेररुन् (उणादि० ५ । ५६) प्रकृष्टमतति गच्छति इति प्रातः (दया० उ०) ।

(३) (यद्) जब (ईं अग्निः) यह अग्नि, स्वयंप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक, सब का प्रबोधक परमात्मा (गणस्य) सब प्राणियों और स्थावर पदार्थों की (रशना) भोग सामग्री और उसमें व्यापक चेतना शक्ति और नियामक शक्ति को स्वयं (अजीगः) अपने वश में किये

है अपने आप समेटे हुए हैं और वही (अग्निः) सूर्य के समान प्रकाशक (शुचिभिः) शुद्ध (गोभिः) रश्मियों और वेदवाणियों द्वारा और तेजस्वी पिरणों द्वारा (अक्तुः) समस्त विश्व के ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित कर रहा है तब (वाजयन्ती) ज्ञान और कर्म का सम्पादन और बल का प्रकाश करने वाला (दक्षिणा) विश्वद्मलकारिणी शक्ति को (युज्यते) संसार को महान् कार्यों में लगाता है। और (उत्तानां) उत्कृष्ट रूप से सर्वत्र विस्तृत उस शक्ति को (ऊर्ध्वं) वह सबमें उच्च पद पर विराजमान परमात्मा (जुहूभिः) अपनी दान, आदान क्रियाओं द्वारा (अधयत्) अपने वश करता और अपना बल प्रदान करता है उसको अपने भीतर ही लीन करता या धारण करता है।

अशेरशच् (उणादि० २। ७५) अश्नुते व्याप्नोति इति रशना (दया० उ०)।

[१७४६] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥ १ ॥

[१७५०] रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः। समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥ २ ॥

[१७५१] समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे। न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १। ११३। १-३ ॥

भा०—(१) (इदं) यह साक्षात् (श्रेष्ठं) सबसे उत्कृष्ट (ज्योतिषां ज्योतिः) सब ज्योतिष्मान् दिव्य पिण्डों को भी प्रकाशित करने हारा ज्योति (आगात्) प्राप्त होता है । और इसी ज्योति से यह (चित्रः) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय ग्रहण करने योग्य (प्रकेतः) उत्तम प्रज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है । (यथा) जिस प्रकार उत्पन्न हुई उषा (सवितुः) सूर्य के (सवाय) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) रात्रि (उषसे) उषा के लिये (योनिम्) पूर्वरूप को (आरैक्) छोड़ती है (एवा) उसी प्रकार ऋतम्भरारूप उषा (सवितुः) सर्व प्रेरक ब्रह्म के (सवाय) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) सब को सुख प्रदान करने वाली सुषुम्ना (उषसे) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय के लिये (योनिं) आश्रय स्वरूप आत्मा को (आरैक्) सम्पर्क करा देती है ।

राशदिभ्यां त्रिप् (उणादि० ४ । ६७) रातिसुखं ददाति इति रात्रिः (दया० उ०)

(२) (श्वेत्या) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा (रुशती) दीप्तियुक्त होकर (रुशद्वत्सा) देदीप्यमान सूर्य को अपने श्वेत बच्चे के समान साथ लिये आती है और (उ) मानो (कृष्णा) श्याम गौया महिला के समान रात्रि (अस्याः) उस श्वेत गौर-उषा के लिये (सद्मानि) विराजने के निमित्त स्थान (आरैक्) खाली कर देती है, आदर से छोड़ देती है ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों (समानबन्धू) समान रूप से प्रिय बन्धु हों । और दोनों ही (अमृते) कभी न मरने हारी (अनूची) अनिर्वचनीय होकर (वर्णं) समस्त जगत् के वर्णनीय रूप को साक्षात् करने योग्य (आमिनाने) बनाती हुई (द्यावा) तेजोरूप होकर (चरतः) विचरण करती हैं । उसी प्रकार यह उषा रूप विशोका प्रज्ञा स्वयं अध्यात्म कान्तियों से सम्पन्न होकर अपने रोचमान बालक

प्राण को या हंसरूप आत्मा को साथ लिये प्रकट होती है और कृष्णा= आकर्षण करने वाली या दुःखों को काटने वाली सुषुम्ना वृत्ति (अस्याः सद्नानि आरैक्) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि या आधार तैयार कर देती है। ये दोनों ही (अमृते अनूची समानबन्धू) अमृतरस, आत्मानन्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है। ये दोनों (वर्णं आमिनाने) वरण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान को उत्पन्न करती हुई (द्यावा चरतः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ वर्त्तमान रहती हैं।

(३) (स्वस्रोः) रात्रि और उषा इन दोनों भगिनियों या भाई बहनों का (समानः) समान रूप से (अनन्त) अनन्त (अध्वा) मार्ग है। (तं) उस मार्ग पर (देवशिष्टे) देवरूप सूर्य से अनुशिक्षित होकर ये दोनों (अन्या अन्या) एक २ करके (चरतः) चलती हैं। (सुमेके) शुभ लक्षण वाली (नक्तोषासा) रात्रि और उषा दोनों (विरूपे) विरुद्ध रूप काली और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी (समनसा) एकचित्त होकर परस्पर (न मेथेते) न लड़ती भिड़ती हैं और (न तस्थतुः) न कभी कहीं रुकते हैं। इसी प्रकार इन रात्रि और उषा के समान इस देह में विशोका और सुषुम्ना वृत्ति इन दोनों (स्वस्रोः, अध्वा समानः) बहनों का या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का (अध्वा) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्त्त-मान आत्मा ही है। (देवशिष्टे) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशा-सित होकर दोनों (अन्या अन्या) जुदी जुदी (तं चरतः) उसी को प्राप्त होती है। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएं उसी आत्मा की है। ये दोनों (सुमेके) उत्तम रूप से आनन्द के उत्पन्न करने हारी धर्ममेघ समाधि के धारण करने वाली (विरूपे) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव कराने से विभिन्न २ रूप वाली होकर (समनसा) समान रूप से एक ही मन का आश्रय लेने वाली (न मेथेते) एक दूसरे का बाधक नहीं होतीं और (न तस्थतुः) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहतीं प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
[१७५२] आभात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणान्देवया वाचो अस्थुः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १र
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-
२र
मच्छ ॥ १ ॥

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १
[१७५३] न संस्कृतं प्रमिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शम्भविष्ठा
॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७५४] उता यातं सङ्गवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्य्यस्य ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २र
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥
३ ॥ १५ ॥ ऋ० ५ । ७६ । १-३ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सूर्य (उषसाम् अनीकम्) मानो उषाओं का मुख हो ऐसे (आभाति) प्रकाशित होता है । (विप्राणाः) मेधावी विद्वान् भक्त पुरुषों की (देवयाः) इष्टदेव परमात्मा तक पहुंचने वाली (वाचः) वेदमन्त्र ध्वनियां (उद्-अस्थुः) उठने लगती हैं । हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान एवं स्त्री पुरुषो ! हे (रथ्या) देहरूप रथपर आरूढ प्राण और अपान आप दोनो ! (इह) इस देह में (अर्वाञ्चम्) निम्न देश में गति करने वाले होकर भी (यातम्) अब ऊपर आओ और (पीपिवांसं) बराबर बढ़ते हुए (घर्मं) ज्योतिस्वरूप रस को (अच्छ), साक्षात् करो । अथवा

(अग्निः, उषसां अनीकं) अग्निहोत्र की अग्नि उषाओं का मुखरूप होकर (आभाति) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का (अनीक) पूर्वरूप मुखरूप (अग्निः) विशेष तेज (आभाति) धारणाप्रदेशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की इष्टदेव आत्मविषयक वेदवाणियां प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् है (अश्विनौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों रथपर देह के हितकरी होकर (अर्वाञ्चा) साक्षात् रूप से प्रकट होकर (पीपिवांसं घर्मम्) बराबर बढते हुए तेज को (अच्छ यातं) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेताश्वतर उपनिषद् (अ० २ । ११ । १२ ।) में लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
पृथिव्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

योग समाधि के अभ्यास के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व नीहार धूम, सूर्य, अग्नि, विद्युत् स्फटिक आदि के रूप प्रकट होते हैं । उस समय पांचों भूतों पर वश हो जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमय हो जाता है ।

(२) हे (उपस्तुता) प्रशंसनीय ! आदर योग्य ! हे (अश्विनौ) अश्विगण प्राण और अपान ! या स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (अन्ति) अत्यन्त समीप (गमिष्ठा) प्राप्त होने हारे (संस्कृत, उत्तम रूप से तैयार किये इस ब्रह्मरस को (न प्रमिमीतें) विनाश नहीं करते । प्रत्युत (दिवा अभिपित्वे) प्रकाश या दीप्ति के प्राप्तिकाल में आप दोनों (अवसा) अपने पालक बल सहित (आगमिष्ठा) अवश्य प्राप्त होते हो और (दाशुषे) अपने को समर्पण करने हारे आत्मा के (अवर्ति प्रति) पुनः जीवन में लौट

कर न आने अर्थात् मुक्त हो जाने के निमित्त (शम्भविष्ठा) कल्याण-कारी होते हो ।

(३) हे (अश्विना) अश्विगण ! प्राण और अपान आप दोनों (अह्न.) दिन के (प्रात.) प्राप्त होने पर प्रातः काल में (उत) भी (आयातम्) आइये । और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के (मध्यन्दिने) मध्याह्न काल में भी आइये । और (शन्तमेन) अति कल्याण कारी सुख शान्तिदायक (अवसा) अपने पालक बल द्वारा प्राप्त होइये । (इदानीं) इस समय अन्य इन्द्रियों की (पीति.) रसास्वादन की क्रिया (न आततान) नहीं की जाती बल्कि यह केवल ब्रह्मरस के आस्वादन का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों कालों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है । अथवा तेज पुञ्जों के प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काल में अर्थात् जब दिवानक्त अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण और अपान ही ब्रह्मरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५५] एता उ त्या उषस॰ केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानु-
३ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ १र २र
मञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णव॰ प्रति गावोऽरु॰
३ १ २
षीर्यन्ति मातरः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१७५६] उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः
॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५७] अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना
२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ढ ३ १ २
परावतः। इषं वहन्ती सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय
३ २
सुन्वते ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० १ । ९२ । १—३ ॥

भा०—(१) उषापक्ष में—(एताः उ त्याः) ये वे (उषसः) उषाएं अन्तरिक्ष लोक में (पूर्वे अर्द्धे) पूर्व के आधे भाग में (भानुम्) सूर्य को (अञ्जते) प्रकट करती हैं। मानो (केतुम्) सब को अपना आगमन दर्शाने के लिये ज्ञापक चिह्न, ध्वजा=झण्डे के समान (अकृत) बना देती हैं। (अरुषी,) प्रकाशमान (मातरः) मातास्वरूप उषाएं (अरुषीः) दीप्तिमान् (गावः) किरणों को (आयुधानि इव) अपने हथियारों के समान (निष्कृण्वाना.) सजाती हुई (धृष्णवः) शत्रुओं का मानदलन करने वाले सुभटों के समान (प्रतियन्ति) अन्धकार को दूर करने के लिये युद्धयात्रा सी करती हैं।

अध्यात्म पक्ष में—(एताः उ त्याः) ये वे, जिनका वर्णन पूर्व किया और जो योगाभ्यासी के लिये अपूर्व हैं वे (उषसः) नई नई विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (केतुम्) अपने ज्ञापक (भानुम्) आदित्य के समान स्वयं प्रकाश और विशोका के प्रकाशक आत्मा का (रजस[1]) नीहार या धूम के प्रकटीभाव होने के (पूर्वे) पूर्ण रूप से (अर्द्धे[2])

१७५५—१. 'रजसः'—रजति रज्यति वा तद् रज.। भूरञ्जिभ्यां कित्। (उणा० ४ । २१७) लोकः सूक्ष्मधूलि., स्त्रीपुरुषगुणो वा इति दयानन्द उणादिव्याख्यायाम्, रञ्ज रागे [भ्वादि दिवादिश्च]

२. अर्धो हरतेविपरीताद् धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवत्यृध्नोतेर्वा स्याद्धतमो विभागः (निरु०)। ऋधु वृद्धौ (दिवादिः)। ऋधु वृद्धौ छन्दसि (स्वादिः)।

श्रद्धतम या उत्तम रूप से सम्पन्न होजाने पर (अञ्जते) प्रकाशित करती हैं। वे (अरुषीः) सर्वतः प्रकाशमान (मातरः) प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान कराने वाली ऋतम्भराएं (धृष्णवः) शत्रु पर चढ़ाई करने हारे सुभट जिस प्रकार (आयुधानि इव) अपने भाले आदि शस्त्रों को ऊपर उठाते और चलाते जाते हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रियवृत्तियों को या प्राणों को (निष्कृण्वानाः) आगे प्रेरित करती हैं ।

योगाभ्यास की यह दशा विशेष विचारयोग्य है। अग्निद्वय और उषा का उदय ये दो घटनाएं योगाभ्यास में प्राणायाम की साधना के अनन्तर उत्पन्न होने वाली विशोका ज्योतिष्मती के उदय को दर्शाता है । यहां स्पष्ट करने के लिये योग शास्त्र के सूत्र एवं भाष्य का उद्धरण देते हैं ।

मन को स्थिर करने के लिये "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।" (योग० १ । ३४) प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण का जो अभ्यास किया जाता है वही प्राणायाम कहाता है । इसी प्रच्छर्दन और विधारण को प्राण और अपान के नाम से पुकारा जाता है । अथवा धारणा द्वारा—"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ।" (यो० १ । ३५) विषयवाली जब कोई संवित् प्रवृत्ति उत्पन्न होजाती है तब भी मन उसमें स्थिर हो जाता है । और वे मचित ज्ञान भी समाधिप्रज्ञा अर्थात् विशोका के उत्पन्न होने में कारण हो जाता है । उसके बाद "विशोका वा ज्योतिष्मती ।" (यो० सू० १ । ३६) हृदयदेश में धारणा करने पर बुद्धिसत्व सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप साक्षात् होता है । उसके बाद आत्मज्ञान होता है । जैसा इसी सूत्र पर महर्षि व्यासजी ने अपने भाष्य में लिखा है ।

'हृदयपुण्डरीके धारयतो वा बुद्धिसंवित् । बुद्धिसत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं । तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः । सूर्य-इन्दु-ग्रह-मणि-प्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहो-

दृधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं—'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते । यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते ।'

अर्थात्—हृदय पुण्डरीक में धारणा करते हुए योगि को बुद्धिसंवित् अर्थात् सूक्ष्म दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि होती है। वह बुद्धिसत्व मानस भास्वर=सूर्य के समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में योगी का चित्त अति आनन्दजनक, स्थिर स्थिति को प्राप्त करता है । वहां वह बुद्धिसंवित् या चितिशक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप होकर स्वय प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्व सुषुम्ना में रहता है । उसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंतत्व से ही होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र 'अहं' ऐसा ही भान होता है । उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद्र के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है । इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते" इति । अर्थात् उस अणुपरिमाण आत्मा को प्राप्त करके 'अस्मि' मैं हूं इस प्रकार ज्ञान कर लेता है । विशोका दो प्रकार की होती हैं एक 'विषयवती' जिसमें गन्धादि पाचों ग्राह्य विषयों की तीव्र संवित् की जागृति होती है और दूसरी 'अस्मितामात्र' इसमें 'अहं' तत्व या मनस्तत्व का साक्षात् अनुभव होता है ।' दोनों प्रकार की विशोका 'ज्योतिष्मती' नाम से ही कही जाती है । इसके साक्षात होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर उसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद को प्राप्त हो जाता है । इस ज्योतिष्मती के संग एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप भी होता है उस को योग शास्त्र में 'स्वप्नज्ञान' या 'निद्राज्ञान' दो नामों से पुकारा जाता है उसका

आलम्बन करके भी योगी का चित्त मग्न होजाता है । यह सात्विकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक लोग इसका स्वरूप ऐसा निर्धारित करते हैं जैसे चन्द्रमण्डल से निकलने वाली, कोमल मृणाल खण्ड के समान शुभ्रवर्णा, मानों चन्द्रकान्तमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर उसकी उपासना करते हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था को भी ब्रह्म का स्वरूप कहा करते हैं वेद में उसको उषा के साथ 'नक्त' या रात्रि' नाम से पुकारा है । योगी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहां ही उसी की 'तत्स्थ–तदञ्जनता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में तन्मय तदाकार हो जाता है । यह 'समापत्ति' कहाती है यह 'सवितर्का' और 'निर्वितर्का' 'सविचारा' और 'निर्विचारा' भेद से चार प्रकार की होती है । ये चारों ही समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसत्व का प्रवाह स्वच्छ सिन्धु के समान रहता है । इसी दशा में योगी का अध्यात्मप्रसाद' और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न होता है ।" निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद " (१ । ४७) । और उसी समय "ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ' (१ । ४८) 'ऋतम्भरा' नामक सत्यदर्शिनी बुद्धि का उदय होता है । प्राय. उषा देवता के मन्त्रों में इसी 'विशोका प्रज्ञा' और 'स्वप्न ज्ञान' और चारों समाधियों और ऋतम्भरा का वर्णन है । संक्षेप से यहां विषय दर्शाया है । इसका विशेष ज्ञान, योगदर्शन पर व्यासमुनिकृत भाष्य देखने से प्राप्त होगा ।

(२) उषा पक्ष में—(अरुणाः) दीप्तिमान् (भानवः) उषाकाल की किरणें (वृथा) सर्वव्यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप (उदपप्तन्) ऊपर उठती हैं । मानों उषा के रथ में (स्वायुजः) आपसे आ जुड़ने वाली सुशील (अरुषीः) दीप्तिवाली (गाः) गौओं या बैलों के समान रश्मियों को (अयुक्षत) लगाया हो । इस प्रकार

उषाएं (पूर्वथा) सोने के पूर्व वर्त्तमान गत दिवस के (वयुनानि) ज्ञानों और व्यवहारों को (अक्रन्) पुनः उत्पन्न करती है । तब (अरुषी') देदीप्यमान उषाएं (रुशन्तं भानुम्) देदीप्यमान सूर्य का (अशिश्रयुः) आश्रय लेती हैं ।

अध्यात्मपक्ष में—(अरुणाः भानवः वृथा उदपप्तन्) कान्तिमान् रश्मियां या आलोक सहज ही मूर्धभाग को आवरण करने हार नाना धारणा प्रदेशों में प्रकट होते हैं अर्थात् बहुत से संवित् उत्पन्न होते हैं । वे (स्वायुजः) स्व=अपने २ विषयों से या आत्मा से, जुड़ने हारी (गाः) इन्द्रिय-वृत्तियां (अरुषीः) विशेष आलोक से आलोकित होकर (अयुक्षत) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् ये विषयवती विशोकाएं हैं । ये सब उषाएं या ज्ञानालोक (पूर्वथा) पूर्वकाल से वर्त्तमान (वयुनानि) चित्त के सब संस्कारों, स्मृतिज्ञानों को (अक्रन्) जागृत कर देते हैं । और ये सब प्रज्ञाएं (अरुषीः) देदीप्यमान होकर (रुशन्तं भानुं) देदीप्यमान आत्मा को (अशिश्रयुः) आश्रय किये रहती हैं ।

(३) जिस प्रकार (विष्टिभिः) अपने वेतनों के कारण (आपरावतः) दूर देश से भी आई (समानेन योजनेन) समान उद्योग में लगी हुई (अपसः) काम करने वाली (नारीः) स्त्रियां (सुदानवे) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सुन्वते) सोम सवन करते हुए (यजमानाय) यजमान वेतनदाता स्वामी पुरुष के लिये (इषं) उत्पादित अन्न उस के अभिलषित कार्य को झार पछोर कर तैयार करती हुई (अर्चन्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उषाएं=ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञाएं (विष्टिभिः) तत्व में प्रवेश करने वाली रश्मियों से (समानेन योजनेन) समान रूप समाधि योग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक (सुदानवे) आत्म-समर्पक, (सुकृते) निष्ठ, कुशल (यजमानाय) आत्मा के लिये (विश्वा इद् अह) समस्त (इषः) ज्ञान और बल (वहन्तीः) प्राप्त करती हुई

(परावतः) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का (अर्चन्ति) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती है ।

[१७५८] अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यूऽषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा । आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक् ॥ १ ॥

[१७५९] यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि ॥ २ ॥

[१७६०] अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः । त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आवक्षद् द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १५७ । १-३ ॥

भा०—(१) (ज्मे) पृथिवी में (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय (अबोधि) जगाया जाता है और (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है । और (चन्द्रा) आल्हादकारिणी (उषा) उषाएं भी (महती) विशाल रूप में (वि आवः) विविध तेजों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को हटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप वेदि में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता है और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता या आनन्दरस को उत्पन्न करने हारी विशोका ज्योतिष्मती उषा के समान (अर्चिषा) अपने तेज से (वि आव) मलावरणों को दूर कर देती है इस कारण हे (अश्विना) प्राण और अपान ! तुम दोनों (यातवे) आत्मा तक पहुंचने के लिये (रथम्) इस देह या मनरूप रथ को (आ-

प्रयुञ्जताम्) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो। जिनसे (सविता) सबका प्रेरक (देवः) प्रकाशमान् आत्मा (जगत्) समस्त जगत् के पदार्थों को (प्रासावीत्) उत्तम रूप से ज्ञान करे।

(२) हे (अश्विना) प्राण और अपान आप दोनों (यत्) जब (वृषणं) सुखों के वर्षक (रथे) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को (युञ्जाथे) योगाभ्यास द्वारा समाहित करते हो तब आप (नः) हमारे (क्षत्रम्) प्रेरक आत्मा को (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (उक्षतम्) सेचन करते हो और (अस्माकं) हमारे (पृतनासु) विषयों को ग्रहण करने हारी इन्द्रियवृत्तियों में (ब्रह्म) विशेष सत्य संवित् ज्ञान को (जिन्वतं) उत्पन्न करते हो और (वयं) हम (शूरसातौ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में (धना) नाना दिव्य ज्ञानों को (भजेमहि) प्राप्त करते हैं।

(३) (अश्विनोः) उन प्राण और अपान का (त्रिचक्रः) तीन चक्रों से युक्त (मधुवाहनः) अमृत='ओ३म्' अथवा एकमात्र वहन करने हारे आत्मारूप अश्व से युक्त (जीराश्वः) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त (सुस्तुत) उत्तमरूप से वर्णित किया गया रथ (अर्वाङ्) साक्षात्रूप से (यातु) गति करता है। (मघवा) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, (त्रिबन्धुरः) तीन प्रकार के सारथिपीठों या बन्धनों से युक्त है और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन धातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं। और वह (विश्वसौभगः) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने हारा अथवा समस्त संसार के सब उत्तम ऐश्वर्यों को सिद्ध करने हारा होकर (नः) हमारे (द्विपदे) समस्त मनुष्य संसार और (चतुष्पदे) पशु संसार को (शं) कल्याण (आवक्षत्) करे।

इसी सनातन अश्व के पीछे लगे रथ की कल्पना को प्रकारान्तर से श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है:—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद् उ अनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप. संचरति स्वकर्मभि. ।
अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो य. ॥

इसी प्रकार मुण्डक में—
'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित॰ ।
मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १२ ३ १र २र ३ १ २
[१७६१] प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टये. ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१७६२] अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति ।
१ २ ३ १र २र
हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७६३] स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रत॰ ।
३ १र २र
श्येनो न वंसु षीदति ॥ ३ ॥

२ ३ १ २ ३ १उ ३ १ २ ३ १र २र
[१७६४] स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि ।
३ १ २ ३ १ २
पुनान इन्दवाभर ॥ ४ ॥ १८ ॥ ऋ० ९ । ७७ । १—४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! आत्मन् ! (असश्चतः) संगरहित (दिव) प्रकाशस्वरूप (ते) तेरी (धाराः) धारणा शक्तियां (दिवः) द्यौलोक से (वृष्टयः) वर्षाओं के समान (सहस्रिणं) अतिबलवान् या सहस्रों ज्ञानों

से युक्त (वाज) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को (अच्छ) प्राप्त होती हैं अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएं आत्मा को प्राप्त होती हैं ।

(२) यह आत्मा ! (विश्वा) समस्त (प्रियाणि) मनोहर (काव्या) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को (अभि) साक्षात् रूप में (चक्षाणः) दर्शन करता हुआ (आयुधा) अपने प्रहार करने हारे ज्ञान से (तुंजानः) कर्म बन्धनों को काटता हुआ (हरिः) मोक्षपद में गमन करने वाला मुक्तात्मा होकर (अभि अर्षति) सर्वत्र विचरता है ।

(३) (सः) वह आत्मा (आयुभिः) दीर्घायु, ज्ञानवान् तपस्वियों द्वारा (मर्मृजानः) योग साधनों से परिमार्जित किया गया (इभः) निर्भय (राजा इव) राजा के समान और (श्येनः न) पक्षि संसार में निर्भय बाज़ या गरुड़ के समान (सुव्रतः) उत्तम कर्मों से युक्त (वंसु) अपने इच्छानुकूल समस्त लोकों में (सीदति) विचरता है ।

(४] हे इन्दो ! सोम ! ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! (सः) वह तू (नः) हमें (दिवः) द्यौलोक के (उत उ) और (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर के (विश्वा वसु) समस्त पदार्थों को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (नः) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त करा ।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा पक्ष में भी स्पष्ट हैं ।

(१) (असश्चत ते धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रियं वाजं अच्छ) हे ईश्वर तुम्ह असङ्ग परम पुरुष की धारणपोषणकारी शक्तियां सहस्रों धनों से युक्त अन्न को दान करती हैं ।

(२) (प्रियाणि विश्वा काव्यानि चक्षाणः आयुधा तुंजान हरि अभि अर्षति) मनोहर समस्त लोकों को देखता हुआ अपने बल से विघ्नों का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है ।

(३) (स आयुभिर्मर्मृजानः, इभो राजा इव सुव्रत श्येनो न वंसु सीदति) पुरुषों द्वारा हृदय में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह

अभयरूप उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा के समान और आत्मा के समान सब लोकों में विराजमान है ।

(४) चतुर्थ स्पष्ट है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः । इति अष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

ऋषिः—१ नृमेधः । ३ प्रियमेधः । ४ दीर्घतमा औचथ्यः । ५ वामदेवः । ६ प्रस्कण्वः काण्वः । ७ बृहदुक्थो वामदेव्यः । ८ बिन्दुः पूतदक्षो वा । ९ जमदग्निर्भार्गवः । १० सुकक्ष । ११—१३ वसिष्ठः । १४ सुता पैजवनः । १५ मेधातिथि काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । १६ नीपातिथिः काण्वः । १७ जमदग्नि । १८ परुच्छेपो दैवोदासिः । २ एतत्साम ।। देवता—१, १७ पवमानः सोम । ३, १७ १०-१६ इन्द्रः । ४, ५ १८ अग्निः । ६ अग्निरश्विनावुषाः । १८ मरुतः ९ सूर्यः । ३ एतत्साम ॥ छन्दः—१, ८, १०, १५ गायत्री । ३ अनुष्टुप् प्रथमस्य गायत्री उत्तरयोः । ४ उष्णिक् । ११ भुरिगनुष्टुप् । १३ विराडनुष्टुप् । १४ शक्वरी । १६ अनुष्टुप । १७ द्विपदा गायत्री । १८ अत्यष्टिः । २ एतत्साम । स्वरः—१, ८, १०, १५, १७ षड्जः । ३ गान्धारः प्रथमस्य, षड्ज उत्तरयोः ४ ऋषभः । ११, १३, १६, १८ गान्धारः । ५ पञ्चमः । ६, ८, १२ मध्यमः ७, १४ धैवतः । २ एतत्साम ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१७६५] प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्णः सुतस्यौजसः ।
३ १२ २२ ३ १ २
देवा अनु प्रभूषतः ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७६६] सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।
१ २ ३ २ ३क २२
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६७] सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।
१ २ ३ १ २
वर्द्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । २९ । १-३ ॥

भा०—(१) (सुतस्य) सबके प्रेरक, (वृष्णः) सुखों के वर्षक (देवान्) देवों के (अनु प्रभूषतः) इन्द्रिय वृत्तियों को अपने अनुकूल रखकर उन पर वश करने वाले, (अस्य) इस आत्मा के (ओजसः) शक्ति और तेज की धाराएं (अक्षरन्) चारों ओर प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गण ।

(२) (कारवः) कर्मण्य, कर्त्ता, कर्मयोगी (वेधसः) मेधावी, विद्वान् पुरुष (उक्थ्यम्) 'ओ३म्' इस प्रकार के उक्थ नाम से कहाने योग्य, स्तुत्य, वेदसूक्तों के प्रतिपाद्य; श्रेष्ठ (जज्ञानम्) प्रादुर्भाव होती हुई (ज्योतिः) ज्योति को (गिरा) अपनी वाणी द्वारा (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (सप्तिम्) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही (मृजन्ति) मांजते, शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत किया करते हैं । सप्ति= सात मूर्धागत प्राण, जैसे-दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख और आठवीं वाणी ।

(३) हे सोम ! हे (उक्थ्य) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा हे सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने हारे अन्तर्यामिन्! प्रभो ! (ते) तेरे (तानि)

वे समाधि दशा में प्रकट होने हारे तेज (सुसहा) अन्य सब चित्त वृत्तियों और व्युत्थान संस्कारों को उत्तम रीति से विनाश करने हारे होते हैं । अतः उनसे ही तू (समुद्रम्) उस रसों के आनन्ददायक स्रोत को (वर्ध) और बढ़ा ।

ज्योतिष्मती विशोका के विवरण में व्यासदेव ने लिखा है—

"हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते तथा अस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति ।" इसका विवरण देखो अथ० सं० [१७२६] पृ० ७५३-७५७ पर उद्धरण टिप्पण । इस मन्त्र में समुद्र शब्द से 'निस्तरङ्ग महोदधिकल्प' चित्तदशा का ही ग्रहण होता है ।

[१७६८] एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥ १ ॥

[१७६९] त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ॥ २ ॥

[१७७०] विस्रुतयो यथा पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सूक्तम् ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) (३) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [४३८] पृ० २२१ । और [४५३] पृ० २२७ ।

(२) हे (शवसस्पते) बलों के स्वामिन् ! सर्वशक्तिमन् ! (संयत) प्राणों का संयम करने हारे साधक, ईश्वर प्रणिधान के अभ्यासी पुरुष की (गिरः न) वाणियों के समान समस्त (गिरः) वेदवाणियां (त्वाम् इत्) तुझको ही (यन्ति) प्राप्त होती हैं ।

१७६८—३ प्रतीकमात्र दी गई है ।

१ ३ २ ३ २ २ १ २
[१७७१] आ त्वा रथं यथातये० ॥१ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७७२] तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
१ २ ३ २
आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१७७३] यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६८ । ०-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३२४] पृ०१८३ यह प्रती० कमात्र है ।

(२) हे (तुविशुष्म) प्रभूत अनन्त शक्तिशालिन् ! हे (तुविक्रतो) विशाल प्रभूत कर्म करने वाले ! अथवा बहुप्रज्ञ ! अनन्तज्ञान ! हे (शचीवः) शक्ति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप (विश्वया) समस्त विश्व में व्यापक (महीत्वना) महिमा या महान् सामर्थ्य से (आ पप्राथ) सर्वत्र व्यापक हैं ।

(३) (यस्य महत) जिस महान तेरी (महिना) बड़भारी शक्ति से (हस्तौ) तेरे हनन साधन दो विशाल शक्तियां (परि) सर्वत्र (ज्मायन्तं) व्यापक (हिरण्ययम्) गतिशील (वज्रं) वज्र को (ईयतुः) ग्रहण करती हैं वह तू इन्द्र है ।

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१७७४] आ य पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३ नार्वा ।
२ ३ १ ३ २ ३ १ २
सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७७५] अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो
२ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
अस्थात् । होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥ २ ॥

[१७७६] अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥

ऋ० १ । १४९ । ३-५॥

भा०—(१) (यः) जो (नार्मिणीं) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य (पुर) इस देहरूप पुरी को (अदीदेत्) प्रकाशित करता है, चेतन बनाये रखता है । वह (कविः) क्रान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखने हारा । (नभन्यः) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाले व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक (अत्यो न) अश्व के समान वेगवान् और (सूर न) सूर्य के समान (रुरुक्वान्) कान्तिमान् (शतात्मा) सैकड़ों प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

(२) यह अग्नि (द्विजन्मा) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने हारा अथवा कर्त्ता भोक्ता रूप से, अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अरणियों के रगड़ने से उत्पन्न होता है उसी प्रकार देह और प्रणव इन दो अरणियों से प्रकाशमान अन्तरात्मा (त्री) तीन (रोचनानि) भू अन्तरिक्ष और द्यौ लोकों को (शुशुचानः) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्व, रजस, तमस, इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ (विश्वा) समस्त (रजांसि) लोकों में या देहों में (अस्थात्) विराजमान है । और वही (होता) सबका ग्रहण करने हारा (यजिष्ठः) सबसे बड़ा यज्ञकर्त्ता होकर (अपां) लोकों के या कर्म और ज्ञानों के (सधस्थे) एक साथ रहने के स्थान ब्रह्माण्ड में (अस्थात्) विराजमान है ।

(३) (यः) जो अग्नि (द्विजन्मा) कर्त्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होने हारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'ओ३म्' इन दो अर-

थियों से निष्पादित होने वाला (होता) सब का दाता और प्रदानकर्त्ता है (सः) वह (विश्वा) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य, उत्तम, (श्रवस्या) कीर्ति के योग्य कार्यों को (दधे) धारण करता है । (यः) जो (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (अस्मै) इसके निमित्त अपने को (ददाश) समर्पण करता है वह (सुतुक) उत्तम सन्तति वाला होजाता है ।

[१७७७] अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥ १ ॥

[१७७८] अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।
रथीर्ऋतस्य बृहती बभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्स्वा३र्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥३॥५॥ ऋ० ४।१०।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३४] पृ० २२० ।

(२) (अध हि) और क्योंकि हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (बृहतः) बड़े भारी (ऋतस्य) सत्य ज्ञान और इस महान् ब्रह्माण्ड के (रथीः) धारण करने हारे (बभूथ) हो और (क्रतोः) प्रज्ञानस्वरूप (भद्रस्य) भजन या सेवन करने योग्य कल्याणकारी (साधोः) अभीष्ट फलों के साधक यज्ञ के भी (रथी) प्रवर्तक हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप आप (स्वः न) सूर्य के समान (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सुखस्वरूप दिव्यगुण पदार्थों के सहित (सुमनाः) उत्तम चित होकर (नः) हमारे (अर्वाङ्) समक्ष (एभिः) इन (अर्कैः) अर्चनायोग्य तेजों से (भव) प्रकट होवो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

[१७८०] अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥ १ ॥

[१७८१] जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥

॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०] पृ० १७।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (अध्वराणां) सब यज्ञों के (रथीः) नेता और (जुष्टः) सब विद्वानों से सेवित (हव्यवाहनः) समस्त स्तुतियों के धारण करने हारे एवं समस्त जगत् के धारण करने हारे (दूतः) सर्वव्यापक या उपासित (असि) हैं। आप (अश्विभ्यां) *प्राण और अपान के द्वारा* (उषसा) *ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा द्वारा* (अस्मे) हमें (सुवीर्यं) उत्तम बल और (बृहतः) विशाल (श्रवः) ज्ञान (धेहि) धारण करावें।

[१७८२] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१॥

[१७८३] शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीड । यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ २ ॥

[१७८४] ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री। ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः

॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १० । ५५ । ५-७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आ०वे० सं० [३२५] पृ० १६७ ।

(२) (य०) जो (शूर) सर्वप्रेरक (सनाद्) सनातन, नित्य, (अनीड०) स्वतः सबका आश्रय होने से किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लेने हारा, सब का स्वयं मूलकारण, (अरुणः) दीप्तिमान् सब का प्रेरक, (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पालक (आत्मना) अपनी ही शक्ति से (शाक०) सर्वशक्तिमान्, परमात्मा (यत्) जो कुछ भी (चिकेत) स्वयं जानता और ऋषियों के हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता है (तत्) वह सब (सत्यम् इत्) सत्य ही होता है (न मोघं) वह कभी व्यर्थ निष्प्रयोजन नहीं होता । वही उस (स्पार्ह) सब के अभिलाषा योग्य, (वसु) आवास योग्य सब भूमियों का (जेता) विजेता (उत) और (दाता) जीवों को सब ऐश्वर्य का दान करने हारा है ।

(३) परमात्मा (एभि०) इन मरुद्गण रूप शक्तियों से (वृष्णया) सुखों के वर्षाने वाले (पौंस्यानि) नाना पौरुषयुक्त बलों को (दधे) अपने वश में कर रहा है (येभि०) जिन वेगवती शक्तियों से (वृत्रहत्याय) प्राणियों के उपद्रव शान्त करने के लिये, अथवा अज्ञान विघ्नों का विनाश करने के लिये, (औक्षद्) सुखों, जलों और ज्ञानों की वर्षा करता है । और (ये देवा०) जो देव विद्वान्गण और दिव्य शक्तियां (महन०) बड़े भारी (क्रियमाणस्य) किये जाने योग्य (कर्मणः) जगत् प्रचालनरूप कर्म के (ऋते) तथ्य ज्ञान में विराजमान होकर (कर्मम्) कर्मबन्धन को (उद् अजायन्त) पार करके मुक्त हो जाते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ ३
[१७८५] अस्ति सोमो अयं सुत० पिबन्त्यस्य मरुत० ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३
उत स्वराजो अश्विना ॥ १ ॥

[१७८६] पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः ।
त्रिषधस्थस्य जावतः ॥ २ ॥

[१७८७] उतो न्वस्य जोषमा इन्द्रः सुतस्य गोमतः ।
प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १४ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१७४] पृ० ६६ ।

(२) (मित्रः) सूर्य के समान स्नेह करने हारा, सबको अपने २ कर्म में प्रवृत्त कराने हारा, (अर्यमा) सबका स्वामी, न्यायकारी (वरुणः) सब दुखों का निवारक, ये तीनों देव (जावतः) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक (त्रिषधस्थस्य) प्राण, अपान और समान, या इडा, पिङ्गला, और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का (पिबन्ति) पान करते हैं । मित्र, अर्यमा, और वरुण ये तीनों योगियों के तीन भेद हैं । १ सूर्य के समान प्रज्ञालोकवान् मित्र, भूतजय करने हारा इन्द्रिय-संविद् द्वारा स्थितिप्रज्ञ अर्यमा और विशाल आकाशकल्प समुद्र के समान शान्त, शुद्धचित्त सत्व का अनुभवी योगी वरुण कहाता है ।

(३) (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (होता इव) जिस प्रकार सोमयाग करने वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार (इन्द्रः) अध्यात्मयोगी का आत्मा (उतो) भी (नु) निश्चय से (अस्य) इस (गोमतः) इन्द्रियों के संवित् ज्ञानों से युक्त (सुतस्य) उत्पादित ब्रह्मरस को (जोषम्) सेवन कर लिये (आ मत्सति) खूब मग्न हो जाता है ।

[१७८८] बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७८६] बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
३ २ ३ १ २ ३क २र १ २ १ ३ २उ ३ १ २
मह्ना देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १७, १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२७६] पृ० १४१ ।

(२) हे सूर्य ! सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (श्रवसा) ज्ञान और यश के द्वारा (बट्) सचमुच (महान्) सबसे बड़े (असि) हो । हे देव ! प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप (सत्रा) सचमुच निश्चय से (महान् असि) सबसे बड़े हो । आप ही (देवाना) सब विद्वानों के (मह्ना) अपने महत्व या शक्ति से (असुर्य.) प्राणों को चलाने हारे, (पुरोहित.) साक्षात् पुरोहित के समान प्रवर्त्तक, उनको साक्षात् धारण करने हारे और साक्षीरूप द्रष्टा हो, आप ही वास्तव में (विभु) सर्वत्र विशेष रूप से व्यापक, (अदाभ्यम्) अविनाशी, नित्य (ज्योति.) ज्योतिर्मान प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१७९०] उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानाम्पते ।
१ २ ३ १ ३ २
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ १ ॥
३ १२ २र ३ १ २ ३ १२ २र ३ १ २

[१७९१] द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ २ ॥
१२ २र ३ १२ २र ३ १ २

[१७९२] त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमनामसि ।
१ २ ३ १ २ ३ २
उप नो हरिभिः सुतम् ॥३॥१०॥ ऋ० ८ । ९३ । ३१-३३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१६०] पृ० ८४ ।

(२) (न.) जो (वृत्रहन्तमः) समस्त विघ्नों का विनाशक और (शतक्रतु.) सैंकड़ों कर्मों का करने हारा है उसको (द्विता) दो रूपों में (विद्मे) मैं जानता हूं । एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से । वह (नः सुतम्) हमारे उत्पन्न किये पदार्थों को (हरिभिः) अपने हरणकारी वायु आदि साधनों और अध्यात्म में इन्द्रियों द्वारा (उप) प्राप्त करें ।

(३) हे (वृत्रहन्) अज्ञान के विनाशक ! (एषा) इन (सोमानां) सोमों, समस्त जगत् के जीवों का (पाता) पालनकर्त्ता (त्वं) तू ही (असि) है । (न.) हमारे (सुतम्) योग साधनों से परिष्कृत आत्मा को (हरिभि.) ज्ञानों द्वारा (उप) प्राप्त होइये ।

१ २, ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७९३] प्र वो महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।
१ २ ३ १२ ३२
विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
[१७९४] उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१७९५] इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै ।
१ २ ३ २ ३ २
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥ ३ ॥ ११ ॥
ऋ० ७ । ३१ । १०—१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२८] पृ० १६६ ।

(२) (विप्रा.) विद्वान् ब्राह्मण लोग (उरुव्यचसे) महान् ब्रह्माण्ड में व्यापक (महिने) बड़े भारी (इन्द्राय) परमात्मा की (सुवृ

शिष्) उत्तम स्तुतिरूप (ब्रह्म) वेद का (अनयन्त) ज्ञान करते हैं । (धारा.) वे विद्यावान्, ध्यानवान् पुरुष (तस्य) उसके (व्रतानि) उपदेश किये नियमों को (न मिनन्ति) विनाश नहीं करते, उल्लंघन नहीं करते ।

(३) (वाणी.) वेदवाणियाँ और (सम्रा) समस्त विश्व के (राजान) प्रकाशक स्वामी । अनुत्तमन्युं) अद्वितीय नित्य ज्ञानी, नित्य, सामर्थ्यवान् (इन्द्रं) इन्द्र को (सहध्यै) सब पर दमन करने के लिये (दधिरे) धारण करती हैं । अतः, हे नर (हर्यश्वाय) समस्त लोकों और जीवों में व्यापक ईश्वर के लिये (आपीन्) अपने समीप आप सब बन्धुओं को (सम् वर्हय) उत्तम रीति से बढ़ा, उन्नत कर ।

[१७९६] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद्दिधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥१॥

[१७९७] शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न
॥ २ ॥ १२ ॥ ऋ० ७ । ३२ । १८, १९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३१०] पृ० १२८ ।

(२) परमेश्वर का संकल्प है कि (महयते) दानशील या मेरी स्तुति करने हारे (कुहचिद्विदे) कहीं भी हो वहां ही उसे (दिवे दिवे) प्रतिदिन (रायः) धनों को (आ शिक्षेयम्) दान दिया करता हूं । इस प्रकार की ईश्वर की दयादृष्टि होने से भक्त का भी संकल्प होता है कि हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्यत्) तेरे से दूसरा कोई और क्योंकि (नः) हमारे लिये (वस्यः) आवास देने हारा, (आप्यं) प्राप्त करने योग्य, इष्टदेव, उत्तम वस्तु (नहि) नहीं है और तुझ से उत्तम दूसरा (पिता च) पिता पालक भी (न) नहीं है ।

३ १र २र ३ २उ ३ १ ३ १ ३ १ २ ३ २
[१७९८] श्रुधी हव विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ ३
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
[१७९९] न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
१ २ ३ १ २
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८००] भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
२उ ३ १ २ ३ १ २
मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक्‌ ॥३॥१३॥ ऋ० ७ । २२।४-६॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (विपिपानस्य) आनन्दरस का पान करने हारे (अद्रेः) आदरणीय और ज्ञानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्ण न होने वाले योगाभ्यासी के (हवं) पुकार को (श्रुधि) श्रवण करें (अर्चतः) स्तुति करते हुए (विप्रस्य) मेधावी विद्वान् पुरुष की (मनीषाम्) मन की गति, या स्तुति को (बोध) आप जानते हो। और (सचा) आप सहायक रूप से (इमा) इन (दुवांसि) शुभ कामनाओं को (अन्तमा) हृदयंगम (कृष्व) कीजिये।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (असुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, (तुरस्य) शत्रुओं के नाशक, अथवा सबके प्रेरक (ते) तेरा वर्णन करने हारी (गिरः) वाणियों की भी (न मृष्ये) कभी परित्याग नहीं करता। और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर मैं (ते सुस्तुतिम्) तेरी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता। (ते) तेरे (स्वयश) यशस्वरूप उज्ज्वल (नाम) नाम को (सदा) नित्य (विवक्मि) विविध प्रकार से बखाना करता हूं।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरे लिये (मानुषेषु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत से (सवना) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य हैं। (मनीषी) मननशील विद्वान् भी (त्वाम् इत्) तेरी ही (भूरि) बहुत (हवते) स्तुति करता है। हे

(मघवन्) ज्ञानाश्रय ! हे सर्वशक्तिमन् ! आप (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर (ज्यांक्) कभी भी (मा कः) मत होवें ।

इति तृतीय. खण्ड. ।

—o—

[१८०१] प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीके चिदु
लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माकं बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ १ ॥

[१८०२] त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् । अशत्रुरिन्द्र
जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम् । तं त्वा परिष्वजामहे
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

[१८०३] विषु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः । अस्तासि
शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ० १० । १३३ । १–३ ॥

भा०—(१) (अस्मै इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (पुरो-रथम्) विश्व, ब्रह्माण्ड रूप रथ को पूर्ण करने हारे, या पालन करने वाले, या गति देने वाले (शूषम्) बल को (प्र सु अर्चत उ) यथार्थरूप से वर्णन करो । देखो, यह ईश्वर (अभीके) अत्यन्त समीप, चित्त में साक्षात् (चित्-उ) ही (लोककृत्) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या चित्त में सब के प्रकाश करता है । और (सङ्गे) संग हो जाने पर आत्मा को प्राप्त कर (समत्सु) इन्द्रियवृत्तियों में (वृत्रहा) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अस्माकं) हमें (बोधि) ज्ञान देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अन्यकेषां) हमारे आभ्यन्तर तुच्छवृत्ति शत्रु, काम आदि के (धन्वसु) कमानों पर (अधि) चढ़े हुए (ज्याका·) निर्बल चिल्ले भी (नभन्तां) टूट फूट जाते हैं।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर! तूने (सिन्धू·) सब नदियों को और शरीर की नाड़ियों को (अधराच.) नीचे जाने हारी (अवासृजः) रचा है। और तू (अहिम्) न हटने वाले या आघात या पीड़ाकारी तामस आवरण, या मेघ को (अहन्) विनाश करता है। हे इन्द्र! तू (अशत्रु:) शत्रुरहित सब का मित्र (जज्ञिषे) जाना जाता है। ऐसे ही (तं) उस सब के मित्र परमस्नेही (त्वा) आपको (परि स्वजामहे) हम आलिंगन करते हैं, अपना निरन्तर का सङ्गी बनाते हैं, अपनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं।

(३) हे इन्द्र! (नः) हमारे (विश्वा·) समस्त (अर्यः) शत्रु रूप, हम पर चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अज्ञानशक्ति, उचित कर न देने हारे, (विरवा) सब शत्रुगण (वि सु नशन्त) नाना प्रकार से खूब नाश को प्राप्त हों। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यः) जो (नः) हमें (जिघांसति) विनाश करना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु पर (वधं) अपने हननकारी बल को (अस्तासि) प्रयोग कर। और (या) जो (ते) तेरी (रतिः) दान और कृपा है वह हमें (वसु) धन आदि पदार्थों का (ददिः) दान करे। (अन्यकेषां ज्याका धन्वसु नभन्ताम्) और अन्य तुच्छ शत्रुओं के धनुषों की निर्बल डोरियाँ नष्ट हो जावें।

[१८०४] त्वां इद्धि॒ यत॑स्तो॒ता स्यात्त्वाव॑तो म॒घोन॑ः ।
प्रेदु हरि॒वः॒ श्रु॒तस्य॑ ॥ १ ॥

[१८०५] उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत ।
न गायत्रं गीयमानम् ॥ २ ॥

[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥३॥१५॥ ऋ० ८।२।१३—१५॥

भा०—(१) हे (हरिवः) गतिमान् समस्त लोकों के स्वामिन्! अथवा किरणों और प्राणों के प्राण! हे प्रभो! लोक में (रेवतः) धनाढ्य पुरुष का (स्तोता) स्तुति करने हारा (रेवत्) धनवान् हो जाता है। और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् (स्यात्) हो जाता है। फिर (त्वावतः) तुझ जैसे अनुपम (मघोनः) ज्ञानी और धनसम्पन्न (सुतस्य) ऐश्वर्यवान्, अथवा ब्रह्मानन्दरस के उत्पादक प्रभु का तो (प्र वृत् उ) फिर क्या कहना! तेरा उपासक तो भारी धनी और ज्ञानी हो ही जायगा।

(२) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [२२५] पृ० ११६ ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर! (नः) हमें (पीयत्नवे) हिंसक, दुष्ट पुरुष के हाथों में (मा परा दाः) मत डाल। और हमें (शर्धते) हमारा मान भंग करने हारे हिंसक पुरुष के हाथों में (मा परादाः) मत डाल। तू (शचीभिः)अपने ज्ञानों और शक्तियों से ही हे (शचीवः) शक्तिमन्! हमें (शिक्ष) शिक्षित कर, दण्डित कर, अथवा ज्ञान प्रदान कर।

[१८०७] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ १ ॥

[१८०८] अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३१ १ ३ २ २ १२ २र
[१८०९] आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण यच्छतु ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥
ऋ० ८ । ३४ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये आर्चि० स० [३४८] पृ० १८० ।

(२) (वृकः) भेड़िया (उरा न) जिस प्रकार भेड़ को (धुनुते) धुन देता है, भय से कंपित करता है उसी प्रकार (एषां) इन प्राणों का (नेमिः) नमन करने हारा वश करने हारा, आत्मा भी उस (उरा) चितिशक्ति को (विधूनुते) अपने बल से प्रचालित करता है । (दिव) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप, विश्व में रमण या क्रीड़ा करने हारे (शासत) शासकरूप (अमुष्य) इस परमात्मा के (दिव०) ज्योतिर्मय ज्ञान को हे (दिवावसो) ज्योतिरूप प्रकाश में वास करने हारे जीवात्मन् ! तू (यय) प्राप्त हो ।

(३) हे प्रभो ! (इह) इस संसार में, इस जन्म में (सोमी) सोमरस का आस्वादन करने हारा आत्मज्ञानी (ग्रावा) विद्वान्, ज्ञानोपदेशक (त्वा) तेरी (वदन्) स्तुति करता हुआ (घोषेण) वेद ज्ञान के साथ ही (त्वा यच्छतु) तुझे प्राप्त हो । हे (दिवावसो) आत्मन् ! (अमुष्य शासत दिवः दिवं यय) आत्मक्रीड़, आत्मरति होकर उस शासन करने हारे परमात्मा के प्रकाशस्वरूप मोक्ष लोक को तू प्राप्त हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८१०] पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८११] ते सुतासो विपश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८१२] असृग्रं देववीतये वाजयन्तो रथा इव ॥ ३ ॥ १७ ॥
ऋ० ९ । ६७ । १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्य सेयुक्त (मधुमत्तम.) अतिशय ज्ञान सम्पन्न होकर (मन्दयन्) आनन्दमय होता हुआ योगिन् ! तू (इन्द्राय) परमेश्वर को प्राप्त होने के लिये (पवस्व) गतिकर ।

(२) (ते) वे (विप्राश्रित) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का संग्रह करने हारे या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करने हारे परमात्मदर्शी (शुक्र) तेजस्वी, या शुक्ल कर्म करने हारे, (सुतास॰) सिद्ध योगी (वायुम्) सर्व प्रेरक प्रभु परमात्मा को (असृक्षत) प्राप्त होते हैं ।

(३) सोमस्वरूप योगी गण (वाजयन्त) संग्राम करने हारे विजयी (रथा इव) रथों के समान स्वयं (वाजयन्तः) ज्ञानस्वरूप होकर (रथा) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर (देववीतये) ईश्वर को प्राप्त होने के लिये (असृग्रम्) जा रहे हैं ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३' १र   २र   ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
[१८१३] अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसो सूनु ।
२र   ३ १ २ ३   २ ३ २ ३ १ २
सहसो जातवेदसं विप्रन्न जातवेदसम् ॥
२ ३ १ २   ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥१॥
१ २   ३ १ २   ३ २ ३ १ २   ३
[१८१४] यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र
१ २ ३ १ २   ३ १ २
मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ॥
१ २   ३ १र   २र   ३ २
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २र   ३ १ २   ३ २ ३ १ २
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥

१८ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१८१५] स हि पुरूचिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ॥
३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
वीडुचिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥३॥१८॥

ऋ० १ । १२७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६५] पृ० २३४ ।

(२) हे (विप्र) ज्ञानवन् ! अग्ने ! परमेश्वर ! हम (यजमानाः) उपासना करने हारे लोग (यजिष्ठ) सब उपासकों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ, (अंगिरसां) समस्त ज्ञानवान् आत्माओं से भी (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ पर मात्मरूप आपको (विप्रेभिः) विशेष रूप से आपके महत्व को दर्शाने हारे ज्ञानमय (मन्मभिः) विचारों, मन्त्रों से (त्वा) आपको (हुवेम) स्मरण करते हैं । हे (शुक्र) तेजःस्वरूप सबके प्रकाशक ! (परिज्मान) सर्वव्यापक, (द्या) तेजस्वरूप, (चर्षणीनां) समस्त मनुष्यों को (होतारं) कृपा का दान करने हारे (शोचिष्केशं) कान्तिमान् सूर्यादि पिण्डों को वश करने हारे (वृषणं) सब सुखों के वर्षक (यं) जिस आपको (इमा) ये समस्त (विशः) आप में आश्रय पाने हारे जीवगण (प्रावन्तु) प्राप्त होते हैं ।

(३) (सः हि) निश्चय से वह अग्नि (विरुक्मता) विशेष कान्ति से युक्त (ओजसा) तेज से (पुरुचित्) अति अधिक (दीद्यानः) प्रकाशित होता हुआ (द्रुहन्तर) वृक्षों को विनाश करने हारे (परशुः न) फरसे के समान (द्रुहन्तरः) द्रवणशील, विनाशी इस देह बन्धन को काटने हारा (भवति) होता है, (यस्य) जिसको (समृतौ) सम्यक् में साक्षात् प्राप्त कर लेने पर (वीडु) दृढ़ और (यत्) जो (स्थिर)

स्थिर, स्थायी यह संसार या देहबन्धन (चित्) भी (वना इव) जंगल या जलों केसमान (प्रुवत्=प्लुवत्) छितरा जाता है। अग्नि के संयोग जिस प्रकार जंगल जल जाता या जल भाफ होकर विलीन होजाता है उसी प्रकार यह समस्त संसार भी जिस में प्रलय काल में विलीन होजाता है वह (वि: सहमानः) समस्त संसार की सब विरोधिनी शक्तियों को अपने वश करता; हुआ (यमते) समस्त संसार की व्यवस्था करता है और उसी में क्रीड़ा करता है एवं (धन्वा सहा व) धनुर्धर विजयी के समान (अयते) संसार के रण क्षेत्र में भी आता है और (न अयते) और इसके भीतर पाश में भी नहीं आता।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धप्रपाठक.*

अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

ऋषिः—१ अग्नि· पावकः । २ सोभरि. काण्व. । ५, ६ अवत्सारः काश्यप अन्ये च ऋषयो दृष्टलिङ्गाः* । ८ वत्सप्रीः । ९ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १० त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिंधुद्वीपो वाम्बरीषः । ११ उलो वातायनः । १३ वेन· । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ देवता—१, २, ८ अग्निः । ५, ६ विश्वे देवा. । ९ इंद्र । १० अग्निः । ११ वायुः । १३ वेन. । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ छन्द.—१ विष्टारपङ्क्ति, प्रथमस्य, सतोबृहती उत्तरेषा त्रयाणा, उपरिष्टाज्ज्योतिः अत उत्तरस्य, त्रिष्टुप् चरमस्य । २ प्रागाथम् काकुभम् । ५, ६, १३ त्रिष्टुप् । ८-११ गायत्री । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ स्वरः—१ पञ्चमः प्रथमस्य, मध्यमः उत्तरेषा त्रयाणा, धैवतः चरमस्य । २ मध्यमः । ५, ६, १३ धैवतः । ८-११ षड्ज । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

---

*केषां चिन्मतेनात्र विंशाध्यायस्य, पञ्चमखण्डस्य च विरामः ।

[१८१६] अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥१॥

[१८१७] पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥२॥

[१८१८] ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसः श्चित्रोतयो वामजाताः ॥३॥

[१८१९] इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि दर्शतं क्रतुम् ॥४॥

[१८२०] इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः । रातिं
वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥५॥

[१८२१] ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो
जनाः । श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा
युगा ॥ ६ ॥ १ ॥ ऋ० १० । १४० । १-६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशक ! परमात्मन् ! (विभा-
वसो) अपने विशेष प्रकाश से सब को बसाने और सर्वत्र स्वयं बसनेहारे
व्यापक परमात्मन् ! (तव) तेरा (श्रवः) कीर्ति और (वयः) ज्ञान, बल
(महि) महान् है और तेरी (अर्चयः) ज्वालायें सूर्य आदि रूप में

१-'त्रिष्टुभिः' इत्या० माल्यं पाठः १८१६—३. 'मन्दस्व धीतिभिः' ४. पूर्णिमाना-
मिं' इति पू० ।

(भ्राजन्तो) प्रकाशित हो रही हैं । हे (बृहद्भानो) सब प्रकारों में महान् ! आप (उक्थ्यं) वेद द्वारा प्रतिपादनीय (वाजं) ज्ञान दें । हे (कवे) मेधाविन् ! तू (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य को आचार्य के समान (दधासि) धारण करता है ।

(२) हे अग्ने ! तू (पावकवर्चाः) पवित्र करने हारे तेज से युक्त (शुक्रवर्चाः) शुक्ल, निर्मल कान्ति से सम्पन्न, (अनूनवर्चाः) सब से अधिक तेजस्वी होकर (भानुना) प्रकाशक तेज के सहित (उद् इयर्षि) उदय होता है, हृदय में प्रकट होता है । जिस प्रकार (पुत्रः) पुत्र (मातरा) मातृस्वरूप या मां बाप दोनों के समीप (विचरन्) विचरता हुआ उनको पुनः पालता और पोषता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों के बीच विचरता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को साक्षात् करता और पालन पोषण करता है उसी प्रकार तू भी समस्त लोकों को (उपावसि) स्वयं उन में व्यापक होकर रक्षा करता और (पृणक्षि) पालन करता है । इसी प्रकार देहगत जीवात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है ।

(३) हे (ऊर्जो नपात्) बल को, सामर्थ्य को एवं ब्रह्मानन्दरस को कभी न परित्याग करने हारे ! हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! तू (सुशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों से और (धीतिभिः) वेदाध्ययन और अग्निहोत्रादि यज्ञ-आनों से (मन्दस्व) प्रसन्न हो, अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर । (भूरिवर्पसः) नानारूप (चित्रोतयः) विचित्र या मनोहर बुद्धि वाले (वामजाताः) उत्तम प्रकृति के कुलीन, विद्वान् लोग भी (ते) तेरे निमित्त ही (इषः) नाना अन्न आदि, हवियों को (संदधुः) अग्नि में डालते हैं । या तेरे आश्रय नाना कामनाएं करते हैं ।

(४) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! हे (अमर्त्य) अविनाशी परमात्मन् ! आप (जन्तुभिः) उत्पन्न होने हारे जन्तुओं द्वारा (राधसम्) ऐश्वर्य

को बढ़ाते हुए (अस्मे) हमारे (रायः) धनों को (प्रथयस्व) बढ़ाओ। (सः) वह आप (दर्शतस्य) दर्शनीय (वपुषः) अपने बीज वपन करने हारे, उत्पादक सामर्थ्य से (विराजसि) सब पर ईश्वर होकर विराजमान हैं। और आप (दर्शतं) दर्शनीय (क्रतुं) अपने बनाए हुए इस संसार को (पृणक्षि) पालन पोषण करते हो।

(५) (अध्वरस्य) इस महान् जगत्मय यज्ञ के (इष्कर्तारम्) प्रेरणा करने हारे, या पूर्णरूप से संचालन करने हारे (प्रचेतसः) उत्तम, ज्ञानवान् (महः) बड़े श्रेष्ठ, (राधसः) आराधनीय, या साधनयोग्य धन या ज्ञान को (क्षयन्तं) अपने वश करने हारे, उसके स्वामी और (वामस्य) प्राप्त करने योग्य उत्तम श्रेष्ठ पदार्थों के (रातिं) दाता की हम स्तुति करते हैं। हे परमात्मन्! आप (महि) बहुत बड़ी (सुभगा) उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ (इषे) अन्न आदि सम्पदा को और (सानसि) परस्पर विभाग कर के भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को पृथक् २ प्राप्त (रयिम्) प्राण, देह आदि अध्यात्म-सम्पत्ति को (दधासि) धारते और प्रदान करते हो।

(६) (जनाः) मनुष्य लोग (ऋतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, (महिषं) बड़े सामर्थ्यवान्, (विश्वदर्शतम्) सबसे अधिक दर्शनीय, विश्व के द्रष्टा एवं सब पदार्थों के प्रदर्शक विद्वान् (अग्निम्) अग्नि अर्थात् आचार्य के समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने (पुरः) समक्ष साक्षिरूप से और मार्गदर्शक रूप से (सुम्नाय) सुख प्राप्त करने एवं प्रत्येक कार्य पर उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के लिये (दधिरे) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप से रखते हैं। उसी प्रकार हे परमात्मन्! (मानुषा) मननशील (युगा) नर नारियों के जोड़े (सप्रथस्तमं) सर्वत्र अति प्रसिद्ध, विख्यात (श्रुत्कर्णम्) श्रुतिरूप कर्णों से युक्त अथवा वेद के अनुसार समस्त जगत् के रचने हारे (गिरा)

उस वेदवाणी के अनुसार (दैव्यं) दिव्यगुणों से युक्त (त्वां) तुझको अपने सुख-सम्पादन के लिये (पुरो दधिरे) सब कार्यों में साक्षी या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—०—

[१८२२] प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
यस्य त्व सख्यमाविथ ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सो नीलवान्वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे । त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥ २ ॥ २॥ ऋ० ८ । १९ । ३०,३१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकृत सं० [१०८] पृ० ४८ ।

(२) हे (सिष्णो) आनन्दरस से हृदय के सेचन में समर्थ ! धर्म मेघरूप आत्मन् ! (तव) तेरा (द्रप्स.) द्रवणशील व्यापक रस (नीलवान्) आश्रयदाता, (वाशः) कमनीयरूप, (ऋत्वियः) प्राणों में रहने वाला (इन्धानः) प्रदीप्त होकर (आददे) मन से ग्रहण किया जाता एव सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । (त्वं) तू (महीना) विशाल या पूजनीय (उषसा) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं का (प्रिय.) प्रिय (असि) है और (क्षप:) सर्व दुःखों के नाश करने वाली, रात्रि के समान अन्तः सात्विक निद्रा से सम्बद्ध (वस्तुषु) तत्वों में (राजसि) प्रकाशमान, जागृत रहता है ।

[१८२४] तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः । तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १० । ९१ । ६ ॥

भा०—(१) (तं) उस (ऋत्विय) ऋतुओं में सूर्य के तेजो रूप मे प्रकट होने हारे अग्नि को (ओषधीः) ओषधिगण अपने भीतर रसरूप से (दधिरे) धारण करती हैं (तं) उसी (अग्निं) अग्नि को (मातरः) सब के मूल-कारण (आपः) आपः=जल भी (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं और (तम् इत्) उसको ही (समानं) समान रूप से (वनिनः) वन के बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को (अन्तर्वतीः) गर्भ धारण करने हारी पुष्पिणी (च) और (वीरुधः) विशेष रूप से रोहण करने हारी लताएं (विश्वहा) सर्वदा उत्पन्न करती हैं। उसी प्रकार वनस्पति और लताओं के दृष्टान्त स आत्मा की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—(मातरः) माताए, (आपः) प्राप्त होने योग्य पतियों स सगत (ओषधीः) तेजः=वीर्य को धारण करने वाली (तं) उस आत्मरूप अग्नि को (ऋत्विय) ऋतुकाल में होने वाले (गर्भं दधिरे) गर्भरूप से धारण करती हैं (तं) उसी को (जनयन्त) बालक रूप से उत्पन्न करती हैं। (च) और (वनिनः) नर वृक्षों के समान पुरुष और (वीरुधः) लताओं के समान (अन्तर्वतीः च) गर्भिणी स्त्रियां (विश्वहा) सदा (समानं) समान भाव से (सुवते) उसको प्रसव करती हैं।

फलतः वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है। एवं जो जल वृष्टिरूप से पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुनः पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निषिक्त होता है और वही गर्भ मे जमकर पुनः पुत्ररूप मे उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुति प्रकरणों से दर्शाया गया है।

[१८२५] अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो विराजति ।
महिषीव विजायते ॥ ४ ॥

भा०—(१) (अग्निः) वह आत्मा (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (पवते) विवेक से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । (शुक्र) शुक्लकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर (दिवि) मोक्ष में (विराजति) प्रकाशित होता है । (महिषी इव) जिस प्रकार (महिषी) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है उसी प्रकार वही आत्मा (विजायते) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा (महिषी इव) दुग्धरस देने हारी भैंस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में ऋतम्भरा रूप स प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इस इन्द्र=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ १ ॥ ५ ॥ ऋ० ५ । ४४ । १४ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (जागार) अविद्या की नींद से जाग जाता है (त) उसको (ऋच) ऋग्वेद की ऋचाएं और उन के समान ज्ञानप्रद जन भी (कामयन्ते) चाहते हैं । और (य.) जो (जागार) अविद्या निद्रा से जग जाता है (तम् उ) उसको ही (सामानि) साम के उपासनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (य) जो (जागार) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है (तम्) उसको ही (अय) यह (सोम.) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या संसार का ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता मे ही (अहम्) मैं भी (न्योका) निवास करता हू । इसी ऋचा से अगली ऋचा में इस जागरणशील निरालस तपस्वी को 'अग्नि' नाम से बतलाया है ।

[१८२७] अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यान्ति । अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—(१) पूर्व ऋचा के (यः) 'जो' की जिज्ञासा में ही यह उत्तर ऋचा कही जाती है । इसमें विद्वान् निरालस आत्मा के साथ २ परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है । अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही सदा जागता है, ऋग्वद की ऋचाएं उसको चाहती हैं, उसी का सामगण गान करते हैं और यजुः स्थानीय सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर को ही कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपके मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूं।

[१८२८] नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यः नमः साकंनिषेभ्यः । युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१८२९] युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्रवर्तनि । गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् ॥ २ ॥

[१८३०] गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता । देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (पूर्वसद्भ्यः) पूर्णब्रह्म, मोक्षधाम में विराजमान (सखिभ्यः) मेरे आत्मा के समान आख्यान वाले मुक्तात्माओं को (नमः) मैं नमस्कार करता हूं । और (साकंनिषेभ्यः) साथ ही विराजमान विद्वान् मित्रों के लिये भी (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार है । मैं आप लोगों के समान ही (शतपदीं) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण (वाचं) वेदवाणी का (युञ्जे) समाहित चित्त से विचार करता हूं ।

(२) (शतपदीं) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त (वाचं) वाणी का (युञ्जे) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूं और (सहस्रवर्तनि)

सहस्रों मार्ग से युक्त सहस्रवर्त्मा सामवेद जिसमें (गायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गाये) गान करता हूं ।

(३) (गायत्रं, त्रैष्टुभ, जगत्) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन तीन मुख्य सामों के ही (विश्वा रूपाणि)) नाना प्रकार के रूप (सम्भृता) बनाये गये हैं । और उनमें ही (देवाः) विद्वान् लोग (ओकांसि¹) संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का (चक्रिरे) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं ।

[१८३१] अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः ॥ १ ॥

[१८३२] पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ २ ॥

[१८३३] सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेदे नास्ति । आद्या यजु० ३ । ६ ।। द्वितीया यजुः० १२ । ४० ।। तृतीया यजु ० १२ । ४१ ।।

भा०—(१) (अग्नि.) अग्नि (ज्योति) ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप ही (अग्नि.) अग्नि है । (इन्द्रः) इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योति·) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (इन्द्रः) इन्द्र है । (सूर्यः) सब का प्रेरक सूर्य (ज्योति) ज्योतिर्मय है ।

१८३०—१, ओकांसि—बाहुलकादवतेरौणादिकः कन् (उणा० ३ । ४१) ओक —राशिः स्थान वा । अथवा वचेः सार्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४ । २१६) उच्यते इत्योक ।

१८३१—१. "अग्निर्ज्योतिरग्नि. स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

(ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (सूर्यः) सूर्य है । फलतः ज्योतिर्मय होने से ही अग्नि, इन्द्र और सूर्य तीनों नाम एक पदार्थ के हैं। वह समानरूप से तीन नाम एक पदार्थ के और इनका चौथा पर्याय ज्योति है। ये चारों नाम मुख्यता से ईश्वर के और गौणदृष्टि से अन्यों के हैं।

(२) हे अग्ने परमात्मन् ! आप (ऊर्जा) रसस्वरूप आनन्दघन रूप में और (इषा) ज्ञानरूप में और (आयुषा) जीवनरूप से (पुनः पुनः) बार बार हमें (नि वर्त्तस्व) प्रकट हों। अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एवं प्रतिजन्म में आपके सत्, चित्, और आनन्द तीनों रूपों के हमें दर्शन हों।

(३) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (रय्या) अपने रमणीय, मनोहर मोहनीय रूप से हमें (नि वर्त्तस्व) पुनः प्राप्त हो । हे अग्ने ! तू हमें (विश्वतः परि) सबसे अधिक, एवं सबपर शासन करने हारे (विश्वप्स्न्या) समस्त संसार को अपने भीतर लेलेने हारी सर्वव्यापिनी (धारया) अपनी रसधारा से (पिन्वस्व) तृप्त कर ।

इति षष्ठः खण्डः ।

[१८३४] यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥ १ ॥

[१८३५] शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

[१८३६] धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । १४ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [१२२] पृ०

(२) (यद्) यदि (अहं) मैं (गोपतिः) वाणी, भूमि और गौओं का पति=पालक (स्याम्) होऊं तो हे (शचीपते) शक्तिमन् ईश्वर! वाला और ब्रह्मविद्या के स्वामिन्! मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) मनस्वी, जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष को (दित्सेय) दान कर दूं और (शिक्षेय) विद्या की शिक्षा दूं।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन्! (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम सत्य सत्यों के दर्शाने हारी सत्यमयी (धेनु) ज्ञानरस का पान कराने हारी वेदवाणी (सुन्वते) ज्ञान सम्पादन करने वाले (यजमानाय) स्वाध्याय यज्ञ के करने हारे अध्येता को (पिप्युषी) पुष्ट करती हुई (गाम्) वाणी और (अश्वं) आत्मिक सामर्थ्य युक्त आत्मा का भी बल (दुहे) प्रदान करती है:

[१८३७] आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

[१८३८] यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

[१८३९] तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० १०। ९। १–३ ॥ अथर्व० १। ५। १–३ ॥

भा०—(१) हे (आपः) प्राप्त होने हारी ज्ञान जलधाराओ! आप ही (मयोभुवः) शान्ति और कल्याण के उत्पन्न करने हारी (स्थ) हो। ज्ञानजल (नः) हमें (ऊर्जे) बल या आनन्द-रस प्राप्त करने के लिये (दधातन) अपने में धारण करें। और वे ही हमें (महे) बड़े (रणाय) रमणीय, दर्शनीय इष्टदेव के (चक्षसे) दर्शन प्राप्त करने के लिये (दधातन) समर्थ और पुष्ट करें।

(२) हे (आपः) आप्तव्य योगभूमियो ! (यः) जो (वः) आप का (शिवतमः) अति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम (रसः) आनन्दरस है (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ । आप साक्षात् (उशतीः) पुत्रों के प्रति उनको पुष्टि करने की लालसा से भरी (मातरः) माताओं के समान हम मुमुक्षुओं को (मातरः) ज्ञान देने हारी हो ।

(३) हे (आपः) प्राप्यतम योगभूमियो ! (तस्मा) उस रस के प्राप्त करने के लिये ही (वः) आपके प्रति हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमाम) प्राप्त हों । (यस्य) जिसके (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये आप (जिन्वथ) हमें प्रेरित करते हो । (नः) और जिसके लिये हमें (जनयथ) उत्पन्न करती हो, उसके लिये समर्थ भी होती हो ।

इन मन्त्रों में आपः जल हैं । वह वे जल हैं जो आत्मा नदी में बहते हैं । जिसका वर्णन व्यासदेव ने किया है—

" आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः" ॥

अथवा जिसमें वह कर भक्त कहा करते हैः—

"ओषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ।"

२ ३ १ २ ३ २ ४ १ २ ३ १ २ ३ १
[१८४०] वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
२ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
[१८४१] उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
१ २ ३ १ २
स नो जीवातवे कृधि ॥ २ ॥

१८४०—ऋषिदैवता च नान्यत्र संहितासूपलभ्यते । [illegible]
[illegible] [illegible] 'इति
साम' इतिमात्र प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यददो वात ते गृहेऽ३ऽमृतन्निहित गुहा ।
तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥ऋ० १० । १८६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [१८४] पृ० ६६ ।

(२) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (पिता असि) प्राणवायु के समान साक्षात् पालक हैं, (उत भ्राता) और प्राण वायु के समान भरण पोषण करने वाले और (नः सखा) हमारे आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । (सः) वह आप (नः) हमें (जीवातवे) जीवनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ (कृधि) करो ।

(३) हे (वात) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! (यत्) जो (अद) वह कभी न भूलने योग्य (अमृतं) अमृतरस, परमज्ञान (ते) तेरे (गृहे) शरण में (गुहा) हृदयरूप गुहा में (निहितं) गुप्तरूप से रक्खा है भगवन् ! (तस्य) उसको (नः जीवसे) हमारे जीवन के निमित्त (धेहि) प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं बिभ्रदत्कं सुपर्णः । सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपं तेजः पृथिव्यामधि यत्सं बभूव । अन्तरिक्षे स्वम्महिमानं मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥ २ ॥

[१८४५] अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार । सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥३॥१२॥ ऋग्वेदे नास्ति । अथर्वणि यजुषि च नो लभ्यते ॥

भा०—(१) (विश्वरूप.) नाना प्रकार के रूपों को धारण करने हारा जीवात्मा (वाजी) ज्ञानवान् और बलवान् होकर (सुपर्णः) उत्तम प्रज्ञान और पालन करने के सामर्थ्य से सम्पन्न, या उत्तम मार्गगामी (अत्र) कर्माशयों को परिपाक करके (हिरण्यय) तेज.सम्पन्न (जनित्रम्) अपने मूलभूत (अत्क) आत्मस्वरूप को (बिभ्रत्) परिपुष्ट करता हुआ (ऋतुथा) प्राणों के बलपर अथवा नियत काल के अनुसार स्वय (सूर्यस्य) आदित्य के (भानुं) कान्ति और तेज का (वसान) धारण करता हुआ (स्वय) आप से आप (मध) उस पवित्र परमपुरुष को (परिजजान) ज्ञान कर लेता है प्राप्त होजाता है ।

(२) (विश्वरूप तेज) नाना प्रकार के नर, तिर्यक् आदि रूप धारण करने हारे जीवात्मारूप ज्योति ने (अप्सु) जलों मे (रेत) वीर्य रूप होकर (शिश्रिये) आश्रय प्राप्त किया (यत्) पुन' उसके बाद वह (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि सम्बभूव) जीवरूप से उत्पन्न हुआ उसके बाद वह (स्वं) अपने (महिमान) सामर्थ्य को (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में भी (मिमान) व्यापारित करता हुआ अर्थात् पक्षी या सूर्य रूप से प्रकट होकर (वृष्ण) उस वीर्यसेक्ता सब के पिता (अश्वस्य) परमात्मा के (रेत) वीर्य की (कनिक्रन्ति) महिमा का वर्णन करता है ।

(३) वह विश्वरूप अग्नि (यज्ञ.) आत्मारूप (दिव') स्वर्ग का (धर्त्ता) धारक और (भुवनस्य) इस लोक की (विश्पति.) समस्त देहधारी प्रजाओं का परिपालक, (सहस्रदा) सहस्रों पदार्थों का दाता (शतदा') सैकड़ों पदार्थों का दाता और (भूरिदावा) हरेक वस्तु की बहुतसी मात्रा का दाता, अथवा बहुत बार देने वाला, (सहस्रा) हजारों (शुभ्रा) देहों को (वसान') धारण करता हुआ (सूर्यस्य) सूर्य के (भानुं) तेज को भी (दाधार) धारण करता है ।

यह समष्टि रूप से जीव शक्ति का वर्णन किया है जिसका संक्षेप मे वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस रूप से किया है ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥
अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

[श्वेता० अ० ५]

[१८४६] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा । हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ १ ॥

[१८४७] ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि । वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वाऽर्ण नाम जनत प्रियाणि ॥ २ ॥

[१८४८] द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् । भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजांसि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ ॥॥ ऋ० १० । १२३ । ६-८ ॥

भा०—(१) हे (वेन) कर्म सन्तान उत्पन्न करने हारे आत्मन् ! कान्तिमन् ! दृष्टः (त्वा) तुझको (यद्) जब (हृदा) हृदय से, मन से (वेनन्त) कामना करते हुवे विद्वान् लोग (अभि अचक्षत) साक्षात् करते हैं तब वे

(हिरण्यपक्षं) ज्योतिःस्वरूप, (वरुणस्य) सबसे वरने योग्य, दुःखों के निवारक परमात्मा के (दूत) पास गमन करने हारे और (भुरण्युम्) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले (शकुनम्) शक्तिमान् मुक्त को उस समय (यमस्य) समस्त संसार के नियामक जगदीश्वर के (नाके) दुःखरहित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्तं) विचरण करते हुए (सुपर्णं) उत्तम ज्ञान और कर्म रूप पक्षों के धारक पक्षी के समान (अभ्यचक्षत) वर्णते हैं।

(२) (गन्धर्वः) गौः=किरणों के धारण करने हारे सूर्य के समान अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह वेन=मेधावी आत्मा प्रत्यक्ष रूप से (चित्रा) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (के) आनन्दमय, सुख रूप (स्वानः) सूर्य के समान तेजोमय (नाम) परम रूप को (दृशे) देखने के लिये (अधिनाके) मोक्ष मार्ग में (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है और (प्रियाणि) अपने प्रिय यथेष्ट कामनाओं को (जनयत) उत्पन्न करता है, यथेष्ट विचरता है।

(३) वह ज्ञानी आत्मा (यत्) जब (द्रप्सः) स्वयं बहने हारे नद के समान गति करता हुआ (समुद्रम्) उस आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गंभीर परम जगदीश्वर को (जिगाति) प्राप्त होता है या (विधर्मन्) अपने विशेष धारण करने हारे भगवान् की दया में स्थित होकर (गृध्रस्य) इसकी आकांक्षा करने हारे याचक के समान मोक्षाभिलाषी की (चक्षसा) दृष्टि से (पश्यन्) अपने स्वामी को देखता है तब वह स्वयं (भानुः) सूर्य के समान (शुक्रेण) शुद्ध (शोचिषा) तेज से (चकानः) देदीप्त होता हुआ (तृतीये) तारण करने हारे, परम, सर्वोत्कृष्ट, (रजसि) प्रकाशमान पद में (प्रियाणि) अपने प्रिय मनोरथों को (चक्रे) पूर्ण करता है। इति सप्तमः खण्डः।

इति विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ॥

ऋषि—१—४ अप्रतिरथ ऐन्द्रः। ५ अप्रतिरथ ऐन्द्र प्रथमयोः पायुर्भारद्वाजः चरमस्य। ६ अप्रतिरथः पायुर्भारद्वाजः प्रजापतिश्च। ७ शासो भारद्वाजः प्रथमयोः। ८ पायुर्भारद्वाज प्रथमस्य, तृतीयस्य च। ९ जय ऐन्द्रः प्रथमस्य, गोतमो राहूगण उत्तरयोः॥ देवता—१, २, ४ आद्योरिन्द्र चरमस्य मरुतः। इन्द्रः। बृहस्पतिः प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयोः ५ अप्वा प्रथमस्य, इन्द्रो मरुतो वा द्वितीयस्य इषवः चरमस्य। ६, ८ लिंगोक्ता संग्रामाशिषः। ७ इन्द्रः प्रथमयोः। ९ इन्द्रः प्रथमस्य, विश्वेदेवा उत्तरयोः॥ छन्दः—१-४, ६ त्रिष्टुप्। ५, ८ त्रिष्टुप् प्रथमस्य अनुष्टुबुत्तरयोः। ६, ७ पङ्क्तिः चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयोः॥ स्वरः—१—४, ६ धैवतः। ५, ८ धैवतः प्रथमस्य, गान्धार उत्तरयोः। ६, ७ पञ्चमः चरमस्य, गान्धारो द्वयोः॥

[१८४९] आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥ १ ॥

[१८५०] सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना। तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ २ ॥

[१८५१] स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन। संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यू३ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० १०। १०३। १—३ ॥

भा०—(१) (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार (शिशानः) तीक्ष्णमति, (आशुः) शीघ्रगामी, (वृषभः न भीमः) वृषभ के समान अति भयंकर (घनाघनः) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, (चर्षणीनां) मनुष्यों और प्रजाओं को (क्षोभणः) विक्षुब्ध करने कंपा देने हारा, (संक्रन्दनः) शत्रुओं के रुलाने वाला या उनको संग्राम के लिये बुलाने वाला, (अनिमिषः) आलस्यरहित (एकवीरः) एकमात्र वीर होकर भी (साकं) एक साथ ही (शत) सैंकड़ों (सेनाः) सेनाएं (अजयत्) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा (आशुः) व्यापक (शिशानः) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जाने के लिये तीक्ष्णमति (वृषभः न भीमः) जिस प्रकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क बैठाने वाला, (घनाघनः) आनन्द को निरन्तर वर्षाने के लिये साक्षात् धर्ममेघ स्वरूप, (चर्षणीनां) पदार्थ देखने हारा, इन्द्रियों को कपाने हारा उत्तम गति देने हारा, (संक्रन्दनः) उत्तम रीति से ईश्वरस्तुति का उच्चारण करने वाला, (अनिमिषः) आलस्यरहित, निद्रा को भी वशकारी (एकवीरः) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् होकर वह (साकं) एक साथ ही (शत सेनाः) सैंकड़ों चित्तवृत्तियों को (अजयत्) विजय कर लेता है।

(२) हे (नरः) पुरुषो! आप लोग (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को रुलाने वाले (अनिमिषेण) आंख न झपकने वाले, निरालसी, सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने हारे, (दुश्च्यवनेन) अविचलित रहने हारे (धृष्णुना) धैर्यवान्, (इषुहस्तेन) धनुष बाण हाथ में लिये, (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) राजा से जिस प्रकार शत्रुओं को दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आप लोग स्वराज से भी अधिक कष्टसाध्य मोक्ष को (संक्रन्दनेन)

स्तुतिशील, (अनिमिषेण) अनालसी, (जिष्णुना) सब इन्द्रियों विषयों पर जयी, (युत्कारेण) विघातक विघ्नों से युद्ध करने हारे (दुश्च्यवनेन) साधना से अविचल (धृष्णुना) धैर्यवान् (इषुहस्तेन) ज्ञान को हाथ में लिये (वृष्णा) सुखवर्षक (इन्द्रेण) इस इन्द्र आत्मा से (तत् सहध्व) वह सब सहन करो और (युध.) आने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (जयत) जीत जाओ।

(३) जैसे (स', इन्द्र') वह इन्द्र राजा (इषुहस्तै) धनुष बाण हाथ में लिये सुभटों से (वशी) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी इषु अर्थात् कामनाओं से प्रेरित, मरुत् अर्थात् एकादश प्राणों से समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपने विद्युत् जल वायु एवं प्रवहण आदि मरुतों द्वारा समस्त ससार पर वश कर रहा है। (सः) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (निषङ्गिभिः) बाणों से भरे तूणीर तर्कस वाले सुभटों के द्वारा नगर वा राष्ट्र का (वशी) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र नित्य निरन्तर सङ्ग रहने हारे प्राणों द्वारा ही शरीर पर एव परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चभूतों द्वारा सब ब्रह्माण्ड पर वश कर रहा है, (स इन्द्र') वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (युध) युद्ध करने हारा होकर (गणेन) अपने सहायक प्रजागण से (संसृष्टः) मिल कर (संसृष्टजित्) अपने विपक्ष में मिले शत्रुसंघ को जीत लेता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा (युधः) समस्त देहों को चलाता हुआ (गणेन संसृष्टः) अपने प्राणगण से ही इस देह को उचित रीति से निर्माण करके स्वयं अपने से विरुद्ध में सङ्गठन किये काम, क्रोध, लोभ मोहादि इन्द्रिय व्यसनों को एक बार ही जीत लेता है। और परमात्मा भी (गणेन) प्राकृतिक वैकारिक गण द्वारा समस्त ससार का (संसृष्टा) रचने हारा होकर ही सब संसार के संघात से बने पदार्थों को अपने वश करता है। और जिस प्रकार राज्याभिषेक युक्त राजा (सोमपा) सोमरस का पान करके (बाहुशर्धी)

अपने बाहुबल में उत्कृष्ट होकर (उग्रधन्वा) भयंकर धनुष लेकर (प्रतिहिताभिः) फेंके गये बाणों से ही (अस्ता) सब शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा (सोमपा) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान कर (प्रति हिताभिः) प्रेरित इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है। और वह परमात्मा भी समस्त संसाररूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या आदान करने, या अपने वश करने हारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में संसार की कर्म व्यवस्था से सब को धुन डालने हारा होकर अपनी प्रेरित शक्तियों से (अस्ता) संहार करता है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१८५२] बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
३ १र २र ३ २ २ १र २र ३ १ २ ३ १र
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता
२र
रथानाम् ॥ १ ॥

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १र २र
[१८५३] बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३
उग्रः । अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा
२ ३ १
तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
[१८५४] गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
जसा । इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसं
२
रभध्वम् ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० १० । १०३ । ४-६ ॥

भा०—(१) (बृहस्पते) बृहती, वेद वाणी के परिपालक आत्मन् ! जिस प्रकार बृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सेनापति (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, (अमित्रान्) शत्रुओं को दूर ही से मार भगाता हुआ अपने (रथेन) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (रक्षोहा) सब समाधिविघातक विघ्नों, काम, क्रोध आदि भावों का विनाश कर । (अमित्रान्) स्नेह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों के उत्तेजक प्रलोभनों, या द्वेषभावों को वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ (रथेन) अपने मन या देहरूप रथ से (परिदीया) परिव्राट् होकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर । और जिस प्रकार सेनापति (सेना प्रभञ्जन्) शत्रु सेनाओं को तोड़ता फोड़ता हुआ और (युधा) अपने प्रहारों से (प्रमृणन्) प्रतिहिंसक शत्रुओं को (जयन्) जीतता हुआ अपने पक्ष के रथों का रक्षक होजाता है उसी प्रकार हे बृहस्पते इन्द्र ! आत्मन् ! तू भी (सेना. प्रभञ्जन्) मोह से उत्पन्न दोषवृत्तियों का विनाश करता हुआ (युधा प्रमृणा. जयन्) प्राणायाम के बल से विरोधी इन्द्रियों को वश करता हुआ (अस्माक) हमारे (रथानाम्) इन देहों का (अविता) प्रतिपालक (एधि) हो ।

(२) जिस प्रकार सेनापति (बलविज्ञायः) अपने समस्त सेना सामर्थ्य को भली प्रकार जानता हुआ और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, (स्थविरः) पुराना, अनुभवी या स्थिर रूप से युद्ध के अवसर पर जमने वाला, (प्रवीरः) सब वीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, (सहस्वान्) शत्रु के आक्रमण को सहन करने हारा, (वाजी) ज्ञान और वेग से युक्त, (सहमानः) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ, (उग्र) तीक्ष्णस्वभाव होकर (अभिवीरः) वीर सुभटों को साथ लिये (अभि. (सत्वा) सात्विक बल और तेज को धारण करे (गोवित्) अपने आर्यों

को रासों से सम्भाल कर (जैत्रं रथं) विजयशील रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू भी (बलविज्ञायः) आत्मिक बल को जान कर (स्थविरः) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तप साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, (सहस्वान्) सहनशील (वाजी) ज्ञानवान्, (सहमानः) तपस्वी तितिक्षु, (उग्रः) तेजस्वी, (अभिवीरः) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को संग लिये, (अभिसत्वा) सत्व गुण में प्रतिष्ठित होकर (सहोजाः) ओजस्वी और (गोवित्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्रं रथं) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ब्रह्म पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा।

(३) जिस प्रकार (गोत्रभिदं) शत्रुकुलों का नाश करने, (गोविदं) पृथिवी के विजेता या विद्वान्, (वज्रबाहु) वज्र अर्थात् खड्ग हाथ में लिये (अज्म जयन्तं) संग्राम करते हुए (ओजसा) अपने बल से (प्रमृणन्तं) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं। उसी प्रकार हे (सखायः) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! हे (सजाताः) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारो ! आप लोग भी (गोत्रभिदं) उस देहबन्धन को तोड़ने हारे, (गोविदं) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हारे ज्ञानी, (वज्रबाहुं) वैराग्य या ज्ञानरूप तलवार को हाथ में लिये (ओजसा) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम, क्रोधादि अन्तः-शत्रुओं को (प्रमृणन्तं) मर्दन करते हुए (अज्म) चरम, प्राप्य स्थान तक (जयन्तं) विजय करने हारे (इम) इस (इन्द्रम्) आत्मा के (अनुवीरयध्वं) पीछे २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहो और (शत्रु संरभध्वं) और उसके शासन में ही सब कार्य करो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
[१८५५] अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ १ ॥

[१८५६] इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः । देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ २ ॥

[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्द्ध उग्रम् । महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १० । १०३ । १—३ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्रः) वीर सेनापति, या राजा, (गोत्राणि अभि) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनको (सहसा) अपने बल से (गाहमानः) चीरता हुआ, (अदयः) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीरः) वीर, सामर्थ्यवान्, (शतमन्युः) सैकड़ों प्रकार से उन पर क्रोध करने हारा, (दुश्च्यवनः) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं का विजेता, (युत्सु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (गोत्राणि अभि) देहों के भीतर (सहसा गाहमानः) अपने बल के सामर्थ्य से विचरता हुआ, (अदयः) तपस्या आदि द्वारा शरीर के सुखों पर विचार न कर, निर्भय होकर तप करने हारा (वीरः) सामर्थ्यवान्, (इन्द्रः) आत्मा (शतमन्युः) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त होकर

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मन्त्र स्पष्ट है। परमात्मा पक्ष में भी इन मन्त्रों की योजना है। प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है। उस कल्पना को चित्त में रखकर इन्हें अलंकार को लगाना उचित है।

[१८५८] उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ १ ॥

[१८५९] अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना। तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

आद्य द्वय ऋ० १० । १०३ । १० । ११ । यजु० १७ । ४२ । ४३ । तृतीया ऋग्वेदे नास्ति किन्तु यजुः १७ । ४३ । अथर्व० ३ । २ । ६ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) राजन्! (आयुधानि) युद्ध के साधनों को (उद् हर्षय) ऊंचा कर। (मामकानां) मेरे सम्बन्धी (सत्वनां) सात्विक वीर, बलवान् पुरुषों के (मनांसि) हृदयों को (उत्) हर्षित करो। हे (वृत्रहन्) दुर्ग को घेरने हारे शत्रु के नाशक राजन्! सेनापते! (वाजिनां) ज्ञानी पुरुषों और अश्वों के (वाजिनानि) ज्ञानयुक्त कर्त्ता कौशलों और वेगों को (उत्) बढ़ाओ और (जयतां) रथानां) विजयशी

शील रथों के (घोषाः) नाद (उद्) ऊंचे उठें। इसी प्रकार अध्यात्म पक्ष में—(मघवन् आयुधानि उद्हर्षय) हे शरमात्मन्! या आत्मन्! हमारी दुष्प्रवृत्तियों से युद्ध करने के, या उनको प्रहार करके निकाल भगाने के साधनों को उन्नत करो। (मामकानां सत्वनां मनांसि उत्) मेरे निजी बलशाली सात्विक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो। हे (वृत्र हन्!) (वाजिनां वाजिनानि उत्) अज्ञान आवरणों के विनाशक प्रकाश स्वरूप आत्मन्! इन्द्रियों की संविद् शक्तियों को बढ़ाओ। (जयतां रथानां घोषाः, उत्) विजयशील सिद्ध आत्माओं के घोष, वेदपाठ और स्तुतियां भी उच्च स्वर से हों।

(२) (इन्द्रः) राजा (अस्माकं ध्वजेषु समृतेषु) हमारे झण्डे जब शत्रुओं के झण्डों में जा मिलें तब भी हमारी रक्षा करें। (अस्माकं याः इषवः ता जयन्तु) हमारे जो बाण हैं वे ही विजयशील हों। (अस्माकं वीराः, उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली [illegible] रहें। (देवाः हवेषु अस्मान् उ अवन्तु) देव=दिव्य शस्त्रधारी विद्वान् [illegible] गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें। अध्यात्मपक्ष में—(इन्द्र) आत्मा (अस्माकं) हमारे (ध्वजेषु) प्राणों के (समृतेषु) परस्पर [illegible] हो जाने पर रक्षा करे, (याः) जो (इषवः) मानसवृत्तियां हैं (ताः) वे (जयन्तु) बलवान् हों। (अस्माकं वीराः) हमारे [illegible] योद्धा (उत्तरे) उत्कृष्टतर होकर रहें। (देवाः) विद्वान् [illegible] शक्तियां (हवेषु) ईश्वर की उपासना के अवसरों में (अस्मान् उ) हमें (अवन्तु) बुरे मार्ग में जाने से बचावें।

(३) हे (मरुतः) वायु के समान वेगवान् [illegible] विवेकी सैनिको! (असौ या परेषां सेना) वह जो शत्रुओं की सेना (ओजसा स्पर्धमाना) बल से हमारे साथ स्पर्धा करती हुई (अभि [illegible])

हमारी तरफ बढ़ती चली आ रही है (तां) उसका (अपव्रतेन तमसा गूहत) क्रियाशक्ति को नष्ट करनेहारे तम या मूर्छा से ढक दो (यथा अमी अन्यो अन्यं न जानान्) जिससे वे एक दूसरे को न पहचान सकें, इसी प्रकार अध्यात्मपक्ष में—हे (मरुतः) प्राणो ! (असौ) यह (या) जो (सेना) मोहादि वृत्तियों की परम्परा (परेषां) प्रलोभनों की अपने आत्मा से अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों को (ओजसा) आत्मा के बल से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई, उसके बल या तेज पर आवरण डालती हुई (अभ्येति) साक्षात् आरही है और मुग्ध कर रही है (तां) उसको (व्रतेन) कर्म और ज्ञान के दृढ़ संकल्प द्वारा (तमसा) उसको शिथिल कर डालने वाले बल से (अप गूहत) दूर करदो । (यथा) जिससे (अन्यः) एक अनात्मभाव (अन्यं) दूसरे भाव को (न जानात) न उत्पन्न करे ।

[१८६१] अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ १ ॥

[१८६२] प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥

[१८६३] अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥३॥५॥

आद्ये ऋचौ, ऋ० १० । १०३ । १२, १३ ॥ आद्या, यजु० १७ । ४४ ॥ द्वितीया यजु० १७ । ४७ ॥ तृतीया ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० १७ । ४५ ॥

भा०—(१) (अमीपा) इन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) विमोहित करती हुई हे (अप्वे) पापप्रवृत्त ! व्याधे ! या हे भीति ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले अर्थात् उनके शरीरों का नाश करदे। (अभिप्रेहि) उनतक पहुंच और (हृत्सु) हृदयों में प्रवेश करके उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) जला। (अमित्राः) शत्रुगण (अन्धेन तमसा) अन्धकारमय मोह से (सचन्ताम्) युक्त हो जाय। अध्यात्मपक्ष में—हे पापप्रवृत्ते ! (अप्वे) सन्मार्ग से दूर हटाने वाली। (अमीपा) इन हमारे प्राणों के (चित्त) चेतन सामर्थ्य को (प्रतिलोभयन्ती) प्रलोभन करती हुई तू (अगानि) हमारे अंगों, शरीरों को (गृहाण) ग्रहण करती है। अत: (परेहि). तू दूर हट जा। और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास, (अभिप्रेहि) जाती है और उनको (शोकै) शोकों द्वारा (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये (अमित्रा:) द्वेष भावों से युक्त पुरुष ही (अन्धेन तमसा) अन्धकार भरे मोह से (सचन्ताम्) घिर जाते हैं।

(२) हे (नरः) नेता लोगो ! (प्रेत) आगे बढ़ो (जयत) और विजय करो। (वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा, (शर्म) सुख और शान्ति (यच्छतु) दे। (वः) आप लोगों की (बाहव) बाहुएं (उग्राः) उग्र बलवान् (सन्तु) हों (यथा) जिससे (अनाधृष्याः) आप लोग किसी के भी वशीभूत, अपमानित न (असथ) होवें।

(३) हे इषो ! हे (शरव्ये) शरकाण्ड के बने बाण ! हे (ब्रह्मसंशिते) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! (अवसृष्टा) तू छोड़ी जाकर (परापत) दूर जा। और (अमित्रान्) शत्रुओं को (प्र-पद्यस्व) पहुंच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी को भी (मा) मत (उच्छिषः) बचा रहने दे । अध्यात्मपक्ष में—हे (शरव्ये) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ते ! (अवसृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अमित्रान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तरायों को भी (प्रपद्यस्व) प्राप्त कर । (अमीषां) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी मा उच्छिषः) शेष न रहने दे ।

नैतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद् भागवतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक २ । २, ३, ४)

मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य लक्ष्य मानकर उसको वेध करने के लिये औपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाण पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्प्रमाद होकर छोड़ने पर ब्रह्ममय होजाने का उपदेश किया है ।

[१८६५] कङ्काः सुपर्णा अनुयन्त्येनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना । मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंयन्तु सर्वान् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१८६५] अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
३ १र २र २ ३ १ २ ३ १ २
उभौ तमिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ २॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१८६६] यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥
३ २ ३ २ २
विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आद्ये ऋग्वेदे न स्तः । तत्र द्वितीया अथर्व० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया ऋ० ३ । ७५ । १७ ॥ यजु० १७ । ४८ ॥

भा०—(१) (सुपर्णाः) उत्तम पक्ष वाले (कङ्काः) गीध (एना) उन शत्रुओं पर (अनु यन्तु) जा दौड़ें । (असौ सेना) वह शत्रुसेना (गृध्राणां) गीधों का (अन्नम्) भोज्य (अस्तु) हो । हे इन्द्र ! राजन् (एषां) इनमें से कोई भी (मा मोचि) न बच रहे और (अघहारश्च) कोई पापी भी (न) न छूट जाय (एनान् सर्वान्) इन सब पर (वयांसि) गीध और कौवे ही (अनु संयन्तु) आ लगें ।

अध्यात्म पक्ष में—(सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान वाले, (कङ्काः) मुमुक्षु अभिलाषी पुरुष (एनान्) अन्तः—शत्रुओं, अज्ञानियों के विलों के (अनु संयन्तु) पीछे लग जावें ! अर्थात् उनका निर्मूल नाश किये बिना न छोड़ें । (असौ सेना) वह दुष्ट वासनाओं की सेना (गृध्राणाम्) गृध्र के समान उत्पतनशील प्राणों के (अन्नम्) भोज्य बने अर्थात् प्राणों के विरोध से उनका नाश किया जाय । (एषां मा मोचि) इन पापभावों में से एक भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (अघहारश्च न) पाप का भागी

१८६५—२. त युव 'तामिन्द्र वृत्रहन्' इति अथर्व० ।

भी कोई विचार शेष न रह जाय । (वयांसि) गतिशील प्राण भी (पुनान्) इनको (अनु संयन्तु) पीछा करके सर्वनाश करें ।

(२) हे (मघवन्) इन्द्र ! राजन् ! (अस्मान्) हमारे प्रति (अभि शत्रुयतीम्) साक्षात् शत्रुरूप होकर चढ़ाई करती हुई, (ताम्) असह्य बलवती (अमित्रसेना) शत्रु सेना का आप (अग्नि. च) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर (प्रति दहतं) भस्म कर डालो । अध्यात्मपक्ष में–हे (इन्द्र) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मघवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अमित्र=द्वेषभावों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा से मिलकर भस्म करदो ।

(३) (यत्र) जहां (विशिखाः) शिखारहित (कुमारा इव) बालकों के समान (बाणा:) बाण (सम्पतन्ति) पड़ रहे हों (तत्र) वहां (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान्, परमेश्वर (अदिति:) अखण्डित सामर्थ्यवान् होकर हमें (शर्म) शान्ति और सुख (यच्छतु) प्रदान करें और (विश्वाहा) सदा (शर्म यच्छतु) कल्याण करें ।

२र ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१८६७] वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
२३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८६८] वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्मा अभि दासत्यधरं गमया तमः ॥ २ ॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६९] इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकाव-
३ २ १ २ ३ १र २ १ २ ३ १ २ ३ १र
सह्यौ । तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितः
२र ३ ३ २ ३ २
मसुराणा सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आद्ये द्वे ऋ० १० । १५२ । ३ । ४ ॥ तृतीया ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृत्रघ्न ! (रक्ष·) राक्षस पुरुष को (वि जहि) विनाश कर । और (मृध विजहि) हमारे उत्तम द्रव्यों पर लोभ करने हारे पुरुषों को भी विनाश कर । (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने हारे विघ्नरूप शत्रु के (हनू) आघातकारी उन दाढ़ों को (विरुज) तोड़ डाल, जिन्हें वे हमारे ऊपर गड़ाना चाहता है । और (अभिदासतः) हमारे नाश करने हारे और हमें दास की तरह पराधीन करने वाले (अमित्रान्) आभ्यन्तर अधमनों के समान शत्रुओं के (मन्युं) अभिमान और क्रोध को भी (वि) विनाश कर ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) नाशकर और (पृतन्यतः) अपनी सेनाएं बढ़ाना चाहने वाले लोगों को भी (नीचा यच्छ) नीचे डाल दे । (यः) और जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सब प्रकार से विनाश करता या दास के समान पराधीन करता है उसको (तमः) तृष्णा में या अन्धकार में (गमय) डाल । अध्यात्म पक्ष में–आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश करे । हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे ।

(३) (इन्द्रस्य) राजा के समान इस आत्मा की (युवानौ) जवानी भरी सदा बलशाली (स्थविरा) मज़बूत, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, (अनाधृष्यौ) कभी पराजित न होने वाली (सुप्रतीकौ) उत्तम रीति से शत्रु का मुक़ाबला करने वाली, (असह्यौ) शत्रुओं के लिये असह्य (बाहू) उनको पीड़ा देने हारी, प्राण और अपान दो बाहुएं हैं (प्रथमे) प्रारम्भ में ही (योगे आगते) संग्राम के समान कठिन, श्रमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर (तौ) उन दोनों को उचित रीति से (युञ्जीत) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तवृत्ति के स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे । (याभ्या) जिनसे (असुराणां) अन्य प्राणों का (महत्) बड़ा भारी (सहः) बल (जितम्) वश किया जाता है ।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव । तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥ २ ॥

[१८७२] यो नः स्वोऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति । देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म ममान्तरम् ॥ ३ ॥ ८ ॥

प्रथमा तृतीया च ऋ० ६ । ७५ । १८ । १९ ॥ तृतीया अथर्व० १ । १९ ॥ ३, ५ । तयोः पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (ते) तेरे (मर्माणि) कोमल मर्मों को (वर्मणा) कवच से (आच्छादयामि) ढकता हूं । (सोमः राजा) दीप्तिमान् राजा के समान सबका प्रेरक सोम, परमेश्वर (अमृतेन) अमर आत्मशक्ति से (अनु वस्ताम्) और भी सुरक्षित करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (ते) तुझे (उरोर्वरीयः) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख (कृ-णोतु) उत्पन्न करे । (जयन्तं) चरम मोक्ष को प्राप्त होते हुए (त्वां) तुझको देखकर (देवाः) विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) हर्षित हों ।

(२) हे (अमित्रा) द्वेषभाव रखने हारे शत्रुओ ! तुम लोग (अ-शीर्षाणः) बिना दिमाग के, बिना सिरवाले क्रोधी (अहय इव) सांपों

१८७०—३. यो नः स्वो यो अरणः स जात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति' इति (१ । १९ । ३) इत्यस्याः पूर्वार्धभागः । 'देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' शर्म (१ । १९ । ४) इत्यस्याः उत्तरार्धभागः इति पाठभेदविवेकः; अथर्व० ।

के समान (अन्धाः भवत) अन्धे, अविवेकी होजाओ । (अग्निदग्धाः) अपने ही क्रोध की आग से फुंके हुए, (तेषां) उनके (वरं वरं) उत्तम २ पुरुष या शिर को (इन्द्रः) राजा, प्रभु नाश करे ।

(३) (यः) जो (नः) हमारा (स्वः) सम्बन्धी होकर भी या स्वयं (अरणः) अप्रियाचरण करने वाला है और जो (निष्ट्यः) दूर रहकर भी छुपे रूप में (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है (तं) उसके (सर्वे) समस्त (देवाः) विद्वान् पुरुष (धूर्वन्तु) विनाश करें । (ब्रह्म) वेदज्ञान और परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तरं) भीतरी (वर्म) कवच या रक्षासाधन हो । (शर्म) वह सुखकारी, आनन्दघन सब का शरण दाता हो (मम) मेरा (अन्तरम्) भीतर का एकमात्र रक्षक साक्षी है ।

[१८७३] मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः । सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रूंताढि वि मृधो नुदस्व ॥ १ ॥

[१८७४] भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

[१८७५] स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २ ॥ ६ ॥

आद्या ऋ० १० । १८० । २ ॥ उत्तरे द्वे ऋ० १ । ८९ । ८, ६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (गिरिष्ठाः कुचरः मृगः न भीमः) पर्वतों में रहने वाले, कुत्सित रूप से विचरण करने वाले, जंगली

हिंसक हाथी या सिंह के समान भयकारी एवं आप (मृग.) योगियों से भीतरी गुफा में खोजने योग्य, या आत्म-परिशोधन करने योग्य हैं, आप (कुचर) कहा नहीं व्यापक हो ? अर्थात् सर्वव्यापक हो। आप (गि-रिष्ठा) विद्वानों, वाणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हो और साथ ही सबके ऊपर शासक होने से सब के भयप्रद हो। (आ परस्याः परावत) दूर से दूर देश, अलभ्य मुक्तिधाम से हमारे हृदयों तक या 'परा' ब्रह्मविद्या के भी (परावतः) निगूढ परम रहस्यमय भाग से आप (आजगन्थ) आते हो, या प्रकट होते हो। हे (इन्द्र) परमात्मन् (सृक) प्रसरणशील (तिग्मं) तेजोमय, तीक्ष्ण (पविम्) परमपावन ज्ञानवज्र को (सशाय) अति तीक्ष्ण करके (शत्रून्) अन्तः-शत्रुओं को राजा के समान (वि ताढि) विनाश करो और (मृधः) हमारा सर्वस्व अपहरण करनेहारे डाकुओं के समान तामस भावों को (वि नु-दस्व) परे करो, दूर हटाओ।

(२) हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्र) कल्याणकारी, एवं सदा सुखपूर्वक उत्तम उपदेशकों को (शृणु-याम) श्रवण करें। और हे (यजत्राः) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनेहारे भद्र पुरुषो ! हम सब (अक्षभिः) आंखों से (भद्रं) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों को (पश्येम) दर्शन करें और (तु-ष्टुवांसः) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए (स्थिरैः) दृढ (अगैः) अंगों और (तनूभिः) दृढ शरीरों से (यद्) जो (आयु) आयु (देवहित) विद्वानों के हित में लगे या देव, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान करे उस दीर्घ ११६ या १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम (वि अशेमहि) भोग करें।

(३) (वृद्धश्रवाः) महान्, यशस्वी और ज्ञानवान् (इन्द्रः) परमे-श्वर (न) हमारा (स्वस्ति दधातु) कल्याण करे। (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ,

सब पदार्थों का स्वामी, (पूषा) सब संसार का पालक, पोषक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे। (अरिष्टनेमिः) जिसके कालरूप महान् शासन का कोई विनाश नहीं करता वह (तार्क्ष्यः) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे। (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पति, स्वामी, पालक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे।

॥ ओ३म् ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

वेद-भगवान् का स्वामी भगवान् हमारा सदा कल्याण करे।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः नवमश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इत्युत्तरार्चिकः समाप्तः ॥

इति सामवेदसंहिता समाप्ता ॥

रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे पञ्चम्यां पौषे सिते शनौ।
आलोकभाष्यं वेदस्य साम्नोऽवधिमुपागमत् ॥

इति श्रीकाङ्गडीगुरुकुलविश्वविद्यालयस्थ प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन
कुलिकातास्थसंस्कृतविद्यालयस्थमीमांसातीर्थोपाधिलब्धेन गुरुकुलप्रवर्त्तक
श्री[illegible]परिव्राजकाचार्यश्री १०८ पूज्यपाद महर्षिदयानन्द
सरस्वतीशिष्य[illegible]पूज्यपादश्री १०८ स्वामिश्रद्धानन्दसरस्वती-
शिष्येण श्रीनिमिकात्यायनगोत्रोद्भवेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा
विरचिते आलोकाख्यसामवेदभाषाभाष्ये नवप्रपाठ-
कात्मक उत्तरार्चिकभाग पूर्तिमागात् ॥
समाप्ता [illegible] संहिताऽऽलोकभाष्यम् ॥

[१००२] इन्द्रा मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥ १ ॥

[१००३] असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादादिः । असि दभ्रस्य
चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥

[१००४] यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् । युङ्क्ष्वा
मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः
॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ८१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अचि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे वीर ! (सेन्यः असि) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत (परादादिः) शत्रुओं को पराजय देने हारा है । और तू (दभ्रस्य) स्वल्प थोड़े सामर्थ्य वाले निर्बल को (चित्) भी (वृधः) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिक्षसि) देता है । जो 'इन' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेता के संग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा 'सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करके स्वल्प (दभ्र) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अचि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः । या इन्द्रेण
सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

१००५—'मदन्ति शोभसे' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१००६] ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। प्रिया इन्द्रस्य
३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

ऋ० १। ८४। १०-१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अचि० स० [४०१] पृ० २०८।

(२) (ताः) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुवः) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुईं, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुंचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रियां (सोमं) ज्ञान को (श्रीणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने हारे आत्मा की शक्तियां (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रियां ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रियां अन्तर्वृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (ताः) वे इन्द्रियरूप गौएं (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१३] प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १र २र ३ २
[१०१४] उप त्रितस्य पाष्योऽ३ऽरभक्त यद् गुहा पदम् ।
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
यज्ञस्य सप्तधामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र ३ २
[१०१५] त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वेरयद्रयिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १०२ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७०] पृ० २२५ ।

(२) (यत्) जब (त्रितस्य) मन, वाक्, काय तीनों से साधना करने हारे योगी आत्मा के (पाष्यां.) पाषाण के समान कुचल डालने वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर वह आनन्दरस (गुहा) भीतरी आकाशगुहा में (पदं) स्थिति को (उप अभक्त) प्राप्त होता है, तब (यज्ञस्य) यज्ञस्वरूप आत्मा के (सप्तधामभि·) सातों ऊपर के धारणशील प्राणों से (प्रियम्) आनन्दकारी, उस आत्मानन्दरस का आस्वादन किया जाता है ।

(३) (त्रितस्य) साधक आत्मा की (धारया) धारणा से केवल (त्रीणि) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं । और उन तीनों (पृष्ठेषु) रस के सेचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने (रयिम्) कान्तिमय ऐश्वर्य को (एरयत्) प्रकट करता है । (सुक्रतु) उत्तम योगी साधक (अस्य) इस आत्मा के (योजना) तीनों योग द्वारा–जागृत स्थानों को (वि मिमीते) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है । तीन स्थान–१ ब्रह्मरन्ध्र,

१०१५—'पृष्ठेष्वैरया रयिम्' इति ऋ० ।

२ आज्ञाचक्र या सोमचक्र और ३ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य।

[१०१६] पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुत॑।
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥

[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिम्पवित्रे अद्रुहः।
वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि ॥ २ ॥

[१०१८] त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे।
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ६। १००। ६, ७, ६ ॥

भा०—(१) हे सोम! (वाजसातये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (धारया) धारणावती बुद्धि द्वारा निरन्तर (सुतः) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, तू (मधुमत्तरः) बराबर क्रम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और (देवेभ्यः) विद्वानों के हितार्थ या प्राणों के ज्ञान के लिये (पवस्व) प्रकट हो।

(२) हे (पवमान) व्यापक रसस्वरूप! (मातरः) गौएं (जातं) उत्पन्न हुए (वत्सं न) बछड़े को जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं। उसी प्रकार (धीतयः) ध्यानवृत्तियां (विधर्मणि) विशेष धारणा के स्थल, (पवित्रे) पवित्र शुद्ध धारणास्थान में (अद्रुहः) एक दूसरे का घात-प्रतिघात या विरोध न करती हुई (हरिं) सब दुःखों के हारक, (त्वा) तुझको उत्सुकता से (रिहन्ति) आस्वाद लेती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं।

१०१६—'वाजसातमः', इति ऋ०।

(३) हे (महिव्रत) महान् कर्मों के करने वाले परमात्मन् ! आप (द्यां) आकाश या सूर्य, और (पृथिवीं च) पृथिवी दोनों लोकों को (अति अप्रिथे) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो । हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (महित्वना) अपनी महिमा से आप (द्रापिं) रूपवान् जगत् को कवच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुञ्चथा) धारण कर रहे हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१९] इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१०२०] अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २उ १ ३ १ २ ३र २
[१०२१] अभि व्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन् ।
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये
॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० ९ । ९७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो संख्या सं० [५४०] पृ० २७० ।

(२) (अध) और (अद्रिदुग्धः) दृढ़ साधनों द्वारा या धर्ममेघ द्वारा उत्पन्न किया गया (इन्दुः) आनन्दरूप सोमरस (मध्वा) आनन्दमय, मधुर, मनोहर (धारया) धारणा द्वारा (पृचानः) संयुक्त होकर (रोम) व्यवधायक पदार्थों को (तिरः) पार करके (पवते) बहता या प्रकट होता है । वह (इन्द्रस्य) आत्मा की (सख्यं) मित्रभाव, प्रेम या आनन्दरूपता को (जुषाणः) प्राप्त करता हुआ (देवः) प्रकाशमान, (मत्सरः) आनन्द हर्षस्वरूप होकर (देवस्य) द्रष्टा, आत्मा के (मदाय) हर्ष और आनन्द का कारण होता है ।

१०१२—'अभिप्रियाणि' इति ऋ० ।

(३) (स्वेन रसेन) अपने आनन्द रस से (देवान्) विद्वानों या इन्द्रियों को (पृञ्चन्) तृप्त करता हुआ (देव.) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, (पुनान.) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं व्यापक होकर (व्रतानि) सब कर्मों को (अभिपवते) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है। (इन्द्रः) आत्मा (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु के अनुकूल, या प्राणों के बल से (धर्माणि वसान) धारण-सामर्थ्यों या नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पादन करता हुआ (अव्ये सानो) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखग्राहक अन्त.करण में (दश क्षिप·) दशों क्षिप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को (अव्यत) प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब ऋतुओं में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है।

इति षष्ठ. खण्डः ।

[१०२२] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् । यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥ १ ॥

[१०२३] आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते । सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आभर२॥

[१०२४] ओभे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि । उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥२१॥

ऋ० ५ । ६ । ४; ५, ६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन्! हे (देव) सबके प्रकाशक! (ते) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुझ से हम

१०२३-'शोचिषस्पते'। १०२४-'उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो' इति ऋ०।

(द्युमन्तं) प्रकाशित, (अजरम्) न जीर्ण होने वाले, अमर, नित्य अपने आत्मा को (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं । (यत्) और जो (दिवि) मध्य आकाश में (पनीयसी) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य (समिद्) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप ज्योति (दीदयति) चमकती है (सा) वह भी (ते) तेरा ही प्रकाश है । इस कारण हे परमात्मन् ! (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही (इषं) उत्तम ज्ञान और अन्न (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(२) हे (ज्योतिषः स्पते) सूर्य आदि ज्योतियों के परिपालक परमात्मन्! (शुक्रस्य) शुद्ध कान्तिस्वरूप (ते) आपको (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान द्वारा (हविः) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि को (तुभ्यं) आपके लिये (आहूयते) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । हे (सु-चन्द्र) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने हारे ! हे (दस्म) सबके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्त्ता ! हे (हव्यवाट्) समस्त संसार को वहन करने हारे ! हे (विश्पते) समस्त प्रजाओं के स्वामी (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त (इषम्) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(३) हे (सु-चन्द्र) सर्व उत्तम ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, (विश्पते) प्रजेश्वर ! हे (शवसः स्पते) सर्वशक्तिमन् ! सब बलों के स्वामिन् ! आप (उभे) दोनों (दर्वी) अज्ञान का दलन करने हारे ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को (आसनि) अपने मुखस्थानीय तप में (श्रीणीषे) परिपक्व करते हो और (उक्थेषु) प्रशंसा करने योग्य धर्मयुक्त कर्मों में, यज्ञों में (नः) हमें (उत्पुपूर्या) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें (इषं स्तोतृभ्यः, आ भर) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[१०२५] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥१॥

[१०२६] त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥२॥

[१०२७] विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वा३ऽरगच्छो रोचनन्दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥३॥२२॥ ऋ० ८।९८।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो पूर्वार्चिक सं० [३८८] पृ० २०० ।

(२) हे इन्द्र ! (त्वम्) आप (अभिभूः) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् (असि) हो । (त्वं) आप ही (सूर्यं) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करते हो । और आप ही (विश्वकर्मा) समस्त संसार के बनाने हारे (विश्वदेवः) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब ऐश्वर्यों के दाता, सब देवों के देव और (महान्) सबसे बड़े पूजनीय (असि) हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (दिवः) सूर्य आदि समस्त द्यौलोक के (रोचनं) प्रकाशक, आनन्दमय, सात्विक (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर (स्व) आनन्दमय मोक्ष में (अगच्छः) व्याप्त हो । (देवाः) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) प्रयत्न करते हैं ।

[१०२८] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवागहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥
ऋ० १ । ८४ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४७] पृ० १८० ।

(२) हे (वृत्रहन्) विघ्नों के नाशक ! (रथम्) रमणीय, अत्यन्त प्रिय, रस रूप हृदय या आत्मा में, रथमें वीर पुरुष के समान (आ तिष्ठ) आ, विराज । (ते) तेरे (हरी) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और वाणी दोनों को (ब्रह्मणा) मन्त्र द्वारा (युज्रा) वाणी (वग्नुना) मनो-हर ध्यान द्वारा हमें (ते) तेरे (अर्वाचीनां) अभिमुख (सु-कृणोतु) उत्तम प्रकार से करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

(३) (हरी) हरण करने हारे मन और वाणी, ज्ञान और कर्म दोनों (अप्रतिधृष्ट-शवसं) अदम्य और असह्य, बलवान् (इन्द्र) आत्मा को (ऋषीणां) विद्वानों या इन्द्रियों की (सुस्तुतीः)उत्तम स्तुतियों और अ-भिलाषाओं को और (मानुषाणां) मनुष्यों के (यज्ञम्) यजन योग्य, उपास्य और संगति करने योग्य परमेश्वर को (उप वहतः) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः ।

इति तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ सप्तमोऽध्यायः

ऋषिः—१ (१) आकृष्टामाषा (२, ३) सिकतानिवावरी च । २, ११ कश्यपः । ३ मेधातिथिः । ४ हिरण्यस्तूपः । ५ अवत्सारः । ६ जमदग्निः । ७ कुत्स

भागिरसः । ८ वसिष्ठः । ६ त्रिशोकः काण्वः । १० इरिमाषः । १२ सतपथ । १३ गन्दीधुः । १४ शुनःशेप आजीगर्तिः । १६ मान्धाता यौवनाश्व. । १५ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १७ असितः काश्यपो देवलो वा । १८ ऋणचय. शाक्त्य. । १९ पर्वतनारदौ । २० मनु' सावरण० । २१ कुत्सः । २२ बन्धुः सुबन्धु श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । २३ भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः । २४ ऋषि रशाः, प्रतीकत्रय वा ॥ देवता—१—६, ११—१३, १७—२१ पवमान. सोमः । ७, २२ अग्नि० । १० इन्द्राग्नी । ६, १४, १६, इन्द्र' । १५ सोमः । ८ आदित्य० । २३ विश्वेदेवा. ॥ छन्दः—१, ८ जगती । २–६, ८–११, १३, १४, १७ गायत्री । १२, १५, बृहती । १६ महापङ्क्तिः । १८ गायत्री सतोबृहती च । १९ उष्णिक् । २० अनुष्टुप् २१, २३ त्रिष्टुप् । २२ भुरिग्बृहती । स्वरः—१, ७ निषादः । २–६, ८—११, १३, १४, १७ षड्जः । १–१५, २२ मध्यम' १६ पञ्चमः । १८ षड्ज० मध्यमश्च । १९ ऋषभ० । २० गान्धार० । २१, २३ धैवतः ॥

[१०३१] ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः । दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥१॥

[१०३२] अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः । हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥२॥

[१०३३] अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि । अग्रे वाजस्य भजसे महद्धनं स्वायुधः सोतृभिः सोम सूयसे ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ८६ । १०–१२ ॥

१०३२—३ 'अर्षस्यग्रे', 'गच्छसि' इति ऋ० ।

भा०—(१) (यज्ञस्य) यज्ञ, जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड का (ज्योतिः) प्रकाशक (प्रियम्) सबसे उत्कृष्ट (मधु) मनन करने योग्य, योग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, (देवाना पिता) ३४ देवों का पालक और (जनिता) उत्पादक, (विभूवसुः) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करने और सबको वास कराने हारा, (स्वधयोः) अपनी सत्ता से देह और विद्या को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर (अपीच्यम्) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक (मदिन्तमः) सबसे अधिक आनन्दमय और (मत्सरः) सबके हृदयों में आनन्द को बहाने वाला (इन्द्रियः) ऐश्वर्यमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, (रसः) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा (रत्नं) समस्त ज्योतिर्मय पिण्ड, हिरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोक्ष को (दधाति) धारण करता है।

(२) (वाजी) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (दिवः पतिः) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नाश होने से बचाने वाला स्वामी, (शतधार) सैकड़ों धारण-शक्तियों से युक्त, (विचक्षणः) समस्त संसार को देखने वाला, (अभिक्रन्दन्) नाद करता हुआ, गर्जता हुआ (कलशेषु) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान (अर्षति) व्याप्त रहता है। और वही (हरिः) सबके कष्टों और तापों को हरने वाला, सबको गति देने हारा (मित्रस्य) अपने स्नेहपात्र आत्मा के (सदनेषु) निवासगृह, देहों में भी (सीदति) व्यापक होकर विराजता है। वही (वृषा) सब सुखों का वर्षक (सिन्धुभिः) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली (अविभिः) तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा (मर्मृजान) बार २ शोधा, धो बार २ खोजा, या साक्षात् परिष्कृत किया जाता है।

(३) हे आत्मन्! तू (सिन्धूना) उन सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों प्राणों के (अग्रे) आगे ही (पवमानः) ज्योतिःस्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्रे) वाणी के भी आगे और (गोषु) प्राणेन्द्रियों के भी (अग्रियः) नेता के समान (अग्रे) आगे होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता। (वाजस्य) ज्ञान और बल का स्वामी प्राण के भी (अग्रे) आगे (महद् धनं) बड़े भारी आनन्दरूप कोष को (भजसे) धारण करता है और (सु आयुधः) उत्तम सत्संग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तियों से सम्पन्न होकर है (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन्! (सोतृभिः) योगियों द्वारा तू (सूयसे) साक्षात् किया जाता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[१०३४] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया।
३ १ २ ३ १र २र
शुक्रासो वीरयाशवः ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३५] शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पवन्ते वारे अव्यये ॥२॥
१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०३६] ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा।
१ २ ३ १र ३र
पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥३॥२॥ ऋ० ६।६४।४-६।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८२] पृ० २२४।

(२) (ऋतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करते वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुम्भमानाः) स्तुति किये गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गभस्त्योः) अन्धकार को दूर करने हारे, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (मृज्यमानाः) अपने को परिष्कृत शुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अव्यये) आत्मा से उत्पन्न, या

अव्यय, अविनाशी (योरे) सब कष्टों के वारक, रक्षास्थान, अभय परमेश्वर में (पवन्ते) विचरते हैं ।

(३) (ते) वे (सोमाः) सौम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् योगीजन (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के लिये (दिव्यानि) दिव्य, पारलौकिक और (पार्थिवा) इहलोक के और (आन्तरिक्ष्या) मध्यमलोक के (वसु) वास योग्य ज्ञानरूप ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१०३७] पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या ।
१ २ ३ १र २र
इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१०३८] आवच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः ।
१र २र ३ २
आ योनिन्धर्णसिस्सदः ॥२॥

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३९] अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः ।
३ १ २ ३ १ २
अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१०४०] महान्तं त्वामहीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः ।
११ २र ३ १ २
यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०४१] समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥५॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१०४२] अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
१र २र
सं सूर्येण दिद्युते ॥६॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४३] गिरस्त इन्द्र ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भसे ॥७॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४४] तन्त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।
२ ३ १ २ ३ २
तव प्रशस्तये महे ॥८॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१०४५] गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत ।
३ २ ३ १ २ ३ २
आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥९॥

३ १ २ ३ १२ ३२ ३ १ २
[१०४६] अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया ।
३ १ २ ३ १ २
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥१०॥३॥ ऋ० ९ । २ । १–१० ॥

भा०—(१) (देववीः) पृथिवी तत्वों और प्राणों में भी व्यापक, उन को कान्ति देने हारा, उनको प्रेरित करने हारा, तू हे (सोम) आत्मन् ! (रंह्या) वेग से (पवित्रे) हृदयदेश, मन को (अति) अतिक्रमण करके (पवस्व) प्रकाशित हो । हे (इन्दो) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त ! (वृषा) सुखों का वर्षक ! तू (इन्द्रं) आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्यमय स्वरूप में (विश) प्रवेश कर ।

(२) हे (इन्दो) आत्मन् ! (वृषा) सुखों का वर्षक (द्युम्नवत् तमः) अति अधिक तेजःसम्पन्न, यशस्वी, होकर (महि) बड़े (प्सर) ज्ञान को (आ वच्यस्व) प्रकट कर । और (धर्णसिः) धृतिशील, ध्रुव होकर (योनिम्) अपने आश्रय स्थान या स्वरूप में (सदः) प्रतिष्ठित हो ।

(३) (सुतस्य) योग साधनों से निष्पन्न (वर्धसः) स्वयं कर्ता, विद्वान् योगी की (धारा) धारणा शक्ति (प्रिय मधु) अति आनन्द

७०४४–८. 'प्रशस्तयो महीः' इति ऋ० । १०४६. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुः इति ऋ० ।

अमृत रस को (अधुक्षत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुक्रतुः) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रज्ञानों और कर्मों और लोकों पर (वसिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है।

मधु अमृतम् [शा०]

(४) हे सोम ! (यत्) जब (गोभिः) आदित्य की सी किरणों से तू (वासयिष्यसे) आच्छादित हो जाता है तब (त्वा) तुझे (महान्त) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (महीः) बड़े भारी (आपः) प्राप्त होने योग्य लोक (अनु अर्षन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करते, तेरे वशवर्ती होते हैं।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोमः) सूर्य (अस्मयुः) हमारा आश्रय (दिवः धरुण) द्यौलोक को धारण करने वाला (विष्टम्भ) नाना प्रकार के पिण्डों का स्तम्भक, आश्रय, (समुद्रः) समुद्रों को बहाने वाला होकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैसे (मामृजे) विशुद्ध रूप में भासता है। उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा होकर विराजमान होता है।

(६) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६७] पृ० २४३।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन ! (ते) तेरे (ओजसा) बल से (अपस्युवः) कर्म और इच्छा को प्रकाश करने हारी (गिरः) वाणियां (मर्मृज्यन्ते) परिष्कृत स्वच्छ शुद्ध हो जाती हैं (याभिः) जिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है।

(८) हे सोम ! परमात्मन् ! (मदाय) हर्ष के लिये (धृष्वये) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (लोककृत्नु) दर्शन करने हारे, सर्वद्रष्टा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त संसार के रचयिता (तं) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपको (मदे)

बड़े भारी (तव) आपकी (प्रशस्तये) महिमा होने के कारण (ईमहे) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं।

(९) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! आप (गोपा) वाणियों, गौओं, रश्मियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता (नृपा) पुत्र भृत्यादि तथा नेता अग्रणी पुरुषों के देने हारे, (अश्वसा) देहों में आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणेन्द्रियों और धन में अश्वों के देने हारे, (वाजसा) ज्ञानबल और अन्न के देने वाले (उत) भी (असि) हो। आप ही (यज्ञस्य) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के (पूर्व्यः) पूर्ण करनेहारे, सबसे आदिम (आत्मा) आत्मा, कर्त्ता, स्वामी हो।

(१०) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (मधोः) अमृत की (धारया) धारणा शक्ति से (इन्द्रियं) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रस को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये जिस प्रकार (वृष्टिमान्) वर्षाने वाला (पर्जन्य.) मेघ रस को वर्षाता है उसी प्रकार (पवस्व) बरसाओ।

इति प्रथम खण्डः।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
[१०४७] सना च सोम जेषि च पवमान महिश्रवः।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽ३ऽर्विश्वा च सोम सौभगा।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २
[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

[१०५०] पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

[१०५१] त्वं सूर्ये न आभज तव क्रत्वा तवोतिभिः।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

[१०५२] तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम्।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

[१०५३] अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम्।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥

[१०५४] अभ्या३र्षानपच्युतो वाजिन्त्समत्सु सासहिः।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥

[१०५५] त्वां यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥

[१०५६] रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमाभर।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥१०॥४॥ ऋ० ९ । ४ । १–१० ॥

भा०—(१) हे (पवमान) सर्वव्यापक! हमें (महि) बहुत बड़ा (श्रव) यश और ज्ञान का (सन) दान करो और (जेषि च) विघ्नों पर विजय करो। (अथ) और बाद में (नः) हमें (वस्यसः) ऐश्वर्यों से युक्त या ज्ञानियों में श्रेष्ठ (कृधि) करो।

(२) हे (सोम) परमात्मन्! हमें (ज्योतिः) प्रकाश, ज्ञान (सन) दो। (स्वः) सुख (सन) दो। और (विश्वा च सौभगा) समस्त सौभाग्ययुक्त पदार्थ दो। (अथा नः वस्यसः कृधि) और हमें उत्तम वसु-मान् अर्थात् ज्ञानी जनों में श्रेष्ठ करो।

(३) हे प्रभो ! हमें (दक्षम् उत क्रतुं) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य (सन) दो और (मृध.) प्रतिस्पर्धी, विघ्नकारी हिंसकों को (अप जहि) विनाश करो, (अथ नः०) और हमें सब में श्रेष्ठ करो ।

(४) हे (पवितारः) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय पातवे) आत्मा को पान कराने के लिये (सोम) आनन्दरस या ज्ञान को (पुनीतन) उत्पादन करो, प्रकट करो (अथ न०) और हमें श्रेष्ठ करो ।

(५) हे (सोम) परमात्मन् ! (तव) तेरे (क्रत्वा) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और (तव ऊतिभि) तेरी शक्तियों से (त्व) तू (नः) हमें (सूर्ये) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में (आ भज) प्राप्त करा (अथ न०) और हमें सबसे उत्तम बना ।

(६) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (तव क्रत्वा) तेरे ज्ञान से (तव ऊतिभिः) तेरी प्रेरणाओं से (सूर्य) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा (ज्योक्) चिरकाल तक (पश्येम) दर्शन करें ।

(७) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! हे (स्वायुध) उत्तम साधनों, यत्नों से युक्त ! (त्व) तू (द्विबर्हस) दोनों लोकों में बढ़ाने वाले (रयिं) प्राणरूप सामर्थ्य को (अभि अर्ष) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ बना ।

(८) हे (सोम) प्रेरक ! (समत्सु) समान भाव से आनन्द के प्राप्त करने के अवसरों में हे (वाजिन्) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! (अनपच्युत) अविचल और (सासहि) अभ्यन्तर शत्रुओं को दबाने हारा होकर तू (अभि अर्ष) प्रकट हो (अथ न०) और हमें सबसे श्रेष्ठ बना ।

(९) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (विधर्मणि) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नाना शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में (यज्ञैः) कर्म, ज्ञान, तप आदि यज्ञों द्वारा साधकजन (त्वा) तुझको ही (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं और तू (अथ न०) हमें सबसे उत्तम बना ।

(१०) हे (इन्दो) परमेश्वर ! तू (चित्र) संग्रह करने योग्य नाना प्रकार के (अश्विनम्) इन्द्रियों को धारण करने हारे (विश्वायुं) समस्त आयु को देने वाले (रयिं) आत्मिक सामर्थ्य, वीर्य को (आ भर) दे। और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१०५७] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
२१ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०५८] उस्रा वेद वसूनाम्मर्त्तस्य देव्यवस।
२१ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१०५९] ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे।
१ ३ २ २ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥ ३ ॥

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०६०] आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे।
१ ३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ५८ । १-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५००] पृ० २४८।

(२) (उस्रा) ऊपर की ओर गमन करने वाली (देवी) सुख और प्रकाश को देने वाली, प्रकाशस्वरूप, सोमरूप शुक्र की धारा (मर्त्तस्य) मरणधर्मा शरीर के भीतर (वसूनां) वास करने हारे प्राणों को (अवम्) रक्षा करने का सामर्थ्य (वेद) प्राप्त कराती है। तभी (तरत् स मन्दी धावति) वह योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता, हुआ ब्रह्म की ओर चला जाता है।

(३) हम (ध्वस्रयोः) दुःखों को ध्वंस करनेहारे, या स्वतः विनष्ट होने वाले (पुरुषन्त्योः) पुरुषरूप आत्मा के सदा समीप वर्त्तमान प्राण और अपान दोनों के हे (सोम) परमेश्वर ! (सहस्राणि) हज़ारों श्वास प्रश्वास तथा बल,

कर्मों को हम (आदद्महे) धारण करें, अपने वश करें। उन बलों से ही (तरत् स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

(४) हम (यषो) जिनके बल पर (त्रिंशतं सहस्राणि) तीस हज़ार ३०००० (तना) दिन, रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पर्यन्त (आदद्महे) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही (तरत्स मन्दी धावति) वह आनन्दमय जीव सब दु:खों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

[१०६१] एते सोमा असृक्षत गृणाना: शवसे महे।
मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥

[१०६२] अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि।
सनद्वाज परिस्रव ॥ २ ॥

[१०६३] उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभ:।
गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २२-२४ ॥

भा०—(१) (मदिन्तमस्य) अति आनन्दकारक परमात्मा की (धारया) आनन्दरूप धारणा शक्ति से (महे) बड़े भारी (शवसे) ज्ञान प्राप्ति के लिये (गृणाना:) वेद का अध्ययन, प्रवचन करते हुए (एते सोमाः) ये विद्वान् गुरुजन (असृक्षत) उत्पन्न हों। 'श्रवसे' इति ऋ०।

(२) हे (सोम) परमात्मन्! (वीतये) सर्वत्र कान्ति या प्रकाश करने के लिये (गव्यानि) ज्ञान-वाणियों के योग्य (नृम्णानि) मनुष्यों के चित्तों को (पुनान) पवित्र करता हुआ तू (अभि अर्षसि) साक्षात् प्रकाशित होता है। हे (सनद्-वाजः) ज्ञान के देने हारे, बल के देने हारे, ईश्वर! आप हमें ज्ञान और बल (परि स्रव) प्राप्त करावें।

(३) हे परमात्मन्! (जमदग्निना) आत्मा को साक्षात् करने हारे योगी द्वारा (गृणान:) स्तुति किये हुए (न:) हमारे लिये (गोमतीः)

ग्रहण करने योग्य नाना पदार्थों को (कृणवाम) सम्पादन करें । और (वय) हम (ते) तेरा (पर्वणा) पोरू २ पर, या पूर्ण साधन या प्रति पर्व, या अध्याय २ द्वारा (चितयन्त) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, (जीवातवे) अपने जीवन के निमित्त (तव सख्ये) तेरे सहयोग या मैत्री में (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों । और तू (प्रतरां) बहुत उत्तम प्रकार से (धियः) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों को (साधय) सुदृढ़ बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन्! प्रभो! गुरो! (धियः) हमारी बुद्धियों को (साधय) उत्तम बना । हम (समिधम्) उत्तमरूप से प्रकाशित होने हारे (त्वा) तेरी सेवा करने में (शकेम) समर्थ हों । (त्वे) तेरे आधार पर (देवाः) विद्वान् लोग (आहुतम्) श्रद्धापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थ को (अदन्ति) भोग करते हैं । (त्वम्) और तू सूर्य के समान (आदित्यान्) किरणों, बारहों मासों, अथवा आदित्य के समान, तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य (आ वह) प्राप्त कर, हम (तान्) उनको (उश्मसि) चाहते हैं । और हे (अग्ने) प्रकाशक! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (मा रिषाम) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:o:—

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०६७] प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम् ।
३ १ २ ३ १ २
अर्यमणं रिशादसम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०६८] राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे ।
३ १ १ २र ३ १ २
इयं विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

[१०६९] ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।
इषं स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ७ । ६६ । ७-९ ॥

भा०—(१) (सूरे) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्रं) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (रिपादस) विघ्नों के नाशक (अर्यमणम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रावि-गृणीषे) उन दोनों को उपदेश करता हूं ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मति.) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (राया) सम्पत्ति द्वारा, (अवृकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शवसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्रा) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेधसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने हारे ! (सूरिभिः) तत्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इषं) अन्न, ज्ञान और (स्व. च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते विश्वमानुषग्भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१३४] पृ० ७२ ।

(२) हे इन्द्र (ते) तेरे (भूरे) बहुतसे (यस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनुषक्) बराबर सदा युक्त रह कर (चेतति) जानता या प्राप्त करता है (तत्) वह (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (वसु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम धन (आ हर) हमें प्राप्त करा ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [१०७] पृ० १०८ ।

३ १ ३ २उ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु ।
१ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३१ २र
[१०७४] तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।
१ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥
३१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१०७५] इदं वा मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः ।
१ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥३॥१०॥ ऋ० ८ । ३८ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो ! और अग्ने ! विद्वन् ! आचार्य और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथाऋतु प्रवर्त्तक एवं प्राणायाम साधना द्वारा उपासना करने हारे (स्थः) हो । और (वाजेषु) ज्ञान यज्ञों में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सस्नी) स्नातक पारगत हो । (तस्य) उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधतम्) हमें ज्ञान कराइये ।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को प्राप्त होने हारे (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने हारे, (अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (तोशासा) विघ्नों के नाशक

हैं, (इन्द्राग्नी) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों मुझको उस यज्ञ का ज्ञान कराइये ।

(३) (नरः) विद्वान् मनुष्य (अद्रिभिः) अखण्ड व्रतों से (वा) आप दोनों के (इदं) इस दर्शनीय (मधु) अमृत, ज्ञान को (अधुक्षन्) प्राप्त करते हैं (तस्य) उसका (बोधतम्) हमें भी ज्ञान कराइये ।

इति तृतीय खण्ड• ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१०७६] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०७७] नन्त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् ।
१ २ ३ १ २
स त्वा मृजन्त्यायव ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
[१०७८] रस ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुण कवे ।
१ २ ३ १ २
पवमानस्य मरुत ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४७२] पृ० २३८ ।

(२) हे प्रभो ! (वचोविद) वेदवाणी का तत्व जानने हारे वे (विप्रा') मेधावी लोग (तं) उस रमणीय (धर्णसिं) समस्त संसार को देह के समान धारण करने हारे (त्वा) तुझ परम आत्मा को (परिष्कृण्वन्ति) नाना प्रकार से बखानते हैं । (त्वा) तुझको ही (आयव') मनुष्य लोग (सं मृजन्ति) योग साधनों से खोजते और आत्मा को पवित्र करते हैं ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् विद्वन् ! (मित्र.) मृत्यु से बचाने हारा प्राण और (वरुणः) वरुणरूप अपान और (अर्यमा) समान और (मरुतः) शेष प्राणगण भी (पवमानस्य ते) प्रवाहित होते हुए तेरे (रस) बल को (पिबन्तु) पान करें ।

[१०७९] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचामन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥१॥

[१०८०] पुनानो वारे पवमानो अव्यये वृषो अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ॥२॥१२॥ ऋ० ९ । १०७ । २१–२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [२१७] पृ० २११ ।

(२) (अव्यये वारे) प्राणमय या कर्ममय आवरण में से (पुनानः) पवित्र होता हुआ, (पवमान) व्यापक आत्मा (वृषः) सुखों का वर्षक होकर (वने) इस ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में मेघ के समान (अचिक्रदत्) अनाहत रूप से नाद करता और सुखों को वर्षा करता है । हे (सोम) प्रेरक ! आप (गोभिः) रश्मियों से (अंजानः) अभिव्यक्त होते हुए (देवानां) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के (निष्कृतं) स्थान या मूलकारण को (अर्षसि) प्राप्त हो । आत्मपक्ष में–वह (गोभिः) प्राणों से (अंजानः) प्रकट होकर इन्द्रियों के आश्रय को प्राप्त है ।

[१०८१] एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् ।
समादित्येभिरख्यत ॥१॥

[१०८२] समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ ।
सं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥२॥

[१०८३] स नो भगाय वायवे पूष्णे पवस्व मधुमान् ।
चारुर्मित्रे वरुणे च ॥३॥१३॥ ऋ० ९ । ६१ । ७–९ ॥

१०८१—२ 'मृजानो वारे,' वृषावचक्रदो वने' इति ऋ० ।

भा०—(१) (एतम्) इस (उ त्यं) ही उस (सिन्धुमातरं) द्रवण शील प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को (दश क्षिपः) बाहर फेंके गये दस गौण प्राण, इन्द्रियां (मृजन्ति) परिष्कृत करती हैं। वह (आदित्येभिः) किरणों के समान उसी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (सम् अख्यत) भली प्रकार देखता है। परमेश्वर के पक्ष में—उस (सिन्धुमातरं) समस्त आकाश और सागर आदि के निर्माता प्रभु को दशों दिशाएं सुशोभित करती हैं। वह सूर्य से सबको प्रकाशित करता है।

(२) (इन्द्रेण) आत्मा (उत वायुना) और प्राण से (सुतः) निष्पादित होकर वह आनन्दरस (सूर्यस्य) सबके प्रेरक मुख्य प्राण को (रश्मिभिः) किरणों में (पवित्रे) पवित्र करने हारे अन्तःकरण में (सम् आ एति) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है।

(३) (सः) वह (मधुमान्) अमृत स्वरूप (भगाय) ऐश्वर्यवान् (वायवे) प्राण स्वरूप (पूष्णे) पुष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और (मित्रे) प्राण और (वरुणे च) अपान के लिये भी (पवस्व) प्रकट हो। परमेश्वर पक्ष में—(मित्रे वरुणे च) सर्व स्नेहवान् और सर्व दुःख वारक के रूप में प्रकट होता है।

इति चतुर्थः खण्डः।

[१०८४] रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१॥

[१०८५] आ घ त्वावान्त्मना युक्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवीयानः।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः।

१०८४—'त्वानाऽऽस' इति अ०।

१र २र ३ १र २र ३ २
[१०८६] आ यद्दुवः शतक्रतवाकामं जरितॄणाम् ।
३ २ड ३ १र २र
ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे (धृष्णो) शत्रुओं के या काम क्रोधादि के घर्षण अर्थात् मान मर्दन करने हारे (चक्र्यो.) रथ के चक्रों का (अक्ष न) धुरा जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भी रथ को दूर देश में पहुंचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! (त्वावान्) तेरे सदृश तू ही (त्मना युक्त) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर (इयान.) इसको अभीष्टतक पहुंचाता हुआ (आ अणोः) मोक्ष तक पहुंचता और साथ ही स्वयं भी वहां प्राप्त होता है ।

(३) (अक्षं न) जिस प्रकार धुरा (शचीभि·) अपने में लगे अरों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुंचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैंकड़ों प्रज्ञानों से युक्त आत्मन् ! (जरितॄणाम्) विद्वान् ज्ञानोपदेशकों को भी (आकाम) उनकी कामताओं के अनुसार (दुव·) उनके मनोरथ या प्रार्थित पदार्थ (शचीभि) अपनी शक्तियों से (आ ऋणो·) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वाप्तकाम ब्रह्मवेदी जीवनमुक्त की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[१०८७] सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
२ ३ २ ३ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८८] उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
३ २ड ३ २ ३ १ २
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८६] अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अतिख्य आगहि ॥३॥१५॥ ऋ० १ । ४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६०] पृ० ८६ ।

(२) (सोमपा) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने हारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रक्षक, सौम्य गुणों को धारण करने हारे विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक आचार्य और परमात्मा (सोमस्य) उत्पन्न कार्य जगत् के बीच में (स. वना) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिये (न.) हमारे (उप) समीप (आगहि) आवे और (पिब) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्यों का पान करावे । (गोदा.) ज्ञान की आखों को देने वाला (इत्) ही (रेवत) इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने वाले जीव को (मद.) हर्षकारी होता है ।

(३) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्तमाना) समीप में प्राप्त (सुमती- ना) उत्तम मेधावी ज्ञानियों क पास से (विद्याम) हम तेरा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें (न., आगहि) आप हमें प्राप्त होइये, (मा नो अतिख्य) हमें त्याग न कीजिये ।

[१०९०] उभ यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१॥

[१०९१] दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः ।
पूर्वेण मघवन् पदा वयामजो यथा यम ।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥२॥

१०९१—२ 'मघवन् पदाजोवया यथा यम.'।

१ २ ३ १र २र ३ १
[१०६२] अध स्म दुर्हणायतो मर्त्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ अभिदासति ॥
३ १र १र ३ १र ४र
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥१६॥

ऋ० १० । १३४ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३७६] पृ० १६६ ।

(२) हे (मन्तुम.) ज्ञानवान् ! सर्वज्ञ ! (यथा) जिस प्रकार आप (दीर्घं) दूर तक जाने वाले (अङ्कुशम्) ज्ञानांकुश को (बिभर्षि) धारण करते हो उसी प्रकार (शक्तिं) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (यथा) जिस प्रकार से (यम.) इन्द्रियों और उनके समान लोकों पर वश करने द्वारा (अज.) अजन्मा आत्मा परमात्मा (पूर्वया) पूर्व (पदा) ज्ञान और सामर्थ्य से (वया) व्यापक प्रकृति को वश करता है और तभी (देवी) दिव्यगुण वाली यह प्रकृति (जनित्री) समस्त संसार को उत्पन्न करने द्वारी (अजीजनत्) इस संसार को उत्पन्न करती है । (भद्रा) कल्याण और सुख को देने द्वारी (जनित्री) प्रकृति (अजीजनत्) इस संसार को उत्पन्न करती है । और (भद्रा) वह सुखदात्री (जनित्री) माता के समान संसार की जननी होकर भी महिमा को प्रकट करती है ।

(३) हे परमेश्वर (दुर्हणायत.) दुष्ट चोर (मर्त्तस्य) मनुष्य की (स्थिरं) स्थिति को (अवतनु हि स्म) नीचा कर । (य.) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) गुलाम बनाना चाहता है (तम् ईम्) उसको ही (अध पदं) नीचे के स्थान में (कृधि) करदे । (देवी जनित्री ०.) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तेरी महिमा को

१०६२ ३. 'यो अस्मा आदिदासति', इति ऋ० ।

प्रकट करती है । वह कल्याणकारी सब की माता होकर भी तेरी महिमा को प्रकट करती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

---

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०६३] परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ।
[१०६४] त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्रजातमन्धसः ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥२॥
[१०६५] त्वं विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥३॥१७॥ ऋ० ९ । १८ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४७५] पृ० २२६ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् (त्वं) तू (विप्रः) मेधावी (कविः) क्रान्तदर्शी है । (अन्धसः) अन्न से (जातम्) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट होने वाले (मधु) अमृतस्वरूप वीर्य और आनन्द को (प्र) प्रदान कर । तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा) समस्त संसार को धारण करने हारा है ।

(३) (त्वं) च (विश्वे) समस्त (सजोषसः) समान रूप से आप को प्रेम करने हारे (देवासः) विद्वान् लोग (पीतिम्) आपके रसास्वादन का आनन्द (आशत) प्राप्त करते हैं और (मदेषु) सब आनन्दों में आप ही सबको धारण करने हारे हो ।

[१०६६] स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥१॥

[१०९७] यस्य त इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः।
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ॥२॥१८॥
ऋ० ९। १०८। १३-१४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५८२] पृ० २९३।

(२) हे (सोम) परमेश्वर (यस्य) जिस (ते) तेरे रस को (इन्द्रः) यह आत्मा (पिबात्) पान करता है (यस्य) जिस तेरे रस को (मरुतः) ये दश प्राण और समस्त विद्वान्‌गण और (यस्य वा) जिस तेरे रस या बल को (अर्यमणा) अर्यमा अर्थात् समान वायु के साथ (भगः) उदान वायु और सूर्य पान करते हैं और (येन) जिसके बल पर (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (आ करामहे) परिचालित करते हैं और (इन्द्रम्) जिसके बल पर विद्वान्‌जन आत्मा को (आ) साक्षात् करते हैं। वह तू (महे अवसे) बड़ी रक्षा प्राप्त करने के लिये है तू ही शान्तिप्रद, अभय स्वरूप है।

[१०९८] तं वः सखायो मदाय पुनानमभिगायत।
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्त्तिभिः ॥१॥

[१०९९] सं वत्स इव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते।
देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः ॥ २ ॥

[११००] अयं दक्षाय साधनोऽयं शर्धाय वीतये।
अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥३॥१९॥ ऋ० ९।१०२।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५६९] पृ० २८७।

(२) (मातृभिः) दूध पिलाने वाली माताओं द्वारा (वत्सः इव) जिस प्रकार बच्चा (हिन्वानः) प्रेरित और परिपोषित और पालित

१०९८—१ 'मधुमत्तराः सुताः' इति ऋ०।

पोषित होकर (अज्यते) प्रकट होता है । उसी प्रकार (इन्दुः) सोम= विद्वान् शिष्य भी (मातृभिः) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान (हिन्वानः) शिक्षित किया गया (अज्यते) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । वह (देवावीः) विद्वानों के पास जाने द्वारा (मदः) सबको हर्षकारक (मतिभिः) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा (परिष्कृतः) परिष्कृत, अलंकृत होता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष (दक्षाय) बलशाली कार्य को (साधनः) साधन करने वाला और (अयं) यह (शर्धाय) बल या ज्ञान के प्राप्त करने (वीतये) और कान्ति, दीप्ति या तेज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । (अयं) यह (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये (मधुमत्तरः) माधुर्य आदि गुणों से और अधिक युक्त होकर (सुतः) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के दृष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०१] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३२ ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०२] ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
सूरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[११०३] सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन्वसुविदः ॥३॥२०॥
ऋ० ९ । १०१ । १०, ११, १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५४८] पृ० २७५ ।

११०१—१. 'मित्रा सुवानाः' २. 'अने पूताः' इति ऋ० ।

(२) (ते) वे (पूतासः) पवित्र हृदय वाले (विपश्चितः) मेधावी (सोमासः) सौम्यगुण वाले विद्वान् (ऋते) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में (जिगत्नवः) उन्नति की तरफ़ जाने वाले (ध्रुवा॰) स्थिर, अखण्डित, दृढ़ (सूरासः) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर (दर्शतासः) दर्शनीय, भव्य हों।

(३) (गोः) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के (अधि त्वचि) आश्रय या संरक्षकता में (सु ष्वानासः) ज्ञानवान् होते हुए (अद्रिभिः) विद्वानों द्वारा (वि चित्राना॰) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (वसुविद॰) आत्मज्ञान के जानने हारे (अस्मभ्यम्) हमें (अभित॰) सब ओर से (इषं) ज्ञान का (सम्-अस्वरन्) उपदेश करें।

[११०४] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥१॥

[११०५] उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय ॥२॥

[११०६] महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे ।
अस्वापयन्निगुतः स्नेहयच्चापामित्राँ अपाचितो अचेतः
॥ ३ ॥ २१ ॥ ऋ० ९ । ९७ । ५२—५४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४१] पृ० २७० ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! (श्रवाय्यस्य) श्रवण करने योग्य उपदेश के दाता तुझ प्रसिद्ध जगद्गुरु के (तीर्थे) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप (श्रुते) वेद में (अधि) और भी अधिक (एना) इस प्रकार की (पवया) पवित्र करने हारी ज्ञान धारा या धारणा से (नः)

हमारे लिये (पवस्व) उपदेश करो। (वृक्षं न पक्वं) जिस प्रकार फल चाहने वाला पके फलों से लदे वृक्ष को बल से कंपाता है और सहस्रों फल नीचे आ टपकते हैं उसी प्रकार आप (नैगुतः) जो सुख से कभी न कहे जाते हों ऐसे अत्यन्त गुह्य, ज्ञानों के रक्षक हैं। आप (षष्टिं सहस्रा) ६० हज़ार या १०६० (वसूनि) ज्ञान रत्नों को (रणाय) आत्मा के आनन्द प्राप्ति के लिये (धूनुतत्) हमें प्राप्त कराओ।

(३) (अस्य) इस आत्मा के (इमे) ये (शुष्म नाम) सुखों का वर्षण और उद्धतों का नमन ये दोनों काम (मही) बड़े भारी (शूषे) सुखकारी, मन के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं। हे साधक (वा) और (पृशाने) स्पर्शन करने वाले (वधत्रे) हिंसा या पीड़ा से बचाने वाले आश्रय त्वगिन्द्रिय में (निगुत.) छुपे हुए, निगूढ़, काम और क्रोध आदि शत्रुओं को (अस्वापयत्) सुलाता हुआ (स्नेहयत च) और उन का नाश करता हुआ तू (अमित्रान्) उन शत्रुओं और (अचित अप) ज्ञान रहितों को दूर कर और (अचेत) चेतना रहित जड़ पदार्थों मूर्खों, हृदयहीनों को भी (अप) दूर कर।

इति पञ्च० खण्ड ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
[११०७] अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्य ॥१॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०८] वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दा. ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०९] तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्य ।
॥३॥ २२ ॥ ऋ० ५ । २४ । १, २, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४८] पृ० २२६ ।

(२) (वसुः) सबमें वास करने द्वारा (वसुश्रवा) ज्ञान का श्रवण करने वाला ज्ञानधन (अग्निः) ज्ञानवान् (द्युमत्तमं) अति अधिक

तेजस्वी, आत्मा (नंचि) हृदय में व्यापक है । वह तू हमें (रयिं) समस्त जीवन रूप धन को (दाः) दान कर ।

(३) हे (शोचिष्ठ) कान्ति और तेज से युक्त ! हे (दीदिवः) दीप्तिमान् अग्ने ! प्रभो, हम (सुम्नाय) सुख के लिये और (सखिभ्यः) अपने समान ख्याति वाले अपने मित्रों और बन्धुओं के लिये (नूनं) अवश्य (ईमहे) आप से याचना करते हैं ।

[१११०] इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥१॥

[११११] यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधातु ॥२॥

[१११२] आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ॥ ३ ॥ २३ ॥ ऋ० १० । १५७ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अर्चिक सं० [४५२] पृ० २२७ ।

(२) (नः) हमारे (यज्ञम्) आत्मा को (तन्वं च) और शरीर को (प्रजां च) और प्रजा सन्तति को (इन्द्रः) परमात्मा (आदित्यैः) द्वादश मासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों के (सह) साथ (सीषधातु) रक्षा कर ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मरुद्भिः) प्राणों और (आदित्यैः) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या वायुओं और ऋतुओं के द्वारा सूर्य के समान (सगणः) अपनी अन्य सहायक शक्तियों सहित (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भेषजा) आरोग्यकारक उपाय (करत्) करें ।

[१११३-१५] प्रवोर्चोप ॥२४॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (प्र) परमेश्वर की उत्तम रूप से, (२) (अर्च) स्तुति करो,

---

१११११—२, 'सहचीवक्ल्पाति' ३, 'अस्माकं भूत्वविता तनूनां' इति च ।

(३) और (उप) उपासना करो ।

[सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक ऋचा मान कर व्याख्या की है । माधव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक संक्षिप्त प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र व इन्द्राय०' 'अर्चन्त्यर्कं०' 'उप प्रक्षे मधुम०' इन मन्त्रों के आद्य अक्षरों से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अविकल सं० [४४६, ४४५, ४४४] पृ० २२५; २२४] तदनुसार इनको यहां संक्षेप से रख देने का प्रयोजन 'उहूंवापुत्र' नामक ऊहगान को दर्शाना मात्र है ।

इति सप्तम० खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य (द्वितीयोऽर्धः)

ऋषि —१ वृषगणो वासिष्ठ० । २ असितः काश्यपो देवलो वा । ११ भृगुर्वारुणिर्जमदग्नि० । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४ यजत आत्रेयः । ५ मधुच्छन्दो वैश्वामित्र. । ७ सिकता निवावरी । ८ पुरुहन्मा । ६ पर्वतनारदौ शिखण्डिन्यौ काश्यप्यावप्सरसौ । १० अग्नयो धिष्ण्याः । २२ वत्सः काण्वः । नृमेधः । १४ अग्निः ॥ देवता—१, २, ७, ६, १० पवमान सोमः । ४ मित्रावरुणौ । ५, ८, १३, १४ इन्द्र । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्द.—१, ३ त्रिष्टुप् । २, ४, ५, ६, ११, १२ गायत्री । ७ जगती । ८ प्रागाथः । ६ उष्णिक् । १० द्विपदा विराट् । १३ ककुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३ धैवतः । २, ४, ५, ६, १२ षड्जः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ ऋषभः । १४ गान्धारः ॥

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१११६] प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३र २र ३ १ २
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥ १ ॥
२३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २क ३ १ २
[१११७] प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
आङ्गूषं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्र वदन्ति साकम् ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
[१११८] स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥ ३ ॥
ऋ० ९ । ९७ । ७-९ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१११९] प्र स्वानासो रथा इवार्वन्तो न श्रवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[११२०] हिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः ।
१ २ ३ १ २
भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
३ २उ ३ २ ३ १ २
यज्ञो न सप्त धातृभिः ॥ ६ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[११२२] परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २
मधो अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[११२३] आपानासो विवस्वतो जिन्वन्ति उषसो भगम् ।
२ ३ २ ३ १ २
सूरा अण्वं वि तन्वते ॥ ८ ॥

११७—'तृपल मन्यु', 'आङ्गूष्य पवमान', 'दुर्मर्ष साकं प्रवदन्ति वाण' ।

१११८—'सरहत उरुगायस्य' इति ऋ० । ११२३—'जनन्त उषसो भग' ।

[११२४] अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः ।
वृष्णो हरस आयवः ॥ ९ ॥

[११२५] समीचीनास आशत होता नः सप्त जानयः ।
पदमेकस्य पिप्रतः ॥ १० ॥

[११२६] नाभा नाभिं न आददे चक्षुषा सूर्यं दृशे ।
कवेरपत्यमा दुहे ॥ ११ ॥

[११२७] अभि प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।
सूरः पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । १० । १-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२२४] पृ० ४८७ ।

(२) (*हंसासः*) *नीर क्षीर का विवेक करने हारे हंसों के समान* सत्यासत्य का विवेक करने हारे परमहंस योगी लोग (तृपलाः[1]) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करके जाने हारे, या काम क्रोधादि को प्रहार करने हारे, उन पर वशी, (वग्नुम्) रमणीय अनाहत नाद को (अच्छ) लक्ष्य करके (वृषगणाः) उत्तम, धर्ममेघ समाधि के साधक योगिजन (अमात्[2]) अव्यक्त बल या ज्ञान से (अस्तं) शरण-योग्य आत्मा को (प्र अयासुः) प्राप्त होते हैं । (सखायः) वे समान आत्मा नाम वाले, या परम प्रभु के प्यारे, (साकं) एक साथ (पवमानं) व्यापक (दुर्मर्षं) न सहन करने योग्य, असह्य तेज से युक्त (अंगोपिपां[3]) इस देह में

११२५—'सामने होनार', 'सप्त जामयः' ।

११२६—'चक्षुश्चिरसूर्यं सचा' । ११२७—'अभिप्रिया दिवस्पदः' इति ऋ० ।

१. तृपल. क्षिप्रप्रहारी, सुप्रप्रहारी सोमो वा इन्द्रो वा (निरु० ५।२।७)

२. अमा पुनर्निर्मित भवति (निरु० ५ । १ । ८)

३. उप दाहे दीप्तौ च । दीप्त सोमं इति (सा० वि०)

बसने हारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य (वार्यां) मोक्ष। आत्मा को (प्र बव्रन्ति) उपदेश करते हैं ।

(३) (स·) वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा की (जूर्तिं) ज्योति या प्रेरणा को (योनते) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । (गावः) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग (वृथा) अनायास (क्रीडन्तं) नाना प्रकार से जगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को (न) नहीं (मिमते) ज्ञान करते । (सः हरि·) वह सब दुःखों को हरण करने वाला, हरि (तिग्मशृंग·) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदित्य के समान (परीणसं) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह (ऋज्रः) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त ऋजु मार्ग पर चलने हारा, धार्मिक, होकर (दिवा नक्तं) रात दिन (ददृशे) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है। जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

(४) (स्वानासः) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले (सोमासः) ज्ञानी लोग (रथा इव) वेगवान् रथों के समान और (अर्वन्तः न) अश्वों के समान (श्रवस्यवः) अन्न, ज्ञान और परम ऐश्वर्य की कामना करने हारे (रायं) आत्म साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये (अक्रमुः) और आगे कदम रखते हैं ।

(५) वे (रथा इव) रथों के समान प्रबल वेगवान् होकर और (कारिणाम्) योद्धाओं के (भरास·) संग्राम या यज्ञकर्त्ताओं के कर्त्ताओं के समान (हिन्वानास·) आगे बढ़ते हुए (गभस्त्योः) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा (दधान्विरे) साधना करते हैं ।

(६) (प्रशस्तिभिः) उत्तम कीर्त्तियों, स्तुतियों से (राजानः न) राजाओं के समान और (सप्तधातृभिः) सात ज्ञान धारण करनेहारे

याज्ञिक ऋत्विजों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान (गोभिः) प्रकाश की किरणों द्वारा (अञ्जते) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

(७) (इन्दव) ज्ञान सम्पन्न योगिजन (स्वानासः) ब्रह्मरस का सम्पादन करते हुए, (बर्हणा) बड़ी, ब्रह्मरूप (गिरा) वेदवाणी द्वारा (मधोः) अमृत रस या आत्मानन्द की (धारया) धारक शक्ति से युक्त होकर (मदाय) ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये (परि अर्षन्ति) और आगे बढ़ते हैं । [देखो अवि० सं० ४८१ । पृ० २४२]

(८) (अप नास) अपान को वश करने हारे योगिजन (विवस्वतः) विशेष रूप से देह में निवास करने हारे आत्मा के (उषसः) पापदाहक, तमोनाशक तेज के (भगम् ऐश्वर्य) को (जिन्वन्ति) प्राप्त करते हैं । वे (सूरा) सूर्य के समान आदित्य योगी उस (अएव) अति सूक्ष्म आत्म-तत्व को (वितन्वते) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

(६) (प्रत्नाः) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी, (कारवः) योगक्रिया के करने हारे (वृष्णः) वर्षणशील, सुखवर्षक आत्मा के (हरसः) स्वरूप को प्राप्त होने वाले (आयवः) उस तक पहुंचे हुए जन (मतीनां) मनन शक्तियों के (द्वारा) द्वारों को (अप ऋण्वन्ति) खोल डालते हैं ।

(१०) जिस प्रकार यज्ञ में एक यजमान का कार्य सम्पादन करने के लिये सात होता लोग बैठते हैं उसी प्रकार (समीचीनासः) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने हारे, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप (सप्त) सात, या प्रसर्पणशील, प्राण (होतार) आत्मा का अनुसन्धान करनेहारे (जामयः) ज्ञानोत्पादक इन्द्रियगण और विद्वान्जन (एकम्) एक ही आत्मा के (पदं) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य को (पिप्रतः) पूर्ण करते हुए (आशत) विराजते हैं, आनन्द का भोग करते हैं ।

(११) (नाभिं) सबको केन्द्ररूप होकर बांधने हारे आत्मा को (नः) हम (नाभा) अपने शरीर के केन्द्र, या मुख्य बन्धनस्थान अपने मन में (आददे) धारण करें जिससे (चक्षुषा) ज्ञान चक्षु से हम (सूर्यं) सर्वप्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का (दृशे) दर्शन करें। (कवेः) क्रान्तदर्शी, मेधावी के (अपत्यं) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाले ध्रुव स्वरूप परमात्मा के (आदुहे) आनन्द रस का ग्रहण करें।

अपत्यं कस्मादपततं भवति, न अनेन पतति इति (निरु० ३। १। १)

(१२) (सूरः) सूर्य के समान आदित्य योगी, उत्तम योगबल से सम्पन्न होकर (चक्षसा) दिव्य चक्षु द्वारा (अभिप्रियं) अत्यन्त मनोहर (अध्वर्युभिः) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित (गुहा हितम्) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुहारूप परमात्मा के भीतर (दिवः) दीप्त तेजःस्वरूप आत्मा के (पद) स्वरूप को (पश्यति) देखता है।

दिवस्पदं तस्यात्मनः पदम् (सा०)।

इति प्रथमः खण्डः।

[११२८] असृग्रमिन्द्व पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः।
विदाना अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२९] प्र धारा मध्वो अग्रियो महीरपो विगाहते।
हविर्हविःषु वन्द्यः ॥ २ ॥

[११३०] प्र युजा वाचो अग्रियो वृषा अचिक्रदद्वने।
सद्माभि सत्यो अध्वरः ॥ ३ ॥

११२९—'मध्वो अग्रियो' इति ऋ०।

[११३१] परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्षति ।
स्वर्वाजी सिपासति ॥ ४ ॥

[११३२] पवमानो अभिस्पृधो विशो राजेव सीदति ।
यदीमृण्वन्ति वेधसः ॥ ५ ॥

[११३३] अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति ।
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥

[११३४] स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति ।
रणा यो अस्य धर्मणा ॥ ७ ॥

[११३५] आ मित्रे वरुणे भगे मधोः पवन्त ऊर्मयः ।
विदाना अस्य शक्मभिः ॥ ८ ॥

[११३६] अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये ।
श्रवो वसूनि सञ्जितम् ॥ ९ ॥

[११३७] आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥

[११३८] आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम् ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ ११ ॥

११३१—'[illegible]' । [illegible]—'[illegible]' ।

११३५—'[illegible]' । [illegible]—[illegible] ।

[११३९] आ रथिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

आद्या नव ऋ० ६ । ७ । १–६ । शेषास्तिस्र. ऋ० ६ । ६५ । ६८-६० ॥

भा०—(१) (इन्दव.) आत्मसम्पत्ति से सम्पन्न, शमादि गुणयुक्त योगीजन, (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धर्मन्) धारण करने हारे परमात्मा के स्वरूप में (सुश्रियः) उत्तम रूप से आश्रय प्राप्त करने वाले (पथा) सत्य ज्ञान के मार्ग से (अस्य) इस आत्मा के (योजना) योग-समाधि द्वारा मिलापों के आनन्दों का (विशाना) लाभ करते हुए (अग्रम्) कृतकृत्य होजाते हैं ।

(२) (हवि ष्टु) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदेव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम (हविः) स्वीकार करने और वरने योग्य पदार्थ आत्मा ही (वन्द्य.) स्तुतियोग्य है । वह (मही.) बड़े (अपः) ध्यान, धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुद्रों के समान (विगाहते) पार कर जाता है और (मधो.) अमृत की (अग्रिय.) आगे प्रकट होने हारी, मुख्य, उत्तम (धाराः) शक्तियों को (प्र) प्राप्त करता है ।

(३) (अग्रिय.) मुख्य या प्रबल (वृषा उ) सुखों का वर्षक आत्मा ही (प्रयुजः) प्रयोग करने योग्य (वाच.) वाणियों को (वने) भजन करने योग्य ब्रह्म में (अचिक्रदद्) उच्चारण करता है । वह योगी आत्मा (सत्यः) सत्याचरण करने हारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, (अध्वर) किसी की हिंसा न करने हारा, (सद्म) अपने आश्रयस्वरूप, परम शरण परमेश्वर को (अभि) प्राप्त होता और साक्षात् करता है ।

(४) (यत्) जब (कविः) मेधावी, ज्ञानवान् (नृम्णानि) मनुष्यों के मननशील साधन, चित्त को (पुनानः) शुद्ध पवित्र करता हुआ (काव्या) उत्तम वेदवाणियों का (परि अर्षति) ज्ञान प्राप्त करता है

तब वह (वाजी) ज्ञानवान् होकर (स्वः) परमसुख मोक्षरूप आनन्द को (सिषासति) सेवन करता है।

(५) (यद्) जब (ईम्) इस आत्मा को (वेधसः) योगसाधक ज्ञानी लोग (ऋतयन्ति) प्राप्त करते हैं तब (पवमान०) देदीप्यमान, आत्मा (अभिस्पृधः) स्पर्धा करने हारे, विघ्नकारी, बाधक कारणों या व्युत्थान लक्षणों का दूर करके (विशः राज इव) प्रजाओं पर राजा के समान (सीदति) प्रबल होकर बैठता है।

(६) (हरिः) दुःखों के विनाशक आत्मा (प्रिय०) अत्यन्त प्यारा होकर (वनेषु) देहों में (अव्याः वारे) चितिशक्तिरूप अवि के आवरण-कारी, या वरण-योग्य त्रिपुटी आदि स्थान में (परिसीदति) विराजता है। और (रेभ०) अप्रतिहत नाद करने हारा, या स्तुतिशील (मती) मनन-शक्ति द्वारा (वनुष्यते) प्राप्त किया जाता है।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्माऽनवगतसंस्कारो भवति (निरु० ५ । ३ । २)

(७) (य०) जो (अस्य) इस सोम के (धर्मणा) धारणयोग्य गुण या धारणा बल से (रणा) रमण करता है, (स०) वह आत्मज्ञानी (वायुम्) प्राणवायु, (इन्द्रम्) आत्मा और (अश्विनौ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को (मदेन) आनन्द और हर्ष के साथ (गच्छति) वश कर लेता है।

(८) (मधो) हर्षकारक आनन्दरूप सोमरस की (ऊर्मयः) ऊर्ध्वग-तियां या तरगें (मित्रे) प्राण और (वरुणे) अपान (भगे) और समान में (पवन्ते) गति करती हैं। और साधकजन (अस्य) इस आत्मा की (शक्-मभि) शक्तियों द्वारा (सं-विदाना०) उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

(९) हे (रोदसी) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अपान तुम दोनों (अस्म-भ्य) हमें (वाजस्य) ज्ञान और (मध्व) आनन्दस्वरूप अमृत की (सातये)

प्राप्ति के लिये (रयिं) प्राण सामर्थ्य, बल, (श्रवः) उपदेश, (वसूनि) जीवनोपयोगी पदार्थों पर (स जितं) वश करादो ।

(१०) हे सोम ! (वयं) हम लोग (अद्य) आज (मयोभुवं) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, (वह्निं) शक्तियों के वहन करने हारे, (पान्तं) हमारे पालक, (पुरुस्पृहं) सब के कामना के योग्य, (ते दक्षं) तेरे बल को (आवृणीमहे) उत्तम समझ कर प्राप्त करते हैं । अवि० [४४८].

(११) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वोत्तम, (विप्रं) मेधावी और (मनीषिणं) सबके हृदयों के प्रेरणा करने हारे (पान्तं) सब के पालक (पुरुस्पृहम्) सब के प्रेमपात्र आपको हम (आ) साक्षात् करते हैं ।

(१२) हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न ! हे (सोम) सब के प्रेरक ! (रयिम्) रयिस्वरूप (सुचेतुनम्) उत्तम ज्ञाता (तनूषु आ) हमारे देहों में भी व्याप्त (पान्तं) रक्षक (पुरुस्पृहम्) प्रजा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको (आ) वरण करते हैं ।

इति द्वितीय. खण्डः ।

[११४०] मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥१॥

[११४१] त्वां विश्वे अमृतं जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते ।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदः ॥२॥

[११४२] नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त ।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥३॥

[ऋ० ६ । ७ । १, ४, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६७] पृ० ३४ ।

(२) हे (अमृत) मरणरहित अमृतस्वरूप ! हे (अग्ने) ज्ञानस्व रूप परमात्मन् ! आत्मन् ! (शिशुं न) लोग बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको बार २ देखने की इच्छा से उस पर झुकते और प्रेम प्रकाश करते हैं (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार (शिशुं) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक (जायमानं) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने हारे आपको (अभि सनवन्ते) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे (वैश्वानर) समस्त मनुष्यों के हृदयों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग (तव) आपके ही (क्रतुभिः) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा (अमृतत्वम् आयन्) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (पित्रोः) मात पिता के बीच में पुत्र के समान ही देह के पालक प्राण और अपान के मध्य सुषुम्ना नाड़ी में (अदीदेः) प्रकाशित होता है ।

(३) (यज्ञानां) देवपूजा, सत्सग, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार के कार्यों के (नाभिं) एकमात्र आश्रय, केन्द्र (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और वीर्य-सामर्थ्यों के भण्डार (महां) बड़े भारी (आहावं) तृष्णा का शान्त करने के निमित्त सब को अपने प्रति बुलाने वाले जलाशय के समान जीवनाधार रस के समुद्र, आपको (देवाः) विद्वान् लोग (अभि सं नवन्ते) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उसको (अध्वराणां) समस्त हिंसा रहित पवित्र कार्यों के (रथ्यम्) महारथी के समान वहन करनेहारे (वैश्वानरं) समस्त हृदयों में व्यापक, सबके नेता और (यज्ञस्य) आत्मा का (केतुं) ज्ञापक (जनयन्त) बतलाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[११४३] प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा ।
१ २ ३ २ ३ २
महि क्षत्रावृतं बृहत् ॥१॥

३ २ ३ १ ३ १ २   ३ २ ३ १२ २२
[११४४] सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च ।
३ २ ३ १ २   ३ २
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥
१ २   ३ १ २   ३ २ ३ २ ३ १ २
[११४५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।
१ २   ३ २ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ ऋ० ५ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (मित्राय) जीवन को स्नेह करने हारे प्राण और (वरुणाय) दोषों का वारण करने वाले अपान को या विद्वान् और उपदेशक को (विपा) ज्ञानयुक्त, मन से प्रेरित, सार्थक (गिरा) वाणी से (प्र गायत) स्तुति करो । हे मित्र और वरुण, (महि-क्षत्रा) बड़े बलशाली आप दोनों (बृहत्) बड़े भारी (ऋतं) सत्य आत्म-ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

(२) (या) जो (मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण प्राण और अपान हैं वे (उभा) दोनों (घृतयोनी) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-स्थान और (सम्राजा) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे (देवेषु) दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में (प्रशस्ता) प्रशंसा योग्य (देवा) सुख के दाता हैं ।

(३) (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिये (पार्थिवस्य) पृथिवी और (दिव्यस्य) आकाश से होने वाले (महः) बड़े भारी (रायः) ऐश्वर्य सामर्थ्य को (शक्तं) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं । (देवेषु) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में (वां) आप दोनों का भी (महि क्षत्रं) बड़ा भारी बल है ।

१२ २२   ३ २ ३२ ३ १ २
[११४६] इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥

[११४६] तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥

[११५०] य इद्ध आ विवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः ।
द्युम्नाय सुतरा अपः ॥२॥

[११५१] ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।
एन्द्रमग्निं च वाढवे ॥३॥६॥ ऋ० ६ । ६० । १०–१२ ॥

भा०—(१) हे मनुष्य ! (तम् अग्निम्) उस सबके पापों के दहन करने हारे ज्ञानमय परमात्मा की (इडिष्वं) उपासना कर (यः) जो (अर्चिषा) अपने तेज से (विश्वा) समस्त (वना) भोगने योग्य कर्म-बंधनों को वनों में अग्नि के समान (परिष्वजत) जा लगता है और जैसे अग्नि वनों में लगकर उनको जलाकर काला कर देता है उसी प्रकार वह अपनी (जिह्वया) अग्नि की ज्वाला के समान भस्म करने वाली शक्ति से सबको (कृष्णा) छिन्न भिन्न, दग्ध (कृणोति) कर डालता है । जंगलों को जला देने वाली अग्नि से कर्मदाहक ज्ञानाग्नि की तुलना है ।

(२) (य मर्त्यः) जो मरणधर्मा मनुष्य (इद्धः) स्वयं प्रकाशित, ज्ञानवान होकर (इन्द्रस्य) आत्मा के (सुम्नं) सुख करने वाले ज्ञान को (आ विवासति) उद्घाटन करता है उस (द्युम्नाय) प्रकाशस्वरूप ज्ञानी के लिये (अपः) कर्म बन्धन (सुतरा) सुख से तरण योग्य हो जाते हैं ।

(३) हे प्राण और अपान ! (ता) वे आप दोनों (वाजवतीः इषः) ज्ञानसम्पन्न कामनाओं और (आशून्) शीघ्रगामी वेगवान् (अर्वतः) ज्ञानेन्द्रियों को (पिपृत) तृप्त करो जिससे हम (इन्द्रम् अग्निम् च) इस आत्मा और उस ज्ञानस्वरूप ईश्वर को (वोढवे) अपने में सुख से धारण करें ।

इति तृतीय खण्डः ।

११४६—३. 'इन्द्रमग्निं च' इति ऋ० ।

[११५२] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा ॥१॥

[११५३] प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवो पनस्युवः संवरणेष्वक्रमुः । हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेदशिश्रयुः ॥२॥

[११५४] आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमान ऊर्मिणा । या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम् ॥३॥७॥ ऋ० ९ । ९८ । १६-२८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५५७] पृ० २८० ।

(२) हे (सोमाः) विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (धियः) प्रज्ञाएं, बुद्धियां, वाणियां (मन्द्रयुवः) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ लगी हुईं (पनस्युवः) स्तुति करने की इच्छा करती हुईं, (विपन्युवः) और स्तुति करती हुईं (संवरणेषु) हृदयों में विशेषरूप से या विविध यज्ञगृहों सभास्थानों, विद्वन्मण्डलों में (अक्रमुः) फैलती हैं । (स्तुभः) विद्वान् लोग (क्रीडन्तं) जगत् का सर्जन और (हरिं) प्रलय करने हारे परमात्मा को (इत्) ही (अभ्यनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं और (धेनवः) रसपान करने कराने हारे ध्यानयाला लोग भी अपने (पयसा) आनन्दरस से, दुग्धरस से गौओं के समान उसको ही (अभि अशिश्रयुः) अपना आधार बनाते हैं । अथवा (धेनवः) वेदवाणियां (पयसा) अपने ज्ञानरस से उसका ही अभिषेक करती हैं ।

११५२—१. 'शतयाम्ना' २. 'संवरणेष्वक्रमुः' 'सोम मनीषा अभ्यनूषत' 'स्तो'[illegible] मुनिश्रियुः' 'पवमानो अभिधः' इति ऋ० ।

(३) (हे इन्दो) तेजस्विन् ! सोम ! (पवमान) सर्वत्र व्यापक ! (या) जो (नः) हमारे लिये (अहन्) दिन में (त्रि.) तीनवार (असश्चुषी) बिना रोक टोक के (द्युमत्) कीर्त्तियुक्त (वाजवत्) बलयुक्त, ज्ञानयुक्त (मधुमत्) आनन्दरस से पूर्ण (सुवीर्यम्) उत्तम बल (दोहते) प्राप्त करावे ऐसी (संयतं) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त (पिप्युषीम्) सदा वृद्धि करने हारी (इषं) समृद्धि को (ऊर्मिणा) अपनी अनन्त शक्ति से (पवस्व) प्राप्त कराओ।

[११५५] नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्त्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥

[११५६] अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ॥२॥
ऋ० ८ । ७० । ३-४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२४३] पृ० १२४ ।

(२) (यस्मिन्) जिसके (जायमाने) प्रादुर्भाव होने पर (उरुज्रयः) अति वेगवान् पराक्रमी (मही) बड़ी २ (धेनवः) गौओं के समान अधिक सम्पत्ति देनेहारे प्रजागण या विद्वानगण (अनोनवु॰) झुकते और स्तुति करते हैं । उस (अषाढं) असह्य (पृतनासु सासहिं) सेनाओं में सबसे अधिक सामर्थ्य वाले शासक के प्रति (द्याव) तेजस्वी, उत्तम श्रेणी के धनाढ्य और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजाएं (क्षामीः) पृथिवी के निवासी जमींदार या भूपाल भी (अनोनुवः) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । आत्मपक्ष में–पृतना=इन्द्रियगण । धेनवः—वाणियां, वेद-ऋचाएं आधिदैविक पक्ष या ब्रह्मपक्ष में, धेनव=वेदवाणियां, द्यावः, क्षामी=तेजोमय लोक और पार्थिव लोक ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

११५५—'धृष्णुमोजसा' २. अषाळ्हं 'द्याव. क्षमो' इति ऋ० ।

[११५७] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।
शिशुन्न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ १ ॥

[११५८] समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।
देवाव्यां३मदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

[११५९] पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्द्धाय वीतये ।
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । १०४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६८] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभिः) माताओं से जिस प्रकार (वत्सं न) बच्चे या बछड़े को उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार (ईं) इस (सोमं) सोम रूप शुक्र को (मातृभिः) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मनन-शक्तियों से और (सोमं मातृभिः) जिज्ञासु शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से (अभि स सृजत) साक्षात् रूप से संयोजित करो । उस (गयसाधनम्) समस्त प्राणों को वश करने हारे, (देवाव्य) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक (मदम्) हर्षकारक और (द्विशवस) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करनेहारे वीर्य तथा शिष्य को (अभि) उत्तम रूप से सम्पादन करो, शिक्षित करो ।

(३) (दक्षसाधनं) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इस सोम अर्थात् शुक्र को इस प्रकार (पुनात) सम्पादन करो, प्राप्त करो कि (यथा) जिस प्रकार वह (शर्धाय) शरीर के बल की वृद्धि और (वीतये) कान्ति के निमित्त हो । और (यथा) जिस प्रकार (मित्राय) प्राण और

११५८—'अभि प्रियं द्विशवसम्' इति वर्ति० प्रामादिकः सायणादिभ्योऽनादृतभिर- नादृतत्वात् ।

(वरुणाय) अपान इन दोनों जीवनाधारों के लिये भी (शन्तमम्) अति अधिक सुख और कल्याणकारक हो।

[११६०] प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥१॥

[११६१] स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ॥२॥

[११६२] प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमाणो अद्रिभिः सुतः ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ६। १०६। १६-१८ ॥

भा०—(१) (वाजी) शक्तिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस (सहस्रधारः) सहस्रों धारण करने वाली शक्तियों से युक्त होकर (अव्यं) ध्रुव, प्राणमय, (पवित्रं) पावन करने हारे (वारं) वरणीय, या दुःखों के वारक आत्मा को (तिरः वि प्र अक्षाः) साक्षात्, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो।

(२) (सः) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, (सहस्ररेता) सहस्रों पदार्थों का मूलकारण, सहस्रों शक्तियों से युक्त (अद्भि) कर्मों और प्रज्ञाओं से (मृजानः) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ (गोभिः), वाणियों द्वारा (श्रीणानः), परिपक्व होकर (अक्षा) हृदय में प्रकट हो।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (नृभिः) नेताओं द्वारा (येमानः) हृदय-देश में यम नियमों द्वारा या ईश्वर-प्रणिधान द्वारा विचार किया जाकर (अद्रिभिः) स्थायी अखण्डित तपःकर्मों, या ज्ञानी पुरुषों से (सुतः) साधित होकर (कुक्षौ) आत्माकाशरूप गुहा में (आयाहि) आ, प्रकट हो।

[११६३] ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे।
ये वादः शर्यणावति ॥ १ ॥

[११६४] य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्।
ये वा जनेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३१ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्दवः ॥४॥११॥ ऋ० ९ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—(१, २, ३) (ये) जो (सोमासः) सोम, विद्वान् लोग (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप-देश में और (ये वा) जो (शर्यणावति) विषम अरण्यभूमि में और जो (आर्जीकेषु) ऋजु और सरल, सम देशों में और जो (पस्त्यानां) गृहमेधी, गृहस्थियों के (मध्ये) बीच में (कृत्वसु) बनाये हुए गृहों में, (ये वा) और जो (पञ्चसु) पांचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पाचवें निषाद् जो चारों वर्णों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा से बाहर कर दिये जाते हैं उनमें भी (सोमासः) ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् लोग हैं (ते) वे (नः) हमें (दिवः) आकाश या प्रकाश और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकाश से उत्तम हितोपदेशों की (वृष्टिं) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को (परिपवन्ता) दें और (सुवीर्यं) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि (देवासः) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (स्वानाः) ज्ञानी पुरुष ही (इन्दवः) सोम या 'इन्दु' कहाते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[११६६] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
२ ३ १ २ ३ १
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥
३ २र ३२उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[११६७] पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः ।
३ १ २
समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।
वाजेषु चित्रराधसम् ॥३॥१२॥ ऋ० ८ । ११ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं को आप (सदृङ्) समान दृष्टि से देखने वाले (असि) हो । (विश्वा दिशः, प्रभु) समस्त दिशाओं में (प्रभुः) आप ही ईश्वर, उत्तम सामर्थ्यवान् हो। (समत्सु) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर (त्वा) तेरी ही (हवामहे) याद करते हैं ।

(३) हम (समत्सु) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में (वाजेषु) ज्ञान, बल और अन्नादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में (वाजयन्तः) ज्ञानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए या बल प्राप्त करते हुए हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) आगे के नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही (हवामहे) स्मरण करते हैं ।

[११६९] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनासहम् ॥ १ ॥

[११७०] त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ २ ॥

[११७१] त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुपब्रुवे सहस्कृत ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०५] पृ० २०६ ।

(२) हे (वसो) सब में निवास करने हारे सर्वव्यापक ! (त्वं हि) आप ही हमारे (पिता) पालक हैं । (त्वं) आप (माता) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता (बभूविथ) हैं । (अथ) और हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों को अनायास सम्पादन करने वाले ! हम (ते) आपके (सुम्न) आनन्द, सुख की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं ।

(३) हे (शुष्मिन्) सर्वशक्तिमन् ! हे (पुरुहूत) बहुतों से स्तुति योग्य हे (सहस्कृत) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के उत्पादक ! (वाजयन्तम्) ज्ञान और बल को दान करने हारे आपसे मैं (उपब्रुवे) प्रार्थना करता हूं कि (नः) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, तेज और यश का (रास्व) प्रदान करें ।

[११७२] यदिन्द्र चित्र म इहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ १ ॥

[११७३] यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षन्तदाभर ।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ॥ २ ॥

[११७४] यत्ते दित्सु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ० ५ । ३९ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [३४५] पृ० १०६ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जो (द्युक्षम्) अन्न, धन और यश आप (वरेण्यं) वरण करने योग्य श्रेष्ठ (मन्यसे) जानते हैं (तद्) वही (आभर) हमें प्राप्त करावें । (तस्य) उस अचिन्त्य महिमा वाले (अकूपारस्य) अति सुन्दर, अनिन्दनीय, असीम परम आनन्द के

११७२—'उपब्रुवे सहस्कृत' इति ऋ० ।
११७३—'दावने' । ११७४—'यत्ते दित्सु' इति ऋ० ।

सागरस्वरूप, सबको उत्तमरूप से पालन करने हारे (ते) तुझ (दावनः) दानशील के दान को हम (विद्याम) प्राप्त करें।

(३) हे (अद्रिवः) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने हारी शक्ति के मालिक ! (यत्) जो (ते) तेरा (दिक्षु) समस्त दिशाओं में (प्राराध्यं) उत्तम रूप से आराधन करने योग्य, (बृहत्) बड़ा विशाल, (श्रुतं) श्रवण करने योग्य (मनः) मनन करने योग्य बल और ज्ञान है (तेन) उस से ही (दृढाचित्) पुष्ट, उत्तम (वाजं) ज्ञान और बल को (सातये) सबको समान रूप से दान करने के लिये (आदर्षि) खण्ड २ करके, अनुभव और विचारक्रम से देते हो।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धः ।

इति चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः । इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्त ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ नवमोऽध्यायः ।

ऋषिः—१ प्रतर्दनो दैवोदासिः । २-४ असितः काश्यपो देवलो वा । ५, ११ उचथ्यः । ६, ७ अमहीयुः । ८, १५ निध्रुविः काश्यपः । ९ वसिष्ठः । १० सुकक्षः । १२ कविः । १३ देवातिथिः काण्वः । १४ भर्गः प्रागाथः । १६ अम्बरीषः । ऋजिश्वा च । १७ अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः । १८ उशना काव्यः । १९ नृमेधः । २० जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—१-८, ११, १२, १५-१७ पवमानः सोमः । ९, १८ अग्निः । १०, १३, १४, १९, २० इन्द्रः ॥ छन्दः—२-११, १५, १८ गायत्री । त्रिष्टुप् । १२ जगती । १९ बृहती । १४

प्रगाथ । १६, २० अनुष्टुप् १७ द्विपदा विराट् । १९ उष्णिक् ॥ स्वरः—२–११, १५, १८ षड्जः । १ धैवतः । १२ निषादः । १३, १४ मध्यमः । १६, २० गान्धारः । १७ पञ्चमः । १९ ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
[११७५] शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन ।
३ २ ३ १२ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
कविर्गीर्भिष्काव्येन कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥ १ ॥

१ २ १ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ २ १
[११७६] ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवी
२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
नाम् । तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु
३ २
राजति ष्टुप् ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १२ १२ ३
[११७७] चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि
१ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
बिभ्रत् । अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो
२
विवक्ति ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ९६ । १७–१९ ॥

भा०—(१) विद्वान् लोग (मरुत गणेन) अपने प्राणों के गण प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, देवदत्त, कृकल, धनंजय, नाग, कूर्म आदि, अथवा मूर्धा स्थान के ७ प्राणों द्वारा (जज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करने हारे (हर्यतं) कान्तिस्वरूप, सब का प्रकाशक (विप्रं) ज्ञान और कर्म से सम्पन्न, (शिशुं) शरीर में शयन करने हारे, आत्मा को (मृजन्ति) शुद्ध करते और (शुम्भन्ति) नाना गुणों से सुशोभित करते हैं । (कविः) क्रान्तदर्शी, तत्वज्ञानी मेधावी, पुरुष (काव्येन) क्रान्तदर्शी परम ज्ञानी परमेश्वर क ज्ञानमय वेदमय काव्य से (कवि) अन्यों को ज्ञान देने हारा (सन्) परमगति को प्राप्त मुक्त होकर (सोमः) सौम्यगुणवान् आनन्द और शमादि से सम्पन्न आत्मा (पवित्रं) सब पतितों के पावन परमात्मा

११७५—'वह्नि मरुतो' इति ऋ० ।

की (रेभन्[2]) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुआ (अति पुति) कर्म बन्धन को पार कर जाता है ।

(२) (य) जो (ऋषिमनाः) मन्त्रद्रष्टा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं (ऋषिकृत्) अपने आपको ऋषि, तत्वदर्शी बनाने हारा, विवेकी, (स्वर्षाः) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, (सहस्रनीथः) सहस्रों प्रकार से ईश्वर की स्तुति करने हारा, या सहस्रों सुख और ज्ञान औरों को प्राप्त कराने हारा (कवीना) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को (पदवीः) ज्ञान प्राप्त कराने हारा, सन्मार्ग का दर्शक स्वयं (महिषः) महान् है, वह मुमुक्षु जीव (तृतीयं) तीसरे (धाम) लोक को अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम ज्योति स्वरूप मोक्ष को (सिषासन्) प्राप्त करता हुआ, (विराजम्) विराट परमेश्वर की (स्तुप्) स्तुति करता हुआ (अनु राजति) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है ।

(३) (चमूषत्) अपनी ग्राहक इन्द्रिय-शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान (श्येन) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने हारा, (शकुनः) शक्तिसम्पन्न, (विभृत्वा) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र होकर (गोविन्दुः) समस्त ज्ञान-रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमब्रह्म को प्राप्त करने हारा जितेन्द्रिय या समस्त लोकों को प्राप्त करने हारा, (आयुधानि) सकल सामर्थ्यों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (महिषः) महिमा में सम्पन्न, महत्व को प्राप्त होकर (अपा) समस्त लोकों के (ऊर्मिम्) प्रेरक (समुद्रं) समुद्र के समान एकमात्र उत्कृष्ट सब के आश्रय परमेश्वर को (सचमानः) भजन करता हुआ (तुरीयं) मोक्षस्वरूप (धाम) आनन्द को (विवक्ति) प्राप्त करता है । इस सूक्त में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने हारे को वेद गोविन्दु, शकुन, श्येन आदि नामों से,

पुकारता है। पौराणिकों ने गरुड़ गोविन्द, समुद्रशायी आदि की कल्पना इन्हीं शब्दों के आधार पर की प्रतीत होती है।

[११७८] एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन्।
वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥१॥

[११७९] पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना।
ते नो धत्त सुवीर्यम् ॥२॥

[११८०] इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय।
देवानां योनिमासदम् ॥३॥

[११८१] मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः।
अनु विप्रा अमादिषुः ॥४॥

[११८२] देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः।
सं गोभिर्वासयामसि ॥५॥

[११८३] पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः।
परि गव्यान्यव्यत ॥६॥

[११८४] मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः।
इन्दो सखायमा विश ॥७॥

[११८५] नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम्।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥८॥

[११८६] वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि।
सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥२॥ ऋ० ९।८।१–९॥

११७८—९. 'धत्तसुवीर्यम्', 'ऋतस्य योनि' इति नवम्याष्टम्यो व्यत्ययः, ऋ०।

भा०—(१) (एते सोमाः) ये सौम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण (अस्य) इस इन्द्र के (वीर्यं) सामर्थ्य या बल को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, फैलाते हुए (इन्द्रस्य) ईश्वर के (प्रियं) उत्तम (कामम्) अभिलषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को (अक्षरन्) प्रकाशित करते हैं।

(२) (चमूषद:) अपने ज्ञान ग्रहण शक्तियों में जितेन्द्रिय होकर विराजमान (पुनानास) पवित्र होते हुए (अश्विना) प्राण और अपान दोनों और (वायुम्) सबके प्रेरक आत्मा को, (गच्छन्तः) उपलब्ध करते हुए (तेन) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर (उ) ही (सुवीर्यम्) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को (धत्त) धारण करते हैं।

(३) हे (सोम) साधक ! (राधसे) इन्द्रस्वरूप परमात्मा की आराधना के लिये (हार्दि) हृदय में विराजमान (देवाना) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों के (आसदं) प्रतिष्ठास्थान और (योनिं) मूलकारण चिति शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर।

(४) हे (सोम) योगिन् (त्वा) तुझको (दश) दश (क्षिपः) यम और नियम, या दश धर्मलक्षण, या दश प्राण (मृजन्ति) पवित्र, परिशोधन करते हैं और (सप्त) सात (धीतयः) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धा में स्थित सप्त छिद्रों में प्रवाहित प्राणशक्तियें, या सात स्थानों में लगाई गई ध्यानवृत्तियां, (हिन्वन्ति) तुझको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं। (विप्राः) ज्ञानी पुरुष तुझको लक्ष्य करके, तेरे अनुकूल होकर (अमादिषुः) प्रसन्न होते हैं।

(५) (देवेभ्यः) इन्द्रियगण या विद्वानों को (मदाय कं) आनन्दलाभ करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये (मेष्यः) आत्मा में

आनन्दरस वर्षण करने वाली प्राण शक्ति को (अति) पार करके (सुजान॰) वर्तमान आत्मानन्दरस को (गोभि॰) वेदवाणियां द्वारा (सं वासयामसि) आच्छादित करते हैं। उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं।

(६) (कलशेषु) हृदय प्रदेशों में (पुनानः) पवित्र होता हुआ (अरुषः) कान्तिमान् (हरिः) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस (गव्यानि) वेदवाणियों या प्राणों के बने (वस्त्राणि) आच्छादनों को (परि अव्यत) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है।

(७) हे (इन्दो) आत्मन् ! (मघोनः) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् (नः) हमारे प्रति तू (आपवस्व) प्रकट हो। और (विश्वाः) समस्त (द्विषः) दूसरे के प्रति अप्रेम या द्वेष के भावों को (अप) दूर कर। (सखायम्) परम सखा परमात्मा में (आविश) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर।

(८) हे (सोम) साधक आत्मन् (स्वर्विदः) मोक्ष सुख को प्राप्त करने और जानने हारे (इन्द्रपीतं) ईश्वर के अनुग्रह से, या आत्मा के अपने ही रस से तृप्त (नृचक्षसम्) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने हारे (त्वा) तुझको हम (भक्षीमहि) सेवन करें और (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (इषम्) बल, अन्न और सत् ज्ञान को भी (भक्षीमहि) प्राप्त करें।

(९) हे (सोम) परमात्मन् (दिव॰) अपने तेजमय प्रकाश से आकाश से मेघ के समान (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (वृष्टिं) सुखों की वर्षा (परिस्रव) बरसा। और (द्युम्नं) तेज, यश या धन और (सह॰) सहन शक्ति, या बल को (नः) हमारी (पृत्सु) इन्द्रियों और प्रजाओं में (धा॰) धारण करा।

इति प्रथम खण्डः ।

—॰०॰—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११८७] सोम पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः ।
३ १र २र ३ २
वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
[११८८] पवमानमवस्यवो विप्रमभिप्रगायत ।
३ २ ३ १ २
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
[११८९] पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः ।
३ २ ३ १ २
गृणाना देववीतये ॥३॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[११९०] उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः ।
३ १ २ ३ १ २
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९१] अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।
२र ३ १ २ ३ १ २
विवारमव्यमाशवः ॥५॥
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[११९२] ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्दवः ॥६॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
[११९३] वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः ।
३ १र २र
दधन्विरे गभस्त्योः ॥७॥
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमान कनिक्रदत् ।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥८॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९५] अप घ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः ।
१ २ ३ १ २
योनावृतस्य सीदत ॥९॥३॥ ऋ० ९ । १३ । १-९ ॥

भा०—(१) (सोमः) आत्मा, (पुनान) पवित्र करने हारा (सहस्रधारः) हज़ारों, अनेक अगाधित शक्तियों से सम्पन्न होकर (वायोः) सर्वव्यापक (इन्द्रस्य) परमात्मा के (निष्कृतं) कर्म-बन्धनों से परे परम पद को (अत्यर्षि.) प्राण के आवरण को पार करके (अर्पेति) प्राप्त होता है।

(२) हे (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! (पवमानं) सब को पवित्र करने हारे (विप्रम्) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, (देववीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (सुष्वाणं) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान को या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को (अभि प्र गायत) साक्षात् कर स्तुति करो।

(३) (सहस्रपाजसः) सहस्रों ज्ञानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त (सोमाः) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण (देववीतये) परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (गृणानाः) उसकी स्तुति करते हुए (पवन्त) अपने आत्मा को पवित्र करते हैं।

(४) हे (सोम) सबके उत्पादक ! (नः) हमें (वाजसातये) ज्ञान प्राप्त करने के लिये (बृहती· इष.) बड़ी २ प्रेरणायें, दीप्तियें, शक्तियें (पवस्व) प्रकाशित कर। हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! हमें (द्युमत्) दिव्य गुणों से युक्त (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्य भी दो।

(५) (वाजसातये) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये (हियाना·) प्रयत्न करते हुए (आशव) मोक्ष या ज्ञान मार्ग में भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग (हेतृभि) साधनों से (अव्यं वारं) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण को (वि-अति-असृग्रन्) पार कर जाते हैं।

(६) (ते) वे (इन्दवः) योगिजन (देवाप्यः) विद्वान् पुरुष (स्वानाः) साधना करते हुए (न.) हमारे लिये भी (सुवीर्यम्) उत्तम बलयुक्त, यश उत्पादक (सहस्रिण) हज़ारों तत्वों के प्रदर्शक (रयिम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्राप्त करें और प्रकट करें।

(७) (वाश्रा:) उत्तम उपदेश करनेहारे (मातरः) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्दव.) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार (अर्षन्ति) जाते हैं जैसे (मातर. वत्सं न) गौवें अपने बच्चे के प्रति जाती हैं । और वे (गभस्त्यो) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को (दधन्विरे) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ़ बनाये रहते हैं ।

(८) हे (पवमान) परमपावनकारी तू (इन्द्राय) परमात्मा के लिये (जुष्ट.) प्रेम करने हारा साधक (मत्सर.) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वत. तृप्त (कनिक्रदत्) सबको समान भाव से उपदेश करके (विश्वाः) समस्त (द्विष) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को (जहि) नाश कर अर्थात् अजात शत्रु हो जा ।

(९) हे (पवमाना) समस्त संसार को अपने धर्माचरणों से पवित्र करते हुए, पङ्क्तिपावन (स्वर्दृश.) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग (अराव्णः) दान रहित, कदर्यवृत्तियों को (अप घ्नन्त) दूर करते हुए (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (योनौ) परम आश्रय, ब्रह्म में (सीदत) प्राप्त होवो ।

इति द्वितीयः खण्ड. ।

—:o—

[११९६] सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।
इन्द्राय मधुमत्तमाः ॥ १ ॥

[११९७] अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।
इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २ ॥

[११९८] मदच्युत् क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।
सोमो गौरी अधिश्रितः ॥ ३ ॥

३ १र २र ३ २ ३ १ ३
[११९९] दिवो नामा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥ ४ ॥
१र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२००] यः सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः ।
२उ ३ १ २
तमिन्दुः परिषस्वजे ॥ ५ ॥
२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।
२ ३ १ २ ३ १ १
जिन्वन् कोशं मधुश्चुतम् ॥ ६ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०२] नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सबर्दुघाम् ।
३ १र २र ३ २
हिन्वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २
[१२०३] आ पवमान धारय रयिं सहस्रवर्चसम् ।
३ १ २ ३ १ २
अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥ ८ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र ३ २
[१२०४] अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः ।
१ २ ३ १ २
सोमो हिन्वे परावति ॥ ९ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १२ । १-९ ॥

भा०—(१) (इन्द्राय) परमेश्वर के निमित्त (मधुमत्तमाः) अमृतमय ज्ञानों से सम्पन्न (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (धारया) धारा, व्यवस्था, या वाणी से (सुताः) प्रेरित हुए (इन्दवः) ज्ञानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब के आह्लादक (सोमाः) शुभ गुणों से युक्त विद्वान् लोग (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं।

(२) (वत्सं न) जिस प्रकार बछड़े के प्रति (धेनवः) दुधार (गावः) गौएं हंभारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति बुलाती हैं उसी प्रकार (सोमस्य पीतये) ज्ञानरस का पान करने के लिये (इन्द्रं)

अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (विप्रा॰) मेधावी लोग प्रेम से (अनूषत) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

(३) (विपश्चित्) ज्ञान और कर्म फल का सञ्चय करने वाला, (मदच्युत्) हर्ष और आनन्द का जनक, (सोमः) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, (गौरी) वेदमयी वाणी में (अधिश्रितः) आश्रय पाकर (मद-च्युत्) ज्ञानी होकर (सादने) अपने आश्रय देने वाले (ऊर्मौ) ऊर्ध्व गति की तरफ़ लेजाने हारे (सिन्धौ) सिन्धु के समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपने में आश्रय देने हारे, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में (सेति) निवास करता है ।

(४) (विचक्षणः) विशेष तत्व का द्रष्टा, (कवि) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सुक्रतु) उत्तम प्रज्ञावान्, (दिवः) समस्त द्यौलोक को (नाभौ) अपनी शक्ति में बांधने वाले (अव्याः वारे) महान् प्रकृति को भी आवरण करने हारे परमात्मा या प्राण के वने अन्तःकरण में (महीयते) महत्व को प्राप्त करता, बड़ी शक्ति प्राप्त करता है ।

(५) (यः) जो (सोमः) आनन्दमय परमात्मा (कलशेषु) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्यामी होकर विराजता और (पवित्रे) पवित्र हुए आत्मा के बीच (आहितः) विशेष रूप से प्रकट होता है (तम्) उसको (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष, जीव (परि सस्वजे) जा चिपटता है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

(६) (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष (समुद्रस्य) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के (अधिविष्टपि) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर (मधुश्चुतम्) परम आनन्दरस को देने हारे, आनन्दमय (कोशं) कोश को (जिन्वन्) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुष्प कोशः

को प्राप्त भौंरे के समान (वाचं) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को (इष्यति) प्राप्त करता है ।

(७) (वनस्पतिः) समस्त लोकों का स्वामी (नित्यस्तोत्रः) नित्य-स्तुतिकर्त्ता ज्ञानी, (युजा) योग सम्पादन करने हारे (मानुषा) मनुष्यों के (अन्तः) भीतर (सबर्दुघाम्) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली (धेना) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चिति शक्ति को (हिन्वानः) प्रेरणा करने और उसके बल को बढ़ाने हारा है ।

(८) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हे (इन्दो) तेजःस्वरूप ! (सहस्रवर्चसम्) सहस्रों दीप्तियों से युक्त, (स्वाभुवम्) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, (रयिं) ऐश्वर्य और बल को (अस्मे) हमें (धारय) धारण करा ।

(९) (कविः) क्रान्तदर्शी, (सुतः) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् (परावति) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर (विप्रः) मेधावी (धारया) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से (सः) वह (दिव) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल (प्रिया) अति उत्तम कान्तियुक्त लोकों में (अभि हिन्वे) विहार करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२०५] उच्चे शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
३ १ २ ३ २
वाणस्य चोदया पविम् ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ १
[१२०६] प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
२र ३ २ ३ १ २
यदव्य एषि सानवि ॥ २ ॥

१२०५—[१] 'अभ्यो वारे' इति ऋ० ।

२ ३ २ ३ १ २ ३१२ २र ३ १ २
[१२०७] अव्या वारैः परि प्रिय हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
१ २ ३ १ २
पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ३ ॥
१ २ ३ ३ २ १ २
[१२०८] आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ४ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२०९] स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः ।
१ २ ३ १ २
एन्द्रस्य जठरं विश ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ६ । ५० । १-५ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (सिन्धोः) नदी या समुद्र के (ऊर्मेः) उमड़ने वाले तरङ्ग का (इव) जिस प्रकार (स्वनः) ध्वनि (उत् ईरते) उठता है उसी प्रकार (ते) तेरे (शुष्मासः) बल और शक्तियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू (वाणस्य) इस संसार या इस शरीर के (चोदय) वाणी या प्रवर्त्तक शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(२) (ते) तेरे (प्रसवे) प्रकट होने पर (मखस्युवः) तेरी अर्चना के इच्छुक भक्तजन की (तिस्रः वाचः) तीनों प्रकार की वेदवाणियां ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, ऋक्, साम, यजुः स्वरूप उस समय (उत् ईरते) उठती हैं, प्रकट होती हैं । जब तू (अव्ये) चितिशक्ति या प्राण के बने (सानौ) उन्नत मस्तक देश या आनन्द प्रकट करने वाले अन्तःकरण में (एषि) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

(३) विद्वान् लोग (प्रियं) तृप्तिकर, उत्कृष्ट, (हरिं) दुःखों को दूर करने हारे, (पवमानं) हृदय को पवित्र करने वाले, (मधुश्चुतम्) अमृतरस को चुआने वाले उस प्रभु को (अद्रिभिः) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से (अव्याः वारैः) चितिशक्ति की वृत्तियों धारणा और निदिध्यासनादि व्यापारों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, उत्पादन करते हैं ।

(४) हे (मदिन्तम) सबसे अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् ! हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वन् ! (अर्कस्य) प्रकाशमान परमात्मा के (योनिं) परम स्थान को (आसदं) प्राप्त होने के लिये (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी से (पवित्रं) स्वच्छ, शुद्ध, उस पतितपावन के प्रति (आपवस्व) गति कर, उसकी तरफ़ लौट जा उसकी स्तुति कर।

(५) हे (मदिन्तम) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! (अक्तुभिः) ज्ञान–साधनों और (गोभिः) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा (अक्तानः) अभिव्यक्त और भी प्रकाशमान होकर (सः) वह परम रूप होकर (पवस्व) त्वरित हो, गति कर, उद्योग कर और (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील परमात्मा के (जठरे) भीतर गर्भ में (विश) प्रवेश कर, उसी में रम।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १
[१२१०] अया वीती परिस्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।
३ १ २ ३ १र २
अवाहन्नवतीर्नव ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२११] पुरः सद्य इत्था धिये दिवोदासाय शंबरम् ।
२ ३ २ ३२ ३ १ २
अध त्यं तुर्वशं यदुम् ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१२१२] परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
१ २ ३ ३ १ २
क्षरा सहस्रिणीरिषः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० । ६ । ६१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६५] पृ० २४६ ।

(२) हे सोम ! (इत्था धिये) सत्य प्रज्ञानों से युक्त और सत्यकर्मा (दिवोदासाय) सूर्य के समान ज्ञानमय प्रकाश में निवास करनेहारे, जीवन्मुक्त पुरुष के लिये (शंबरं) सुख, कल्याण के विनाशक उस (तुर्वशं)

हिंसक स्वभाव, क्रोध और (वर्हुं) नियम करने योग्य काम को (अध) भी (अव अहन्) नाश करता है ।

(३) हे (इन्दो) रसरूप आत्मन् ! (अश्वविद्) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाभ करने हारा, (गोमत्) ज्ञानेन्द्रियों और (हिरण्यवत्) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त (अश्वं) मन को वश करके (नः) हमें (सहस्रिणीः) सहस्रों प्रकार से वर्त्तने वाली या बलवती (इषः) कामनाओं को (भर) पूर्ण कर ।

[१२१३] अपघ्नन् पवते मृधोप सोमो अराव्णः ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] महो नो राय आभर पवमान जही मृधः ।
रास्वेन्दो वीरवद्यशः ॥२॥

[१२१५] न त्वा शतं चन ह्रुतो राधो दित्सन्तमामिनन् ।
यत् पुनानो मखस्यसे ॥३॥७॥ ऋ० ६ । ६१ । २५-२७ ॥

भा०—(१) (सोम) परमात्मा (इन्द्रस्य निष्कृतं गच्छन्) जीव आत्मा के पवित्र अन्तःकरण में प्रकट होता हुआ (अराव्णः मृधः) सुख न देने हारे, दुःखदायी कारणों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (पवते) प्रकट होता है ।

(२) हे (पवमान) हे सबको पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (नः) हमें (रायः) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं (आ भर) प्राप्त करा । (मृधः) हिंसक शत्रुओं को (जहि) नाश कर । हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील हमें (वीरवत्) पुत्र पौत्रों से युक्त (यशः) यश और सम्पत्ति का (रास्व) दान कर ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! (राधः) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश (दित्सन्तम्) करने की इच्छा

वाले (त्वा) आपको (शतं चन) सैकड़ों भी (ह्रुतः) कुटिलाचारी हिंसक पुरुष (न अभिनन्) नहीं मार सकते । (यत्) क्योंकि पुनानः) सबको पवित्र करते हुए आप (मखस्यसे) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहते हो।

[१२१६] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥१॥

[१२१७] अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि ।
अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥

[१२१८] उत त्या हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे ।
इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ॥३॥८॥ ऋ० ६ ६३ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६३] पृ० २४६ ।

(२) (पवमानः) आत्मा को पवित्र करने हारा (सूरः) सूर्य के समान ज्ञानी (मनौ) मननशील चित्त में (अन्तरिक्षेण) भीतर के हृदयाकाश में, या परमसुख, या मोक्ष मार्ग में (यातवे) जाने के लिये (एतशं) अश्व के समान गमन साधन मन को (अयुक्त) योगसमाधि द्वारा ईश्वर से मिला, उसके प्रति जोड़े ।

(३) (इन्दुः) ईश्वर के प्रति द्रुतगति से जाने हारा (सूरः) ज्ञानी, योगी (उत) भी (त्या हरितः) उन हरणशील प्राणों को (इन्दुः) 'परमेश्वर ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् हैं' इति) इस प्रकार (ब्रुवन्) कहता हुआ (रथे) अपने रमण करने योग्य परब्रह्म में ही आपको (अयुक्त) योगसमाधि से जोड़ दे ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

१२१६—'हरितो वश' इति ऋ० ।

३ १ २ ३२३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१२१९] अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे
२ १र २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
कृणुध्वम् । यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः
३ २
पावकः ॥१॥

२ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२०] प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र १ २र ३ १ २ ३ १
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्ण-
२
मस्ति ॥२॥

१ २र ३ १ २ ३ १र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२२१] उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान्
॥३॥६॥ ऋ० ७ । ३ । १-३ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् गण ! (वः) आप लोग (अग्निभिः) सूर्यादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ (सजोषाः) समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, (यजिष्ठ) दानशील पुण्यकर्मा (अग्निम्) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान को (अध्वरे) हिंसारहित धर्म कार्यों और व्यवहारों में (दूत) दूत के समान अपना संदेशहर (कृणुध्वम्) बनाओ (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निध्रुविः) खूब स्थिर निश्चय वाला, धैर्यवान् (ऋतावा) सत्याचारी, सत्यकर्मा, (तपुः) तपस्या युक्त सहनशील और शत्रुओं को तापकारी, (मूर्धा) सब में शिर के समान मुख्य और (घृतान्न) तेजस्वी, सात्विक भोजन करने हारा (पावकः) पवित्रकारी है । अध्यात्मपक्ष में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात ज्वालाचियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप अध्वर=यज्ञ में दूत, उपदेशक या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरणधर्मा पुरुषों में भी आत्मा रूप से अचल सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने हारा है । परमात्म पक्ष में—(अग्निभिः सजोषाः) सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक (घृताश्चः) तेजोयुक्त समस्त हिरण्यगर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में लीन करने हारा (तपुः) सब का तापक, (पावकः) सब का शोधक, (निध्रुविः) नित्य ध्रुव (ऋतावा) सत्य स्वरूप, सत्योपदेष्टा है उसको अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता गुरु समझो ।

(२) (प्रोथत्) शब्द करता हुआ (अश्वः न) अश्व जिस प्रकार (अविष्यन्) भोजन करने की कामना से (यवसे) घास पर जाता है उसी प्रकार (यदा) जब (महः) महान् श्रेष्ठ (संवरणात्) संवरण निरोधस्थान या वरण योग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने यश और धनादि प्राप्ति और गृहस्थादि भोग्य आश्रमों के लिये (वि अस्थात्) बाहर आता है और (आत्) अनन्तर (अस्य) इसके (शोचिः) तेज के (अनु) अनुकूल (वातिः) प्राण भी (वाति) गति करता है (अध) तब ही हे विद्वान् ! (ते) तेरा (व्रजन) मार्ग या गमन करना (कृष्णम्) समस्त लोकों को अपनी ओर आकर्षण करने वाला (अस्ति) होता है । ब्रह्मचर्य करने के बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यवहार और जीवन यापन करने वाले विद्वानों के जीवनपथ पर दुनिया भी खिंची चली आती है । मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः । गीता ।

(३) हे अग्ने ! (नवजातस्य) सावित्री के गर्भ से अभी नये ही बाहर आये नवस्नातक, (वृष्णः) ज्ञानों के वर्षण करने हारे (यस्य ते) जिस तेरे (अजरा) जरारहित होकर बलवान् प्रखर, (इधाना) तेजः (उच्चरन्ति) प्रकट होते हैं । और (अरुषः) कान्तिमान् (धूमः) प्रति पक्षियों में कम्पना उत्पन्न करने हारा होकर (द्याम्) सूर्य या तेज प्रकाशक और ज्ञान को (एषि) प्राप्त करता है वह तू हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (देवान्) विद्वानों के प्रति (दूत) ज्ञान सन्देश ले जाने के लिये दूत या

गुरु के समान उन तक (ईयसे) पहुंचता है। साधक की आत्मा के भीतर जब नया ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है उस समय विशोक चितिशक्ति या प्रदीप्त आत्मा की जो दशा होती है उसका भी वर्णन इन तीनों मन्त्रों में साथ ही किया है। तीसरे में—अजरा=प्राणगण। धूम =प्राणों को गति देने हारा आत्मा। दूत=गतिशील, प्रेरक आत्मा। देवान्=इन्द्रियों को। ईयसे=प्राप्त होता है, वश करता है। शेष स्पष्ट है।

१२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२२२] तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
१ २र ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥
१ ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[१२२३] इन्द्र॰ स दामने कृत ओजिष्ठ स बले हितः
३ २ ३ २क ३ २
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥
३ १र २ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१२२४] गिरा वज्रो न सम्भृत स बलो अनपच्युत॰।
३ २ ३ १र २र
ववक्ष उग्रो अस्तृत॰ ॥३॥१०॥ ऋ० ८। ९३। ७—९॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [११६] पृ०६४

(२) (सः) वह (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर (दामने) समस्त सुख देने में (कृत॰) समर्थ, (ओजिष्ठ) सबसे अधिक बलशाली होने के कारण (स॰) वह (बले) बल योग्य, संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि विशाल कार्य में (हित) लगा हुआ है। वही (द्युम्नी) यशस्वी, (श्लोकी) वेदमय स्तुतियों से युक्त और (सोम्य॰) उत्तम गुणों से सम्पन्न है।

(३) (स॰) वह (बलः) बलवान् (अनपच्युत॰) कभी अपने कर्त्तव्य जगत् रचनादि कार्यों से न डिगने वाला (उग्र॰) दुर्जनों के प्रति

१२२२—'ववक्ष ऋष्व' इति ऋ०।

अति उग्रस्वभाव (अस्तृतः) कभी न हिंसित (वज्र. न) विघ्न नाशक आयुध के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृत.) उत्तम रीति से धारण किया गया (ववक्षे) संसार का धारण करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

[१२२५] अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय ।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥१॥

[१२२६] तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यशत ।
पवमानस्य मरुतः ॥२॥

[१२२७] दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
सुनोता मधुमत्तमम् ॥३॥११ ऋ० ६ । ५१ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [४६६]पृ० २४८ ।

(२) हे (इन्दो) सोम ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (पवमानस्य) पवित्र करने हारे, या स्वयं पवित्र, (मधो) अमृतरसस्वरूप ते) तेरे (अन्धस.) जीवन धारण करने की शक्ति या उपभोग्य आनन्दरस का (त्ये) वे (मरुत) प्राणस्वरूप (देवा) देव अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि और विद्वान्जन (वि आशत) विविध प्रकार से उपभोग करते हैं ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (दिव पीयूषम्) आकाश को आनन्द से भर देने वाले, चन्द्रालोक के समान अति आह्लादजनक, ज्ञानस्वरूप प्रकाश के (पीयूषम्) अमृतरसस्वरूप, (मधुमत्तम्) अति मधुर, आनन्दकारी, (सोमम्) ब्रह्मानन्दरस को (वज्रिणे ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र के धारण करने हारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुनोत, उत्पन्न करो ।

१२२५—१, 'पुनाहीन्द्राय' इति पाठ० ।

[१२२८] धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः । हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥१॥

[१२२९] शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वः सिषासन् रथिरो गविष्टिषु । इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः ॥२॥

[१२३०] इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरेष्वाविश । प्र नः पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया नो वाजाँ उप माहि शश्वतः ॥३॥१२॥ ऋ० ६ । ७६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५५८] पृ० २६ ।

(२) (शूर न) जिस प्रकार शूरवीर योद्धा अपने (गभस्त्योः) दोनों हाथों में (आयुधा) नाना प्रकार के हथियार (धत्ते) धारण करता है उसी प्रकार सोमस्वरूप साधक अपने प्राण और अपान नामक ग्रहण साधनों से नाना ज्ञानसाधनों को, या ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों को धारण करे और (रथिरः) रथी, वीर के समान (गविष्टिषु) गौ=इन्द्रियों या वेद मन्त्रों के इष्ट मार्गों में (स्वः) सुख को (सिषासन्) यथावत् प्राप्त करता हुआ (इन्द्रस्य) अपने आत्मा के (शुष्मम्) बल या प्राण को (ईरयन्) प्रेरित करता हुआ (अपस्युभिः) सिद्ध, कर्मयोगी (मनीषिभिः) विद्वानों द्वारा (हिन्वानः) अपने योगमार्ग में ज्ञानोपदेश द्वारा प्रेरित होता हुआ (इन्दुः) परमैश्वर्य सम्पन्न होकर (अज्यते) ज्ञान, प्रकाशों द्वारा देदीप्त हो ।

१२२८—ऋगुत, १२३०—प्र ण पिन्व इति ऋ० ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे (पवमान) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू (ताविष्यमाणः) महान् सामर्थ्यवान् होकर (इन्द्रस्य) परमात्मा के (जठरेषु) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हारे लोकों में (ऊर्मिणा) ऊर्ध्वगति द्वारा (आविश) प्रविष्ट हो ! (विद्युत् अभ्रा इव) जिस प्रकार विद्युत उत्पन्न होकर मेघों को जल बरसाने के लिये पूर्ण करती है उसी प्रकार तू (रोदसी) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और (न) हमारे लिये (शश्वतः) बहुत से (वाजान्) बलों और ज्ञानों को (उप माहि) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३क २र ३ २ ३ १ २
[१२३१] यादेन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभि ।
१ १ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ १ २
सिमा पुरूनृषूतो अस्यानवेसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२३२] यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
कण्वासस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्यागहि
॥२॥१३॥ ऋ० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १३४ ।

(२) हे इन्द्र ! आप (रुमे) रमणीय, (रुशमे) हिंसक (श्यावके) गतिमान और (कृपे) सामर्थ्यवान् पुरुष में (सचा) समान भाव से (मादयसे) आनन्द और हर्ष को प्राप्त कराते हो । (ब्रह्मवाहसः) ज्ञान धारण करने हारे (कण्वासः) मेधावी पुरुष (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (यच्छन्ति) बांधते हैं, वश करते या प्राप्त होते हैं । तू (आगहि) आ, दर्शन दे । यहां आत्मा के प्रति सम्बोधन करके कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और 'कृप' ये चार शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । "जात पांत पूछे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।"

[१२३३] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आगमत् ॥१॥

[१२३४] तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो निषीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥२॥१४॥ ऋ० ८।६१।१, २॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२८०], पृ० १४८ ।

(२) (हि) क्योंकि (तं) उस (स्वराज) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सबके प्रकाशक, (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को (धिषणे) आकाश और पृथिवी (ओजसा) अपने बल से (निः ततक्षतुः) धारण करती हैं। हे प्रभो ! तू (उपमाना) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी (प्रथमः) प्रथम ज्ञानोपदेश करने द्वारा या रचने द्वारा होकर उनमें (निषीदसि) गुप्तरूप से व्यापक है। (ते) तेरे (मनः) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा (सोमकामं हि) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है।

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप से स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को बराबर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है। (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च । इत्यादि (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द वल्ली २। अनु० ६।) आकाश और पृथिवी परमात्मा को अपने भीतर धारण करती हैं। जैसे (मुण्डकोपनि० २ मु० ख० १, क० ४) "अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्र-

१२३३—२, 'तमोजसे' इति ऋ० ।

सूर्यौ दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" । अथवा छान्दोग्य में, वैश्वानर प्रकरण में-"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनः आस्यमाहवनीयः ।" (छा० उप० अ० ५ । ख० १७) अथवा स्वयं वेद श्रुति-'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" (अथर्व० का० १०। सू० ८ । मं० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमारोह धर्मणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् ।
इन्दो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वा देवयुं जनम् ॥३॥१५॥ ऋ० ६ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८३] पृ० २३२ ।

(२) हे (पवमान) सोम ! विद्वन् ! आप (श्रवाय्यं) यश और कीर्ति के जनक अथवा वेद द्वारा श्रवण करने योग्य (रयिं नितोशसे) आत्मज्ञान रूप ऐश्वर्य को प्रदान करते हो एवं अभ्यास करते हो । अतः हे (इन्दो) ज्ञान-प्रकाशक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय परमब्रह्म ज्ञान में (आविश) प्रवेश करें ।

१२३६—'प्रिय. समुद्र' इति ऋ० ।

(१) अन्यासु संहितासु 'अपघ्नन् पवते मृध.' इत्यादेव अनुक्रमोऽनुपलभ्यते ॥

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६२] पृ० २४५ ।

३ १ २ ३ १२ ३१२ ३ १२
[१२३८] अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ १
इन्दो सहस्रभर्णसन्तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १ २
[१२३९] वयं त अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृह ।
१ २ ३१२ १२ ३ १ २
नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अध्रिगो ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३२ ४ ३ १२
[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्ये मदच्युतः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३१ ३१२ १२ ३२
धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥१६॥
ऋ० ९ । ९८ । १, ५, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४९] पृ० २७५ ।

(२) हे (अध्रिगो) ध्रुव ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (वसो) सबके अन्तर्यामिन् ! (वय) हम लोग (ते वसो.) सब को वास देने हारे और सब में बसने हारे तेरे (पुरुस्पृहः) सब को प्रेम करने हारे और सब के प्रेमपात्र (अस्य राधसः) इस आराधनीय (इषः) सब के प्रेरक, सब के इच्छा के विषय, जीवन और अन्नादिक शक्तिस्वरूप के (नेदिष्ठतमाः) अति निकटवर्ती होकर हम (ते सुम्ने) तेरे सुखमय स्वरूप में (नि स्याम) रहें ।

(३) (यः) जो (इन्दुः) सोम अर्थात् वीर्य, (गव्ययुः) गौः= इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त (न) जिस प्रकार (भ्राजा) अपनी दीप्ति से, (अध्वरे) हिंसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु संहितासु प्रतीकमात्रम् 'अभी नो वाजसातम०' ।
१२३९—'वय ते अस्य वृत्रहन् वसो वस्वः पुरुस्पृहः'...'स्याम सुम्नस्याध्रिगो' ।
१२४०—'परिसुवानो अक्षरद्' 'भ्राजानेति' इति ऋ० ।

प्राणायाम और योगसमाधि रूप यज्ञ में (धारा) धारणा सामर्थ्य या निष्ठा या धारणारूप से (ऊर्ध्व.) ऊर्ध्व प्रदेशों में (याति) गमन करता है। (स्यः) वही (स्वानः) पुनः सूक्ष्म नाड़ीजालों में चरित होकर (मदच्युतः) आनन्द-रूप अमृत का स्रवण करता हुआ (इन्दुः) कान्तिमान् होकर (अव्ये) प्राणमय कोश में बल से (अक्षरद्) क्षरित होता या प्रकट होता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र

[१२४१] पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[१२४२] शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[१२४३] दिवो धर्त्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ६ । १०६ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [४२६] पृ० २१६।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्रः) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् (दिवः) आकाश और दिव्य, जाज्वल्यमान सूर्य में तेजःस्वरूप होकर (पृथिव्यै) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के लिये अन्न, ओषधि और वीर्यरूप होकर (शं) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) तेजःस्वरूप, शुक्ल, कान्तिमान् (दिवः) सूर्य को भी (धर्त्ता) धारण करने हारा, (सत्ये) सत्यस्वरूप (विधर्मन्) विश्व को नाना रूप से धारण करने हारे परमेश्वर में (पीयूषः) समस्त जीवों द्वारा पान करने, उनको तृप्त कर अनुकूल संवेदन करने योग्य, अनन्त आनन्दस्वरूप, (वाजी) बलवान्, ऐश्वर्यवान् होकर (पवस्व) प्रकाशित हो।

इति अष्टम खण्डः ।

१२४१—१. 'प्रजायै' इति ऋ०।

१२ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३२
[१२४४] प्रप्रं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
२ ३ २ ३ १र २र
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१२४५] कविमिव प्रशंस्यं यं देवास इति द्विता ।
१ २र ३ २
नि मर्त्येष्वादधुः ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१२४६] त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुही गिरः ।
१ २ ३ २ ३ १र २र
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ३ ॥ १८ ॥ऋ० ८ । ८४ । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५] पृ० ३ ।

(२) (देवासः) विद्वान् लोग (प्रशंस्यं) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, (कविम् इव) क्रान्तदर्शी, मेधावी के समान (इति) इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से (यं) जिसको जानकर (द्विता) दो रूपों में (मर्त्येषु) मनुष्यों में (नि-आदधुः) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं-एक समस्त संसार में व्यापक सर्वसाक्षी परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्त्ता और फल भोक्ता जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

(३) हे (यविष्ठ) सब में व्यापक ! सबसे अधिक शक्ति वाले ! (त्वं) तू (दाशुषः) दानशील, उदार होकर (नॄन्) मनुष्यों को (पाहि) पालन कर । (गिरः) स्तुति वाणियों को (शृणुहि) श्रवण कर । (उत) और (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (तोकं) बालक या उसके समान कार्य जगत् की (रक्ष) रक्षा कर ।

१ २ ३ १ २
[१२४७] एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
३ २उ ३ १ २ ३१र २र ३ २
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥

१२४४—२, 'कविमिव प्रचेतसं', 'यं द्विता' ३, शृणुधी गिरः' इति ऋ० ।

३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२४८] अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
२र ३ २ ३ १र २र ३ २
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[१२४९] त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्त्ता पुरामसि ।
३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
हन्ता दस्योर्मनो वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥ ११ ॥

ऋ० ८ । ९८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६३] पृ० २०२ ।

(२) हे (सत्य) सत्यस्वरूप परमात्मन् ! (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! आप (सोमपाः) समस्त ससार के पालन करने वाले, प्रलय काल में सब संसार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान अर्थात् लीन करने हारे हो । आप (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को या उत्पत्ति और विनाशरूप दोनों मर्यादाओं को (बभूथ) वश करने में समर्थ हो । आप (सुन्वत) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए (दिवः) सूर्य या प्रकाश को भी (वृधः) बड़े भारी, बढ़ानेहारे (पतिः) मालिक हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! आप (शश्वतीनां) अनादिकाल, से चले आये (पुराम्) देहरूप पुरों के (दर्त्ता) दारण करने हारे, मुक्तिदायक (असि) हो । (दस्योः) नाशकारी अज्ञान के (हन्ता) नाश करने वाले और (मनोः) मननशील ज्ञानी आत्मा के (वृधः) बढ़ाने वाले और (दिवः) सूर्य तथा उसके समान देदीप्यमान आदित्य योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान-प्रकाश के भी (पतिः) स्वामी हो ।

१२४७—३. धर्त्ता पुराम् इति पाठः सायणसम्मतः । परमार्थतस्तु सायणोऽपि 'दारयिता इत्येव' पर्यायमुल्लिखति । मुम्बई, अजमेरादिमुद्रितो 'धर्त्ता' इति पाठस्तु भाष्यकृद्भिरनादृतः । 'पुराम्भिन्दुरित्यादिश्रुत्यन्तरविरोधात् ।

[१२५०] पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ १ ॥

[१२५१] त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ २ ॥

[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमैरनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥ ३ ॥ २० ॥

ऋ० १ । ११ । ४, ५, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्नि० सं० [३५६] पृ० १८६ ।

(२) हे (अद्रिव) दीर्ण या विनाश न होने वाले अविनाशी स्वरूप वाले आत्मन् ! (त्वं) तू (गोमत) इन्द्रियों से युक्त (वलस्य) माया के (बिलम्) प्रवेशस्थान शरीर बन्धन को (अप अव०) खोल देता है, (देव) समस्त अग्नि आदि देव (अबिभ्युष०) तेरी रक्षा में भय न करते हुए (तुज्यमानास०) पीड़ित होकर अथवा तुझ से ही शक्ति प्राप्त करते हुए । (त्वा) तेरे पास (आ अविषुः) शरण में प्राप्त होते हैं ।

जैसा ऐतरेयोपनिषद् में—"ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्" "ता एनमब्रुवन् आयतनं नः प्रजानीहि ......ताभ्यः पुरुषमानयत् । ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ताः अब्रवीद्, यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद् ।" इत्यादि समस्त देवताओं को पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा इन्द्रस्वरूप स्वयं मानूर्ध्व द्वार से प्रविष्ट होगया । "स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् ।" इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोला गया है । (ऐतरेय उप० अ० १ । ख० ३ । १२)

१२५०—२. 'गोमतोऽपाव', ३. 'अभिस्तोमा' इति ऋ० ।

(३) हे विद्वानो ! (ओज्मा) अपने ओज बल और वीर्य से (ईशानं समस्त संसार को वश करने हारे मालिक (इन्द्) परम आत्मा की (स्तोमैः) वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूपत) स्तुति करो । (यस्य) जिसके (रातयः) दिये हुए दान हज़ारों और (उत) और भी (भूयसीः) बहुत अधिक (सन्ति) हैं ।

इति नवमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य (द्वितीयाऽर्धः) प्रपाठकः ।

ऋषि —१ पराशरः । २ शुनःशेपः । ३ असित काश्यपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः प्रियमेधश्च । ८ पवित्रो वसिष्ठौ वोभौ वा । ९ वसिष्ठः । १० वत्सः काण्वः । ११ शत वैखानसाः । १२ सप्तर्षयः । १३ ययुर्भरद्वाजः । १४ नृमेधः । १५ भर्गः प्रागाथः । १६ भरद्वाजः । १७ मनुराप्सवः । १८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १९ अग्नयो धिष्ण्याः ऐश्वराः । २० अमहीयुः । २१ त्रिशोकः काण्वः । २२ गोतमो राहूगण । २३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६-२० पवमान सोमः । ८ पावमान्यध्येतृस्तुतिः । ९ अग्निः । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्र ॥ छन्दः—१, ९ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप । १३ जगती । १४ निचृद्बृहती । १५ प्रागाथः । १७, २२ उष्णिक् । १२, १९ द्विपदा पंक्तिः ॥ स्वरः—१, ९ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ षड्जः । ८, १८, २३ गान्धारः । १३ निषादः । १४, १५ मध्यमः । १२, १९ पञ्चमः । १७, २२ ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[१२५३] अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य
३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
गोपाः । वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे
३ १र २र
स्वानो अद्रिः ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१२५४] मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी
२
देव सोम ॥ २ ॥
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २ २र ३ २
[१२५५] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ ३ २ ३ १ २
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः
॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ९७ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [५२९] पृ० २३६ ।

(२) हे आत्मन् ! तू (वायुम्) वायु और प्राण को (मत्सि) प्रसन्न और चेतन करता है, (इष्टये) अभीष्ट प्राप्ति और (राधसे) आराधना के कारण (नः) हमको (मत्सि) आनन्दित करता है । (पूयमानः) सर्वत्र प्रकाशित होकर (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण सूर्य और मेघ और प्राण और अपान दोनों को (मत्सि) हर्षित करता है, गति देता है । (शर्धः) बलस्वरूप होकर (मारुत) प्राण और प्रबल वायु को भी (मत्सि) हर्षित करता, मानों आनन्द में नचाता है । (मत्सि देवान्) समस्त सूर्य चन्द्रादि देवों एव इन्द्रियों को (मत्सि) आनन्दित करता, उनको नियम, से गति देता है, और हे (देव सोम) सबके प्रकाशक और उत्पादक प्रेरक आत्मन् ! (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञानी और अज्ञानी नर और नारी दोनों को (मत्सि) हर्षित करता, एवं तृप्त करता है ।

(३) व्याख्या देखो अचि० सं० [५४२] पृ० २७१ ।

[१२५६] एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते ।
अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥

[१२५७] एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो विगाहते ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २ ॥

[१२५८] एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः ।
पवमानः सिषासति ॥ ३ ॥

[१२५९] एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति ।
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ४ ॥

[१२६०] एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः ।
हरिर्वाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥

[१२६१] एष देवो विपाकृतोऽतिह्वरांसि धावति ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ ६ ॥

[१२६२] एष दिवं विधावति तिरो रजांसि धारया ।
पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७ ॥

[१२६३] एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्पृतः ।
पवमानः स्वध्वरः ॥ ८ ॥

[१२६४] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
हरिः पवित्रे अर्षति ॥ ९ ॥

[१२६५] एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः ।
धारया पवते सुतः ॥१०॥२॥ऋ० ९।३।१,१४,५,३,२,७ १०॥

भा०—(१) (देवः) प्रकाशमान, (अमर्त्यः) मरणरहित, अमृत-स्वरूप जीव (द्रोणकलशानि) द्रोण कलशों, अर्थात् देहों के (अभि) प्रति (आसदम्) प्रवृत्त होकर उनमें विराजने के लिये (पर्णवी. इव) पक्षी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पत्तों से युक्त वृक्ष के समान (दीयते) प्राप्त होता या उनमें विराजता है ।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या खण्ड २ संचय करके बना हुआ । फलतः यह शरीर द्रोणकलश है । इनमें शुक्रस्वरूप दीप्तिमय चेतनावान् आत्मा 'सोम' है । वह इन शरीरों में निवास करने के लिये पिन्जरे में पक्षी के समान आता है । इस आत्मा के सोम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो (यजुर्वेद अ० २० । मं० ८६-९५) यथा—"आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः । श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥ इत्यादि ।

(२) (एषः) वह आत्मा (विप्रैः) मेधावी, ज्ञानी पुरुषों द्वारा (अभिस्तुतः) ठीक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ (देवः) प्रकाशस्वरूप (अपः) समस्त प्रज्ञानों, कर्मों और लोकों को (नि गाहते) भ्रमण करता है । और (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे साधक के (रत्नानि) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को (दधत्) पुष्ट करता या धारण करता, या देता है ।

(३) (एषः) वह (पवमानः) समस्त शरीर में व्यापक और गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ, (सत्वभिः) अपने सात्विक बलों से (शूर इव यन्) वीर योद्धा के समान गति करता हुआ (विश्वानि) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य आनन्दों, सुखों का (सिषासति) सेवन करता है ।

(४) (एष) वह (देवः) प्रकाशमान, (पवमानः) समस्त शरीर और हृदय को पवित्र करता हुआ (रथर्यति) रथ के समान शरीर में रहता है और (दिशस्यति) उपदेश प्रदान करता और (वग्नुम्) ज्ञानवाणी या स्तुति को (आविः कृणोति) प्रकट करता है।

(५) (एषः) वह (हरिः) दुःख हरण करने हारा (देवः) देव (पवमानः) व्यापक आत्मा (विपन्युभिः) विद्वान्, सत्य अर्थों के प्रकाशक (ऋतायुभिः) सत्य कामना वाले विद्वानों द्वारा (वाजाय) बल की प्राप्ति के लिये (मृज्यते) और भी पवित्र किया जाता है।

(६) (एष देवः) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा (पवमानः) पवित्र किया हुआ (विपा) विशेष पालना करने हारी शक्ति से (कृतः) सम्पन्न होकर (अदाभ्यः) विना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, अमृत होकर (ह्वरांसि) समस्त कुटिल विचारों, या पापसंकल्पों, या बंधनों को (अति धावति) पार कर जाता है।

(७) (एषः) वह (पवमानः) शुद्ध, पवित्र होकर (रजांसि) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को (धारया) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (अति) अतिक्रमण करके (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ (दिवं) ज्ञानमय, प्रकाशमय मोक्ष को (विधावति) प्राप्त कर, विचरण करता है।

(८) (एषः पवमानः) वह मुक्तात्मा सोम (अस्तृतः) वासनाओं से बाधित न होकर (सु-अध्वरः) सुकृत कर्म करके कभी नाश को न प्राप्त होने वाला, होकर (रजांसि) रजोमय विघ्नों को (तिरः) एक तरफ़ हटाकर (दिवं) प्रकाशमान मोक्षलोक को (वि आसरत्) विशेष रूप से प्राप्त होजाता है।

(९) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर (हरिः) सब दुःखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा

(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों के हितार्थ (प्रत्नेन) पुराने परिपक्व (जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा (पवित्रे) परम पावन, परमात्मा में (अर्षति) जा लगता है ।

(१०) (एषः उ स्य,) और वही यह (पुरुव्रतः) नाना सत्कर्म अनुष्ठान करने द्वारा (जज्ञानः) शरीर में आकर (इषः) नाना कर्मों, कर्मफलों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सुतः) गुरुओं से उपदेशों द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान सम्पन्न होकर (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा (पवते) उत्तम मार्ग में गति करता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:0.—

[१२६६] एष धियायात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

[१२६७] एष पुरु धियायते बृहते देवतातये ।
यत्रामृतास आशत ॥ २ ॥

[१२६८] एतं मृजन्ति मर्ज्यमुपद्रोणेष्वायवः ।
प्र चक्राणं महीरिषः ॥ ३ ॥

[१२६९] एष हिता विनीयतेऽन्तः शुन्ध्यावता पथा ।
यदी तुञ्जन्ति भूर्णय ॥ ४ ॥

[१२७०] एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।
पतिः सिन्धूनां भवन् ॥ ५ ॥

१२६६—१. 'आसने' ४. 'शुभ्यावता' इति अ० ॥

[१२७१] एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३ वृषा ।
नृम्णा दधान ओजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवाँ अति ।
अव शादेषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] एतमु त्यं दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे ।
स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । १५ । १, २, ७, ३, ५, ४, ६, ८ ॥

भा०—(१) (रथेभिः) रथों द्वारा जिस प्रकार (शूरः) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक व्यापन करने हारे सात्विक साधनों से युक्त होकर (एषः) वह शमादि-गुणसम्पन्न योगी (आशुभिः) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलने वाले (अण्व्या) सूक्ष्म (धिया) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा (इन्द्रस्य) आत्मा और प्रभु परमात्मा के (निष्कृतम्) परम दिव्य धाम को (गच्छन्) जाता हुआ (याति) परम सुख को प्राप्त करता है ।

(२) (एषः) वह आत्मा योगी उस (बृहते) बड़े भारी (देववातये) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु को साक्षात् करने के लिये (पुरु) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा (धियायते) ध्यान करता और योग-समाधि का अनुष्ठान करता है । अथवा (धिया अयते) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है । (यत्र) जहां जिसमें वे (अमृतासः) अन्य मुक्तात्मागण अमृत स्वरूप होकर (आशत) मोक्षसुख का भोग करते हैं ।

(३) (आयवः) दीर्घ आयु की कामना करने हारे, या ज्ञानी मनुष्य (एतं) इस (सोमम्) शमदमादि-सौम्यगुणों से सम्पन्न, (मर्ज्यं) प्रयत्न से शोधने योग्य, या खोजने योग्य (महीः) बड़ी (इषः), इच्छाओं को

या बल साधनाओं को (प्र चक्राणम्) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को (ओघेषु) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसव्यापारों या कोशों में (मृजन्ति) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं ।

(४) (यद् ईं) जब (भूर्णयः) भरणशील प्राण और अपान को यथास्थान, यथामार्ग में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष (सुञ्ज-न्ति) प्राण और अपान की आहुतियां प्रदान करते हैं तब (एषः) यह सोम (अन्तः) भीतर (हितः) गुप्तरूप से विद्यमान (शुम्भावता) शुद्धियुक्त (पथा) मार्ग से (विनीयते) प्राप्त कराया जाता है ।

(५) (एषः) यह सोम (रुक्मिभिः) उत्तम कान्ति से सम्पन्न, देदीप्यमान तेज वाले, (शुभ्रेभिः) श्वेत शुद्ध (अंशुभिः) किरणों से युक्त (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान्, (सिन्धूनां) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रनाड़ियों का (पतिः) पालक (भवन्) होता हुआ (ईयते) जाना जाता है ।

(६) जिस प्रकार (यूथ्यः वृषा) गोयूथ में विचरण करने हारा महावृषभ (शृङ्गाणि दोधुवत्) अपने सींग हिलाता हुआ (शिशीते) समीप के पदार्थों को भी कंपाता है उसी प्रकार (एषः) यह विद्वान् अपने (शृङ्गाणि) किरणों को या प्रेरक बलों को (दोधुवत्) प्रेरित करता हुआ (ओजसा) अपने बल से (नृम्णा) प्राणों को (दधानः) धारण करता हुआ (शिशीते) सब प्राणों को भी, कम्पित करता उनको संचा-लित करता है ।

(७) (एषः) यह ज्ञानी (वसूनि) वास करने हारे प्राणों को (पिब्दनः) पीड़ित या प्रेरित करता हुआ (परुषा) प्रत्येक पर्व या मंजिल को (अति ययिवान्) पार करता हुआ (सादेषु) कठिन तपस्याओं या भूमियों में (अव गच्छति) प्रवेश करता है ।

(८) (हरिं०) दुःखों के हरने वाले मनोहर, सबके प्रेरक, सबके धारक, (त्यं एतं) उस इस (सु-आयुधम्) उत्तम साधनाओं से सम्पन्न, (मदिन्तमं) अति आनन्द और हर्षयुक्त सोमरूप साधक आत्मा को (दश क्षिप॰) दशों प्राणगण (पातवे) प्राप्त करने या आनन्दरस पान कराने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २
[१२७४] एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत ।
२ ३र १ २ ३ १ २
गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७५] एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥

३ २ २र ३ २ ३ २उ ३ १ २
[१२७६] एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
१ २ ३ २उ ३ १ २
गच्छञ्जारो न योषितम् ॥ ३ ॥

३२उ २ १ २र ३ १र २र
[१२७७] एष स्य मद्यो रसोऽवचष्टे दिवः शिशुः ।
२उ ३ २ ३ १ २
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥

३२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[१२७८] एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः ।
२ ३ १ ३ २ ३ २
क्रन्दन्योनिमभि प्रियम् ॥ ५ ॥

३२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७९] एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । ३८ । १, २, ४, ३, ६, ५ ॥

भा०—(१) (स्यः एषः) वह यह सोम अर्थात् शम आदि षट्क-सम्पत्ति से युक्त मुमुक्षु जन (वृषा) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने हारा, (रथः) गतिशील, रमणस्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न होकर विचरने हारा, (सहस्रियाम्) बल से युक्त या नाना प्रकार के सुखों के देने वाले (वाजं) ज्ञान ऐश्वर्य को (गच्छन्) प्राप्त होता है और वह (अण्व्या) चितिशक्ति या मुख्य प्राण के (वारैः) वरण योग्य साधनों से (अव्यत) मुक्तिमार्ग पर गमन करता है।

(२) (एतं) इस (हरिम्) दुःखों के हरने वाले, सबके नेता, मुमुक्षु आत्मा को (त्रितस्य) तीनों प्रकार के दुःखों से परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों से युक्त मुख्य प्राण के साथ (योषणः) प्रेम करने हारी, उसका सेवन करने हारी, इन्द्रिय-वृत्तियां (इन्द्राय) परम आत्मा के (पीतये) आनन्दरस प्राप्त करने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करतीं या उस के बल की वृद्धि करती हैं।

(३) (एष स्यः) यह वह योगी (मानुषीषु) मनुष्य (विक्षु) प्रजाओं में (श्येनः न) पक्षियों में वेगवान् गरुड़ के समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और (योषितम्) स्त्री के प्रति (गच्छन्) गमन करते हुए (जारः न) उसके प्रिय पुरुष के समान गुप्तरूप से परमसुख का अभिलाषी होकर (सीदति) तन्मय भाव से विराजता है।

(४) (यः) जो (इन्दुः) परम ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा (वारम्) वरण करने योग्य मोक्षमार्ग में (आविशत्) प्रवेश करता है (एष स्यः) वह यह (मधुः) अतिहर्षयुक्त (रसः) आनन्दमय, रसमय होकर (दिवः) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में (शिशुः) बालक के समान, या मध्य आकाश में सूर्य के समान रहकर (अवचष्टे) समस्त भुवनों को देखता है।

(५) (एषः स्यः) यह वह सोम मुमुक्षु आत्मा (पीतये) आनन्द-रस पान करने के लिये (सुत) तैयार, निष्पन्न होकर (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ, स्तुति करता हुआ, (हरि:) सब इन्द्रियों का नेता, (धर्णसिः) सब प्राणों को धारण करने द्वारा होकर (प्रिय) अपने प्रिय, उत्तम (योनिम्) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के (अभि-अर्षति) प्रति गमन करता है ।

(६) (त्यं एतं) उस इसको (अपस्युवः) कर्म करने की इच्छा करने हारी चेष्टावान् (दश) दस (हरितः) हरणशील इन्द्रियां, या प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर (मर्मृज्यन्ते) और अधिक उज्वल होती हैं (याभिः) जिनसे वह मुमुक्षु (इन्द्रस्य) अपने भीतर विराजमान ऐश्वर्य-शील आत्मा के (मदाय) परम आनन्द प्राप्त करने के लिये (शुम्भते) स्वयं प्रकाशित, या सुशोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीय खण्डः ।

३ २ ३ २ ३ १ र २ र ३ १ र २ र ३ १ २
[१२८०] एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।
२ ३ ९ ३ १ २
अव्य वार विधावति ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१२८१] एष पवित्रे अक्षरत्सोमो देवेभ्य सुतः ।
२ ३ १ २ ३
विश्वा धामान्याविशन् ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२८२] एष देव शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २
वृत्रहा देववीतम ॥ ३ ॥

१२८०—१. 'अव्यो वार', ६ "संवसानं विवस्वत. पतिं वाचो अदाभ्यम्" इति च ऋ० ।

[१२८३] एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः ।
अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥

[१२८४] एष सूर्यमरोचयत्पवमानो अधि द्यवि ।
पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ५ ॥

[१२८५] एष सूर्येण हासते संवसानो विवस्वता ।
पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥ ६ ॥ ५ ॥

"एष वाजी" इत्यारभ्य "एष सूर्यमरोचय" दित्यन्तं, ऋ० ९ । २८ । १-४ ॥ पञ्चम्याश्चर्च-प्रथम पाद. "पवमान" इत्यारभ्य "हासते" इत्यन्तं पादद्वयं च, ऋ० २७ । ६ । २१ ॥ "संवसान" इत्यारभ्य "अदाभ्य" इत्यन्त ऋ० ९ । २६ । ४ ॥

भा०—(१) (एष.) यह सोम, आत्मा (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान् सबको कपाने हारा (विश्ववित्) समस्त ससार के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने हारा, सर्वज्ञ (मनसस्पति.) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभि.) सब मनुष्यों और देह में प्राणों द्वारा (हित) धारण किया हुआ है । वही अव्यं) आत्मा या प्राण के (वार) वरण करने योग्य सीमा को भी,(वि धावति) पार कर जाता है, उनसे परे है।

(२) (एष) यह (सोमः) सौम्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा (देवभ्य·) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों क और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त (सुत) सूक्ष्मरूप से सब में प्रकट हुआ (पवित्रे) शुद्ध कान्तिमय रूपों में (अक्षरत्) प्रकट होता है और (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों या तेजों में (आविशन्) व्यापक है ।

(३) (एष. देव.) वही प्रकाशमान देव (अमर्त्य.) अमरणधर्मा, अविनाशी, (वृत्रहा) सब आवरणकारी अन्धकारों का नाशक, (देववीतम)

सब दिव्य पदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक (योनौ अधि) मूलकारण रूप प्रकृति में (शुभायते) भासमान है ।

(४) (वृषा) समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने हारा, (एषः) यह आत्मा (दशभि.) दश (जामिभिः) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से (यतः) धारण किया गया (द्रोणानि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापक हो रहा है । आत्मपक्ष में— (दश जामिभिः) यह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने हारी दश इन्द्रियों सहित (द्रोणानि धावति) देहरूप कलशों में व्यापक है ।

(५) (एषः) वह परमात्मा (पवमानः) सर्वत्र व्यापक (अभि-द्यवि) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्वयं (मदः) आनन्द स्वरूप (पवित्रे) पवित्र करने हारे आत्मा में (मत्सरः) आनन्दरस का वर्षण करने हारा होकर (सूर्यं) सूर्य के समान प्राण को भी (अरोचयत्) प्रकाशित करता है ।

(६) (एषः) यह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा (विवस्वता) दीप्तिमान् (सूर्येण) सबके प्रेरक सूर्य के साथ (संवसानः) समस्त संसार को आवृत करता हुआ (वाच.) समस्त वेदवाणी का (अदाभ्य) अद्वितीय (पतिः) स्वामी होकर (आसते ह) निश्चय से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१२८६] एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते ।

३ २उ ३ १ २

पुनानो घ्नन्नपद्विषः ॥ १ ॥

१२८६—१ 'घ्नन्नपस्रिध.' इति ऋ० ।

३ १ २र ३१ २ ३ १र २र
[१२८७] एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परिषिच्यते ।
३ १ २ ३ १ २
पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २ ॥
३२उ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१२८८] एष नृभिर्विनीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः ।
२ ३ १ २ ३ २
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२८९] एष गव्युरचिक्रदत्पवमानो हिरण्ययुः ।
१ २ ३ १र २र
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ ४ ॥
३ २ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२९०] एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः ।
३ २उ ३ २ ३ २
पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ५ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२९१] एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति ।
३ १ २ ३ २
देवावीरघशंसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । २७ । १-४, ६ ॥ ६ । २८ । ६ ॥

भा०—(१) (एषः) यह (कवि) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा, (द्विषः) द्वेष करने हारे दुष्ट पुरुषों को (अपघ्नन्) दूर ही विनाश करता हुआ (पुनानः) सबको पवित्र करने हारा, पतितपावन (अभिस्तुत) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया (पवित्रे) शुद्ध, पवित्र हृदय-देश में (अधि तोशते) विराजता है ।

(२) (एषः) यह सोम, सब का प्रेरक (दक्षसाधनः) समस्त बलों का साधक, उत्पादक, (स्वर्जित्) समस्त उत्तम लोक और आनन्द, मोक्षसुखों का विजय करने हारा, (वायवे) प्राणस्वरूप (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदयदेश में (परि-सिच्यते) सब प्रकार से ध्यानवृत्तियों द्वारा प्रवाहित, आप्लावित अर्थात् मनन किया जाता है ।

(३) (एषः) यह (दिवः मूर्धा) महान आकाश या प्रकाश का मूर्धास्वरूप, मुख्य केन्द्र, सब का प्रेरक, (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (सोमः) सोम (विश्ववित्) सर्वज्ञ, (नृभिः) विद्वान् नेता लोगों द्वारा (वनेषु) सेवन करने योग्य कार्यों, देहों और लोकों में (विनीयते) नाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता है ।

(४) (एषः) यह (पवमानः) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने हारा, (हिरण्ययुः)-समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, (इन्दुः) ऐश्वर्य-शील, (सत्राजित्) समस्त संसार पर विजय करने हारा, (अस्तृतः) किसी से भी स्वयं हिंसित या विनाश न होने हारा अद्वितीय, (गव्युः) समस्त गतिमान् पिण्डों में भी व्यापक, सबका हितकारी, (अचिक्रदत्) वेद द्वारा उपदेश करता है ।

(५) (एषः) यह सोम (हरिः) सबका नेता, सब दुःखों का हर्ता (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (शुष्मी) सर्वशक्तिमान् (इन्दुः) सर्वैश्वर्य-वान्, (इन्द्रं) भीतरी अन्तर आत्मा को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (अन्तरिक्षे) हृदयदेश में (असिष्यदत्) प्रवाहित होता है ।

(६) (एषः) यह (अदाभ्यः) अमर, हिंसित न होने वाला, स्वतः पीड़ारहित (देवावीः) सब इन्द्रियों, देवों, पञ्चभूतों और दिव्य लोकों में भी व्यापक और उनका रक्षक (अघशंसहा) पापवार्ता कहने हारे का विनाशक, (सोमः) सोम परमेश्वर (पुनानः) सब को पवित्र और प्रका-शित करता हुआ (अर्षति) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[१२६२] स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति ।
विघ्नन्रक्षांसि देवयुः ॥ १ ॥

[१२६३] स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः ।
अभि योनिं कनिक्रदत् ॥ २ ॥

[१२६४] स वाजी रोचनं दिवः पवमानो विधावति ।
रक्षोहा वारमव्ययम् ॥३॥

[१२६५] स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत् ।
जामिभिः सूर्यं सह ॥४॥

[१२६६] स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविदृदाभ्यः ।
सोमो वाजमिवासरत् ॥५॥

[१२६७] स देवः कविनेषितोऽभि द्रोणानि धावति ।
इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥६॥७॥ ऋ० ९ । ३७ । १-६ ॥

भा०—(१) (सः) वह (वृषा) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का वर्षक (सोमः) रसस्वरूप, सब का उत्पादक (देवयुः) विद्वानों और प्राणों की अभिलाषा पूर्ण करने हारा, (पीतये) आनन्द पान कराने के निमित्त (सुतः) निष्पन्न होकर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिक्ष में (अर्षति) व्याप्त होता है।

(२) (सः) वह (हरिः) शक्तिमान्, सर्व दुःखों का हर्त्ता, (विचक्षणः) सब का द्रष्टा, (धर्णसिः) समस्त जगत् का धर्त्ता, (कनिक्रदत्) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा (पवित्र) पवित्र, अन्तःकरण में (अर्षति) प्रकट होता है।

(३) (सः) वह आत्मा (वाजी) बलवान्, ज्ञानवान् (दिवः) सूर्य और प्राण का भी (रोचनं) प्रकाशक (पवमानः) सब को पवित्र करने हारा, (रक्षोहा) दुष्टों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक; (अव्ययम्)

अवि अर्थात् प्राणों के बने (वारं) स्थूल आवरण को (विधावति) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

(४) (स.) वह (त्रितस्य) प्राण के (अधिसानवि) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में (पवमान.) परिशुद्ध होकर (जामिभि) अन्य ज्ञानोत्पादक इन्द्रिय वृत्तियों के (सह) साथ मिलकर (सूर्यं) सूर्य के समान सब के प्रेरक मुख्य, प्राण को (अरोचयत्) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

(५) (सः) वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का विनाशक (सुतः) निष्पन्न (सोमः) सब इन्द्रियों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा (अदाभ्यः) किसी से हिंसित या पराजित न होकर (वरिवोविद्) सबसे उत्तम आत्म रूप या आत्मानन्द कोश=खजाने को लाभ कराने हारा (वाजम् इव) युद्ध में शूरवीर के समान परम ज्ञानमय ब्रह्म की ओर (असरत्) गति करता है ।

(६) (सः) वह (देवः) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप (कविना) क्रान्तदर्शी मेधावी सबके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा (इषितः) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर (इन्दु.) भीतर ही द्रवित होता हुआ (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को (मंहयत्) आनन्द प्रदान करता हुआ (द्रोणानि) समस्त ज्ञान कलशों, कोष्ठों, देहों और कोशों में (अभिधावति) विचरण करता है ।

इति षष्ठ० खण्ड. ।

१ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१२९८] यः पावमानीरध्येत्यृषिभि संभृत रसम् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ १ ॥

३ १उ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१२९९] पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३००] पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥३॥
३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१३०१] पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कामान्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥४॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३०२] येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥६॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३०३] पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥८॥

आद्ये द्वे ऋ० ९ । ६७ । ३१, ३२॥ शेषा ऋग्वेदे नोपलभ्यन्ते ।

भा०—(१) जो (ऋषिभिः) मन्त्र का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषियों द्वारा (सम्भृतम्) अच्छी प्रकार धारित, और प्राप्त एवं साक्षात् किये और अन्यों को उपदेश किये हुए (रसं) आत्म-ज्ञानस्वरूप मधु विद्यामय, रसरूप (पावमानी) सोम, पवमान सम्बन्धी ऋचाओं को (अध्येति) अध्ययन करता है, उनके तत्वार्थ ज्ञान का लाभ करता है (स) वह (सर्वं) सब (मातरिश्वना) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म या प्राणस्वरूप जीवनशक्ति द्वारा या (मातरि ज्ञानसाधने इन्द्रिये आत्मनि वा श्वयति गच्छति इति मातरिश्वा मनः) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों या आत्मा में निरन्तर गति करने हारे मन द्वारा (स्वदितं) आस्वादन करने योग्य (पूतं) पवित्र ज्ञान का (अश्नाति) लाभ करता है और उपयोग करता है । 'मन पूतं समाचरेत्' इति मनुः ।

(२) (यः) जो (ऋषिभिः सम्भृतं रस) मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् साक्षात् किये गये ज्ञान रसस्वरूप (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी वेद की ऋचाओं का (अध्येति) अध्ययन करता है (तस्मै) उसके लिये (सरस्वती) वेदवाणी (क्षीरं) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान (सर्पिः) घृत के समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, ज्योतिःस्वरूप आत्मदर्शन और (मधु) मधु के समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्म, स्वाद और (उदक) जल के समान शीतल, शान्तिरस को (दुहे) दोहन करती है।

(३) (याः पावमान्यः ऋचः) जो पवमान सोमसम्बन्धी ऋचाएं हैं वे (स्वस्त्ययनीः) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (सुदुघाः) सुख से ही परमानन्द रस को देने वाली, (घृतश्चुतः) ज्ञान और सात्विक प्रकाश के उत्पन्न करने वाली हैं। वे तो साक्षात् (ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा (संभृत) प्राप्त (रसः) परम रसस्वरूप (ब्राह्मणेषु[1]) वेद के विद्वानों के भीतर (हितम्) स्थापित (अमृत) कभी न नाश होने वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं।

(४) (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएं ही (नः) हमें (इमं) इस (लोक) लोक (अथो) और (अमुं लोकं) परलोक को (दधन्तु) धारण करावें। और वे (देवीः) दिव्यगुणप्रकाशक होकर (देवैः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा (समाहृताः) उपदेशों और व्याख्यानों द्वारा सर्वत्र प्रकाशित होकर (नः) हमारे (कामान्) शुभसंकल्पों को (समर्धयन्तु) पूर्ण करें।

(५) (देवाः) विद्वान् योगी जन (येन) जिस (पवित्रेण) समस्त संसार को पवित्र करने हारे उपाय से (सदा) नित्य अपने (आत्मानं) आत्मा को (पुनते) पवित्र करते हैं (तेन) उस (सहस्रधारेण) सहस्रों

1. विपायो विरजोऽविच्छिदस्तो बाढणो अर्थात । [गृ० उप० अ० ४ । ४ । २३]

धारणा शक्तियों से सम्पन्न, योगसाधन या पतितपावन ईश्वर प्रणिधान से ही यह (पावमानीः) पवमान सोम-सम्बन्धी ऋचाएं भी (न) हमें (पुनन्तु) पवित्र करें।

(६) (स्वस्त्ययनी) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (पावमानीः) पावमान सम्बन्धी ऋचाएं ही हैं। (ताभिः) उनसे आत्मा या साधक (नान्दनं) परमानन्द अवस्था, मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है और (पुण्यान् च) पुण्य, (भक्षान्) सेवन करने योग्य सुख भोगों को (भक्षयति) उपभोग करता है और (अमृतत्वं च) अमृतत्व-रूप परमपद को भी (गच्छति) प्राप्त करता है।

'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथाः। त्रय स्वप्नाः। अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति। स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषद् इति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् इदमदर्शमिति तस्मादिदन्द्रो नाम इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। इत्यादि। ऐतरेय० उप० ३। ४।

'इति सप्तम खण्डः।

१ २ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१२०४] अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दुरोणे। चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः
३ १ २
प्रत्यञ्चम् ॥१॥

२ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १
[१२०५] स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निष्टवे दम आ जात-
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
वेदाः। स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणत उत नो
३ १ २
मघोनः ॥२॥

१ २र ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १-३ १ २, ,
[१३०६] त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः।
१र २र ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा
नः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १२।१-३ ॥

भा०—(१) (यः) जो (स्वे) अपने (दुरोणे) इस ब्रह्माण्ड रूप अनन्त संसार में (समिद्धः) प्रकाशमान होकर (दीदाय) चमकता है । उस (विश्वतः) सर्वत्र (प्रत्यञ्च) व्यापक, (उर्वी) महान् (रोदसी), द्यौ और पृथिवी लोकों के (अन्तः) बीच (स्वाहुतं) स्वयं सब को वश करने हारे, सबके आश्रयरूप (यविष्ठं) सबसे अधिक बलवान्, सब में व्यापक, (चित्रभानुं) पूजनीय, कान्तिमय परमेश्वर को (महानमसा) बड़ी विनय से (अगन्म) हम प्राप्त हों ।

यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च । (मुण्डक० २ । २ । २)

(२) (सः) वह (मह्ना) अपनी महिमा से (विश्वा दुरितानि) समस्त पापों को (साह्वान्) दूर करने हारा, (अग्निः) अग्निस्वरूप परमात्मा (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का जानने हारा (दमे) हमारे हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में (आ स्तवे) सर्व प्रकार से स्तुति किया जाता है । (सः) वह (नः) हमें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) पापाचरण से (रक्षिषत्) रक्षा करे । और (गृणतः) स्तुति करने हारे (अस्मान्) हम लोगों को बचावे। (उत) और (मघोनः) ज्ञान धन-सम्पन्न (नः) हमें पापाचरण से बचावें ।

(३) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप (त्वं) तू (वरुण , उत मित्रः) सब पापों से निवारण करने और सर्वश्रेष्ठ होने से 'वरुण' और सबको स्नेह करने हारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से 'मित्र' है । (वसिष्ठाः) अपने २ वश में स्थित अथवा परमपद में वास करने हारे ज्ञानी अथवा

अपने स्वरूप में स्थित मुमुक्षु लोग या प्राणगण (मतिभिः) मननशक्तियों द्वारा (त्वा) तुझे या तेरी महिमा को ही (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं । (त्वे) तुझ में, तेरी साक्षिता में (वसूनि) समस्त ज्ञान, धन, (सुषणानि) उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने योग्य (सन्तु) हों । हे विद्वान् लोगो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमें (सदा) नित्य (स्वस्तिभि.) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से (.पात) रक्षा करो ।

[१३०७] महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

[१३०८] कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधा ॥ २ ॥

[१३०९] प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः ।
विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥३॥१०॥ ऋ० ८ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (वृष्टिमान्) वृष्टि करने वाला (पर्जन्यः इव) मेघ जिस प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी प्रकार (य.) जो (इन्द्र.) इन्द्र (ओजसा) अपने बल से (महान्) बड़ा होकर (वत्सस्य) वत्स के समान अपने आश्रय पर रहने वाले समस्त संसार की (स्तोमै.) स्तुतियों द्वारा (वावृधे) बड़ा कीर्तिमान्, प्रसिद्ध होता है ।

(२) (कण्वाः) ज्ञानी स्तोतागण (स्तोमैः) अपने स्तोत्रों द्वारा (यद्) जब (इन्द्रं) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को (यज्ञस्य) जीवनरूप यज्ञ का (साधनं) साधन (अक्रत) बना लेते हैं तब विद्वान् लोग

(आयुधा) अन्य प्राणादि इन्द्रिय-साधनों को या यज्ञ के पात्रादि को (जामि) प्रयोजनरहित ही (भुवत) कहते हैं । साधक लोग जब अध्यात्म यज्ञ करते हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

(३) (यद्) जब (पिप्रतः) पूर्ण करने हारे (वह्नयः) अग्नि के समान दीप्तिमान् ज्ञान को धारण न करने हारे (विप्राः) मेधावी, ज्ञानी लोग (ऋतस्य) सत्यज्ञान रूप-आत्मा की (प्रजा) उत्तम रीति से प्रादुर्भाव होने हारी आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा शिष्य आदि को (प्र भरन्त) उत्तम रीति से धारण करते हैं तभी वे (ऋतस्य) ज्ञान और सत्य के (वाहसा) प्रापक बल से ही उसे धारण करते हैं ।

इति अष्टमः खण्डः ।

—o—

[१३१०] पवमानस्य जिघ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत ।
जीरा अजिरशोचिषः ॥ १ ॥

[१३११] पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः ।
हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ॥ २ ॥

[१३१२] पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६६ । २५-२७ ॥

भा०—(१) (पवमानस्य) पवित्र शुद्ध रूप में प्रकट होते हुए, (हरेः) समस्त दुःखों का हरण करने हारे और (जिघ्नतः) समस्त अज्ञान पटलों का बार २ नाश करते हुए सोम अर्थात् आत्मा, की (चन्द्राः) आह्लादकारिणी (जीराः) और दुःखनाशिनी (अजिरशोचिषः) अवि-नाशशील कान्तियां (असृक्षत) उत्पन्न होती हैं ।

१३१०—१. 'जाग्नो' इति ऋ० ।

(२) वह (पवमान) परमपावन आत्मा (रथीतमः) इस देहरूप रथ पर गति करने हारा, सब से उत्तम रथी, (चन्द्रः) आह्लादक, (हरिः) दुःखनाशक (मरुद्गणः) प्राणगण के साथ वर्त्तमान (शुभ्रेभिः) शुभ्र तेजों से (शुभ्रशस्तम) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है।

(३) हे (पवमान) सब को पवित्र करने हारे! स्वयं पवित्ररूप में प्रकट होता हुआ तू (स्तोत्रे) विद्वान् पुरुष में (सुवीर्यं) यश, बल और पुत्रादि धन को (दधत्) धारण पोषण करता हुआ (रश्मिभिः) अपने किरणों से (वाजसातमः) ज्ञान और बल का प्रदान करने हारा होकर (व्यश्नुहि) विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कर।

२ ३ १ २ ३ १र ३ १ २ ३२ ३ २
[१३१३] परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
३ १र २र ३ १ २र ३ १ ३ २ ३ १ २
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वा३ऽन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३१४] नूनं पुनानोऽविभिः परिस्रवादब्धः सुरभिन्तरः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सुते चित्त्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम्॥२॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २३ ३ २
[१३१५] परि स्वानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः॥३॥१२॥
ऋ० ९। १०७। १–३॥

भा०—(१) (य सोम) जो सोम, शरीर में वीर्य, ब्रह्माण्ड में धारक तेज या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पिण्डों आकाश का रूप (उत्तम) उत्तम, श्रेष्ठ (हवि) उपादान करने योग्य अन्न और खाद्य और जीवनप्रद आश्रय होता है और (य) जो (नर्य) नेता, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और (अप्सु) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और देह के जलीय रुधिरादि अंशों और लोकों के भीतर विद्यमान रहता हुआ उनको (दधन्वान्) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोम)

१३१३—१ 'अप्स्वन्तरा'। २. 'परिस्नानः' इति ऋ०।

सोम अर्थात वीर्य को (अद्रिभिः) न दीर्ण होने हारे अखण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों से (आ सुषाव) उत्पन्न किया जाताहै । अत उस (सुतं) उत्पन्न वीर्य और तेज को हे विद्वान् लोगो (इतः) इस मूल स्थान से ऊपर (परिषिञ्चत) शिर आदि प्रदेशों की ओर द्रवित करो अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या देखो [५१२] पृ० ।

(२) हे सोम ! तू (अदब्धः) किसी से हिंसित न होने वाला, सब से अधिक बलशाली (सुरभितरः) सब प्राणों से अधिक उत्तम गंध और बल वाला, (नूनं) निश्चय से (अविभिः) प्राणों द्वारा (पुनानः) अति पवित्र होता हुआ (परि स्रव) समस्त शरीर में गति कर । और (सुतेचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले अन्न और (गोभिः), इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (श्रीणन्तः) तुझे परिपक्व करते हुए (अप्सु) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द-लाभ करते हैं ।

(३) (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् उक्त सोम रूप शुक्र का पालन करने हारा ब्रह्मचारी, (विचक्षणः) नाना प्रकार के विज्ञानों का द्रष्टा, (क्रतुः) कर्म करने हारा, (देवमादनः) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों को हृष्ट पुष्ट करने और आनन्द देने हारा, (स्वानः) स्वयं निष्पन्न होता हुआ (परिचक्षसे) सब के देखने योग्य होजाता है ।

[१३१६] असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत् । पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥ १ ॥

१३१६—'वार पर्येत्यव्ययं' 'घृतवन्तमासदत्' ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
[१३१७] पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु
१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ २ २
क्षयं दधे । स्वसार आपो अभि गा उदासरन्त्सं ग्रावभि-
३ १ २ ३ २
र्वसते वीते अध्वरे ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३१८] कविर्वेधस्यापर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजम
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
र्षसि । अपसेधन् दुरिता सोम नो मृड घृता वसानः
१ २ ३ १ २
परियासि निर्णिजम् ॥ ३ ॥ १३ ॥ऋ० ६ । ८२ । १-३ ॥

भा०—(१) (अरुषः) दीप्तिमान्, (वृषा) सुखों का वर्षक, श्रेष्ठ (हरी) सब दुःखों का हर्त्ता, सबका नेता (सोमः) सोम, तेजस्वी विद्वान् पुरुष (असावि) उत्पन्न होता है । वह (राजा इव) राजा के समान (दस्म.) दुष्टभावों का नाशक एवं दर्शनीय होकर (गा.) जैसे प्रजाओं के प्रति राजा अपनी घोषणाएं करता है उसी प्रकार आत्मरूप सोम इन्द्रियों के प्रति और आचार्य विद्वान्. प्रजारूप शिष्यों के प्रति (अभिक्रदन्) वेद का उपदेश करता है । (पुनान) स्वयं पवित्र और देदीप्यमान होता-हुआ, (अव्ययं) प्राणमय (वारं) आवरण को (अत्येषि) पार करके (श्येनः न) जिस प्रकार बाज़ पक्षी उड़कर अपने निवास घोंसले की तरफ़ चला जाता है उसी प्रकार वेगवान् होकर वह भी (घृतवन्तं) प्रकाशस्वरूप (योनिं) मूलस्वरूप आश्रय को (आसदत्) प्राप्त होता है । यहां प्राणमय कोश से विज्ञानमय कोश पर वश करने हारे योगाभ्यासी का वर्णन है । व्याख्या देखो अविकल संख्या [५६२] पृ० २८३ ।

(२) (पर्णिनः) ज्ञानसम्पन्न, (महिषस्य) महान्, बलवान् सोमरूप आत्मा का (पिता) पालक (पर्जन्यः) मेघ के समान आनन्दरसों का दाता प्रजापति परमात्मा ही है । वह (पृथिव्या.) भूलोक के (नाभा)

नाना प्रकार के सम्बन्धों में (गिरिषु) विद्वानों में (क्षयं) निवास को (दध) धारण करता है । (आप॰) ज्ञान-वृत्तियां (स्वसार॰) अपने ही स्वरूप से प्रकट होकर निकलने हारी, (गाः अभि) इन्द्रियों के प्रति (उत् आसरन्) ऊर्ध्वगति करती हैं और वह आत्मा (वीते) कान्तिमान् (अध्वरे) ज्ञानयज्ञ में (ग्रावभिः) विद्वानों के संग (संवसते) निवास करता है ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (कविः) कान्तदर्शी, मेधावी होकर (वेधस्या) विशेष विधान करने हारी मति द्वारा (माहिनम्) पूजनीय परमात्मा के प्रति (परि-एषि) गति करता है । (मृष्ट॰) अति शुद्धस्वरूप होकर (अत्यः न) वेगवान् घोड़ा जिस प्रकार संग्राम में जाता है उसी प्रकार (अभि वाजम्) ज्ञान को लक्ष्य कर, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (अभि अर्षसि) मोक्षपथ में गति करता है । हे (सोम) विद्वन् ! (दुरिता) दुष्ट चेष्टाओं को (अप सेधन्) दूर करता हुआ (नः) हमें (मृळ) सुखी कर । और तू (घृता) कान्ति या तेजों के भीतर (वसान) आच्छादित होकर ही (निर्णिजम्) शुद्ध स्वरूप को (परि-यासि) प्राप्त कर ।

[१३१९] आघ्नन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ॥१॥

[१३२०] अलर्षिरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
यो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्
॥ २ ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ९९ । ३, ४ ॥

भा० —(१) [illegible]

१३१९ —[illegible]

(२) हे मनुष्य ! तू (अलर्षि रातिं) निष्पाप सात्विक, ज्ञानशील, (वसुदाम्) वास योग्य पदार्थ प्राण आदि का दान करने हारे परमेश्वर की (उप स्तुहि) स्तुति कर । क्योंकि (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा के (रातय) सब दान (भद्रा) कल्याणकारी हैं । (य:) जो स्वामी के समान (मनः) अपने मन अर्थात् ज्ञान को (दानाय) दान करने के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ (अस्य विधत:) इस अपने भक्त, सेवा करने हारे स्तोता की (कामं) इच्छा को (न) नहीं (रोषति) नाश करता ।

[१३२१] यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥१॥

[१३२२] त्वं हि राधसस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्त्ता ।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे॥२॥१५॥

ऋ० ८ । ६१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

(२) हे (राधस पते) हे सकल धनों और ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (त्व) तू (हि) निश्चय से (महः) बड़े भारी (क्षयस्य) निवासस्थान और (राधस) बड़भारी धन का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा स्वामी (असि) है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (इन्द्र) विघ्नों के नाशक ! हे (गिर्वण) वाणियों के एकमात्र विषय ! (सुतावन्तः) उत्पन्न समस्त पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष (त्वां) तुझ को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते हैं ।

इति दशमः खण्डः ।

१३२२—'त्व हि राधसस्पते', 'विधत.' इति ऋ० ।

[१३२३] त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे ।
पवस्व मंहयद्रयिः ॥१॥

[१३२४] त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः ।
इन्दुः सत्राजिदस्तृत ॥२॥

[१३२५] त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत् ।
द्युमन्तं शुष्ममाभर ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (सोम) परमेश्वर ! (त्वं) तू (धारयुः) धारणायुक्त अथवा धारा या वेदवाणी का स्वामी, (मन्द्र) अति आनन्दपूर्ण (ओजिष्ठः) अति बलवान्, (मंहयद् रयिः) ऐश्वर्य का प्रापक होकर (अध्वरे) उपासनामय यज्ञ में (पवस्व) प्रकाशित हो ।

(२) (त्वं) तू (सुतः) निष्पन्न होकर (मदिन्तमः) अति हर्षजनक, (मत्सरिन्तमः) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में हर्ष का प्रसारक (इन्दुः) कान्तिसम्पन्न (अस्तृतः) किसी से भी पराजित न होकर (सत्राजित्) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशील होकर सबको (दधन्वान्) धारण करता है ।

(३) (त्वं) तू (अद्रिभिः) विदीर्ण न होने वाले, अभेद्य, दृढ़, तपों या अखण्ड तपस्वियों द्वारा (सुष्वाणः) निष्पादित किया हुआ परिपक्व या अभ्यास किया हुआ (कनिक्रदत्) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने हारा होकर (अभि अर्ष) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । और (द्युमन्तं) यशोजनक (शुष्मं) बल को (आ भर) प्राप्त करा ।

[१३२६] पवस्व देव वीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥ १ ॥

१३२४—'त्वं सुतो नृमादन', 'इन्द्राय सरिन्धसा'। १३२५—'शुष्ममुत्तमम्' इति ऋ०।

[१३२७] तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः ।
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २ ॥

[१३२८] आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम् ।
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥३॥१७॥अ० ३।१०।६।७-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२७१] पृ०

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक ! आनन्दरसस्वरूप ! (तव) तेरे (उदप्रुतः) रस को प्रवाहित करने हारे (द्रप्साः) द्रुतगति से बहने वाले आनन्दरस (इन्द्रं) आत्मा को (मदाय) अति आनन्द प्राप्त कराने के निमित्त (वावृधुः) बढ़ाते हैं, उसे और अधिक शक्तिशाली बनाते हैं। (देवासः) विद्वान् योगिजन (कं) आनन्दस्वरूप (त्वा) तुझको (अमृताय) अमृत-स्वरूप परम आनन्द-प्राप्ति के लिये (पपुः) पान करते हैं।

(३) हे (इन्दवः) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने हारे, कान्ति-युक्त ! (सुतासः) ज्ञानानन्द रसो ! या ज्ञानी पुरुषो ! तुम निष्पन्न होकर (पुनानाः) स्वतः पवित्र (रीत्यापः) सब रसों के प्रापक (वृष्टिद्यावः) ज्ञान कान्ति के वर्षक, (स्वर्विदः) सुखों के प्राप्त कराने हारे, आप (रयिम्) अति रमणीयरूप आत्मा के प्रति (आ धावत) गति करो और आत्मा को शुभ्र शान्ति प्राप्त कराओ।

[१३२९] परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वां इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

[१३३०] द्विर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो अद्रिसंहतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥

१३३०—'स्वयशस स्वमार,' 'प्रस्नापयन्त्यूर्मिणम्' ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २र

[१३३१] इन्द्राय सोमपातवे वृत्रघ्ने परिषिच्यसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ र ३ १ २

नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ९ । ९८ । ७, ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [५५२] पृ० २७७ ।

(२) (य) जिस मुख्य प्राणरूप, सबके प्रेरक, सोम को (द्वि पंच च) दोगुना पांच अर्थात् दश (सखाय) समान नाम वाले इन्द्रिय नामक प्राण (ऊर्मय) ऊर्ध्वगति होकर (स्वयशसं) अपने कीर्तिस्वरूप (अद्रिसंहतम्) पर्वत के समान अभेद्य बल से युक्त (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा के प्रति कामना योग्य, (प्रियम्) अपने प्यारे को (प्रज्ञापयन्त) उत्तम रीति से ज्ञान कराते हैं सुखरूप जलों से मानो उसका अभिषेक करते हैं उसका साक्षात् ज्ञान करो ।

(३) हे (सोम) सबके प्रेरक बल ! आनन्दमय ! (पातवे) तेरा पान या पालन करने हारे, (वृत्रघ्ने) अज्ञान रूप विघ्न के विनाशक (दक्षिणावते) क्रिया शक्ति से सम्पन्न (सदनासदे) प्रत्येक आश्रयस्थान, जीवनरूप यज्ञ के गृह अर्थात् शरीर में स्थिर रूप से वर्त्तमान (वीराय) शक्तिशाली (नरे), सबके नेता, प्रवर्त्तक, (इन्द्राय) आत्मा के निमित्त तू (परिषिच्यसे) प्रवाहित किया जाता है ।

१ २ ३ १ र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ र २ र

[१३३२] पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥१॥

१ २ ३ १ ३ १ १ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३३३] प्र ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे द्युम्नाय ॥२॥

१ २ ३ १ र २ र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३३४] शिशुं जज्ञानं हरिम्मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम्

॥ ३ ॥ १९ ॥ ऋ० ९ । १०९ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३०] पृ० २११ ।

१३३१—'दशाय सद्मासदे' इति च ऋ० ।

(२) (ते) वे (सोतारः) निष्पादक साधक योगीजन (रस) रसस्वरूप उस (सोमं) सबके प्रेरक आनन्दरस सोम को (महे) बड़े भारी (द्युम्नाय) यश और ज्ञान और (मदाय) आनन्द प्राप्ति के लिये (प्र पुनन्ति) उत्तम रीति से परिशोधित करते हैं।

(३) (शिशुं) इस शरीर में शयन करने हारे (हरिं) दुःखों के हर्त्ता और इन्द्रियों के नेता रूप में (जज्ञानं) प्रादुर्भाव होने हारे मुख्य प्राणरूप (इन्दुम्) देदीप्यमान (सोमं) सोमरूप आनन्दरस को (देवेभ्यः) देवों, इन्द्रियों और विद्वानों के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में (सृजन्ति) परिशुद्ध करते हैं उसका साक्षात् करते हैं।

[१३३५] उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥

[१३३६] तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव।
य इन्द्रस्य हृदंसनिः ॥ २ ॥

[१३३७] अर्षा नः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥२०॥ ऋ० ९। ६१। १३—१५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३।

(२) (शिश्वरीः) माताएं जिस प्रकार (वत्सं इव) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार (नः) हमारी (गिरः) ज्ञान-कथाएं (तमिद्) उस आत्मा के आनन्द को ही (वर्धन्तु) वृद्धि करें। उसके बल को बढ़ावें (यः) जो (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के (हृदसनिः) हृदय में व्यापक रहता है।

(३) हे सोम ! तू (नः) हमारे (गवे) गोरूप वाणी के लिये (शं) शान्तिदायक कल्याणकारी सुख को (अर्ष) प्रेरित कर और

(पिप्युषी) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली (इषं) इच्छा शक्ति और अन्न के समान पोषक बल को (धुक्षस्व) प्राप्त करा और हे (उक्थ्य) प्रशंसनीय! (समुद्रं) रसों के सागर रूप आत्मा को (वर्ध) बढ़ा।

इति एकादशः खण्डः।

---

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[१३३९] बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४०] अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः।
२ ३ १ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ ऋ० ७ । ८५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [१३३] पृ० ७२।

(२) (युवा) बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर या आत्मा (येषां) जिनका (सखा) मित्र है (एषां) इनका (इध्मः) तेज (बृहत् इत्) बहुत ही बड़ा है और (शस्त्रं) उनकी स्तुति, महिमा गान करने वाली वाणी भी (भूरि) बहुत है और (स्वरुः) उनका स्वर या प्राण बल या तेज भी (पृथुः) बड़ा है।

(३) (येषाम् इन्द्रः युवा सखा) बलवान् परमात्मा जिनका मित्र है उनमें से (अयुद्ध इत्) युद्ध न करने वाला भी अकेला (शूर) शूर वीर के समान (युधावृतः) योधागण से घिरे प्रतिपक्षी शत्रु पर (सत्वभिः) अपने बलों द्वारा (आजति) चढ़ाई करता है, और उसे उखाड़ फेंकता है।

१३३८—१. 'भूरिशस्त्र' इति ऋ०।

२र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४१] य एक इद्विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४२] यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[१३४३] कदा मर्त्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
कदा न शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

ऋ० १ । ८४ । ७, ६, ८॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिकस सं० [३८६] पृ० २०० ।

(२) (बहुभ्यः) बहुत से पुरुषों में से (यः चित् हि) जो कोई भी (सुतावान्) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप (आविवासति) साक्षात् देख लेता है (अङ्ग) हे नर ! (इन्द्रः) परमेश्वर उसको शीघ्र ही (तत्) वह (उग्रं शवः) उग्र, वीर्य सम्पन्न बल (पत्यते) प्रदान करता है ।

(३) (अङ्ग) हे पुरुषो ! (इन्द्र) वह परमेश्वर तो (नः गिरः) हमारी वाणियों को (कदा) जब कभी भी (शुश्रवद्) सुन लेता है और (अराधसं) आराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को (पदा) चरण स्पर्श मात्र से नष्ट होजाने वाले (क्षुम्पम् इव) सांप की छतरी, खुम्ब या पद्वेहरे के नन्हे पौदे के समान (पदा) अपने सामर्थ्य से (कदा) कभी भी (स्फुरत्) विनाश कर देता है ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[१३४४] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

१उ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[१३४५] यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
१उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तादिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ।
२ ३उ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१३४६] युंक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ॥२॥
१ २ ३ १र २र
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिंश्चर ॥ ३ ॥ २३ ॥

ऋ० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४२] पृ० १७७ ।

(२) (यत्) जब (सानोः सानु) ऊंची से ऊंची चित्तभूमि में साधक (आरुह०) चढ़ जाता है और (भूरि) बहुत कुछ मन संकल्प (कर्त्वं) पूर्ण करने के लिये (अस्पष्ट) साधन करता है । (तद्) तब (इन्द्रः) परमेश्वर (अर्थं) उसके इष्ट प्रयोजन को (चेतति) जान लेता है और तब (वृष्णिः) सुखों की वर्षा करने हारा यह आत्मा (एज॰ ति) सेनापति के समान आगे बढ़ता है ।

(३) हे (सोमपाः) सोमरूप आनन्दरस का पान करने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! (अथा) अब (नः) हमारे (गिराम्) वाणियों की (उपश्रुतिम्) ध्वनि को (चर) श्रवण कर । और (केशिना) ज्ञान, साधना से सम्पन्न (वृषणा) सुखों के वर्षक (कक्ष्यप्रा) कक्षा वालों को पूर्ण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (युंक्ष्व हि) साधना में नियुक्त कर ।

इति द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः पञ्चमश्च प्रपाठकः समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठ. प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

ऋषि — १, ६ मेधातिथि काण्वः । १० वसिष्ठः । ३ प्रगाथः काण्व । ४ पराशर । ५ प्रगाथो घोर काण्वो वा । ७ त्र्यरुणत्रसदस्यू । ८ अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरा । ६ हिरण्यस्तूप. । ११ सार्पराज्ञी ।। देवता — १ इध्मः समिद्धो वाग्निः तनूनपात् नराशंस· इन्द्रश्च· क्रमेण । २ आदित्या· । ३, ५, ६ इन्द्र । ४, ७—६ पवमान सोमः । १० अग्निः । ११ सार्पराज्ञी ॥ छन्द —४—३, ११ गायत्री । ४ त्रिष्टुप । ५ बृहती । ६ प्रगाथ । ७ अनुष्टुप् । ८ द्विपदा पंक्ति. । ९ जगती । १० विराड् जगती ॥ स्वर·—१—३, ११ षड्ज । ४ धैवत । ५, ६ मध्यम. । ६ गान्धार· । ८ पञ्चम ।-६, १० निषाद ।।

[१३४७] सु षमिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते ।
होता· पावक यक्षि च ॥१॥

[१३४८] मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे ।
अद्या कृणु हूतये ॥२॥

[१३४९] नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उपह्वये ।
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥

[१३५०] अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आवह ।
असि होता मनुर्हितः ॥४॥१॥ ऋ० १ । १३ । १—४ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सुसमिद्ध) उत्तम रूप से हमारे, हृदय में प्रकाशित होकर आप (न.) हमें (देवान्)

१३४८— कृणुहि वीतये' इति ऋ० ।

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होतः) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्तःकरणों के पवित्र करने हारे ! आप (हविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने हारे ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यक्षि) आप प्रेम करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपात्) शरीर के छोटे से छोटे भागों की रक्षा करने हारे ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (नः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय शब्दमय और दान आदि सत्कर्मरूप यज्ञ को (अद्य) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नराशंसं) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुजिह्वं) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने, हारे । हविष्कृतं) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने हारे अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस (इह अस्मिन् यज्ञे) यहां इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान करू ।

(४) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुखतमे) अति अधिक सुख कारक (रथे) रमण करने के साधन इस देह में (ईडितः) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (देवान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनुः हितः) इस हृदयगुहा में मनन-शील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने हारा (असि) है ।

२ ३ १२ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३५१] यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
३ १ २ ३ १२ २र
सुवाति सविता भगः ॥१॥

[१३५२] सुप्रावीरस्तु सक्षय. प्र नु यामन्त्सुदानवः।
य नो अंहोऽतिपिप्रति ॥२॥

[१३५३] उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥३॥२॥ ऋ० १ । ६१ । ४-६ ॥

भा०—(१) (यद्) जो (अद्य) इस समय आज या इस कल्प में (भगः) सेवन करने योग्य है, (सूरे) सूर्य प्राणात्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागाः) सब अपराधों और दोषों से वियुक्त, पाप रहित, (मित्रः) सब का स्नेही, (अर्यमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब ससार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (यः) जो (अंह.) पाप को (अति पिप्रति) पार कर लेते है वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानवः प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने हारे हों । और (सक्षय) निवास सहित हमारा (सुप्रावी) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी (अस्तु) हो ।

(३) (उत) और (य.) जो (अदिति.) अखण्डित चरित्र वाले (अदब्धस्य) अविनाशी, सुसम्पादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महः राजान.) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् वशी हो जाता है ।

[१३५४] उ त्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

[१३५५] पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
न हि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

[१३५६] त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥३॥३॥ ऋ० ८ । ६४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१६४] पृ० १०३ ।

(२) हे (इन्द्र) ज्ञानवन् ! (पणीन्) केवल बदले बदले के व्यवहार को करने हारे, धन लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हारे मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (नि बाधस्व) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लोभवृत्ति को नाश करदे । तू (महान्) सबसे बड़ा (असि) है । (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले में (कःचन) कोई भी (नहि) नहीं है ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) आप (सुतानां) उत्पन्न, शिक्षित और (असुतानां) अनुत्पन्न और अशिक्षित, जो कालान्तर में उत्पन्न या शिक्षित होंगे उन सब पर (ईशिषे) सामर्थ्यवान् हैं क्योंकि (त्वं) तू (जनानां) सब मनुष्यों, और उत्पन्न होने हारे प्राणियों का (राजा) अधिपति, राजा है ।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं । वे क्रम से योगी और शिष्यों को और प्रजाओं को निरन्तर शिक्षा दें और उनकी व्यवस्था करें ।

इति प्रथमः खण्डः ।

— o —

[१३५७] आ जागृविर्विप्र ऋता मतीना सोमः पुनानो असदच्चमूषु । सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः ॥ १ ॥

१३५७—१. 'ऋता मतीनां' । २. 'सः' ... । ३ 'सदिकुम्नत्' इति ऋ० ।

१ २ ३२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२
[१३५८] स पुनान उपसूरे दधान ओभे अप्रा रोदसी वी ष
२२ ३ १ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ १२ ३ २ ३
आवः । प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊती सतो धनं कारिणे
१२ २२
न प्रयंसत् ॥ २ ॥
१ २ ३१२ २२ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
[१३५६] स वर्द्धिता वर्द्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वां अभि नो
१ २ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ज्योतिषा वीत् । यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो
३ १२ १२ ३ २
अभिगा अद्रिमिष्णन् ॥ ३॥४॥ ऋ० ९ । ९७ । ३७-३९ ॥

भा०—(१) (जागृविः) जागरणशील, कभी आलस्य न करने द्वारा, सर्वदा सचेत, (मतीना) मनन करनेहारी बुद्धियों या मनन करने योग्य वेदवाणियों के (ऋत) सारभूत सत्यज्ञान को (पुनान) प्रकाशित करता हुआ (विप्र) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् (सोमः) शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर (चमूषु) प्रजाओं में (असदन्) विराजता है । (यं) जिसके पास (निकामः) नाना प्रकार की कामनाओं से युक्त (मिथुनासः) गृहस्थ नर नारी (अध्वर्यवः) अपने यज्ञादि कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् (रथिरासः) देहधारी, (सुहस्ता) उत्तम कर्म करने में कुशल पुरुष भी (सपन्ति) ज्ञान और सत्संग प्राप्त करने के लिये आते हैं ।

(२) (स) वह विद्वान् (पुनान) अपने स्वरूप में स्वतः और अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को (सूरे) सबके उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर में (उपदधान) ईश्वर प्रणिधान द्वारा लगाता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य और पृथिवी के समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों को ज्ञान तेज से (आ अप्रा) पूर्ण करता है, (सः) और वह (वि आवः) विविध प्रकार का ज्ञान प्रकट करता है । और (सतः) अपने उद्देश्य तक पहुंचे हुए (यस्य)

जिसकी (गिरा) श्रेष्ठ, और (गिरमाण:) कल्याणप्रदायिनी कामनायें (ऊमी) रक्षा करें, भयों और विघ्नों से बचाने के लिये होती हैं। वह (नः) हमें (धनं) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को (कारिणं न) अपने आत्मा के समान समझ कर (प्र यमत्) प्रदान करे।

(३) (स) वह (पविता) सब की शुद्धि करने हारा और (पर्धनः) स्वयं भी आगे बढ़ाने हारा, या सबके बंधनों को काटने हारा और बन्धनों का भी मूलोच्छेद करने हारा (पूयमान.) शुद्ध पवित्र ज्ञानवान् होकर। (सोम) शमदमादि षट्क सम्पत्ति से युक्त विद्वान् (मंदिवान्) आनन्द और सुखों का वर्धक, धर्ममेघ समाधि में सिद्ध, (ज्योतिषा) आत्मज्ञानमय ज्योति से (न.) हमें (अभि आवीत्) उस स्थान पर ले जावे (यत्र) जहां (न:) हमारे (पदज्ञाः) परम पद, प्राप्त ब्रह्म के ज्ञाता (स्वर्विदः) मुक्ति सुख का लाभ करने हारे (गा) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् करके (पूर्वे पितर:) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि पुरुषा एवं आचार्य लोग (अद्रिम्) उस अखण्ड ब्रह्म को (इष्णन्) प्राप्त होते हैं।

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ ३
[१३६०] मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
२ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ० १ २
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
[१३६१] अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्षणीसहम्।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
विद्वेषणं संवननमुभयङ्कर मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । १ । १–२ ॥

भा०—(१) हे (सखायः) मित्रो ! समान रूप से प्रवचन करने हारे विद्वान् लोगो ! (अन्यद्) ईश्वर की स्तुति से अतिरिक्त अर्थवाद

१३६०—२. 'वृषभ यथा जुर', 'संवननोभयङ्कर' इति ऋ० ।

(मा चित्) कभी मत (वि शंसत) उच्चारण किया करो । आप कभी (मा रिषण्यत) क्लेश को प्राप्त न होओ । (च) और (सुते) ज्ञान उत्पन्न होजाने पर (सचा) एकत्र होकर एक साथ (वृषणं) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे (इन्द्रम्, इत्) परमेश्वर को ही लक्ष्य करके (उक्था) वेद-मन्त्रों को (मुहु) बार २ (शंसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो।

(२) और हे विद्वानो ! आप लोग (जुवं) वेगवान्, शक्तिशाली, (अवक्रक्षिणं) सबको अपनी ओर खींचने हारे (वृषभ) बलवान् श्रेष्ठ (गां न) बैल के समान बलवान्, (वृषभं) समस्त सुखों के वर्षक (चर्षणीसहम्) समस्त संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर क्षमा-शील, उनके व्यवस्थापक, (विद्वेषणं) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अप्रीति का पात्र और (संवनन) श्रेष्ठ पुरुषों के शरण करने योग्य (उभयंकरं) अनुग्रह और दण्ड पालन और संहार दोनों के करने हारे अतएव (मंहिष्ठ) सबसे बड़े दाता, (उभयाविनं) सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनों की समान भाव से रक्षा करने हारे (इन्द्रम् इत् स्तोत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करो।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा के प्रति इस भाव से रहना चाहिये। इन्द्रियों के पक्ष में—आत्मा (विद्वेषणं संवननं) द्वेष और राग से युक्त, ईप्सा और जिहासा या पाने और त्यागने की इच्छा द्वारा दोनों कार्यों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारोंके मार्गों पर जानेहारा है।

[१३६२] उदु त्ये मधुमत्तमा गिर. स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कण्वा इव भृगव. सूर्या इव विश्वमिद्धीतमाशत।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ३ । १५, १६ ॥

१३६३—'विश्वमिद्धीमानशुः' इति ऋ० ।

भा०—(१) (रथा इव) रमणसाधन, रथ जिस प्रकार (वाजयन्तः) संग्राम में गमन करते हुए (अभितोतयः) अपने रक्षा के साधनों को निरन्तर स्थिर रखने हारे (सत्राजित·) समस्त शत्रुओं का विजय करके (धनसा) धन, लक्ष्मी को प्राप्ति कराते हैं और राजा के प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अति ज्ञान, और आनन्दरूप मधु से पूर्ण (गिरः) वेदवाणीस्वरूप (स्तोमासः) वेद के स्तुति सूक्त, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उत् ईरते) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुझ परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

(२) (भृगव.) पाप को भून डालने हारे, तपस्वी, (कण्वा·) विद्वान् पुरुष (सूर्या इव) सूर्य की किरणों क समान (विश्वम् इत्) इस समस्त संसार को (धीतम्) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के (आशत) भोग करते हैं । और वे (प्रियमेधास.) सूक्ष्म तत्वदर्शिनी, धारणावती बुद्धियों और ज्ञानधाराओं के प्रेमी (आयवः) मनुष्य (स्तोमेभिः) नाना प्रकार के स्तुति-वचनों से (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की (महयन्तः) अर्चना करते हुए (अस्वरन्) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६४] पर्यूषु प्रधन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणि· ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६५] अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पय· ।
१ २ ३ १२ ३ १ २
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६६] अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्रगाहसे ॥३॥७॥ऋ० ९।११०।१,३,२॥

१३६६—तृतीयस्या ऋचः प्रायः सामसंहितासु 'मदामसीत्यन्तं' प्रतीकमुपलभ्यते ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२८] पृ० २१८ ।

(२) हे (पवमान) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक ! आप (गोजीरया) गति के वेग से युक्त (पुरन्ध्या) ब्रह्माण्ड को धारण करने हारी शक्ति से (रंहमाणः) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही (शक्मना) शक्ति से (पयः) सबके पुष्टिकारक जल को (विधारे) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये (सूर्यं) सूर्य को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो। अथवा-(पय सूर्यं विधारे अजीजनः) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [४३२] पृ० २२० ।

२ ३ १ ३
[१३६७] परिप्रधन्व० ॥१॥

३ १र २र ३ १र २र ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३६८] एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः॥२॥

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवा ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । १०६ । १, २, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२७] पृ० २१८ ।

(२) हे प्रभो ! तू (दिव्यः) दिव्य (पीयूषः) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दरसरूप, (अमृताय) अमृत, परम ब्रह्मसुख या मुक्ति प्रदान करने के लिये और (महे) बड़े भारी (क्षयाय) शरण प्राप्त कराने के लिये (एव) ही है । हे सबके उत्पादक (स) वह आप (शुक्रः) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर (अर्ष) अपनी ज्ञान और

१३६७—३ 'पेयाः' इति ऋ० । १च १च 'स्टीवन्सनसम्पादिते' लन्दनमुद्रिते ग्रन्थे आद्ये द्वे ऋचावेकीकृत्य मुद्रिते 'परिप्रधन्वा एवामृतायेत्यादि, तत्र प्रमादिनम् । अजमेरमुद्रिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ। तं विद्यात् शुक्रममृतम् । कठ० उप० ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् ! (सुतस्य) हृदय में प्रकट हुए (ते) आनन्दस्वरूप आपके रस का (इन्द्रः) यह आत्मा (च) और (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण, अथवा विद्वान्गण भी (क्रत्वे) ज्ञानप्राप्ति और (दक्षाय) बल प्राप्ति के लिये (पेयात्) पान करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:o:—

[१२७०] सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुतः साकमीरते । तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥१॥

[१२७१] उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि । पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव मधुमां द्रप्सः परिवारमर्षति ॥२॥

[१२७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति निष्कृतम् । अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥३॥६॥ ऋ० ९ । ६९ । ६, २, ४ ॥

भा०—(१) (सूर्यस्य) सबके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रश्मयः, इव) किरणों के समान (द्रावयित्नवः) द्रुतगति से जाने हारे (प्र

१२७०—१. 'प्रसुतः' २. 'सन्ततिः' ३. 'उक्ष । मिमाति' इति पा० ।

सुत) उत्तम रीति से उत्पन्न, प्रकट या प्रेरित होकर (मत्सरास.) निर-पेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित, (आशव.) शीघ्रगामी (सर्गासः) समस्त लोक (ततं) विस्तृत विशाल (तन्तुं) सर्ग, स्थिति, प्रलय के अनादि तन्तु ब्रह्म को आश्रयण करके (साक) एक ही काल में (परि ईरते) अपनी ? कक्षा में परिक्रमा करते हैं, वास्तव में (किञ्चन) कुछ भी (धाम) शक्ति और तेज (इन्द्राद् ऋते) बिना उस परमेश्वर के कहीं से भी (न) नहीं (पवते) प्रकट होता। यहा तेजस्वी लोकों को 'सोमा.' 'मत्सरासः' शब्दों से कहा गया है। अध्यात्मपक्ष में ये प्राण हैं और इन्द्र=आत्मा।

(२) (मति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द्र में समाधि द्वारा (उप पृच्यते) लग जाती है तब (मधु) आनन्द-रस (सिच्यते) अन्त करण में प्रवाहित होने लगता है। (मन्द्राजनी) अति आनन्ददायक रसधारा (आसनि) मुख के भीतर या मुख्यस्थान शिरोभाग में (अन्त) भीतर (चोदते) प्रेरित होती है। (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत होने द्वारा (पवमानः) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (द्रप्स) वीर्य और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर (वारम्) भृकुटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या वरणीय प्रदेश में (परि अर्षति) प्रकट होता है।

इसमें ब्रह्माण्डगत सोम के अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी दर्शाया गया है।

(३) जैसे (उक्षा) वीर्य सेचन में समर्थ सांड (मिमेति) शब्द करता है और (धेनव·) गौएं (त) उसकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं। इसी प्रकार (देवी) दिव्यगुण वाली शक्तियां या बुद्धियां (देवस्य) दिव्यगुण युक्त अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विशुद्ध स्वरूप को भी (उ-

पयन्ति) पहुंचती हैं । (सोमः) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति (अर्जुनम्[1]) शुभ्र या देह के उपचय अपचय करने में समर्थ (अव्ययम्) प्राणमय (वारम्) आवरणकारी कोप को (अति अक्रमीत्) अतिक्रमण करता है और (निक्तम्) शुद्ध (अत्कं) कवच के समान रक्षा करने हारे शरण योग्य पद को (अव्यत) प्राप्त होता है ।

[१३७३] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१॥

[१३७४] तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।
दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः ॥२॥

[१३७५] प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ७ । १ । १-३ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७२] पृ० ३७ ।

(२) (सुप्रतिचक्षं) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, (तम्) उस वरण करने योग्य (अग्निम्) अग्निरूप ज्ञानवान् तेजस्वी आत्मा को (वसवः) आवास के साधन या देह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण या विद्वान् लोग (कुतश्चित्) सब ओर से (अवसे) रक्षा प्राप्त करने के

१ ऋज गतिस्थानोपार्जनेषु । ऋजी भृजी भर्जने । अर्ज षर्ज भजने, इति भ्वादयः । अर्ज प्रतियत्ने इति चुरादिः । ... बहुलगुण । अर्जुन =गतिमान्, स्थिरः, उपार्जनशीलः, भर्जनशील., प्रतियत्न-वान् इत्यर्थ. ।

लिये (अस्ते) अपने गृह, देह, या हृदयगुहा में (निऋखवन्) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो (दक्षाय्यः) बल को प्राप्त कराने में चतुर (नित्य.) अव्यय अविनाशी, (दमे) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में (आस) विद्यमान रहता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशक आत्मन् ! (यविष्ठ) हे बलशालिन् ! अति युवतम ! अजर, अमर ! (प्रेद्ध.) योग-साधनों से प्रदीप्त, प्रज्वलित होकर (अजस्रया) निरन्तर प्रकाशमान (सूर्म्या) ज्वाला, ज्ञानमय ज्योति से (दीदिहि) प्रकाशित हो । (शश्वन्त.) अनादिकाल से बड़े तपस्वी (वाजाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझको (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

[१३७६] आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

[१३७७] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥

[१३७८] त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥११॥ ऋ० १० । १८९ । १-३॥

भा०—(१) (२) (३) व्याख्या देखो आर्चिक सं० क्रम से [६३०, ६३१ और ६३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीयः खण्ड. ।

इति षष्ठस्यप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्यः द्वितीयोऽर्धः ।

ऋषिः—१ गोतमो राहूगण., वसिष्ठस्तृतीयस्या । २, ७ वीतहव्यो भरद्वाजो वा बार्हस्पत्य· । ३ प्रजापतिः । ४, १३ सोभरि· काण्व. । ५ मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । ६ ऋजिश्वोर्ध्वसद्मा च क्रमेण । ८, ११ वसिष्ठ· । ९ तिरश्ची· । १० सुतम्भर आत्रेयः । १२, १६ नृमेधपुरुमेधौ । १४ शुनःशेप आजीगर्तिः । १५ नोधाः । १६ मेध्यातिथिर्मेधातिथिर्वा काण्वः । १७ रेणुर्वैश्वामित्रः । १८ कुत्स । २० आगस्त्य· ॥ देवता—१, २, ८, १०, १३, १४ अग्नि. । ३, ६, ८, ११, १५, १७, १८ पवमानः सोमः । ४, ५, ६, १२, १६, १६, २० इन्द्र ॥ छन्द·—१, २, ७, १०, १४ गायत्री । ३, ६ अनुष्टुप् । ४, १२, १३, १६ प्रागाथ । ५ बृहती । ६ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । ८, ११, १५, १० त्रिष्टुप् । १७ जगती । १६ अनुष्टुभौ बृहती च क्रमेण । २६ बृहती अनुष्टुभौ क्रमेण ॥ स्वरः—१, २, ७, १०, १४ षड्जः । ३, ६, १० गान्धार· । ४–६, १२, १३, १६, २० मध्यम. । ८, ११, १५, १८ धैवतः । १७ निषाद ।

३ १ २ ३१र २र ३ १२
[१३७९] उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
३२ ३ १ २ ३२
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ ॥

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३८०] यः स्नीहितीषु पूर्व्यः सञ्जग्मानासु कृष्टिषु ।
१२ ३२ २ १ २
अरक्षद्दाशुषे गयम् ॥ २ ॥

२ ३ १२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[१३८१] स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः ।
३२उ ३१२
उतास्मान्पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१३८१—'अग्नी रक्षतु विश्वतः' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३८२] उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि ।
३ १र २र
धनञ्जयो रणेरणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[१, २, ४] ऋ० १ । ७४ । १-३ [३] ऋ० ७ । १५ । ३ ।

भा०—(१) (अध्वरं) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को (उप प्रयन्त.) अनुष्ठान करते हुए हम लोग (आरे) दूर देश में (च) भी (अस्मे) हमारी स्तुति को (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिये (मन्त्रं) मनन करने योग्य वेदमन्त्र का (वोचेम) उच्चारण करें ।

(२) (यः) जो (संजग्मानासु) समान भाव से संग करने हारी और (क्षीहितिषु) परस्पर स्नेह करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (पूर्व्यः) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विराजमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही (दाशुषे) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के (गयं) प्राण और धन की (अरक्षत्) रक्षा करे ।

(३) (स) वह (शंतमः) अत्यन्त शान्तिदायक, शम आदि युक्त, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, (नः) हमारे (अमात्यं) सहायक-पुत्र आदि और (वेदः) ज्ञान और धन की (रक्षतु) रक्षा करे । (उत) और (अस्मान्) हमको (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

(४) और इसी प्रकार (जन्तव.) सब लोग (ब्रुवन्तु) उसका वर्णन करें और जानें कि (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान और अंधकार का नाश करने हारा (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा (रणे रणे) रमणीय २ प्रदेशों और संग्रामों में (धनजय.) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो ।

[१३८३] अग्ने युंक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥ १ ॥

[१३८४] अच्छा नो याह्यावहाभिप्रयांसि वीतये ।
आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २ ॥

[१३८५] उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् ।
शोचा विभाह्यजर ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) हे (देव) प्रकाशमान आत्मन् ! (ये) जो (साधवः) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल (तव) तेरे (आशवः) शीघ्रगामी (अश्वाः) विषय ग्रहण करने हारे, (अरं) पर्याप्त ज्ञान और फलराशि को (वहन्ति) प्राप्त करते हैं उन इन्द्रिय आदि साधनों और विद्वानों को (युंक्ष्व हि) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर। व्याख्या देखिये अविकल सं० [२५] पृ० ११ ।

(२) हे (अग्ने) परमपुरुष परमेश्वर ! (नः) हमारे (अच्छ) सन्मुख (याहि) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और (वीतये) तत्व साक्षात्कार करने और (सोमपीतये) ऐश्वर्य, आनन्दरस को पान करने के लिये (देवान्) इन्द्रियगणों या विद्वान्‌जनों को नित्य (प्रयांसि) ज्ञान (अभि आ-वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (भारत) समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे ! हे (अजर) जरामरणरहित ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् ! (दविद्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू (अजस्रेण) निरन्तर वर्तमान, (द्युमत्) प्रकाशमान तेज से (शोच) स्वयं प्रकाशित हो और (उद्-वि-भाहि) उत्तम रीति से समस्त जगत् को भी प्रकाशित कर ।

१३८३—१ 'अर वहन्ति मन्यवे' ।

[१३८६] प्रसुन्वानास्यान्धसो मर्त्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ १ ॥

[१३८७] आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥ २ ॥

[१३८८] स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । १०१ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [५५३ तथा ७७४] पृ० २१८ और ५५३ ।

(२) (जामिः) आनन्द को उत्पन्न करने हारा, निर्दोष, शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक सोम (अत्के) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोष में (ओण्योः) मां बाप के (भुजे) गोद में (पुत्रः न) पुत्र के समान और (योषणा) कामिनी स्त्री के प्रति (जारः न) उस में आसक्त पुरुष के समान और (योनिं) कन्यागृह के प्रति (वरः न) वरण करने योग्य पुरुष के समान (सरत्) गमन करता हुआ (योनिं) अपने आश्रय आत्मा में (आसदं) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये (अव्यत) पहुंच जाता है ।

(३) (दक्षसाधनः) अपने बलोपार्जन का साधक (यः) जो (रोदसी) प्राण और अपान के वेगों को (तस्तम्भ) रोक लेता या वश कर लेता है (सः) वह (हरिः) इन्द्रियों का विजय करने हारा (वेधाः) ज्ञानी गृहस्थ (योनिं न) जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी (वेधाः) मेधावी, ज्ञानवान् साधक (योनिम्) आश्रयस्थान, परम

१३८६—?, 'प्रसुन्वानस्यान्धसो', 'मर्त्तो न वष्ट' इति ऋ० ।

शरणरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (पवित्रे) परम पावन परमात्मा में (अव्यत) विचरता है ।

इति: प्रथमः खण्डः ।

——0——

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
[१३८६] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
३ १ २ ३ १ २
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

१ २ ३१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २र
[१३९०] नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ ४ ३ १ २
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥ २ ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । २१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३९९] पृ० २०४ ।

(२) हे प्रभो ! आप (रेवन्तं) केवल धनसम्पन्न, धनाभिमानी पुरुष को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकि.) कभी नहीं (विन्दसे) प्राप्त करते । क्योंकि (सुराश्व.[1]) शराब पीकर, या राज्य लक्ष्मी के मद से फूले हुए (ते) वे लोग हितैषियों तक को (पीयन्ति) मारते हैं । और जब (नदनु) सत्य गुणों का उपदेश करने हारे पुरुष को आप अपना मित्र (कृणोषि) बना लेते हो और (सम् ऊहसि) उसको उत्तम रीति से उन्नति के मार्ग पर लेजाते हो । (आत् इत्) तब ही हे परमेश्वर ! आप (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) याद किये जाते हो ।

१ २ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
[१३९१] आ त्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ १ २
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ १ ॥

१३८६—१. 'दुओश्वि गतिवृद्धयोः [भ्वादि]

१. सुरया सह० श्वि सुराश्वः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
[१३६२] आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२॥
२ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६३] पिबा त्वाऽस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥३॥५॥

ऋ० ८ । १ । २४–२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [२४५] पृ० १२५।

(२) हे इन्द्र ! (हिरण्यये) हरणशील (रथे) रमण-साधन, भोगायतन इस देह में (मयूरशेप्या) मयूर के पंखों के समान वर्ण वाले, (शितिपृष्ठा) श्वेत या नील कान्ति को स्पर्श करने हारे, (हरी) दुःखहारी या हरणशील, अश्वरूप प्राण और अपान (त्वा) तुझ आत्मा के (विवक्षणस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय या प्राप्त करने योग्य, महान्, (मध्वः) मधुर अमृतरस रूप (अन्धः) जीवनशक्तिमय सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (वहता) प्राप्त करावें। विशुद्ध चितिशक्ति के योगसिद्ध अनुभवों को लक्ष्य करके प्राणापान के साधकों के निमित्त प्राण और अपान दोनों का वर्णन भी इसी प्रकार कहा गया है। जैसे—

" काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥मुण्डक॥

जो इन मन्त्रों को सूर्यपरक लगाया जाता है वह आदित्य भी साधक द्वारा अन्तर्दृष्ट आदित्य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है।

(३) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (अस्य) इस (सुतस्य) समाधि द्वारा निष्पादित सोम को (नु) शीघ्र ही (पूर्वपाः इव) प्राण वायु के समान (पिब) पान कर। क्योंकि (परिष्कृतस्य) योग-साधन एवं प्राणायाम आदि अंगों द्वारा परिशोधित (रसिनः)

ब्रह्मास्वाद रस की (रसम्) यह (आसुतिः) निष्कर्ष या प्राप्ति (मदाय) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये (चारु.) सर्वोत्तम (पत्यते) जानी और प्राप्त की जाती है ।

[१३६४] आसोता परिषिंचताश्व न स्तोममप्तुर रजस्तुरम् ।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] सहस्रधारं वृषभं पयोदुह प्रिय देवाय जन्मने ।
ऋतेन य ऋतजातो वि वावृधे राजा देव ऋतं बृहत्
॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । १०८ । ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५८०] पृ० २६२ ।

(२) (सहस्रधार) सहस्रों धारणकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या नाना स्तुति वाणियों स युक्त (वृषभं) सुखों के वर्षक (पयोदुह) पुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे (प्रिय) आत्मा के समान सब से अधिक प्रीति के विषय (देवाय) परम इष्टदेव के (जन्मने) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो । जो आत्मारूप सोम (राजा) ज्ञान से प्रकाशित, इस देहेन्द्रिय संघात का प्रकाशक राजा (ऋतजातः) तप से परिष्कृत होकर (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (वि वावृधे) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वयं (देव) दिव्यगुण होकर (ऋतं) सत्य स्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है ।

इति द्वितीय खण्डः ।

[१३६६] अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ १ ॥

१३६५—२. 'वृषभ पयोवृध' इति ऋ० ।

१२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३९७] गर्भे मातु. पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९८] ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥३॥७॥ ऋ० ६ । १६ । ३४,–३६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४] पृ० ३ ।

(२) (पितु. पिता) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, (अग्नि.) ज्ञानवान् परमात्मा (अक्षरे) अविच्युत, स्थिर (मातुः) प्रमाता आत्मा के (गर्भे) अन्तःकरण में (विदिद्युतान) प्रकाश करता हुआ (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (योनिं) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को (आसीदन्) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है। अथवा सूर्य आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एवं सबका अग्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर (मातु गर्भे) जगत् को रचाने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच (विदिद्युतानः) अपने प्रकाश को स्थापित करता हुआ (ऋतस्य योनिम्) अव्यक्त जगत् के मूल कारण रूप तत्व को (आसीदन्) अपने वश करता है।

(३) हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे! (विचर्षणे) सबके द्रष्टः! आप हमें (प्रजावद्) पुत्र आदि सहित (ब्रह्म) ऐसे अन्न और ज्ञान को (आ भर) प्राप्त कराइये (यत्) जो (दिवि) दिव्यगुण से युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी (दीदयत्) प्रकाशित रहे। अर्थात् ऐसा अन्न और ज्ञान प्राप्त कराओ जिसका परलोक और विद्वानों में भी आदर हो।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९९] अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभि. समपृक्त रसम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुत. पवित्रं पर्यैति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥ १ ॥

[१४००] भद्रा वस्त्रा समन्याऽ३ऽवसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन्। आवच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ॥ २ ॥

[१४०१] समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे। अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ९७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २६१ ।

(२) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! (भद्रा) कल्याणकारी (समन्या) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करने योग्य, या सग्राम योग्य, केसरिया, तेजस्वी या काषाय (वस्त्रा) वस्त्र (वसानः) धारण करता हुआ (महान्) बड़ा (कवि) मेधावी पुरुष होकर (निवचनानि) निरन्तर उपदेश करने योग्य वचनों को (शसन्) उपदेश करता हुआ (विचक्षणः) भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ (देववीतौ) परमेश्वर के प्राप्ति के मार्ग में (पूयमानः) अपने अन्त.करण से पवित्र होकर (चम्वोः) द्यौलोक और पृथिवी ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों प्रकार के जनों में (आवच्यस्व) विचरण कर ।

(३) (यशसां) यशस्वियों के बीच, (यशस्तरः) अति अधिक यशस्वी, (क्षैत.) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर (उ) भी (अव्ये) प्राणायाम और (सानौ) उच्चतम अध्यात्म तप.-कोटि में स्थित एवं (प्रियः) अतिप्रिय होकर (अस्मे) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से (सम् मृज्यते) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या भूषित होता है। अतः (पूयमान.) पवित्र होकर (धन्वा) गमनशील, परिव्राट् होकर

(अभि स्वर) उत्तम २ उपदेश कर। अध्यात्मपक्ष में—आनन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है। हे इसी प्रकार के विद्वान् पुरुषो! (यूय) आप लोग भी (न.) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों से (पात) रक्षा करो।

[१४०२] एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु ॥ १॥

[१४०३] इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्ध. शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिंनिधारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥२॥

[१४०४] इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिपाससि ॥३॥६॥

ऋ० ८. ९५। ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [३९०] पृ० १८१।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (आगहि) सन्मुख साक्षात् दर्शन दें। और (शुद्धाभि) शुद्ध पवित्र (ऊतिभि) महत् रूप या आत्मात्मक शक्तियों सहित आप (शुद्धः) शुद्धस्वरूप ही हैं। अतः (शुद्ध') शुद्धरूप ही आप (रयिं) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को (नि धारय) पूर्णरूप से धारण करें और हे (सोम्य') परमानन्द के पात्र शक्तिमय! आप (शुद्ध.) शुद्ध रूप ही (ममद्धि) नित्य आनन्द प्राप्त करावें।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (रयिं) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ (सिपासि) प्रदान करते हैं। क्योंकि (दाशुषे) दाता आत्म समर्पक को आप

(शुद्ध.) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही (रत्नानि) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । (शुद्धः) स्वयं शुद्ध होकर ही (वृत्राणि) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और (शुद्ध) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त संसार को (वाजं) ज्ञान, धन और बल (सिषाससि) प्रदान करते हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

३ १र १र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४०५] अग्ने स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः ।
३ १ २ ३ १ २
देवस्य द्रविणस्यवः ॥१॥
३ १ २ ३ २ ३ ३ १र २र ३ २
[१४०६] अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा ।
१ २ ३ २ ३ १ २
स यक्षद् दैव्यं जनम् ॥२॥
१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४०७] त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।
१ २ ३ १र २र
त्वया यज्ञं वितन्वते ॥३॥१०॥ ऋ० ५ । १३ । ४ ॥

भा०—(१) (द्रविणस्यवः) धन और द्रुत गति से प्राप्त करने योग्य इष्टदेव को प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम (अद्य) आज, अब (देवस्य) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) सबके अग्रणी ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के (सिध्रम्) नित्य (स्तोमं) स्तुति, सत्यगुण वर्णन रूप वेद का (मनामहे) मनन करते हैं ।

(२) (यः) जो (अग्नि.) ज्ञानवान् परमेश्वर (होता) समस्त संसार का आदान और विसर्ग, प्रलय और सर्ग करने हारा (मानुषेषु) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में (आ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्ने' स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य' इति ऋ० ।

'सिध्रमिति पाठो नोपलब्धः', सिद्धमिति स० द० सम्म० ।

होकर (नः) हमारी (गिरः) समस्त वाणियों को (जुषते) श्रवण करता है (सः) वही (दैव्यम्) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले (जनं) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को (यक्षत्) आनन्द सुख प्रदान करता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप ही (वरेण्यः) सबके वरण करने योग्य, (होता) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त यज्ञों के कर्त्ता, (जुष्ट) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और (सप्रथाः) सब से महान् (असि) हो । (त्वया) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने (यज्ञं) इष्ट साधन रूप धर्म कार्यों और पूजा आदि का (वितन्वते) सम्पादन करते हैं ।

३ १ २ ३ १र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४०८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥१॥
१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४०९] शूरग्राम सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढ साह्वान् पृतनासु
१ २
शत्रून् ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१४१०] उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आपवस्वा पुरन्धी ।
३ १र २र ३ १ ३ १र २र २र ३ २ ३ २ ३
अप सिषासन्नुषसः स्वा३ऽर्गाः संचिक्रदो महो अस्मभ्यं
१ २
वाजान् ॥३॥११॥ ऋ० ६ । ६० । २-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५२८] पृ० २८२ ।

१४०८—१. 'अङ्गूषाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धून्' इति ऋ० । 'वार्याणि.' इति पाठस्तु अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः ।

(२) हे (सोम) प्राणरूप आत्मन् ! तू (शूरग्रामः) गति में वेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, (सर्ववीर) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (सहावान्) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दु:ख आदि द्वन्द्वों का सहन करने हारा, (जेता) सबको पराजय करने हारा या (जेता) काम क्रोध आदि और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील (धनानि) समस्त रमणीय विषय भोगों को (सनिता) प्रति इन्द्रिय विभाग करने हारा (तिग्मायुधः) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों से सम्पन्न, (क्षिप्रधन्वा) अति शीघ्र गति देने हारा, या स्वयं सबसे अधिक वेगवान् (समत्सु) परस्पर स्पर्धा के स्थलों में (अषाढः) किसी से न दबने हारा (पृतनासु) प्रजारूप इन्द्रिय वृत्तियों में (साह्वान्) सबको अपने वश करने हारा होकर (आपवस्व) प्रकट हो। और हमारे शरीर और अन्तःकरण को भी पवित्र कर।

(३) (सोम) हे आत्मन्! हे विद्वन्! (उरुगव्यूति) स्वयं समस्त गौ अर्थात् वाणियों और इन्द्रियों के लिये रक्षा या शरण होकर सर्वत्र (अभयानि) अभय (कृण्वन्) करते हुए (पुरन्धी) इस देहरूप पुर को धारण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (समीचीने) समुचित प्रकार से (आपवस्व) गति दो और पवित्र करो। और (अपः) समस्त कर्मों और प्रज्ञाओं को (सिषासन्) यथाकाल और यथास्थान विभाग करते हुए (स्वः) सुख आनन्ददायक (गाः) वेदवाणियों को (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (मह्) श्रेष्ठ २ (वाजान्) ज्ञानतत्वों के देने के लिये (अचिक्रदत्) उच्चारण करो, उपदेश करो।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४११] त्वमिन्द्रं यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥१॥

१४११—'शवसस्पते' 'हंस्यप्रतीन्येक इदनुत्ता चर्षणीधृते'।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्
॥२॥१२॥ ऋ० ८ । ६० । ५, ६ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (यशा) यशस्वी (शवसस्पतिः) शक्ति और बल का मालिक, (ऋजीषी) सब को ऋजु, सरल, उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने हारा (पुरु-ष्टुतः) बहुतों से भी प्रेरित या संचालित न होकर, स्वतन्त्र ही (चर्षणीधृतिः) स्वामिरूप से दृष्ट होकर सबको धारण करने हारा है । (स्व) तू (अप्रतीनि) जिनका मुकाबला न किया जा सके ऐसे दुर्घट (वृत्राणि) विघ्नों और दुःसाध्य असुर, अधर्मी पुरुषों को (एक इव) अकेला ही (हसि) विनाश करता है । अवि० सं० [२४८]

(२) हे (असुर) प्राणों में रमण करने हारे आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (तं) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्वप्रसिद्ध (प्रचेतसं) प्रकृष्ट उत्तम ज्ञानवान् (त्वा उ) तुझ से ही हम (राधः) आराधना करने योग्य ज्ञान को (भागम् इव) अन्न के समान (ईमहे) याचना करते हैं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (कृत्तिः) कीर्ति ही (मही) बड़ी भारी (शरणा इव) शरण रक्षा के समान है (ते) तेरे से (सुम्नानि) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन (नः) हमें (अश्नुवन्) प्राप्त हों ।

१४१२—"सुम्नानो अश्नवन्" इति च ऋ० । 'पूर्वनुत्त' इति अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः पाठः ।

[१४१३] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

[१४१४] अपांनपातं सुभग सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम् । स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि ॥२॥१३॥ ऋ० ८ । १९ । ३, ४ ॥

भा०—(१) (देवत्रा) विद्वान् पुरुषों के भी (देवं) उपासनीय देव, (होतारं) सब यज्ञों के सम्पादक (अमर्त्यम्) मरणरहित, अमृत-स्वरूप (अस्य) इस (यज्ञस्य) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और प्रलय रूप यज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव (यजिष्ठं) सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ (त्वा) आपको (ववृमहे) वरण करते हैं। व्याख्या देखो [११२]

(२) (अपां नपातं) लोकों, कर्मों और प्रजाओं के पतन, विनाश या लोप न होने देने हारे, (सुभग) ऐश्वर्यसम्पन्न, (सुदीतिं) उत्तमकान्ति से युक्त (श्रेष्ठशोचिषम्) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न (अग्निम्) अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को वरण करो क्योंकि (स.) वह जीवरूप अग्नि (मित्रस्य) समस्त जीव को स्नेह से देखने हारे और (वरुणस्य) सब दुःखों का वरण करने हारे परमेश्वर के (अपां) समस्त प्रजाओं, कर्मों और समस्त लोकों के (सुम्न) सुख को (दिवि) ज्ञान प्रकाशमान मुक्तदशा में भी (नः) हमें (यक्षते) प्राप्त कराता है।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नाचिकेतोपाख्यान काठक उपनिषद् और मुण्डक उपनिषद् में।

इति चतुर्थः खण्डः ।

१४१३—२. 'ऊर्जोनपात' इति ऋ० । 'ऊर्जो नपात' इत्येव सायणाभिमतश्च पाठः ।

[१४१५] यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यञ्जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ १ ॥

[१४१६] न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।
वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥२॥

[१४१७] स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥ १४ ॥ ऋ० १ । २७ । ७-९ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (यं) जिस (मर्त्यं) मरणधर्मा पुरुष को आप (अवा.) मृत्यु से बचा लेते हैं और (यं) जिसको (वाजेषु) ज्ञान और श्रेष्ठ कर्मों में (जुनाः) प्रेरित करते, चला देते हो (सः) वह आपकी (शश्वतीः) नित्य अनादि काल से चली आई (इषः) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को (यन्ता) वश कर लेता है ।

(२) हे (सहन्त्य) सब विघ्नों के विनाशक ! (अस्य) इस आपके (कयस्य चित्) किसी भी उपासक साधक को (पर्येता) कष्ट देने हारा या उस पर आक्रमण करने हारा (नकिः) कोई भी नहीं । प्रत्युत उसके पास (श्रवाय्यः) श्रवण करने योग्य उत्तम (वाजः) ज्ञान या बल (अस्ति) प्राप्त होता है ।

(३) (सः) वह (विश्वचर्षणिः) समस्त मनुष्यों का स्वामी (अर्वद्भिः) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों से ही (वाजं) ज्ञान को, बल को, या जीवन संग्राम को (तरुता) पार करने हारा (अस्तु) हो और वही अग्नि (विप्रेभिः) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा (सनिता) इष्टफल का दाता (अस्तु) हो ।

[१४१८] साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः । हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥१॥

[१४१९] सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः । मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन् संगच्छते कलश उस्रियाभिः ॥२॥

[१४२०] उत प्रपिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः । मूर्धानं गावः पयसा चमूष्वभिश्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥ ३ ॥१५॥ ऋ० ९ । ९३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३८] पृ० २६८ ।

(२) जिस प्रकार (मातृभिः न) माताओं द्वारा (शिशुः) उनकी गोद में सोने हारा बालक शिशु (दधन्वे) पालित पोषित होता है उसी प्रकार (अद्भिः) विषयों तक प्राप्त होने हारी (मातृभि) ज्ञान कराने हारी इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसुप्त रूप से शिशु के समान सोने हारा और उनको (वावशानः) निरन्तर चाहने हारा (सोमः) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय ब्रह्मरस (दधन्वे) पालित पोषित होता या धारण किया जाता है । और जिस प्रकार (मर्यं) पुरुष (योषा न) स्त्री के पास, अपने गृह में जाता और उससे आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा (निष्कृतम् अभि) अपने मूल आश्रय मस्तकदेह में (यन्) जाता हुआ (कलशे) नाना कलारूप चिति शक्ति की नाना वृत्तियों से युक्त सहस्रदल कमल, मूर्धा भाग या देह में (उस्रियाभि) ऊर्ध्वसर्पण करने हारी इन्द्रिय शक्तियों से (संगच्छते) मिलकर एक हो जाता है ।

(३) (उत) और जब वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के तालुभाग में लगी इन्द्रयोनि से टपकने हारा रस (अघ्न्यायाः) कभी न विनष्ट

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के (ऊधः) रस के भण्डार रूप ऊर्ध्वस्थान मस्तक भाग को (प्र पिप्ये) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब (सुमेधाः) उत्तम ज्ञानधारणा में समर्थ धारणावती मेधा बुद्धि से युक्त, (इन्दुः) ज्ञान और तप से प्रकाशमान योगी (धाराभिः) अपने धारणा के अभ्यासों या स्तुति वाणियों से (सचते) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुंचने में समर्थ होता है तब ही (गावः) गमनशील सूक्ष्म इन्द्रियों की संवित् शक्तियां या वाणियां (चमूषु) अपने २ स्थानों में स्थित होकर (पयसा) अपने २ विषयग्रहण के रस से (मूर्धानं) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहस्रदल कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को (अभि श्रीणन्ति) ऐसे घेर लेती हैं, आच्छादित कर लेती है जैसे (निक्तैः) स्वच्छ सुन्दर (वसुभिः) वस्त्रों से मातायें अपने बालकों को या शुद्ध २ (वसुभिः) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजाएं अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती हैं।

यहां सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, ऊर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और ब्रह्मरसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४२१] पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधेऽ३ऽस्मां अवन्तु ते धियः ॥१॥
३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१४२२] भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तरभिमातये।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्मां चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय ॥२॥१६॥

ऋ० ८। ३। १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [२३६] पृ०१२२।

(२) (वयं) हम (ते) तेरी (सुमतौ) उत्तम मति, प्रज्ञा वेदरूप ज्ञान के अधीन रहकर (वाजिनः) ज्ञानवान् पुरुष (स्याम) होवें।

(अभिमातये[1]) अभितः=चारों ओर से नाना प्रकार के मारने अर्थात् हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की बढ़ती के लिये (नः) हमें (मा स्तः[2]) मत ढक, अर्थात् उसमें मत फँसा । (चित्राभिः) ज्ञानमय, नाना प्रकार की संग्रह करने योग्य (अभिष्टिभिः) अपनी प्रेरणाओं से (अस्मान्) हमें (अवतात्) रक्षा कर । और (नः) हमें (सुक्षेपु) सुखमार्गों में (आ यामय) व्यवस्थित रख, चला ।

[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्द्धत ॥ १ ॥

[१४२४] स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना विशश्रथे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥ २ ॥

[१४२५] ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु । येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । ७० । १-३ ॥

१ स्तृञ् आच्छादने क्र्यादिः । हिंसार्थस्य स्तृणातेरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमातिः शत्रुरिति सायण । रोग इति माधवः ।

१४२३—१ 'दुदुहे' 'पूर्व्ये व्योमनि', २. 'स भिक्षमाणो' इति ऋ० । 'भिक्ष्यमाण', 'भक्ष्यमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीये 'भक्ष्यमाण' इति च सर्वे प्रामादिकाः पाठः निर्णयसागरीये सायणभाष्ये, अन्यासु सामसंहितासु लन्दन-कलिकातामुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० सं० [५६०] पृ० ७८२ ।

(२) (यदि) जिस दशा में विद्वान् लोग (देवस्य) उस उपास्य-देव के (सदः) आश्रयस्थान हृदय देश को (श्रवसा) गुरूपदेश द्वारा (विदुः) ज्ञान कर लेते हैं तब (सः) वह पवमान सोमसाधक (वारुण्य.) अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य (अमृतस्य) अमृत या अमरत्व का (भक्षमाणः) सेवन करता हुआ (काव्येन) अपने ज्ञान-सामर्थ्य से (उभे द्यावा[1]) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों को (विश्रश्ये[2]) प्राप्त करता है और (मंहना) अपने तपोमहत्व से (तेजिष्ठाः) अति तेज से सम्पन्न (अप.) लोकों या प्राणों में (परि व्यत) विचरता है। ऋग्वेद में 'भिक्षमाणः' पाठ है। इसलिये उस पक्ष में (सः) वह साधक (वारुण्यः, अमृतस्य) उत्तम अमरत्व की (भिक्षमाणः) याचना करता हुआ (उभे द्यावा विश्रश्ये) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है, इत्यादि पूर्ववत् । अथवा (उभे द्यावा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (विश्रश्ये) शिथिल या वश कर लेता है। दोनों के बन्धनों को ढीला कर देता है। दोनों को वश करके विदेह-मुक्त होजाता है।

(३) (अस्य) इस सोमरूप योगी आत्मा के (उभे जनुषी अनु) दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में (अमृत्यवः) अमर, अविनाशी, (अदाभ्यासः) अखण्डित, अमिट (ते) वह २ (केतवः) ज्ञान और रश्मियां, विभूतियां (सन्तु) उत्पन्न हो जाती हैं (याभिः) जिन के बल से वह (नृमणा) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और (देव्या)

---

१. द्यावापृथिव्यौ प्राणापानौ, (सत०)

२, 'श्रथ हिंसार्थे' क्र्यादिः, श्रथ प्रयत्ने प्रस्थाने च, चुरादिः, श्रथ मोक्षणे, चुरादिः, श्रथि दौर्बल्ये, चुरादिः, श्रथि शैथिल्ये, भ्वादिः, श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः, क्र्यादिः ।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी (पुनते) प्राप्त करता है। (आत् इत्) और उस विभूति क प्राप्त कर लेने के, अनन्तर (राजानम्) सर्वत. प्रकाशमान्, सर्वतो वशी राजास्वरूप उस आत्मा को, (मनना.) मनन करने से प्राप्त मानसिक संकल्प ही (अगृभ्णत) धारण, किये रहते हैं, अर्थात् उस दशा में उसके समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुचाते हैं।

इति पञ्चम खण्ड.।

[१४२६] अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो३ऽभि मित्रावरुणा पूयमान.।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ॥ १ ॥

[१४२७] अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनू सुदुघा पूयमानः।
अभि चन्द्रा भर्त्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देवसोम ॥२॥

[१४२८] अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्न ॥३॥१८॥

ऋ० ९ । ६७ । ४९–५१ ॥

भा०—(१) हे (सोम) विद्वन्! (वायु) कोष्ठगत वायुरूप प्राण को (वीति) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये (अभि अर्ष) प्रेरित कर। और (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (पूयमानः) पावन करता हुआ, उत्तम रूप स गति देता हुआ (अभि) उनको भी प्रेरित कर। (रथेष्ठाम्) इस देहरूप रथ पर सारथि बनकर स्थित (धीजवन) ध्यान, संकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, (नर) इन्द्रियगणों के नेता

१४२७—'अभिर्नो' इति ऋ०।

मन को (अभि) उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब (वज्रबाहुम्) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये ऋतम्भरावस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर (वृषणं) सब सुखों के वर्षक (इन्द्रं) उस आत्मा को (अभि-अर्ष) साक्षात् कर ।

(२) हे सोम ! विद्वन् ! (पूयमान) पवित्र होकर या निरन्तर उन्नति की साधना करता हुआ तू (सुवसनानि) उत्तम रूप से आच्छादन करने हारे (वस्त्रा) चमचमाते विभूति, सिद्धियों अर्थात् सात्विक आवरणों या पंचकोषों को (अभि-अर्ष) वश कर । और (सुदुघा.) उत्तम रूप से ज्ञानरस या आनन्दरस का दोहन करने हारी (धेनूः) भीतरी व आनन्दवाहिनी सुषुम्णा आदि नाड़ियों पर, या इन्द्रिय-शक्तियों पर (अभि) वश कर और (नः) हमें (चन्द्रा) आह्लादकारी (हिरण्या) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (भर्त्तवे) भरण, पोषण करने या आत्मतृप्ति करने के लिये (अभि अर्ष) प्रदान कर । हे (देव) ज्ञानद्रष्ट ! शमादिसाधनों से युक्त योगिन् ! (रथिन) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय (अश्वान्) ज्ञानी पुरुषों को (अभि-अर्ष) हमें प्राप्त करा ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! आप हमें (दिव्या वसूनि) दिव्यगुण युक्त जीवन के वास-हेतु पदार्थों का प्रदान करें और (पूयमानः) सर्वत्र प्रकाशमान्, शुद्ध पवित्र चित्त होकर (विश्वा पार्थिवा) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों का (अभि) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे (अभि) सामर्थ्य दें कि (येन) जिससे हम (द्रविणम्) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को (अश्नवाम) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे सोम ! आप (नः) हमें (जमदग्निवत्) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान (आर्षेय) ऋषियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का (अभि) उपदेश करें ।

१२ २र ३ १ २ ३ १ २
[१४२६] यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[१४३०] तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः ।
१र १र ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् ॥२॥
३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[१४३१] आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि ।
३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
घर्मं न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥१६॥

ऋ० ८ । ८९ । ५-७ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! समस्त संसार को यज्ञरूप में सम्पादन करने हारे, समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (अपूर्व्य) सबसे पूर्व होने हारे ! अद्वितीय मूलकारण परमेश्वर ! (यत्) जब (वृत्र-हत्याय) आवरणकारी ' तुच्छ्य ' रूप प्रकृति के रजः पटल को गति देने और उस में विक्षोभ उत्पन्न करने के लिये (जायथाः) उस में शक्तिरूप से प्रकट होता है (तत्) तब (पृथिवी) अति विस्तृत व्यापक पृथिवी, मूलकारण प्रकृति को या जीवों के निवास के लिये इस पृथिवी को (अ-प्रथयः) तू ही विस्तृत करता है और (दिवं) इस समस्त आकाश स्थित लोकसमूह को भी (अस्तभ्नाः) अपने २ स्थान पर स्तम्भित, स्थापित करता है ।

(२) (तत्) और तब ही (ते) तेरी शक्ति से सम्पादित (यज्ञः) समस्त वायु, तेज, पृथिवी, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन इत्यादि देवगणों का उचित रूप से संघटित यज्ञ भी (अजायत) सुसम्पन्न होता है (तद्) और तब ही (अर्कः) यह प्रकाशमान तेजस्वी सूर्य भी प्रकट होता है (उत) और साथ ही (हस्कृतिः) दिन की रचना होती है ।

(तत्) उस समय ही तू हे परमात्मन् ! (विश्वम्) यह समस्त जगत् (यत् जातं) जो कुछ उत्पन्न हुआ (यत् च) और जो (जन्त्वम्) आगे उत्पन्न होता उस सब में (अभिभूः) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही (असि) है।

(३) हे परमेश्वर ! तू ही (आमासु) न पके, अपक्व, कच्चे, स्थावर और जंगम पदार्थों में (पक्वं) परिपक्व भाव को (ऐरय) प्राप्त करता है। और इस निमित्त तू ही (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्य को (दिवि) इस महान् आकाश में (आरोहयः) इतनी उच्चता पर स्थापित करता है। हे विद्वान् लोगो ! (सामन्) सामवेद द्वारा (घर्मं न) जिस प्रकार आप घर्मयोग या प्रवर्ग्येष्टि को (तपत) प्रतप्त करते हो उसी प्रकार आप लोग (सुवृक्तिभिः) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान चर्चाओं द्वारा (गिर्वणसे) समस्त वेदवाणियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विषय में (जुष्ट) अतिप्रिय, रुचिकर (बृहत्) महान् या बृहत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो।

सत्यमिति सत्यवचा रथीतर। तप इति तपो नित्य. पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि स्तपस्तद्धि तप·। (तैत्ति० उप० शिक्षावल्ली अनु० ६) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है। प्रवर्ग्येष्टि में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है। (देखो शतपथ में प्रवर्ग्येष्टि प्रकरण)

[१४३२] मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥१॥

[१४३३] आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाडमर्त्यः ॥२॥

२उ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३४] त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ।।३।।२०।।

ऋ० १ । १७५ । १-३।।

भा०—(१) (पात्रस्य इव मदः) जिस प्रकार पात्र में रक्खा तृप्तिकारी हर्षजनक जल और दुग्धादिरस (आपायि) पान कर लिया जाता है उसी प्रकार हे (हरिवः) हरणशील शक्तियों, अन्धकार और अज्ञान के हरने वाले किरणों से युक्त परमेश्वर ! (मत्सरः) आनन्दरूप में सर्वत्र प्रसरणशील (मदः) आनन्दप्रद तेजोरूप, सर्वप्रेरक उत्पादकशक्ति रूप से (ते) संसार में व्यापक तेरा महान् सामर्थ्य (अपायि) पान किया जाता है अर्थात् विद्वान् जन उसको अपने भीतर धारण करते हैं अथवा आप ही उस महान् शक्ति के धारण करने हारे हो। (वृष्णा) समस्त सुखों और शक्तियों के वर्षक (ते) तेरा (इन्दुः) ऐश्वर्य, विभूति और सामर्थ्य (वाजी) बलवान् (सहस्रसातमः) सहस्रों पदार्थों को देने हारा, (वृषा) सब सुखों का वर्षक है ।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्र=आत्मा, मत्सरः=आनन्दरस, इन्दुः=विभूति सिद्धयोगी, वाजी=ज्ञानवान् । वृषा=ज्ञानवर्षक, सहस्रसातम—सहस्रों उपदेशों का दाता, अथवा सहस्रों को सन्तोष, आशीर्वाद, एवं सुखसाधनों का प्रदाता, इत्यादि ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर (ते) तेरा (मत्सरः) हर्षप्रद ज्ञान और आनन्दरस (नः) हमें (आगन्तु) प्राप्त हो । तू ही (वृषा) सुखों का वर्षक, (मदः) आनन्द और तृप्तिकारक (वरेण्यः) एकमात्र वरण करने योग्य, प्रिय, (सहावान्) सब कष्टों का सहन करने हारा, बलवान् या सहायसम्पन्न, (सानसिः) सेवन करने योग्य, (पृतनाषाट्) समस्त प्रजाओं का शासक और (अमर्त्यः) अविनाशी है ।

यहां योगी का साधक आत्मा के प्रति, भक्त का ईश्वर के प्रति, प्रजा-गण का राजा के प्रति समानरूप से वचन है।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर! (त्वं) आप ही (शूरः) सबमें गति देने हारे, (सनिता) समस्त पदार्थों के दाता होकर (मनुषः) मननशील जीव के (रथं) इस रमण स्थान देह या समस्त विश्व को (चोदयः) प्रेरित कर रहे हो। आप (दस्युम्) नाश करने हारे, दुष्ट (अव्रतम्) नियम रहित, निकम्मे, नियम को न पालने हारे पुरुष को (सहावान्) शक्तिशाली या सहायसम्पन्न होकर (शोचिषा) अपने तेज से (ओष.) ऐसे ही तपाते हो जैसे (शोचिषा) अग्नि के ताप से हम लोग (पात्रं न) हंडिया को तपाया करते हैं।

इति षष्ठः खण्डः।

इति षष्ठस्य द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः। इति द्वादशोऽध्यायः।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः।

ऋषिः—१ कविर्भार्गवः। २, ३, १६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। ३ असितः काश्यपो देवलो वा। ४ सुकक्षः। ५ विभ्राट् सौर्यः। ६, ८ वसिष्ठः। ७ भर्गः प्रागाथः १०, १७ विश्वामित्रः। ११ मेधातिथिः काण्वः। १२ शत वैखानसाः। १३ यजत आत्रेयः॥ १४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। १५ उशना। १८ हर्यत. प्रागाथः। १० बृहद्दिव आथर्वणः। २० गृत्समदः॥ देवता—१, ३, १५ पवमानः सोमः। २, ४, ६, ७, १४, १६, २० इन्द्रः। ५ सूर्यः। ८ सरस्वान् सरस्वती। १० सविता। ११ ब्रह्मणस्पतिः। १२, १६, १७ अग्निः। १३ मित्रावरुणौ। १८ अग्निर्हवींषि वा॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १०—१४, १७, १८ गायत्री। २ बृहती चरमस्य, अनुष्टुप् शेषः। ५ जगती। ६, ७ प्रागाथम्। १५,

१६ त्रिष्टुप् । १६ वर्धमाना पूर्वस्य, गायत्री उत्तरयोः । १७ अष्टि. पूर्वस्य, अति-शक्वरी उत्तरयोः ॥ स्वरः—१, ३, ४, ८, ६, १०—१४, १६—१८ षड्जः । २ मध्यमः, चरमस्य गान्धारः । ५ निषादः । ६, ७ मध्यमः । १५, १६ धैवतः । २० मध्यमः पूर्वस्य, पञ्चम उत्तरयोः ॥

१२ ३२उ ३ २३१ ३१२ २र
[१४३५] पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि ।
३ १२३१र २र
अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥ १ ॥

१२ ३ १२३ २३ १२ ३१र २र
[१४३६] तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।
१२ ३१२ ३२
जन्यास उप नो गृहम् ॥ २ ॥

३१२ ३१२ ३१२ ३१२
[१४३७] घृतम्पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः ।
३ १२ ३ १र२र
अस्मभ्यं वृष्टिमापव ॥ ३ ॥

१२ ३२ १२३१२ ३१२
[१४३८] स न ऊर्जेव्याऽ३व्ययं पवित्रं धाव धारया ।
३१२ ३१३ १२
देवासः शृणवन् हि कम् ॥ ४ ॥

१२ ३१२ ३१२
[१४३९] पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् ।
३ २ ३२३१२
प्रत्नवद्रोचयन्रुचः ॥ ५ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ४९ । १-५ ॥

भा०—(१) हे पवमान सोम, सर्वप्रेरक, सूर्य ! (नः) हमारे प्रति (सु) सुष्ठु, उत्तम रीति से (वृष्टिं) सुखों और जलों की वृष्टि को (आपवस्व) सब ओर से वर्षा करो । और (दिवः) द्यौलोक और सूर्यादि से (अपां) ज्ञानों, प्रजाओं और कर्मों की (ऊर्मिम्) तरङ्ग या ऊपर उठने वाली परम्परा को (परि पवस्व) सब ओर से प्रेरित कर । और (बृहतीः) पुष्टिकारक, अति अधिक (अयक्ष्मा) यक्ष्म अर्थात् चिपट जानेहारे सूक्ष्म रोग कीटों से रहित (इषः) अन्नों और इष्टदेव और विद्वानों को, ज्ञान सम्पत्ति के नाशक दुर्विचारों से रहित मन की सत्कामनाओं को प्रेरित करो ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर वा योगिन् ! (तया) उस (धारया) धारा से या धारणा शक्ति से (पवस्व) प्रेरित कर (यया) जिससे (गाव) दीप्त-रश्मियां, कान्तियां एवं ज्ञानवाणियां (इह) इस हमारे अन्त.करण, एव गृह में (आगमन्) प्राप्त हों । और (जन्यास.) जन, मनुष्य एवं प्राणियों के हितकारक पदार्थ भी (न.) हमारे (गृहम्) देह और गेह को (उप) प्राप्त हों ।

(३) अपनी (धारया) धारणा, पालन पोषण करने हारी शक्ति से (यज्ञेषु) नाना प्रकार के यज्ञों में (देववीतये) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर (अस्मभ्य) हमको (घृतं) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को (पवस्व) प्राप्त करा । और (अस्मभ्यं) हमें (वृष्टिं) अन्तः आनन्द-सुखों की वृष्टि को भी (आपव) प्रदान कर ।

(४) हे सोम ! (सः) वह तू (न') हमारे (ऊर्जे) बल सम्पादन के निमित्त (धारया) अपनी धारणा पोषण करने हारी शक्ति से (अव्ययं) सूर्य, प्राण, आत्मारूप (पवित्रं) पवन करने हारे वायु, अन्त.करण या धारणा देश के प्रति (विधाव) विशेष रूप से गति कर । (देवास') समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्व पदार्थ और इन्द्रिया (कम्) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को (शृणवत्) श्रवण करते हैं ।

(५) (पवमान.) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरात्मा का महानन्द रस (असिष्यदद्) जब द्रवित होता है तब (प्रत्नवत्) पूर्व के अपने पुरातन (रुच) कान्तियों को (रोचयन्) चमकाता हुआ (रक्षांसि) समस्त पाप, कुवासना, दु'संकल्पों को अनायास (अप जघनत्) दूर मार भगाता है ।

इस सूक्त में सूर्य, आत्मा, राजा, प्राण, शुक्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा के दृष्टान्त से वर्णित किया गया है । मधु, घृत आदि

शब्द वेद में ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—पय आहुति=ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय, आज्या-हुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मेदा-हुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । (शत० का० ११ । ५ । ६ । ३ । ८)

इत्यादि रूप से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रशंसा प्रकरण में 'मधु ह वा ऋचः ।' घृत ह सामानि 'अमृत यजूंषि' यद् हवा अयं वाकोवाक्यमधीनो क्षीरौदन-मांसोदनौ भवतः । (शत० का० ११ । ५ । ७ । ५)

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चाद्दघ्वने नरः ॥ १ ॥

[१४४१] एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम् ।
अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ ।
वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तन्तमिदेषते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम् ।
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्वरत् ॥ ४ ॥
ऋ० ६ । ४२ । १-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३२७] पृ० १८७ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (एनं) इस (सोमपातमम्) सोमरस का पान करने हारों में से सबसे श्रेष्ठ, ज्ञान के परम आगार, परमेश्वर का

१४४३—'ऽभिशस्तेरवस्वरत्' इति ऋ० ।

(सोमेभि) ज्ञानों और ज्ञानियों द्वारा (आ प्रति एतन) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । (अमत्रेभिः) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा (ऋजीषिणं) ऋजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, सत्सगतिकारी परमेश्वर को (सुतेभि) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित (इन्दुभिः) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनके उपदेश पाकर (प्रत्येतन) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसको पहिचानो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! (यदि) जब (सुतेभिः) सिद्ध, निष्पन्न (इन्दुभि.) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतियों से युक्त (सोमेभिः) पूर्वोक्त सोमों द्वारा (इन्द्रं) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को (प्रतिभूषथ) अलंकृत करो तो वह (मेधिर.) मेधाबुद्धि से युक्त (ऋघन्) सब पर वश करने हारा ईश्वर (विश्वस्य) सब कुछ (वेद) जान लेता है और (तं त) उस २ सकल्प को भी (एषतं) पूर्ण करता है ।

(४) हे (अध्वर्यो) यज्ञ करनेहारे विद्वन् ! (अस्मै अस्मै इत्) इस ही इन्द्र के लिये (अन्धसः) जीवन धारण करने हारे मूलतत्व के (सुतम्) निष्पादित आनन्द रस को (प्रभर) समर्पित कर । क्योंकि (समस्य) समस्त (जेन्यस्य) वश करने योग्य (शर्धतः) ऊपर उठते हुए (अभिशस्तेः) अभिमानी, घातक काम क्रोधादि शत्रुरूप से (कुवित्) बहुत बार (अवस्वरत्[१]) बचा लेता है ।

इति प्रथम खण्ड ।

—:0:—

३ २ ३ १२ २र ३ १ २ ३ १ २
[१४४४] बभ्रवे नु स्वतवसे ऽरुणाय दिविस्पृशे ।
१ २ ३ १ २
सोमाय गाथमर्चत ॥ १ ॥

१४४३—१. स्वरतिर्गत्यर्थो, निघण्टौ । उपसर्गो बलादर्थपर्यः ।

[१४४५] हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन ।
मधावाधावता मधु ॥ २ ॥

[१४४६] नमसेदुपसीदत दध्नेदभि श्रीणीतन ।
इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे ।
देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] इन्द्राय सोम पातवे मदाय परिषिच्यसे ।
मनश्चिन्मनसस्पतिः ॥ ५ ॥

[१४४९] पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः ।
इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ११ । ४-९ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (बभ्रवे) सब का भरण पोषण करने हारे (स्वतवसे) दूसरे की बिना अपेक्षा किये, स्वयं बलशाली, (दिविस्पृशे) इस देह में मूर्धास्थान और ब्रह्माण्ड में, महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक दिव्यगुण वाले लोकों और पदार्थों के भीतर विद्यमान, (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति, प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि की (गाथम्) वास्तविक सत्य गुण कथा का (अर्चत) वर्णन करो ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (हस्तच्युतेभिः) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, (अद्रिभिः) पर्वत एवं शिलाओं के समान स्थिर, सदाचारी, विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये (सोमं) ज्ञानराशि को (पुनीतन) बराबर उन्नत करो, उसका सम्पादन करो और बढ़ाओ और उसको निःसंशय करके पवित्र बनाओ । और (मधौ) अत्यन्त आनन्द करने हारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस (मधु) परम-आत्मज्ञानरूप अमृत को (आधावत) प्राप्त करो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्तर्यामी, शक्तिमान् परमेश्वर एवं इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के (नमसा इत्) नमस्कार, श्रद्धा, भक्ति द्वारा (उप सीदत) समीप पहुंचो, उसकी उपासना करो। (दधा) ध्यान और धारणा-बल से (अभि श्रीणीतन) साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य-सम्पन्न सोमरूप जीव को (इन्द्रे) परमेश्वर में (दधातन) स्थापित करो। अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो।

(४) हे (सोम) सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (अमित्रहा) द्वेष करने तथा स्नेह न करने हारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने हारा, (विचर्षणिः) विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-युक्त पदार्थों, विद्वानों एव इन्द्रिय शक्तियों के (अनुकामकृत्) कामनानुकूल कार्य करने हारा होकर (गवे) ज्ञानशील आत्मा के लिये (शं) कल्याण-सुख को (पवस्व) प्रवाहित कर।

(५) हे (सोम) सबके प्रेरक ! ज्ञान-आनन्द रस स्वरूप ! (इन्द्राय) अन्तरात्मा के (पातवे) पान करने और (मदाय) हर्षोत्पादन के लिये (परिषिच्यसे) तू ही सब प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-ग्राहक स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही (मनः चित्) मननशील मन को भी जानने हारा एवं (मनसस्पतिः) मन-स्वरूप आत्मा का परिपालक है।

(६) हे पवमान ! सर्वत्र प्रकाशमान, सर्वव्यापक, सबके प्रेरक सबके प्रकाशक ! सोम ! तू (नः) हमें (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (रयिं) प्राणबल (रिरीहि) प्रदान कर। और हे (इन्दो) योगीन् ! गुरो ! (इन्द्रेण) परमात्मा या आत्मारूप (युजा) सहायक से (नः रिरीहि) हमें वह बल प्राप्त करा।

२उ ३ २ ३ १ २ ३ १र २ ३र
[१४५०] उद्घेदभिश्रुतामघं वृषभन्नर्यापसम् ।
१ २
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३क २र
[१४५१] नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
१ ३ ३ १ २
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १र २र २ ३ १ २
[१४५२] स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत् ।
३ १ २
उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१२५] पृ० ६७ ।

(२-३) (यः) जो इन्द्र (बाह्वोजसा) बाहुओं, विघ्नकारी बाधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से (नव नवतिं) ९९ निन्यानवें (पुरः) पुरों, देहों या देह पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तर्पक वर्षों को (बिभेद) तोड़ डालता है विनाश करता है और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार को नाश करने हारा वह आत्मा (अहिं) सर्प के समान हृदय-मन्दिर में आ घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को (अवधीत्) विनाश करता है (सः) वह (इन्द्रः) वशी आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा (शिवः) कल्याणमय, (सखा) सब का मित्ररूप हमारे लिये (उरुधारा इव) दूध की बड़ी धार बहाने वाली कामधेनु के समान, (अश्वावत्) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और (गोमत्) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और (यवमत्) जव आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप से अश्वों, गौओं और सस्यादियुक्त ऐश्वर्यों को (दोहते) प्रदान करता है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१४५३] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् । वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मं दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् । विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १७० । १-३ ॥

भा०—(१) सूर्य के दृष्टान्त से ईश्वर, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । (विभ्राट्) विशेष रूप से चमकने हारा, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी (यज्ञपतौ) समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति और प्रलयरूप दान-आदानमय यज्ञ के स्वामी परमात्मा और प्राणापानाहुतिमय यज्ञ के स्वामी आत्मा में (अविह्रुतम्) सरल, शुद्ध एवं नित्य जागृत, नित्य चेतन, अमर (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता हुआ (बृहत्) बड़े भारी (सोम्यं) सोम स्वरूप, प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त (मधु) अमृत ब्रह्मानन्द रस का (पिबतु) पान करे । (यः) जो (वातजूतः) प्राणवायु द्वारा प्रेरित प्रथम (त्मना) स्वयं अपने आप को (अभिरक्षति) रक्षा करता और निरपेक्ष होकर (प्रजा) अपनी इन्द्रियों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और (वि राजति) विशेष रूप से प्रकाशित होता है ।

१४५४—१. 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति ऋ० ।

(२) (विभ्राड्) विशेष रूप से तेज से प्रकाशमान (बृहत्) विशाल, बड़ा भारी (सुभृतं) उत्तम रूप से (पालित) पोषित एवं धारित, (वाजसातमं) ज्ञान और बल प्रदान करने हारों में उत्तम है, (धर्म) धारण करने हारा साक्षात् आनन्द का प्रवर्धक आत्मरूप (दिव) समस्त सूर्य एवं द्यौलोक और विद्वानों के (धरुणे) आश्रय स्वरूप धारण करने हारे परम आश्रय परब्रह्म में (अर्पितम्) प्रतिष्ठापित, (सत्यं) सत्य-स्वरूप, (अमित्रहा) विपरीत जाने हारे शत्रुरूप काम क्रोधादि अन्त-शत्रु और बहि शत्रुओं का भी नाश करने हारा, (वृत्रहा) 'आत्मा के आवरक अज्ञान और योगसमाधि के विघातक आभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्यु-त्थान वृत्तियों का नाशक, (दस्युहन्तमं) शरीर आत्मा के उत्तम सम्पदाओं के विनाशक कारणों का नाश करने हारा, (असुरहा) प्राणों में रमण करने वाले आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों को वश करने हारा (सपत्नहा) प्रतिस्प-र्धियों का विनाशक (ज्योतिः) तेज-स्वरूप अर्थात् तेज को धारण करने हारा आदित्य के समान सूर्यव्रतचारी आदित्य योगी (जज्ञे) उत्पन्न होता है।

(३) वह आदित्ययोगी (इदं) यह (श्रेष्ठं) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) तेज (ज्योतिषां) समस्त प्रकाशमान पदार्थों में (उत्तम) उत्कृष्ट कोटि का, (विश्वजित्) सब के विजेता, और (धनजित्) सब विभूतियों से भी उत्तम (बृहत्) विशाल (उच्यते) कहा जाता है। वह (विश्वभ्राट्) समस्त संसार का प्रकाशक (भ्राजः) सब पापों और पापी पुरुषों को सताप देने हारा, स्वयंप्रकाश, (महि) बड़ा भारी (सूर्य) सूर्य के समान सब का प्रेरक सब को प्रकाश देने हारा होकर (अच्युत) अविनाशी (सह) सहनशील, सब के अभिभावक तेज, (ओजः) और बल को (उरु) बहुत अधिक (पप्रथे) विस्तीर्ण होता है, फैलाता है।

[१४५६] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ १ २ ३ १ २

[१४५७] मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो मा शिवासोऽवक्रमु-।

१ २ ३२ ३२३ १ २ ३ १ २

त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥६॥

ऋ० ७ । ३२ । २६-२७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्ररूप योगिन्, आदित्य ! अथवा परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) अपने पुत्रों के लिये (पिता) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ लाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी (नः) हमें (क्रतुं) ज्ञान, बल और कर्म को (आ हर) उपदेश करके प्राप्त कराइये और (अस्मिन्) इस जीवनमय ऋतुरूप यज्ञ में हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमात्मन् ! (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (यामनि) तेरी सिखाई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर (ज्योतिः) जीवन प्राण और ज्ञानमय ज्योति का (अशीमहि) भोग करें देखो अविकल सं० [२५६] भी ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे गुरो ! (अज्ञाताः) बिना जाने पहिचाने, लुके छिपे चोर (वृजनाः) पापी, (दुराध्य) दुष्ट, कूट, षड्यन्त्र करने हारे, कुटिलाचारी (अशिवास) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव (नः) हमें (मा अवक्रमु) कभी न दबा सकें । हे (शूर) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बड़े बलवन् प्रभो ! (त्वया) तुझ सहायक को पाकर (वयं) हमें (प्रवतः) अति विनयशील होकर भी (शश्वतीः) बहुत से (अपः) कार्यों को (अतितरामसि) निर्विघ्न समाप्त करें ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४५८] अद्याद्या श्वः श्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥१॥

[१४५९] प्र भङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥७॥
ऋ० ८। ६१। १७, १८॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (नः) हमें (अद्य अद्य) सब आज अर्थात् वर्त्तमान में और (श्वः श्वः) सब कल अर्थात् आगामी दिनों में (परे च) सब परसों के दिनों में (त्रायस्व) रक्षा कर। हे (सत्पते) सज्जन प्रतिपालक प्रभो ! आप ही (विश्वा च अहा) सभी दिनों और (दिवा नक्तं च) दिन और रात भी हमारी (रक्षिषः) रक्षा किया करते हो।

(२) (मघवा) समस्त यज्ञों का मालिक (तुवीमघः) ऐश्वर्यवान् (संमिश्लः) सब को मिला देने हारा, सबमें समान भाव से व्यापक, (प्रभङ्गी) बड़े वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, परमेश्वर विक्रमशील होने से ही (वीर्याय कम्) बल वर्धन करने के लिये समर्थ होता है। हे (शतक्रतो) सैंकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त (ते) तेरी (उभा बाहू) वीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान विघ्नों को बाधने वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तियां (वृषणा) नाना सुखों को वर्षाने हारी हैं (या) जो (वज्रं) वज्र को (मिमिक्षतुः) धारण करती हैं।

परमात्मा के पक्ष में बाहू=ज्ञान और कर्म, वज्र=कर्म. बन्धन को काटने हारी विद्यारूप असि। जीव के पक्ष में-बाहू=प्राण और अपान। वज्र=ज्ञानासि या चितिशक्ति या वैराग्य। राजा के पक्ष में वज्र=तलवार, शस्त्र।

इति तृतीयः खण्डः।

[१४६०] उत्तीयन्तोन्वम्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः।
सरस्वन्तं हवामहे ॥१॥८॥ ऋ० ७। ९६। ४॥

भा०—(१) (जनीयन्त) पुत्रोत्पादन के निमित्त भार्याओं की कामना करते हुए और (पुत्रीयन्तः) उनमें पुत्रों की कामना करने हारे होकर भी (अग्रव.) उन्नतिशील और (सुदानव.) उत्तम दानी होकर हम लोग (सरस्वन्तं) समस्त आनन्दरस के सागररूप उस परमात्मा को (हवामहे) नित्य स्मरण करते हैं।

[१४६१] उत न. प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा।
सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । ६१ । १० ॥

भा०—(१) (उत) और (न. प्रियासु) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में (प्रिया) सबसे अधिक प्रिय (सरस्वती) स्वतः सरण करने हारी अथवा ब्रह्मानन्द रस से भरी पूरी (सप्त-स्वसा) २ आंख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात स्वत. सरण करने हारी सात ज्ञान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं भगिनी के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (न·) हमारी (स्तोम्या) स्तुति करने योग्य (अभूत्) है। अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दांसि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने हारी है।

[१४६२] तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

[१४६३] सोमानां स्वरणं कृणुहि० ॥ २ ॥ ऋ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] अग्न आयूंषि पवसे० ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ६६ । १९ ॥

भा० —यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है। (तत्) उस (सवितुः) सर्व जगत् के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वत. प्रकाशमान, सब के प्रकाशक सबसुखों के दाता परमेश्वर के

१४६३—क्वचित् पुस्तकेषु द्वितीयतृतीययोऋचो· पूर्ण पाठो दृश्यते। बहीषु संहितासु प्रतीकमात्रमुपलभ्यते इति तदेवात्राप्युद्धियते शिष्टाचारात्।

(वरेण्य) सर्वोत्कृष्ट, वरण करने योग्य अनुपम, (भर्ग) अविद्या, अज्ञान, काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अज्ञान से पैदा होने हारे तामस अङ्कुरों को अग्नि और सूर्य के प्रखर तेज के समान भस्म कर डालने हारे तेज का हम (धीमहि[1]) ध्यान करें, धारण करें (यः) जो परमेश्वर (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों को (प्रचोदयात्) उत्तम सन्मार्ग में प्रेरित करता है ।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करने योग्य व्याख्या इस प्रकार की है ।

"वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः ।
कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति ॥"

उस उत्पादक परमात्म देव का परम वरणीय भर्गरूप तेज 'वेद' 'छन्द' है जिसको कवि विद्वान् लोग 'अन्न' कहते हैं । और 'धिय' का तात्पर्य 'कर्म' है, हे शिष्य ! यही मैं, तुझको उपदेश करता हूं कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबको प्रेरित करता है । *

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३६] पृ० ७१ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [६२७] पृ० ३१६ ।

---

१ धीमहि ध्यायाम, धारयेम इति सायणः । आद्य रूप ध्यायतेः परन्तु द्वितीयेऽर्धीङ् आधार इत्यस्य ज्ञेयम् ।

* इस गायत्री मन्त्र का का प० डब्ल्यू० जोन्स का किया निम्नलिखित अनुवाद बड़े महत्व का है—

"हम (तत्) उस (देवस्य सवितुः) देव सविता परमात्मा के (भर्ग) उत्तम तेज की (धीमहि) उपासना करते हैं जो (यः) सब को प्रकाशित करता है, जो (सविता) सब को उत्पन्न करता है और जिससे सब उत्पन्न होते हैं, और जिसमें (भर्ग.) सब लीन होजाते हैं, उसी को हम (नः धियः) अपनी बुद्धियों को (वरेण्य) परमपद के प्राप्त करने के लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करने की प्रार्थना करते हैं ।

१ २ ३ १ २
[१४६५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य० ॥ १ ॥
३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१४६६] ऋतमृतेन सपन्तेपिरन्दक्षमाशाते ।
३ १ २ ३ १ २
अद्रुहा देवौ वर्द्धेते ॥ २ ॥
३ १ २ २क २र ३ १उ ३ १ २
[१४६७] वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः ।
१ २ ३ १ २
बृहन्तं गर्तमाशाते ॥ ३ ॥ ११ ॥ ऋ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११४३] पृ० ५६७ ।

(२) राजा मन्त्री, जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणापान, सूर्यवायु, यजमान, अध्वर्यु, सूर्य, पृथिवी, गुरु शिष्य आदि का वर्णन है। वे दोनों मित्र और वरुण (अद्रुहौ) परस्पर द्रोह न करते हुए (देवौ) प्रकाशमान ज्ञान से स्वय प्रकाशित होने, एवं दूसरे को भी प्रकाशित करने हारे, या परस्पर एक दूसरे के आकांक्षी (ऋतं) सत्यज्ञान को (ऋतेन) वेद ज्ञान से (सपन्ता) प्राप्त करते हुए (इषिरं) सबके प्रेरक (दक्षं) बल को (आशाते) प्राप्त कर लेते हैं। अध्यात्म पक्ष में—"(ऋत) सत्य ज्ञान को (ऋतेन) ब्रह्म से..." प्राणापान पक्ष में—(ऋतं) आत्मा को (ऋतेन) तप से इत्यादि पूर्ववत् ।

(३) वे मित्र और वरुण (वृष्टिद्यावा) वर्षण और प्रकाश से युक्त (रीत्यापा) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट को प्राप्त करने हारे अथवा जलों के समान कर्म और ज्ञानों को बहाने हारे (दानुमत्याः) दान देने योग्य (इषः) चेतनादायक अन्न के (पती) स्वामी होकर (बृहन्तं) विशाल (गर्तम्[1]) उत्तम देहरूप या ब्रह्माण्ड रथ में (आशाते) व्याप्त रहते हैं। राजा, मन्त्री पक्ष में (गर्ते) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

१४६६—रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः स्तुततमं यानम् (नि० ३ । ५)

३ १ २ ३ १२३१र २र ३ १ २ ३ १ २
[१४६८] युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
१ २ ३ २ ३ १
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७०] केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
२ ३ १ २
समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० १ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् साधक योगी लोग (तस्थुपः) स्थिर आसन होकर (परिचरन्तं) समस्त देह में गति करने हारे, (अरुषं) सब मर्मस्थानों में विराजमान, उनका नाश न करने हारे (ब्रध्नं) विशाल, सब इन्द्रियगण को अपने बल से बांधने और उनको चलाने हारे मुख्य प्राण को (युञ्जन्ति) योगाभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे (रोचना.) कान्तिसम्पन्न होकर (दिवि) सात्विक ऊर्ध्व स्थान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में (रोचन्ते) विराजने और शोभा पाते हैं या (दिवि) मूर्धास्थान में विशेष तेज से प्रकाशमान होते हैं। अथवा—जो विद्वान् योगी (तस्थुप. परिचरन्तं) समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों में व्यापक (अरुषं) सब के प्रति स्नेहवान् (ब्रध्नं) सर्वाश्रय, सबसे महान्, ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को (युञ्जन्ति) योग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्थान में (रोचना) तेजोमय होकर (रोचन्ते) विराजमान होते हैं।

अथवा, जो शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (ब्रध्नं) सूर्य को, (अरुषं) अग्नि को, (चरन्तं) वायु को सम्यक् रीति से कार्य में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और आनन्द लाभ करते हैं।

महर्षि दयानन्द प्रदर्शित दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं।

(२) (अस्य) जिसको पूर्व मन्त्र में 'प्रघ्न' कहा है जो सूर्य आदि शब्दों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा-रूप इन्द्र के (रथे[1]) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में (काम्या) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रुचिकर, प्रिय, (हरी) हरणशील (विपक्षसा[2]) नाना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पार्श्वों में गति करने हारे (शोणा) स्वतः गतिशील, (धृष्णू) शरीर को धारण करने हारे, दृढ़, (नृवाहसा) नेतास्वरूप आत्मा के वाहनरूप प्राण और अपान दोनों को जो योगाभ्यास द्वारा (युञ्जन्ति) लगाते हैं, वश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। सूर्यपक्ष में—(हरी) हरणशील आकर्षण और वेगगुण। राजा पक्ष में—(रथे) युद्धोपकरण रथ। परमात्मापक्ष में—(हरी) सूर्य और वायु। सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्वव्यापक इष्टदेव के ब्रह्माण्डमय विशाल रथ की कल्पना की है। जिसमें जगन्नाथ का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं।

(३) हे (मर्याः) मनुष्य लोगो! मरणशील मनुष्यो! या जन्तुगण! जिस प्रकार (उषद्भिः) अपनी दाहक रश्मियों से (अकेतवे) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये (केतुं) प्रात: चेतना करता हुआ और (अपेशसे) अरूप अर्थात् प्रकाश के अभाव में अदृश्य पदार्थों को (पेशः) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी (अकेतवे) ज्ञान रहित इस देहादि संघात के निमित्त (केतुं) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और (अपेशसे) रूप रहित अपने लिये (पेश)

१. रथो रंहतेर्वागति कर्मणः, स्थिरतेर्वा, स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठति इति रयतेर्वा रसतेर्वा। (निरु० ६। ११)

२. विपक्षसा—पक्ष परिग्रहे (भ्वादिः)

इस देह को रूपवान् (कृण्वन्) करता हुआ (समुपद्भिः) संताप देने हारे कर्म विपाकों द्वारा पुनः (अजायथा) उत्पन्न होता है। अथवा—हे जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चेतन और अरूप अपने आपको सरूप करता हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है।

इति चतुर्थः खण्डः ।

---

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७१] अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
२ ३ १ २ ३ १र १र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥
१ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१४७२] स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।
२ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त ॥२॥
३ २उ ३ १र २र ३ १ २ ३ २उ ३
[१४७३] शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा
२ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
विट् । आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतना-
२उ ३ २
षाड् न यज्ञः ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ८८ । १, २, ७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (अयं सोमः) यह सोम, शमादि सम्पन्न योगी (तुभ्यं) तेरे लिये (सुन्वे) साधना करके निष्पन्न होता है। (तुभ्यं पवते) तेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है। (यं) जिसको (त्वं) तू (चकृषे) बनाता है और (त्वं ववृषे) तू ही सामर्थ्य देता है या वरण करता है उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य और तप से युक्त (सोमम्) शमदमादि साधन सम्पत्ति से युक्त पुरुष को (मदाय) आनन्दप्राप्ति, मोक्षलाभ और (युज्याय) अपने संग रखने अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये (त्वं) तू (अस्य पाहि) उसको विघ्नों से बचाता है।

१४७२— 'पृतनाषाण्न यज्ञः' इति ऋ० ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनि० १ । १२ । २२)

(२) (स.) वह सोमरूप योगी (वसूनि) इस में वास करने हारे (पुरूणि) इन्द्रियों को (रथ, न) स्थिर, स्थाणु के समान (भूरिषाट्) अति अधिक सहनशील होकर (महः सातये) तेज को प्राप्त करने के लिये (अयोजि) योग साधन में लग जाता है । (आत् ईम्) और अनन्तर (वने) अभिलाषा के योग्य (स्वर्षातौ) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में (नहुष्याणि) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य (विश्वा) समस्त (ऊर्ध्वा) उत्कृष्ट (जाता) पदार्थ आपसे आप उसको (नवन्त) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा-(स भूरिषाड् मह पुरूणि वसूनि सातये रथ इव अयोजि) जब वह अति सहनशील विशाल आत्मा वाला योगी बहुत विभूति, ऋद्धि, सिद्धि की प्राप्ति के लिये संग्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । (आत् ईं विश्वा नहुष्याणि ऊर्ध्वा जाता नवन्त) तब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वतः उसके आगे आ झुकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । (छान्दोग्य उप० अ० ८ । ख० १२)

(३) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप (मारुतं) प्राणों के (शर्धः न) प्राणबल के समान (पवस्व) इस देह को गति देते और (यथा) जिस प्रकार (दिव्या) दिव्यगुण युक्त (विड्) प्रजारूप प्राणेन्द्रिय गण (अनभिशस्ता) अनिन्दित और अखण्डित हैं उसी प्रकार आप भी अखण्डित और अनिन्दित हैं । आप (आपः न) जलों के समान (मक्षू) शीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अत आप (सहस्राप्सा[१]) अनेकों रूप होकर (पृतनाषाड् न) युद्ध,

१. अप्स इति रूप नाम (निघ० ३ । ७ । ६)

के मार्ग में लेजाते और (यन्ति च) संगत करते तथा उनको उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हो।

(३) हे (अग्ने) विद्वन्! और परमात्मन्! हे (सुक्रतो) शुभज्ञान और जगत्-रचन आदि नाना कर्मों से सम्पन्न! हे (देव) प्रकाशक! हे (वेधः) समस्त संसार के विधाता:! आप (यज्ञेषु) समस्त प्रकार के यज्ञों और आत्माओं में (अध्वनः) समस्त बड़े मार्गों और (पथः) लघु मार्गों को भी (अञ्जसा) उत्तम रीति से (वेत्थ) जानने हारे हो, हमें भी उनका ज्ञान कराओ।

१ २ ३१र २र ३१ २ ३ १ २
[१४७७] होता देवा अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया।
३ १ २ ३ १ २
विदथानि प्रचोदयन्॥ १॥
३ १र २र ३ २ ३ १ २
[१४७८] वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्रणीयते।
१ २ ३ २ ३ १ २
विप्रो यज्ञस्य साधन॥ २॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४७९] धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे।
१ २ ३ २ ३ १ २
दक्षस्य पितरं तना॥ ३॥ १५॥ ऋ० ३। २७। ७-९॥

भा०—(१) (अमर्त्यः) मरणरहित, अमर (देव.) सबका प्रकाशक परमात्मा (विदथानि[1]) ज्ञान करने योग्य उत्तम कर्मों और आत्म-तत्वों को (प्रचोदयन्) हृदय में प्रेरित करता हुआ (मायया[2]) विशेष ज्ञानशक्ति या बुद्धि से (पुरस्तात्) साक्षात् (एति) प्रत्यक्ष होता है।

(२) (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष (वाजेषु) बल के कार्यों में (धीयते) नियुक्त किया जाता है और इसी प्रकार का ज्ञानवान्

१. विदथानि वेदितव्यानि-इति सायणः।

२. मायया, कर्मविषयाभिज्ञानेन इति सायणः।

बलशाली पुरुष (अध्वरेषु) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में (प्रणीयते) विशेष रूप से नियुक्त किया जाता है, क्योंकि (यज्ञस्य) दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि सत्कार्यों को (साधनः) साधन करने द्वारा (विप्रः) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

(३) पूर्व मन्त्र में विप्र, वाजी आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही (धिया) अपने धारण ज्ञानशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण (वरेण्य.) सबसे वरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर (चक्रे) काम करे । वही (भूतानां) सब पदार्थों और प्राणियों को (गर्भं) अपने वश में (आदधे) धारण करता है । और उसको (दक्षस्य) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की (तना) उत्पादित प्रजा, उस (पितरं) अपने पालक को पिता के समान (आदधे) धारण करती जानती और मानती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २
[१४८०] आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।
३ १ २ ३ २
रसा दधीत वृषभम् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ २ २३ २ ३ २ ३१२
[१४८१] ते जानत स्वमोक्या३ं सं वत्सासो न मातृभिः ।
३ १ २ ३ १ २
मिथो नसन्त जामिभिः ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[१४८२] उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि ।
१ २ ३ २उ ३ २
इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥३॥१८॥ ऋ० ८। ७२ । १३-१५ ॥

भा०—(१) (सुते) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान (रोदस्योः)

मा आप के (अभि) आश्रित (श्रियं) सम्पत् साधनों को (आसिञ्चत) प्राप्त कराओ और (रसा) रसमय सारिष्ठ पदार्थों में जिस प्रकार अग्नि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस (वृषभं) सुखों के वर्षक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही (आदधीत) नियुक्त करो । अध्यात्म पक्ष में—(रोदस्योरभिश्रिय सुते आसिञ्चत) प्राण और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और (वृषभ रसा आदधीत) अग्निस्वरूप आत्मा को आनन्द रस में प्राप्त कराओ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है (सुत श्रियं आसिञ्चत) गौ के दुग्ध में वह बकरी का गरम दूध डालो जो (रोदस्योरभिश्रियम्) खूब उफान खारहा हो और फिर मिले दूध में आंच दो। आश्चर्य !

(२) (वत्सामः) जिस प्रकार बछड़े (जामिभि·) अपनी २ पैदा करने हारी (मातृभिः) माताओं से (मिथ.) परस्पर (नसन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से स्नेहवश मिले रहते हैं और (स्वं) अपने (ओक्य) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को (सं जानते) भली प्रकार जान लेते हैं और उनके साथ ही मिल जाते है। अध्यात्म में—(ते) वे प्राण प्रमातृरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बछड़े अपनी उत्पादक माताओं से । और उन इन्द्रियों को वे दशों प्राण अपने स्थान के नित्यवासी जान कर उनसे एक हो रहते हैं।

(३) (स्रक्केषु) सर्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में (बप्सत.) भक्षण करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अग्निरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष (दिवि.) ज्ञान-प्रकाश में सूर्य के समान (धरुण), उसको धारक बल या आश्रय रूप से (उप क्षुयते) स्वीकार करते हैं। उस (अग्निं) अग्निस्वरूप, पाप दहन करने

द्वारे, ज्ञानवान् परमेश्वर को (इन्द्रे) इन्द्ररूप आत्मा में भी (नम) बल और (स्व) सुख और आनन्दरूप से (उप कृपयते) उपासना करते हैं।

सामाजिक पक्ष में—(स्केतु) आमोद प्रमोद स्थलों में विहार करते हुए उस नवयुवक रूप अग्नि को विद्वान् उच्च प्रतिष्ठा देते हैं और तभी वह पालन पोषण के भार को अपने में धारण करके बल और पारिवारिक सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिवार का उत्तम वर्णन किया गया है।

[१४८३] तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १ ॥

[१४८४] वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

[१४८५] त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सुमधु मधुना
भि योधीः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० १० । १२ । १, २ ॥

भा०—(१) (तत्) वह परम आत्मा (इत्) ही (भुवनेषु) इन समस्त लोकों में (ज्येष्ठ) सब से अधिक प्रशस्त, उत्कृष्ट, वर्णनीय (आस) है, (यतः) जिससे (त्वेषनृम्णः) कान्ति दीप्ति से युक्त बलशाली (उग्रः) तेजस्वी, विशाल शक्तिशाली सूर्य और उसके समान तेजस्वी पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (सद्य जज्ञानः) उत्पन्न होकर ही वह (शत्रून्) शत्रुओं और पापों को (निरिणाति) दूर करता है (यं अनु) जिसको देखकर (विश्वे) समस्त (ऊमाः) जीव प्राणगण (मदन्ति) हर्षित होते हैं।

(२) वह परमात्मा (शवसा) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विक्रमशील, प्रतापी होकर (शत्रु०) विघ्नों का शातन करनेहारा (दासीय) विनाश करनेहारे पापी जन के लिये (भियसं) भीति, डर (दधाति) उत्पन्न करता है और (अव्यनत्) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और (व्यनत् च) चेतन प्राणी जो नाना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को (सक्ति) पवित्र करता है, निहलाता है अर्थात् उनमें भी स्वत० नाना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है। हे इन्द्र ! (ते) ये सब (प्रभृताः) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पालन पोषण किये गये स्थावर और जंगम सब पदार्थ (मदेषु) हर्ष में मग्न होकर (ते) तेरे आगे (नवन्त) झुकते और तेरी महिमा गाते हैं।

(३) (त्वे) तुझमें (अपि) ही (विश्वे एते ऊमाः) समस्त ये भूत, प्राणिगण (यद्) जब (द्विः) एक से दो और (त्रिः) दो से तीन होजाते हैं तब भी वे (क्रतुं) अपने उत्तम प्रज्ञान को (वृञ्जन्ति) तुझ पर ही व्यय कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों के चित्त और सब यज्ञ क्रतु तुझ पर ही समाप्त होजाते हैं। हे इन्द्र ! (स्वादो०) आनन्द देने वाले प्रिय धनादि से भी (स्वादीयः) बहुत अधिक आनन्ददायक, प्रिय पदार्थ, पुत्र आदि को (स्वादुना) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी के प्रति पति के द्वारा (सृज) उत्पन्न कर। और (अदः) उस (मधु) अति आनन्ददायी सन्तान को भी (सुमधुना) उत्तम प्रिय पदार्थ पुत्रवधू एवं पौत्र आदि से (अभियोधीः) आनन्द प्रसन्न कर। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है "त्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनांसि क्रतवोऽपि वृंजन्ति।" तुझ में ही समस्त भूत, सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं। पुरुष ही स्त्रीरूप से भी रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा अङ्ग होजाती है। श्रुति भी है "अर्धो वा एष यत् पत्नीति" (शत०) और पुत्र भी उन पुरुष का ही तीसरा रूप

है जैसे वेद में—"आत्मा वै पुत्रनामासि" (शत०) दो से तीन होजाते हैं जैसे—"द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या" । "पुत्रो ह स्वादु" पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे-"मिथुन वै स्वादु, प्रजा. स्वादु" इत्यादि (शत०) । अध्यात्म पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभोग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः= ब्रह्मानन्दरस को स्वादुना=प्रिय रूप आत्मा से (सं सृज) सगत कर । (मधु सुमधु) अति मधुर इस अमृत आत्मा को (मधुना) उस परम अमृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या मोक्ष से मिला, आनन्दित कर ।

[१४८६] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम् । स ईं ममाद महिकर्म कर्त्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥

[१४८७] साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः । दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविं युधाभवदा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्रवावृधे । अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्रचेतय सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० २ । २२ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४५७] पृ० २२८ ।

१४८७—'यथावशन्' इति ऋ० ।

१४८९—क्रिविं इति । त्रिष्टु. स्व्हु "सत्यमिन्द्र सत्यमिन्दुः" इति विपर्यस्त. ऋ० ।

(२) हे इन्द्र ! हे (प्रचेतन) प्रकृष्ट ज्ञानवन् ! (क्रतुना) वेदमय ज्ञान के (साकं) साथ (जातः) वर्त्तमान रह कर आप (ओजसा) अपने बल से (ववक्षिथ) इस ब्रह्माण्डमय जगत् का वहन करते हो, इसको धारण करते हो । अत एव (वीर्यैः) नाना प्रकार की शक्तियों के (साकं) साथ (वृद्धः) समस्त संसार में व्यापक, महान् (मृधः) सब शत्रुओं को (सासहिः) वश करने हारे, (विचर्षणिः) सब संसार के द्रष्टा (स्तुवते) स्तुति करने हारे भक्तजन के कामना करने योग्य (वसु) धन के (दाता) देने हारे हैं । (सः) वह (देवः) प्रकाशरूप (सत्यः) सत्यस्वरूप (इन्दुः) जीवात्मा, योगी, (सत्यं) सत्यस्वरूप (देवं) सर्वप्रकाशक (एनं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (सश्चत्) प्राप्त करे।

(३) (अध) इस प्रकार के ब्रह्मदर्शन के अनन्तर (त्विषीमान्) कान्तिमान् इन्द्र (ओजसा) बल से, (क्रिविम्) जीव के बन्धनरूप पाचों अन्नमय आदि कोशों को (युधा) विघ्न नाशक प्रयत्न से (अभि अभवत्) तोड़ देता है । (रोदसी) द्यौ और पृथिवी और प्राण और अपान दोनों को (अपृणात्) व्याप्त करता है । तब (अस्य मज्मना) इसके ही बल से (प्रवावृधे) वह जीव भी शक्तिशाली, और महान् हो जाता है । वह प्रभु (अन्य) जीव को अपने (जठरे) गर्भ में, शरण में (अधत्त) धर लेता है (ईम्) और इसको (प्र अरिच्यत) विशेष रूप से शक्तिशाली बनाता है और (प्रचेतय) प्रकृष्ट रूप से ज्ञानवान् कर देता है । (सः) वह (देव) दिव्य ज्ञानवान् (इन्दुः) योगी जीव (सत्यः) सत्य सकल्प, सत्यरूप होकर (एनं) उस (देवं) देव (सत्यं) सत्यस्वरूप (इन्द्रं) परमेश्वर को (सश्चत्) प्राप्त होता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति षष्ठस्य तृतीयोऽर्धः । षष्ठश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ सप्तमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

ऋषिः—१ १, ९ प्रियमेधः । २ नृमेधपुरुमेधौ । ३, ७ त्र्यरुणत्रसदस्यू । ४ शुनःशेप आजीगर्तिः । ५ वत्सः काण्वः । ६ अग्निस्तापसः । ८ विश्वमना वैयश्वः । १० वसिष्ठः । सोभरिः काण्वः । १२ शतं वैखानसाः । १३ वसुयव आत्रेयाः । १४ गोतमो राहूगणः । १५ केतुराग्नेयः । १६ विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता—१, २, ५, ८ इन्द्रः । ३, ७ पवमानः सोमः । ४, १०—१६ अग्निः । ६ विश्वेदेवा । ९ सामेति ॥ छन्दः—१, ४, ५, १२—१६ गायत्री । २, १० प्रागाथः । ३, ७, ११ बृहती । ६ अनुष्टुप् ८ उष्णिक् । ९ निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—१, ४, ५, १२—१६ षड्जः । २, ३, ७, १०, ११ मध्यमः । ६ गान्धारः । ८, ९ ऋषभः ॥

३ १२ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४८९] अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
३१ ३ २ ३ १ २
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
[१४९०] आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
२ ३ २ ३ १ २
यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४९१] इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
१ २ ३ २ ३ २
यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६९ । ४, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० मं० [१६८] पृ० ।

(२) (बर्हिषि) धान्य या कुशा घास या दर्भ के समान उत्पन्न होकर पुनः ज्ञानाग्नि या योग समाधि द्वारा काटने योग्य निरन्तर वृद्धिशील

इस देहबन्धन में (हरयः) गतिशील (अरुषीः) रक्त वर्ण की धारायें इस भूलोक में जल धाराओं के समान (ससृग्रिरे) नदियों के समान गति कर रही हैं और उस पर (अधि) अधिकार कर रही हैं (यत्र) जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्‌जन (अभिसंनवामहे) उस आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करते और गान करते हैं अर्थात् जिस देह में हम उस इन्द्र के साक्षात् अधीन रहते हैं।

ईश्वर पक्ष में -मही=यह संसार, अरुषी=कान्तिमान्, हरय=सूर्यसदृश गतिमान् पिण्ड।

(३) (गावः) ये सब गतिमान् रक्तधारायें तथा इन्द्रियगणं (इन्द्राय) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये (आशिरम्) उसके जीवन के आश्रयरूप (मधु) हर्ष कर उस शुक्र या ज्ञान को (दुदुह्रे) उत्पन्न करती हैं, (यत्) जिसको वह इन्द्र (उपह्वरे) भीतरी हृदय कोश में (सीम्) सब ओर से (विदत्) प्राप्त करता है।

ईश्वर पक्ष में—ये गतिमान् तेजस्वी पिण्ड (आशिरं) समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रयरूप (मधु) शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसको वह इस ब्रह्माण्ड में धारण किये हैं।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषतः।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४६३] त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥२

ऋ० ८। ९०। १-२

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (हव्यं) स्मरण करने स्तुति करने, और पुकारने, आश्रय करने योग्य (इन्द्रम्) उस परमेश्वर

को (विश्वासु समत्सु) समस्त आनन्द और उत्सवों में तथा परस्पर मेल मिलाप करने के अवसरों पर (आभूषत) नाना वचनालङ्कारों से सुभूषित करो। हे (वृत्रहन्) विघ्नों के निवारक ! हे (परम) सबसे उत्कृष्ट विजयशील, हे (ऋचीषम) ऋचाओं द्वारा मनन करने योग्य परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (सवनानि) यज्ञों और (ब्रह्माणि) वेद स्वाध्यायों एवं व्रतादि के अवसरों पर (उप) सदा समीप हृदय देश में विराजें। देखो आवि० सं० [२६६] पृ० १३७ ।

(२) हे परमेश्वर ! (त्वं) आप (पृक्षसा) समस्त पदार्थों और ज्ञानों के (प्रथमः) सबसे पहले (दाता) देने हारे (असि) हो और (सत्यः) सत्यस्वरूप सच्चे, (ईशानकृत्) सामर्थ्य और प्रभुत्व के देने हारे हो। (शवसः) बलस्वरूप (पुत्रस्य) पुरुषों की विघ्नों से रक्षा करने हारे (महः) महान् (तुविद्युम्नस्य) बहुत धनैश्वर्यसम्पन्न आपके (युज्या) सत्संगति को समाधि द्वारा हम (आवृणीमहे) प्राप्त करें।

३ २ ३ १ २ ३ १र २क २र ३ २ ३ २ ३ १र २र
[१४६४] प्रत्नं पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत।
१ २ ३ १र २ ३ १ २
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
[१४६५] आदीं केचित्पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्या अभ्य-
३ १र २र ३ १ २
नूषत। दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१४६६] अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि
३ १ २ २ २उ ३ १ २ ३ १र २र
मज्मना। यूथे न निष्ठा वृषभो विराजसि ॥३॥३॥

ऋ० ९ । ११० । ८, ६, ९, ॥

१४६५—'दिव. पीयूष', १४६६—'वारं न देव.' १४६७—'विश्वा भुवनेषु वितिष्ठसे' इति ऋ० ।

भा०—(१) विद्वान् लोग (यत्) जब (प्रत्नं) सनातन अति उत्तम (पूर्व्यं) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन (उक्था) अति प्रशंसनीय (पीयूष) अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द रस को (महतः) बड़े (गाहात्) अति गम्भीर (दिवः) द्यौलोक, मूर्धा स्थल या सहस्रदलकमल से (आ निरधुक्षत) साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे (जायमानं) प्रकट होते हुए, साक्षात् ज्ञान का विषय होते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा की (सम् अस्वरन्) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं।

(२) जब (दिवः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के (वारं) आवरण को (सविता न) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा (वि ऊर्णुते) खोलता या हटा देता है (आत्) तब ही (केचित् दिव्या) प्रकाश में वर्त्तमान होकर भी कुछ एक (वसुरुचः) आत्मा के साधक या इन्द्रियादि उपकरणों के चमत्कारों को प्रेम करने हारे साधक (आप्यं) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप (इम्) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही (पश्यमानासः) देखते हुए उसकी (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं।

(३) (यूथेन) जिस प्रकार गौओं के गोल में (वृषभः) सांड खड़ा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार (यद्) जब आप हे (पवमान) सबके प्रेरक ! प्रभो ! (इमे) इन (रोदसी) द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान दोनों को और (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों या इन्द्रियमय शेष प्राणों के (मज्मना) बलपूर्वक (नि स्थ) भीतर व्याप्त होते हो तब (वि-राजसि) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते हो।

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१४१७] इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्।
१ २ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४९८] विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।
३ २ ३ १ २
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥२॥
१ ३ १२ २१ ३ १ २
[१४९९] आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।
२ ३ १ ३ १ २
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० ११२७।७,६,५

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८] पृ० १२ ।

(२) हे (चित्रभानो) उपास्य ! कान्तिसम्पन्न ! विचित्र रश्मियों से युक्त ! नाना प्रकार के सूर्यों के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार (सिन्धोः) विशाल नदी के (उपाके) समीप से (ऊर्मा) छोटी २ नहरें काट दी जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूतिप्रवाह में से (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करने हारे भक्त के प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकार से नाना विभूतियां बांट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) अभिमत आनन्दरस बहा देते हैं ।

(३) हे अग्ने ! (परमेषु) उत्कृष्ट (वाजेषु) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से (नः आ भज) हमें प्राप्त करा और (मध्यमेषु) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और (अन्तमस्य) समीपतम (वस्वः) वास योग्य पदार्थों को भी (शिक्ष) प्रदान कर ।

३ २उ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५००] अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १२ २२
अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५०१] अहं प्रत्नेन जन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
२उ ३ २ ३ २ ३ २
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २ ॥

१५०१—'अग्रभ' । १५०२—प्रत्नेन मन्मना इति ऋ० ।

[१५०२] ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुरृषयो ये च तुष्टुवुः ।
ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१५२] पृ० ८५ ।

(२) ऋषि का आत्मरूप से दर्शन है। मैं जीव (कण्ववत्) मेधावी विद्वान् पुरुष के समान (प्रत्नेन) अपने पूर्व के, सनातन (जन्मना) जन्म अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप से ही (गिर) नाना वेदस्तुति वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूं। (येन) जिसमें (इन्द्रः) मेरा आत्मा (शुष्मं) आत्मिक बल को (इद्) ही (दधे) धारण करता है।

(३) हे आत्मन्! (ये) जो अज्ञानी लोग (त्वां) तुझको (न) नहीं (तुष्टुवु) स्तुति करते और (ये च) जो (ऋषयः) आत्मसाक्षात्कार करने वाले मन्त्रद्रष्टा, ऋषिगण तथा गुरु शिष्य तथा ज्ञानी, जिज्ञासु जन (त्वा तुष्टुवुः) तेरा यथार्थ वर्णन करते हैं उनसे (सु-स्तुतः) उत्तम रूप से स्तुतियों द्वारा अलङ्कृत होकर (मम इद्) मेरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त करा।

अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी ही की हुई उपासना और प्रार्थना से बलवान् होता है। दूसरे की की, प्रार्थनोपासना उसके लिये निष्फल है।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

[१५०३] अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत ।
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥ १ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ।

१५०३—ऋग्वेदे (३ । २४ । ४) समानाक्षरसन्निवेशवतीयमृग् उपलभ्यते ।
" अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः । यज्ञेषु ये उ चायवः ॥ "

१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।
१ २ ३ २ ३ २र ३ २र ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥२॥ ऋग्वेदे नास्ति।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्द्धय ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता है । इस- लिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (नः) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों मे (परिवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों मे भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्याग्नि लोकों और पुरुषों द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,-ऐश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।
स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

[१५०७] अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् । शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ २ ॥

[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

ऋ० ६ । ११० । ७, ६, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तबर्हिष) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (श्रवसे) यशःस्वरूप महामहिम तुझे प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्योः) बाहुओं की (शर्याभिः) अंगुलियों से (उत्सं न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (श्रवसा) ज्ञान बल से

१५०६—३. " अमृत मर्त्यस्त्वाँ ऋतस्य " इति पाठभेदः ऋ० ।

१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्नि स यस्य वाजिनः ।
१ २ ३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥२॥ ऋग्वेदे नास्ति।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्द्धय ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता है । इस-लिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभिः) उन द्वारा (नः) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (सः अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजैः) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों से (परिवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभिः) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (नः) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,-ऐश्वर्य आदि पदार्थ-दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।

१र २र ३क २र

स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

३ २र ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २

[१५०७] अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् । शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ २ ॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २

१ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्यायं कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

ऋ० ६ । ११० । ७, ८, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तबर्हिषः) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (श्रवसे) यशस्वरूप महामहिम तुझे प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कश्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्योः) बाहुओं की (शर्याभिः) अंगुलियों से (उत्सं न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (श्रवसा) ज्ञान बल से

१५०८—३. "अमृत मर्त्यवो ऋतस्य" इति पाठभेद. ऋ० ।

अन्नय (अनपानं) समस्तजनों को जलभण्डार के समान आनन्दरस-सागर को (भरमाणः) पूर्ण करते हुए, मेघ को वायु के समान (उत्सं) मूल निष्काम रूप ब्रह्म तत्व को (अवसा) गुरूपदेश, ज्ञान, योगाभ्यास से (ततर्दिथ) उद्भेद कर देते हो, तब उसमें अध्यात्म रस प्राप्त होने लगता है ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! (मर्त्याय) मरणधर्मा इस जीव के लिये आप (अमृतं) मोक्षस्वरूप, अविनाशी (कम्) सुख को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो और (अमृतस्य) अविनाशी (धारया) प्राप्त करने योग्य, उत्तम (ऋतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के उपदेश किये हुए (धर्मम्) धर्ममार्ग में (वाज) ज्ञान और बल को (सनिष्यदत्) प्रदान करते हुए (सदा) नित्य (अच्छ) भली प्रकार (सरः) प्रकट होते हो ।

[१५०९] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥

[१५१०] उपो हरीणां पतिं राधः पृञ्चन्तमब्रवम् ।
नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ॥ २ ॥

[१५११] न ह्यां३ऽङ्ग पुरा च न जज्ञे वीरतरस्त्वत् ।
न की राया नैवथा न भन्दना ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋ० ८ । २४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अर्चि० सं० [३८६] पृ० ।

(२) (राधः) आराधना योग्य ज्ञान या अभिलाषित ऐश्वर्य को (पृञ्चन्तं) प्रदान करते हुए, उद्देश्य तक प्राप्त कराते हुए (हरीणां पतिम्) हरणशील इन्द्रिय आदि सूर्यों और विद्वानों के पालक परम आत्मा के

१५१०—२. 'उपो हरीणां पतिं दक्षं' 'स्तुवतो अश्व्यस्य' ३. 'नह्यङ्ग इति ऋ० ।

प्रति (उप अश्रवम्-उ) अति समीप होकर मैं यह कह रहा हूं कि (स्तुवतः) तेरा यथार्थस्वरूप वर्णन करने हारे (अश्वस्य) गतिशील, कर्मफल के भोक्ता जीव आत्मा की प्रार्थना को (नूच)-निश्चय से (श्रुधि) श्रवण कर।

(३) (अङ्ग) हे परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से अधिक (वीरतर) सामर्थ्यवान् शक्तिमान् कोई (नहिं) नहीं है। (न च) और न (पुरा) पूर्व कल्पों में भी (जज्ञे) उत्पन्न हुआ। और (नकिः) न कोई (राया) ऐश्वर्य विभूति में तुझ से अधिक है और न हुआ, न होगा, और (न एवथा) न तुझ से अधिक सर्वव्यापक सर्वरक्षक दूसरा है, न हुआ और न होगा, (न भन्दना) न तुझ से अधिक कोई कल्याणकारी प्रशंसा और स्तुति का पात्र ही है, और न हुआ है, न होगा।

३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१५१२] नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥ १॥ ६ ॥

ऋ० ८। ६९। २

भा०—(१) (वः) आप लोग (योयुवतीनां) कर्म का आदेश करने हारी ऋचाओं के (नदं) उपदेश करने हारे और (ओदतीना) अध्यात्म ज्ञान का उपदेश करने हारे वेद वाणियों के (नद) उपदेष्टा और (अघ्न्यानां) कभी घात न होने हारी अविनाशी, नित्य (धेनूना) ज्ञानरस के पिलाने हारी वेदवाणियों के (पतिं) पालक प्रभु को (इषुध्यसि[१]) आश्रय करो और उसी से इष्ट फल प्राप्त कराने की याचना करो।

इति द्वितीयः खण्डः ।

१, इषुध्यतिर्याञ्चाकर्मा । (निघ० ३ । १६ ।)

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
[१५१३] देवा वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥
= २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१४] त होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥१०॥

ऋ० ७ । १६ । ११-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [२५] पृ० २६ ।

(२) जो (अग्निः) ज्ञानवान् आचार्य, परमेश्वर (दाशुषे) दानशील, आत्मसमर्पक (विधते) परिचर्या करते हुए, शिष्य के समान उपासक को (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्ययुक्त (रत्नं) रमणयोग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य को (दधाति) धारण कराता है (तं) उस (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानवान् परम पुरुष को (देवा) विद्वान् पुरुष (अध्वरस्य) हिंसारहित ज्ञानयज्ञ का (होतारं) सम्पादक और (वह्निम्) कार्यनिर्वाहक (अकृण्वत) नियत करते जानते, और मानते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१५] अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
२ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१६] यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥२॥
१र ४र ३ २
[१५१७] प्र दैवोदासो अग्नि० ॥३॥११॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल स० [४७] पृ० ।

१५१५—३, प्रतीकमात्रमिदम् । क्वचित्पूर्णोऽपि ऋक् पठ्यते ।

(२) (चर्कृत्यानि) समस्त जगत् के कर्तव्य कर्म (कृण्वतः) कराने हारे (यस्मात्) जिससे (कृष्टय·) मनुष्य (रेजन्त) कांपते हैं, भय अनुभव करते हैं (सहस्रसां) सहस्रों का दान देने हारे उस (अग्निम्) परमेश्वर को (मेधसातौ) ज्ञानबल और मेधा को प्राप्त करने के लिये (धीभिः) अपनी ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों से (त्मना) अपने आत्मा द्वारा (नमस्यत) उपासना करो ।

(३) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२१] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्न आयूंषि पवसे० ॥१॥

[१५१९] अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥३॥१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [६२७] पृ० ३१६ ।

(२) (अग्निः) ज्ञानवान्, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (ऋषिः) स्वतः सब मन्त्रों का द्रष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त संसार का द्रष्टा है, वही (पवमानः) सबका पवित्रकारक ज्योतिष्मान् और सबका प्रेरक होने से (पाञ्चजन्यः) पांचों जन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, या देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितर या ५ इन्द्रियों को समानरूप से हितकारी (पुरोहितः) समस्त कार्यों के पूर्व, हृदय में और समस्त विश्व सृष्टि के पूर्व, जगत् में साक्षी रूप से स्थित है, (तं) उस (महागय) महान् प्राणों के प्राण, अथवा बड़े २ देवादि से भी स्तुति किये गये महान्, ज्ञानवान्, परम उपदेष्टा, विशाल कीर्ति वाले परमात्मा से हम (ईमहे) याचना करें ।

१५१८— प्रतीकमात्रम् । क्वचित् पूर्णापि ऋक् पठ्यते ।

(३) हे अग्ने ! (स्वपा.) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न रमात्मन् ! आप (अस्मे) हमें (वर्चः) तेज (पवस्व) प्राप्त कराओ और (मयि) मुझ में (रयिम्) प्राण, बल और (पोष) पुष्टि (दधत्) धारण कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२१] अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।
२ ३ १ २ ३ १ २
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२२] तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् ।
३ २उ ३ १ २
देवाँ आ वीतये वह ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२३] वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
१ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥१३॥ ऋ० ५ । २६ । १-३॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (पावक) सबको पवित्र करने हारे ! हे (देव) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! (रोचिषा) अपनी दीप्तिस्वरूप (मन्द्रया) आनन्ददायक (जिह्वया) दान प्रतिदान करने की शक्ति से (देवान्) दिव्य पदार्थ, जल आदि पञ्चभूतों को और ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के सूर्यादि लोकों को (आवक्षि) आवहन करते, उनका धारण करते (यक्षि च) संगत करते, और व्यवस्थित रखते हो ।

(२) हे (चित्रभानो) नाना विध कान्तियुक्त परमात्मन् ! हे (घृतस्नो) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! (तं) उस महान् आत्मा (स्वर्दृशं) सबके द्रष्टा, या स्व अर्थात् प्रकाशमय और सुखकारक चक्षु से सम्पन्न, या मोक्षमार्ग को दर्शाने हारे आपको (ईमहे) प्रार्थना करते हैं कि (देवान्) हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान कराने हारे विद्वान्

पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को (वीतये) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुखं प्राप्ति के लिये (आ वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (कवे) समस्त संसार के पदार्थों के मर्म तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् ! हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (वीतिहोत्रं) यज्ञों में व्यापक (द्युमन्त) प्रकाशमान (बृहन्तं त्वा) सब से महान् आपको ही हम (अध्वरे) हिंसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में (समिधीमहि) प्रदीप्त करते हैं ।

इति तृतीय खण्ड. ।

——o——

[१५२४] अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।
विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥

[१५२५] आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम् ।
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥

[१५२६] आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम् ।
मार्डीकं धेहि जीवसे ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ७९ । ७-९॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमात्मन् ! हे (वन्द्य) वन्दना करने योग्य परमात्मन् ! आप (गायत्रस्य) प्राणों के त्राण करने के साधन शरीर में, (प्रभर्मणि) उत्तम रीति से भरण पोषण करने के कार्य में (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (नः) हमारी (विश्वासु) समस्त (धीषु) कार्यों से (अव) रक्षा करें ।

१५२५—पृतनाशब्दस्य पृदादेशः । पद्दन्नो० इति [पा० ६ । १ । ६३] अत्रे मास पृत्स्वनूनामुपसंख्यानमिति वार्तिकम् । पृतनेति मनुष्यनाम [नि० २ । ३] संग्रामनाम च [नि० २ । १७]

(२) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमारे लिये (वरेण्यं) सब से श्रेष्ठ (सत्रासाहं) सब विपत्तियों को दूर करने हारे (रयिं) बल और अन्न (आभर) प्राप्त करावें जो (विश्वासु) सब (पृत्सु) मनुष्यों में या संग्रामों में (दुस्तरं) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सके और न समाप्त कर सके ऐसे हों ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमें (जीवसे) जीवन के निमित्त (विश्वायुपोषसं) समस्त मनुष्यों के पालन पोषण में समर्थ (मार्डीकं) सुख, आरोग्य करने हारे (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान सहित (रयिं) अन्न और प्राणबल (धेहि) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु ।
तेन जेष्म धनं धनम् ॥ १ ॥
[१५२८] यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या ।
तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥
[१५२९] आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।
अङ्धि खं वर्त्तया पविम् ॥ ३ ॥
[१५३०] अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४ ॥
[१५३१] अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत् ।
बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ॥५॥१५॥ ऋ० १०।१५६। १-५

१५२९—प्र वर्त्तया पविम् इति ऋ० । 'सवर्त्तया' इति अजमेरमुद्रितः प्रामादिक पाठः ।

भा०—(१) (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों, कर्मों और स्तुतियां (अग्नि) ज्ञानवान् पुरुष, या आत्मा या परमात्मा को (वाजिषु) संग्रामों में (आशुं सप्तिम् इव) शीघ्रगामी, अश्व के समान (हिन्वन्तु) प्रेरणा करें (तेन) उससे हम (धनं धनं) बहुत सा धन (जेष्म) विजय करें, प्राप्त करें।

(२) हे (अग्ने) प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (ऊत्या) रक्षा ज्ञान और (सेवया) सेवा से (गा.) वाणियों, रश्मियों और गौओं को (आकरामहे) साक्षात् प्राप्त करें (ता) उस अपनी शक्ति को (नः) हमें (मघत्तये) धन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (हिन्व) प्रेरित कर।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तू हमारे पास (पृथु) खूब विस्तृत (गोमन्तं) गौओं और (अश्विन) अश्वों से युक्त तथा ज्ञान और कर्मेन्द्रिय से सम्पन्न (स्थूरं) स्थिर (रयिं) प्राण और धन को (आभर) प्राप्त करा। (खं[1]) सुख को (अंग्धि) हमारे लिये प्रकाशित कर और (पविम्[2]) पापनाशक पावकरूप यज्ञ ज्ञानवज्र या ज्ञानप्रवर्त्तक वाणी को (वर्त्तय) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर।

'खं'—यदेव खं तदेव कं यदेव कं तदेव खम्, छान्दोग्य उप० पविरिति वाग्वज्रयज्ञादिनामसु पठितः

(४) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (नक्षत्रम्) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से च्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप (सूर्यं) सूर्य को (दिवि) द्यौलोक में (आ रोहयः) स्थापित करते हैं कि वह (जनेभ्यः) सब उत्पन्न होने हारे लोकों और प्राणियों को (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) प्रदान करे।

(५) (अग्ने) परमात्मन् (विशां) समस्त प्राणियों को आप (केतुः) ज्ञान देने हारे, (प्रेष्ठः) सब से अधिक प्रिय, और सब से (श्रेष्ठ) उत्तम होकर (उपस्थसत्) सब के समीपतम हृदयदेश में विराजमान हो।

आप ही (स्तोत्रे) स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष को (बोध) ज्ञान देते हैं और आप ही (वय:) अन्न और जीवन दोनों को (दधत्) धारण कराते हैं।

[१५३२] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपा रेतांसि जिन्वति ॥ १ ॥

[१५३३] ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वःपतिः।
स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ २ ॥

[१५३४] उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
तव ज्योतींष्यर्चयः ॥३॥१६॥ ऋ० ८ । ४४ । १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सब को आगे ले जाने वाला, सब का ज्ञानदाता ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मा (मूर्धा) सब का मूर्धस्थान, सब देवों में शिरोमणि, (दिव) द्यौलोक या सूर्य आदि दिव्य पदार्थों से भी (ककुत) श्रेष्ठ, उनसे भी ऊंचा, (पृथिव्याः) पृथिवी का भी (पतिः) पालक है। वही (अपां) सब लोकों के (रेतांसि) बीज रूप कारण सत्ताओं का (जिन्वति) शरीर आदि में प्रेरित कर उनको यथासमय जीवन प्रदान करता है।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (स्व पतिः) समस्त मोक्ष के पालक हैं। आप ही (दात्रस्य) दान देने योग्य और (वार्यस्य) वरण करने योग्य विभूति के भी (ईशिषे) प्रभु हैं, अतः (तव) तेरी (शर्मणि) शरण में रहकर मैं (तव) तेरे (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करने हारा (स्याम्) रहूं।

(३) हे अग्ने ! (ते) तेरी (शुक्राः) कान्तिमान् (शुचयः) दीप्तियें (भ्राजन्तः) सब को प्रकाशित करती हुई स्वयं (ईरते) उठ

रही हैं और (अर्चयः) ये सब कान्तियां भी (तव) तेरी ही (ज्योतींषि) जगाई ज्योतियां हैं ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः समाप्तः ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।

ऋषि.—१, ११ गोतमो राहूगण.। २, ६ विश्वामित्रः । ३ विरूप आंगिरसः । ४, ६ भर्गः प्रागाथः । ५ त्रितः । ३ उशना काव्यः । ८ सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतर । १० सोभरि काण्वः । १२ गोपवन आत्रेयः १३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा । १४ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अथवाग्नी गृहपति यविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतर. ॥ अग्निर्देवता । छन्द —१–काकुभम् । ११ उष्णिक् । १२ अनुष्टुप् प्रथमस्य, गायत्री चरमयो. । १३ जगती ॥ स्वरः–१–३, ६, ९, १५ षड्ज. । ४, ७, ८, १० मध्यम । ५ धैवतः । ११ ऋषभः । १२ गान्धरः प्रथमस्य, षड्जश्चरमयो, । १३ निषादः ॥

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३क २र
[१५३५] कस्त जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वर ।
२ ३ १ २ ३ १
को ह कस्मिन्नसि श्रित ॥१॥

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५३६] त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
सखा सखिभ्य ईड्य. ॥२॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
[१५३७] यजा नो मित्रावरुणौ यजा देवां ऋतं बृहत् ।
२ ३ २ ३ १र २र
अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । ७५ । १–३ ॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (जनाना) मनुष्यों में से (तं) तेरा (कः) कौन (जामि.) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तेरे लिये (कः) कौन (दाश्वध्वरः) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? (क ह) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, (कस्मिन्) और तुम किस में (श्रित) आश्रय किये (असि) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

(२) (त्व) आप (जनाना) सब उत्पन्न होने हारे प्राणियों के (जामि.) उत्पादक और बन्धु हो और (प्रिय.) प्रिय (मित्र) स्नेही सुहृद् (असि) हो । (सखिभ्यः) समान आख्यान अर्थात् नाम वाले भक्त प्रेमी, जीवगण के लिये (सखा) उनके सुहृद् होकर भी उनके लिये (ईड्य) उपासना और स्तुति करने योग्य हो।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! तू (नः) हमारे (मित्रावरुणौ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण और अपान दोनों को (यज) बल और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे (देवान्) इन्द्रियों और विद्वानों को (बृहत्) बड़ा भारी (ऋतं) सत्य ज्ञान (यज) प्रदान कर । और हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (स्व) अपने (दम) दमन करने योग्य समस्त संसाररूप गृह को अथवा (दम=मदं) अपना परम आनन्द और (यक्षि) देता है ।

[१५३८] ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः ।
समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥

[१५३९] वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईडते ॥२॥

[१५५०] वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥३॥२॥ ऋ० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की ओर झुके चले आते हैं एवं अन्धेरे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त (तमांसि) समस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को (तिरः) दूर करने हारा परमात्मा और आचार्य (दर्शतः) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सब मार्गों का दर्शाने वाला (ईडेन्यः) स्तुति उपासना करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है । (अग्निः) वही ज्ञानस्वरूप (वृषा) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण (दृश्यते) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (वृषः) सब सुखों के देने वाला, आत्मरूप (अग्निः) अग्नि, (देववाहनः) इन्द्रियों को वहन करने हारा (अश्वः न) अश्व अर्थात् भोक्ता स्वामी के समान जाना जाकर (समिध्यते) युद्ध में विजिगीषु के अश्व के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रज्वलित किया जाता है । (हविष्मन्तः) स्तुति उपासना करने हारे अथवा चरु आदि से युक्त याज्ञिक लोग भी (तं) उसकी ही (ईडते) स्तुति करते हैं ।

(३) हे (वृषन्) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक (त्वा) तुझ (वृषणं) सब से बलवान् (दीद्यत) चेतनारूप से और तेज स्वरूप सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने हारे (बृहत्) महान् आत्मा परमेश्वर को (वय) हम (समिधीमहि) अपने हृदय में उत्तम रीति से प्रज्वलित करें ।

[१५४१] उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः ।
अग्ने शुक्रास ईरते ॥१॥

[१५४२] उप त्वा जुह्वोऽ३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम्।
अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥३॥३॥ ऋ० ७ । ४४ । ४-६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (समिधानस्य) उत्तम रीति से प्रज्वलित, प्रदीप्त (ते) तेरी (शुक्रासः) कान्तिमान् तेजोमय, (बृहन्तः) बड़ी २ (अर्चयः) सूर्य्य आदि ज्वालाएं (उद् ईरते) उठ रही हैं ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं ।

(२) हे (हर्यत) सब को अपने में ही आहरण कर लेने हारे सबके प्रलयकारक परमेश्वर ! (मम) मेरी (घृताची) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज को धारण करने हारी (जुहूः) दान प्रतिदान करने वाली चमसरूप बुद्धिया (त्वा) तेरे प्रति ही (उप यन्तु) गति करें । हे (अग्ने) प्रकाशक (नः) हमारे (हव्या) स्तुतियों और प्रदान करने योग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को आप ही (जुषस्व) स्वीकार करो ।

(३) मैं (मन्द्रं) आनन्दस्वरूप (होतारं) समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ के होता सम्पादक (ऋत्विजम्) ऋतुओं, प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपासना करने योग्य (चित्रभानुम्) नाना प्रकार के चित्र विचित्र कान्तिमान् सूर्यों से अलंकृत, (विभावसुम्) कान्तिरूप धन से सम्पन्न, विशेष दीप्ति से समस्त जीवों और लोकों का वास देने हारे उस परमेश्वर रूप (अग्निम्) ज्ञान प्रकाशक की (ईडे) स्तुति करता हूं । (स उ) वही सब स्तुतियों को (श्रवत्) श्रवण करता है ।

[१५४४] पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥१॥

[१५४५] पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नोऽव ।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ॥२॥४॥
ऋ० ८ । ६० । ९-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अर्चिकश सं० [३६] पृ० १५ ।

(२) हे (अग्ने) तेजस्विन् ! आप (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (अराव्णः) जीवन, धन, स्वत्व, अधिकार और सुख आदि न देने हारे कंजूस, पर-स्वत्वापहारी (रक्षसः) दुष्ट स्वभाव, राक्षस पुरुष से (पाहि) रक्षा कर । और (नः) हमारी (वाजेषु) संग्रामों में भी (प्र अव स्म) उत्तम रीति से रक्षा कर ; (हि) क्योंकि (त्वाम् इत्) तुमको ही (देवतातये) विद्वानों की और अपनी (वृधे) वृद्धि के लिये (नेदिष्ठं) सबसे समीपतम (आपिम्) अपना बन्धु जानकर (नक्षामहे) तेरे शरण आते हैं, तुझे प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:o:—

[१५४६] इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि ।
चिकिद्विभाति भासा बृहता सिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥

[१५४७] कृष्णां यदेनीमभि वर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।
ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्वि भाति २॥

[१५४८] भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १० । ३ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (राजन्) सुप्रकाशमान परमात्मन् ! आप (इनः) सब के स्वामी (अरतिः) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही (समिद्धः) खूब प्रकाशमान होकर (रौद्रः) दुष्टों को रुलाने हारे, पापों के भयंकर दण्डविधाता होकर भी (दक्षाय) जीव के लिये (सुषुमान् [1]) उत्तम

१५४६—१. सुञ्च प्रसवे इति सुषुमः सोमस्तद्वान् । ओषध्यात्मना स्थितोऽग्निरिति सायण. ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने हारे, सौम्य (अदर्शि) दिखाई देते हैं । वह आप परमेश्वर (चिकिद्) सर्वज्ञ होकर (बृहता) बड़े भारी (भासा) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप (रुशतीम्) रुचिर कान्तिवाली उषारूप कान्ति को (अपअजन्) दूर कर पुनः (असिक्नी[3]) कृष्णवर्णा रात्रि को को (एति) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिखा दिन को छोड़ कर रात्रि में प्रकाश करती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों के अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करते हैं और या (रुशतीं) कान्तिमय ससार की जाग्रत् अवस्था को दूर कर (असिक्नीम्) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल देते हैं । और इसी प्रकार रात्रि या प्रलय दशा को आप ही पुनः उषा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

(२) पूर्वोक्त मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमेश्वर (अरतिः) सर्वथा एक (यद्) जब (कृष्णां) कृष्णवर्णा या सब को कर्षण करने हारी, प्रलय करने हारी (एनीं[3]) गमनशीला कालगति को (वर्पसा) अपने रूप से (अभिभूत्) वश कर लेता है, व्याप लेता है और (बृहतः) बड़े भारी (पितुः) पालन करने हारे, पिता परमात्मा की (जां) प्रजननशील (योषां) कुटुम्ब बसानेहारी स्त्री के समान समस्त पञ्चभूतों का परिपाक करके नाना प्रकार से उनको मिलाने हारी, सर्गकारिणी शक्ति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, अथवा (योषा[4]) हिंसाकारक प्रलय

२. असिक्नी अशुक्ला असिता (नि० ९ । २६) । रात्रिनाम च (निघ०)

३ एनीरिति नदीनाम् । इण् गतौ (अदादि०) इत्यस्मात् औणादिको नि० (उ० ४ ४८) । नदीवचनोऽन्तोदात्तोऽन्यत्राद्युदात्त इति माधव । अत्र आद्युदात्त एनेति नात्र नदीग्रहणम् ।

४. योषा—यूष हिंसायाम् जूष च (भ्वादि) । यौतेर्वा मिश्रणामिश्रणार्थस्य । अपि वा सामान्या योषा स्त्री, जुगुप्सार्थस्य यापयते (चुरा०) ।

कारिणी शक्ति को भी (पितुः जां जनयन्) पालक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ, (दिवः) इस द्यौलोक ब्रह्माण्ड के (वसुभिः) वास देने हारे लोकों के सहित (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भानु) दीप्तिमय पिंड को (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ (वि भाति) आप सब से अधिक प्रकाशमान होता है।

(३) जिस प्रकार रात्रि और उषा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उषा के दृष्टान्त से पुनः सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध को दर्शाते हैं। (भद्रः) कल्याण और सुख का देनेहारा सब के भजन करने योग्य परमात्मा (भद्रया) समस्त संसार को मोक्ष और भोग द्वारा सुख के सम्पादन करनेहारी प्रकृति से (सचमानः) युक्त होकर (आगात्) प्रकट हुआ। जिस प्रकार (जारः) समस्त संसार को जरण करने हारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करने हारा, रुद्ररूप वही परमात्मा (पश्चात्) पुनः (स्वसारं) स्वयं सरण करने हारी, स्वतः सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त होने हारी प्रकृति को (अभि एति) पूर्णरूप से व्याप लेता है, वह (अग्निः) प्रकाशमान, देदीप्यमान परमात्मा (सुप्रकेतैः) उत्तम विज्ञानमय (द्युभिः) नियमों से (वितिष्ठन्) नाना रूप से व्याप्त होकर (रुशद्भिः) मनोहर (वर्णैः) रूपों से (रामं) रमण करने योग्य इस जगत् को (अभि अस्थात्) प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है।

[१५४९] कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्।
वराय देव मन्यवे ॥ १ ॥

[१५५०] दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो।
कदुवोच इदं नमः ॥ २ ॥

[१५५१] अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः ।
वाजद्रविणसो गिरः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (अंगिर [१]) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजस्विन्, सब में बल, प्राण और रसरूप में विद्यमान ! (अग्ने) ज्ञान और प्रकाशमान् ! हे (ऊर्जोनपात्) बल के भण्डार ! हे देव ! (वराय) सबसे श्रेष्ठ एवं वरण करने योग्य (मन्यवे) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सब के मनन करने योग्य (तं) तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुतिं दाशेम) स्तुति करें ।

(२) हे (सहस यहो [२]) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! (कस्य) किस (क्रतुम) आत्मा को (मनसा) मन या अन्त करण से (दाशेम) आपके समर्पण करें । (इदं) यह (नम) नमस्कार (कत्) किस विध या किस २ समय (वोच) उच्चारण करें, अर्थात् मन से इस आत्मा को तो दे ही रक्खा है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम कब २ करें ।

(३) (अध) और हे परमात्मन् ! (हि) निश्चय से (नः) हमारे लिये (त्व) आपने (न) हमारी (सुक्षितीः) उत्तम २ निवासभूमियों और (वाजद्रविणस.) ज्ञान को बढ़ाने हारी, ज्ञानसम्पन्न (गिर) इन वेदमयी वाणियों का (अस्मभ्यं हि) हमारे ही लिये (कर.) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हो ।

१५४८ १ अंगिराः—अंगारेष्वंगिराः (अंगारा अंकना अञ्चनाः) । (नि० ३ । ३ । ५) अंगाना अंग रस., इति ब्राह्मणम् ।

२ यह्वुरित्यपत्यनामसु पठित. । यह्वर्यातेर्ह्वयतेर्श्वोरादिकास्कुमत्यये मृगय्वादित्वान्निपातनम् । यातश्चाहूतश्चेति माधवः ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१५५२] अग्न आयाह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
१२ १र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५५३] अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥२॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ६० । १, २ ॥

भा० —(१) हे अग्ने ! परमात्मन् ! और हे आत्मन् ! तू (अग्निभिः) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ (आयाहि) प्राप्त हो । इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड में अपनी शक्ति का दान-आदान करने हारे (त्वां) तुझ को हम (होतारं) अपना होतृस्वरूप शक्ति और सुखों का दाता (वृणीमहे) वरण करते हैं । (यजिष्ठं) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे (त्वा) तुझ को ज्योतिष्मती प्रज्ञा से (बर्हिषि) इस हृदयकाश में (आसदे) प्राप्त करके (अनक्तु[१]) ज्ञान करें तुझे पहिचानें और अधिक प्रदीप्त हों या तुझ में व्याप्त हो जायं ।

(२) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्या द्वारा अभिसवन, निष्पादन अर्थात् उपासना और ज्ञान करने योग्य ! हे (अंगिरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अंगों २ में रसस्वरूप होकर विराजमान आत्मन् ! (त्वां) तुझको (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (हि) ही (अध्वरे) यज्ञ में जिस प्रकार (स्रुचः) यज्ञ के चमसाकार पात्र अग्नि के प्रति जाते हैं उसी प्रकार (अध्वरे) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिसर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में (स्रुचः[२]) स्रवण अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१५५२—१. अनक्तु, अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु [रुधादिः]

२. स्रुवः क., चिरुच । स्रुवः स्रुग् इत्येते स्रुधातो रूपे । स्रुगतौ भ्वादिः ।

में प्राण और इन्द्रियगण (चरन्ति) विचरण करते हैं (यज्ञेषु) सब दान परोपकार और यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्यों में या सब आत्माओं में (पूर्व्यम्) सबसे श्रेष्ठ, सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्णस्वरूप (ऊर्जे नपात) रस या बल से आत्मा को पालन करने हारे (घृतकेशं) दीप्तिरूप किरणों से युक्त आप (अग्निम्) ज्ञानरूप परमेश्वर को (ईमहे) हम याचना करते और आपकी शरण आते हैं।

[१५५४] अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम् ।
अच्छा यज्ञासो नमसा पुरुवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥

[१५५५] अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम् ।
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मन्द्रतमो विशि॥२॥८॥

ऋ० ७ । ७१ । १०, ११ ॥

भा०—(१) (नः) हमारी (गिरः) उच्चारण की हुई वेदवाणियां स्तुतियां (दर्शतम्) ज्ञानदृष्टि से दर्शनीय (शीरशोचिषं) अग्नि के समान देदीप्यमान कान्तियुक्त (पुरुवसु) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को वास देने हारे, उनमें बसे या बहुत ऐश्वर्यों के स्वामी (पुरुप्रशस्तं) सबसे श्रेष्ठ या प्रजाओं द्वारा कीर्त्तित उस उत्तमश्लोक परमात्मास्वरूप अग्नि को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (यन्तु) प्राप्त हों। (यज्ञासः) हमारे आत्मा भी (नमसा) आदर और श्रद्धा सहित उसको ही (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त हों।

(२) (सहसः सूनुं) बल द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करने योग्य और समस्त बलों के प्रेरक (जातवेदसम्) व्यापक, सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवान् उस (अग्निं) तेजोमय आत्मा को (वार्याणाम्) वरण करने योग्य पदार्थों के (दानाय) प्राप्त करने के लिये (अच्छ) प्राप्त होओ। (यः) जो (अमृतः)

अमृतस्वरूप होकर भी (द्विता) दो स्वरूपों में विद्यमान है । एक तो (मर्त्येषु) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में (आ होता) भोक्तारूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवनों का दाता और (विक्षि) समस्त प्रजाओं में (मन्द्रतम) परम आनन्ददाता ईश्वर है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[१५५६] अदाभ्यः पुर एता विशामग्निर्मानुषीणाम् ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
तूर्णीरथः सदा नवः ॥१॥
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५५७] अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वां अश्नोति मर्त्यः ।
१ २ ३ १ २
क्षयं पावकशोचिषं ॥२॥
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५८] साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः ।
३ २ ३ १ २
अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥३॥६॥ ऋ० ३ । ११ । ५, ७, ६ ॥

भा०—(१) (मानुषीणां) मननशील (विशां) प्रजाओं का (तूर्णी) अति शीघ्रगामी (रथः) रथ के समान देहेन्द्रियसंघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने हारा या रमणशील (सदा) निरन्तर (नवः) नूतन, अजर (अग्निः) आत्मरूप यह अग्नि (अदाभ्यः) देह के नाश हो जाने पर भी न मरने हारा, (पुरः एता) भाग्य या पालन करने योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है ।

(२) (दाश्वान्) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करने हारा साधक (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (वहिषा) शरीर को रथ के समान धारण करने हारे उस आत्मरूप अग्नि से ही (प्रयांसि) समस्त सुख और भोग्य पदार्थ (अभि अश्नोति) भोग करता है और अपने आप

को (पावकशोचिष) पावन करने हारे तेज के (क्षयं) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है। अर्थात् आत्मा से ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है।

(३) वह अग्नि (सुविश्रवस्तमः) बहुत अन्नादि भोग्य साधनों से सम्पन्न, (विश्वाः) समस्त (अभियुजः) आक्रमण करने हारों को (साह्वान्) वश करने हारा, (देवानां) विद्वानों का एकमात्र (क्रतुः) कार्यसम्पादक, साक्षात् कर्त्ता, अथवा (देवानां) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का (क्रतुः) कर्त्ता (अमृक्तः) अविनाशी और अजन्मा है।

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २

[१५५९] भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।

३ २ ३ १र २र

भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ १ ॥

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५६०] भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येन समत्सु सासहिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २

अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टये ॥२॥१०॥

ऋ० ८ । १९ । १९, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये आर्चि० सं० [१११] पृ० ५९ ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् ! (वृत्रतूर्ये) विघ्नकारी अज्ञानों और शत्रुओं को नाश करने के कार्य में (येन) जिस संकल्पशक्ति से आप (समत्सु) संग्रामों में (सासहिः) विघ्नों का नाश करते हैं उस (मनः) हमारे मन को भी (भद्रं) कल्याणकारी (कृणुष्व) कर। (शर्धतां) प्रबल होने हारे शत्रुओं के (स्थिराणि) बलों को (अव तनुहि) नीचे दबा दे। हम (अभिष्टये) अभीष्ट प्राप्ति के लिये (ते) तेरी शरण को (वनेम) प्राप्त होते हैं।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ १ ॥

[१५६२] स इधानो वसुः कविरग्निरीडेन्यो गिरा।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ २ ॥

[१५६३] क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

ऋ० १। ७६। ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० सं० [११] पृ० ५३।

(२) (सः) वह (वसुः) सबको वास देने और सबमें बसने हारा (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (गिरा) वाणी द्वारा (ईडेन्यः) सबके स्तुति करने योग्य है। हे (पुरु अनीक) पुरु=बहुत भारी, अनीक अर्थात् शक्ति से सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन्! तू (अस्मभ्य) हमारे (रेवत्) प्राणवान् आत्मा के भीतर (दीदिहि) प्रकाशमान् हो।

(३) (उत) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरंजन करने हारे प्रकाश मान परमात्मन्! (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप आप (त्मना) स्वयं आत्मा के बल से वीर तेजस्वी राजा के समान (रक्षसः) राक्षसों, दुष्टभावों और पुरुषों को (वस्तोः) दिन (उत) और (उषसः) रात्रि के समाप्तिकाल उषाओं अर्थात् नित्य, ज्ञानोदय कालों में (क्षप) दूर भगा दो। हे (तिग्मजम्भ) तीक्ष्णमुख! अग्नि के समान तेज से अन्धकारों को नाश करने हार! आप राक्षसी भावों या राक्षसों को (प्रति दह) भस्म करो, निर्मूल करो। जिससे वे निर्बीज होकर पुनः जन्म मरण के बंधन का कारण न हों।

इति तृतीयः खण्डः।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ १ ॥

१२ २र ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
[१५६५] यज्ञासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् ।
२ ३ २ ३ १ २
प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५६६] पन्यांसञ्जातवेदस यो देवतात्युद्यता ।
३ १२ २र ३ २
हव्यान्यैरयद्दिवि ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [८७] पृ० ४६ ।

(२) (हविष्मन्तः) ज्ञानवान् (जनासः) पुरुष (य) जिस (सर्पि-आसुतिं) सर्पणशील इन्द्रिय और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे, अथवा घृत की आहुति के समान सर्पणशील प्राणरूप इन्द्रिय और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् लीन करने हारे अग्नि को (मित्रं न) मित्र के समान (प्रशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (प्र शंसन्ति) वर्णन करते हैं ।

(३) (पन्यासं) अति स्तुति करने योग्य, या व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत्-व्यवहार को चलाने हारे (जातवेदम) सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्यवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो (यः) जो (देवताति) देवों के हितकारी यज्ञस्थान में (उद्यता) उद्यत, प्रस्तुत (हव्यानि) हव्य आदि उत्तम अन्नमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश में फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को (दिवि) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आश्रय पर (ऐरयद्) प्रेरित करता है । अथवा (यः) जो (देवताति) इस महान् देवगण पृथिवी, जल आदि के हितकर (दिवि) आकाश में (उद्यता हव्यानि) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बद्ध सूर्यादि लोकों को (ऐरयत्) प्रेरित करता है ।

१२ ३२ ३१ २ ३ १२ ३१ २ ३२ ३ १ २ ३२
[१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे
३१ २ ३ १२ ३१२३२ ३२ ३ १२
ध्रुवम् । विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहम् कविं सुम्नैरीमहे
३ १ २
जातवेदसम् ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १२ २२
[१५६८] त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे हव्यावाहं दधिरे पायुमीड्यम्
३ १ १ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे २
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६९] विभूषन्नग्न उभयाँ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो
२
भव ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ६ । १५ । ७-९ ॥

भा०—(१) (समिद्धं) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, (शुचिं) शुद्ध कान्तिमय, (पावकं) सब को पवित्र करने हारे (अध्वरे) हिंसारहित, अविनाशी, जीवनप्रद, संसार रूप यज्ञ में (पुरः) सब से पूर्व (ध्रुवम्) ...., ...। (अग्निं) तेज स्वरूप परमेश्वर को (समिधा) ज्ञानमयी (गिरा) वाणी से (गृणे) वर्णन करता हूं । उसी (विप्रं) ज्ञानवान् मेधावी (होतारं) सर्वप्रद, (पुरुवारं) प्रजाओं के रक्षक, (अद्रुहं) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय (कविं) अन्तर्यामी, क्रान्तदर्शी (जातवेदस) सर्वज्ञ उस परमात्मा की (सुम्नैः) उत्तम मनन निदिध्यासनों द्वारा या सुखकारी स्तोत्रों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना उपासना करें ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (अमृतं) अमृतस्वरूप, (हव्यवाहं) सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, (पायुं) जगत् के पालक, (ईड्यम्) सब के वन्दनीय, (त्वा) तुझको (युगे-युगे) प्रत्येक युग में विद्वान्

लोगों ने अपना (दूत[1]) सदा उपास्य, भजन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया। और (देवास.) दिव्य ज्ञानवान् और (मर्त्यास·) मरणधर्मा कर्मबद्ध सामान्य जीव दोनों तुझको ही (जागृविं) सदा जागरणशील (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विश्पतिं) समस्त प्रजाओं का पालन करने हारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (नि षेदिरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते हैं और तेरे गुरु चरणों में बैठकर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं।

(३) हे (अग्ने) प्रभो! (उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूषन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनु व्रता) समस्त यज्ञों में (देवाना) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जीवों को (दूत·) साक्षात् प्राप्त और इन के प्रति नाना ज्ञानप्रकाशक होकर (रजसी) समस्त द्यौ और पृथिवी लोकों में (समीयसे) व्यापक रहता है। (यत्) क्योंकि हम (ते) तेरी ही (सुमतिं) उत्तम स्तुति और (धीतिं) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू (त्रिवरूथ:) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिवः) हमारा कल्याणकारी (भव नः) हो।

[१५७०] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृत. ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ १ ॥

[१५७१] यस्य त्रिधात्ववृतम्बर्हिस्तस्थावसन्दिनम् ।
आपश्चिन्निदधा पदम् ॥ २ ॥

[१५७२] पद देवस्य मीढुषो नाधृष्टाभिरूतिभि ।
भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥३॥१४॥ ऋ० ८ । ११ । १३, १४ ॥

1. दु द्रु गतौ (भ्वादिः)।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३] पृ० ६ ।

(२) (यस्य) जिस आत्मा का (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना (अवृत) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मांसादि घृणाजनक पदार्थों का बना होने से न वरण करने योग्य (असान्दिनम्) असद् अर्थात् आत्मा से सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने हारा, (बर्हि.) वृद्धिशील और बन्धन होने से ज्ञानरूप शस्त्र से काटने योग्य देहबन्धन (तस्थौ) स्थिर है उस अग्निरूप आत्मा में (आप.) समस्त कर्म और प्राणगण (पद) स्थान (निदधा) प्राप्त करते हैं अथवा सब (आप) प्राण और ज्ञानवृत्तियां (पदं) अपना आश्रय (निदधा) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पक्ष में–(त्रिधातु) सत्व, रजस्, तमस् से बना (अवृतं) प्रत्यक्ष रूप (बर्हि·) महान् ब्रह्माण्ड रूप देह (असन्दिनं) गतिमान् (तस्थौ) स्थिर है । जिसमें (आप.) समस्त लोक (पदं निदधा) स्थान पाते हैं ।

(३) (मीढुषः) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान देव का (पद) परम पद, परम रूप (अनाधृष्टाभिः) अद्वितीय, अबाधित, (ऊतिभि.) सुखों से युक्त है । और उसका (उपदृक्) साक्षाद् दर्शन (सूर्यः इव) सूर्य के समान सदा (भद्रा) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।
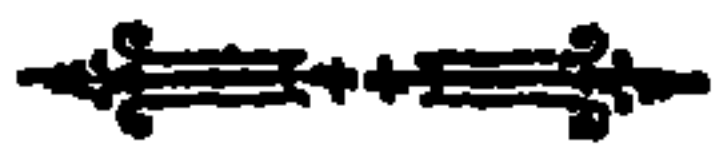
इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

ऋषि॰—१, ८, १८ मेध्यातिथि॰ काण्व॰ । २ विश्वामित्रः । ३, ४ भर्गः प्रागाथः । ५ सोभरिः काण्वः । ६, १५ शुनःशेप आजीगर्तिः । ७ सुकक्ष । ८ विश्वकर्मा भौवन॰ । १० अनानतः । पारुच्छेपिः । ११ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १२ गोतमो राहूगण । १३ ऋजिश्वा । १४ वामदेवः । १६, १७ हर्यतः प्रागाथ॰ देवातिथि॰ काण्व॰ । १९ पुष्टिगुः काण्वः । २० पर्वतनारदौ । २१ अत्रि॰ ॥ देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ५ अग्नि. । ६ वरुण. । ९ विश्वकर्मा । १०, २०, २१ पवमानः सोमः । ११ पूषा । १२ मरुत. । १३ विश्वेदेवा. १४ द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्द.—१, ३, ४, ८, १७-१९ प्रागाथम् । २, ६, ७, ११,-१६ गायत्री । ५ बृहती । ९ त्रिष्टुप् । १० अत्यष्टि. । २० उष्णिक् । २१ । जगती ॥ स्वरः—१, ३, ४, ५, ८, १७-१९ मध्यम. । २, ६, ७, ११—१६ षड्जः । ९ धैवतः । १० । गान्धारः । २० ऋषभ. । २१ निषादः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५७३] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥१॥

३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५७४] अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥२॥१॥

ऋ० ८ । ३ । ७, ८ ॥

भा०—(२) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [२५६] पृ० ।

(२) (इन्द्रः) इन्द्र (अस्य इत) इस ही (सुतस्य) उत्पादित सोमरूप आत्मानन्द के (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द, हर्ष में (वृष्ण्य) सुखों के वर्धक (शवः) बल को (वावृधे) बढ़ा लेता है। (आयव.) मनुष्य आयु में बद्ध जीवगण और ज्ञानवान् पुरुष (पूर्वथा) पूर्व के समान (अद्य) आज भी (अस्य) इस आत्मा के (तं) उस (महिमान) महान् सामर्थ्य को (अनुष्टुवन्ति) वर्णन करते हैं।

[१५७५] प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितार.।
इन्द्राग्नी इष आवृणे ॥ १ ॥

[१५७६] इन्द्राग्नी नवतिम्पुरो दासपत्नीरधूनुतम्।
साकमेकेन कर्मणा ॥२॥

[१५७७] इन्द्राग्नी अपसस्पर्युपप्रयन्ति धीतय.।
ऋतस्य पथ्याऽ३ऽअनु ॥३॥

[१५७८] इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च।
युवारप्तूर्यं हितम् ॥४॥२॥ ऋ० ३। १२। ५-८ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! परमेश्वर और अग्निरूप जीव ! (वाम्) आप दोनों को (नीथाविद·) सामगान या ब्रह्ममार्ग के जानने हारे (जरितार) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष और (उक्थिनः) वेदज्ञानी विद्वान् (प्र अर्चन्ति) उत्तम रूप से उपासना करते हैं। मैं भी (इषे) बल प्राप्त करने के लिये उन दोनों (इन्द्राग्नी) आत्मा और परमात्मा को (आवृणे) वरण करता हूं उपासना करता हूं।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ब्रह्म और जीव ! जो दोनों आप (दासपत्नीः) विनाशक भावों से परिपालित (नवतिम्) नब्बे (पुरः) कामनाओं को (एकेन कर्मणा) एक कर्म अर्थात् योग से ही (साकं) एक साथ (अधूनुतम्) कंपा

देते हो उन आप दोनों को हम स्मरण करते हैं। इन्द्रिय भेद से १०, सत्व रजस् तमस् भेद से ३० प्रकार हुए, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय भेद से तीनों कोशों में ९० पुर होते हैं। एकादश इन्द्रिया मान कर ९९ पुर भी कहे जाते हैं।

(२) हे (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्ने! (धीतयः) ध्यान करने हारे विद्वान्‌जन (ऋतस्य) ब्रह्मज्ञान के (पथ्या) मार्गों को (अनु) अनुगमन करते हुए (अपसः) कर्मों को (परि उप प्रयान्ति) पार कर के आपके समीप तक पहुंच जाते हैं।

(३) हे (इन्द्राग्नी) जीव और ब्रह्म (वा) आपके (तविषाणि) बल और (प्रयांसि) ज्ञान (सधस्थानि) साथ ही रहते हैं और (युवा) आप दोनों में (अप्तूर्यं) कर्मों और लोकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और स्थूल शरीरों को प्रेरित करने वाला बल भी समानभाव से (हितम्) स्थापित है।

३ २ १ २ ३१ २ १ २ ३ १ २
[१५७९] शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
२ ३ १२ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भगं नहि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥
३ १२ २र ३ १२ २र ३ १ २ ३ १ २
[१५८०] पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।
२ ३ १२ २र ३ १ २ २ २उ ३ १२ २र
नकिर्हि दानं परि मर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदाभर ॥२॥ ३॥

ऋ० ८। ६१। ५, ६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५३] पृ० १२६।

(२) हे देव! परमात्मन्! आप (अश्वस्य पौरः) भोक्ता जीव के पूर्ण एवं पालन करने हारे और (गवां) इन्द्रियों के भी (पुरुकृत्) पूर्ण करने हारे हैं। अर्थात् आपने भोक्ता जीव को भोग साधन देकर पूर्ण किया है और इन्द्रियों को रूपआदि भोग्य विषय देकर पूर्ण किया है और (हिरण्ययः)

मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक (उत्स॰) कूप के समान सब आनन्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारणरूप हैं। आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है। हे परमात्मन्! (ते) आपके दिये (दानं) दान को (नकिः परिमर्धिषन्) कोई भी नाश नहीं कर सकता। आपसे मैं (यद् यद्) जो २ (यामि) याचना करता हूं वह २ (आभर) प्राप्त कराइये।

२र   ३ १ २ ३ १र   ३ १ २
[१५८१] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
१ २   ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टये उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २   ३ १ २   ३ २ ३ १ २
[१५८२] त्वम्पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा पानाय मंहसे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे ॥२॥४॥

ऋ० ८ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४०] पृ० १२२।

(२) हे इन्द्र (त्वं) आप (पुरू) बहुतसे (सहस्राणि) हजारों और (शतानि च) सैंकड़ों (यूथा) यूथ (दानाय) दानशील पुरुष को (मंहसे) देते हैं। हम (विप्रवचसः) मेधावी ज्ञानी, पुरुषों के समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर (अवसे) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये (गायन्तः) स्तुति करते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा को ही (पुरन्दरं) इस देहरूप पुर को तोड़ने हारा (आचकृम) स्वीकार करते हैं। अथवा-हे आत्मन्! तू सैकड़ों हज़ारों (पुरू) पालन एवं तृप्त करने हारे पदार्थ केवल (दानाय) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता है अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम (अवसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये (चकृम) साधना करें ।

२उ ३ १ २ ३ २ ३ ३२ ३ १र २र
[१५८३] यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
मधोर्न पात्रा प्रथमा न्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१॥.
२ ३ २ ३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८४] अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ॥२॥५

ऋ० २०३ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४] पृ० १६ ।

(२) हे (दस्म) दर्शनीय, कमनीयरूप ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पालक ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (देवयवः) देव परमात्मा की चाह करने वाले (सुदानवः) अपने को उत्तम रूप से समर्पण करने हारे, भक्त (गीर्भिः) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी (रथ्यं) इस देहरूप रथ के योग्य (अश्वं न) अश्व के समान भोक्ता आत्मा को ही (मर्मृज्यन्ते) शोधन किया करते हैं । उसको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही (मघोनाम्) मघ=मर्म=ज्ञान के धनी पुरुषों के (तोके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उभे) दोनों में (राधः) आराधनीय विवेक का (पर्षि) दान करते हैं ।

नास्य अब्रह्मवित् कुले भवति (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इति प्रथम खण्डः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८५] इममग्ने वरुण श्रुधि हवमद्या च मृडय ।
१ २ १र २र
त्वामवस्युराचके ॥१॥६॥ ऋ० १ । २५ । १६॥

भा०—(१) हे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! (मे) मेरे (इमं) इस (हवम्) पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर । (अद्य च) और वर्तमान में हमें (मृडय) सुखी कर । मैं (अवस्यु:) अपनी रक्षा तथा आपकी शरण और ज्ञान चाहता हुआ (त्वा) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूं ।

२ ३ १ २ ३ १२ २र
[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्दसे वृषन् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ ऋ० ८ । ९३ । १९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे (वृषन्) सुखों के वर्षाने हारे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (कया ऊत्या) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से (त्वं) आप (नः) हमें (प्रमन्दसे) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और (कया) किस उत्तमता से (स्तोतृभ्यः) विद्वान् पुरुषों को (आभर) सब पदार्थ प्राप्त कराते हैं ?

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३क १र ३ २
[१५८७] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
१ २३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥१॥
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५८८] इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
१ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दव २।८
ऋ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [२४९] पृ० १२७ ।

(२) (इन्द्र) परमेश्वर (शवः) अपने बलकी (मह्ना) महिमा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है, बनाता है । (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्र.) परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (येमिरे) व्यवस्थित करता है । (इन्द्रे)

परमेश्वर ही (इन्दवः) योगी लोग मुक्त पुरुष (स्वानासः) आनन्द रस का लाभ करते हैं और उसी में निमग्न होजाते हैं ।

[१५८६] विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व तन्वां३ स्वाहिते । मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु । ॥१॥६॥ ऋ० १० ८१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्वकर्मन्) तमाम संसार के स्रष्टा परमेश्वर ! (हविषा) ज्ञान से और सामर्थ्य से (वावृधानः) सबसे बड़ा महान् (स्वाहिते) उत्तम रीति से आधान किये गये इस विश्व ब्रह्माण्ड में (तन्वा) विस्तार शील, द्यौ और पृथिवीरूप शरीर में (स्वयं) अपने आप तू (यजस्व) एक को दूसरे का उपकारक बनाता है ! (अन्ये) और तेरे से भिन्न अल्पज्ञ (जनासः) जन जीवगण (अभितः) इसको साक्षात् देखकर भी (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त होते हैं। (इह) इस विशाल ब्रह्माण्ड यज्ञ के विरचण करने में (मघवा) ज्ञानसम्पादक परम ज्ञानी परमेश्वर ही (अस्माकं) हमारा (सूरिः) ज्ञानोपदेष्टा (अस्तु) हो ।

"तत्रेतिहासमाचक्षते-विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति ।" (निरु०) । विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध यज्ञ में समस्त भूतों को हवन कर दिया और अन्त में अपने आपको भी स्वाहा कर दिया । यह आत्मिक यज्ञ का ही वर्णन है । और पिण्डाण्ड में यही यज्ञ ब्रह्माण्डमय विराट शरीर में भी हो रहा है । परमात्मा समस्त-पृथिवी आदि पांचों भूतों को मिश्रण करके संसार रचता है और आप भी उसका व्यापक स्वरूप्यापक होकर, उसी में लीन रहता है । तदनुप्रविश्य तदेवानुप्राविशत् ।

१५८८—'इदमा पूर्वदीद्वेदाम्' इति छ० ।

(छान्दोग्य उप०) इसी प्रकार आत्मा देह में पंचभूतों के पांचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुनः स्वप्न और समाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे विश्वकर्मन् ! सर्व कर्मों के कर्त्ता जीवात्मन् ! (हविषा) ज्ञान से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (स्वाहिते) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस (तन्वा) देह में तू (स्वयं यजस्व) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और (अन्ये जना मुह्यन्ति) दूसरे, मूर्ख, अनात्मज्ञ लोग मोह को प्राप्त हो जाते हैं और (मघवा) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में (अस्माकं सूरिः अस्तु) हमारा ज्ञानोपदेष्टा हो ।

१—तद् =अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा का स्वयं यज्ञ का रूप—तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ मुण्डक २ । १ । ५ ॥

गीता के यज्ञचक्र और छान्दोग्य उप० में पञ्चाहुतिप्रकरण भी देखने योग्य हैं ।

३ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १
[१५६०] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥ १ ॥

(स्वर-चिह्न: २ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ / २ ३ १र २र २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ २ ३ / १ २)

[१५६१] प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्स रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः । अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन् वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वन-पच्युता ॥ २ ॥

[१५६२] त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे । परावतो न साम तद्यत्रा-रणन्ति धीतयः त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १११ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (पृष्ठस्य) सबके साथ स्पर्श करने हारे, सबके पोषक प्राण की (धारा) धारणा शक्ति, या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्व-रूप योगी आत्मा (पुनान,) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर (यत्) जब (विश्वा) समस्त (रूपा) पदार्थों को (सप्तास्ये) सर्पणशील आस्य अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान (अर्कभि·) गतिशील, प्राप्यग्राही, (अर्कभिः) उत्तम, प्राणरूप इन्द्रियों से (परियासि) प्राप्त करता है तब (सयुग्वभिः) अपने सहयोगी किरणों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा (द्वेषांसि तरति) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार (अरुपः) कान्तिमान् तेजस्वी (हरिः) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने हारा योगी (अया) इस तरह (हरिण्या) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली (रुचा) विशेष दीप्ति से (पुनान) प्रकाशमान होकर (सयुग्वभि) अपने योगबल द्वारा वशीकृत अष्टांगों या इन्द्रियों और मन के द्वारा (विश्वा) समस्त (द्वेषांसि) द्वेष करने हारे प्राणियों और योग के शत्रुरूप अन्तर्विघ्न काम, क्रोध आदि रिपुओं को (तरति) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

(२) (यद्) जब जीव और परमात्मा (समत्सु) एकत्र आनन्द प्राप्त करके समाधि के अवसरों पर (अनपच्युता) अविचलित राजा और मन्त्री के समान (अनपच्युता) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब (चेकितत्) ज्ञानवान् योगी (प्राचीं) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, (प्रादिशं) उत्तमरूप से जानने योग्य दिशा-मार्ग के प्रकाश को (याति) प्राप्त कर लेता है और (दर्शतः) दर्शनीय (रथः) सूर्य्य के समान योगी का वह (दर्शतः) दर्शनीय (रथः) रमण करने हारा आत्मा (रश्मिभिः) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरश्मियों से और भी (यतते) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । तब ही (जैत्राय) अपनी इस मुक्ति मार्ग की विजय के लिये (इन्द्रं) आत्मा को (हर्षयन्) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक हर्षित और प्रबल करता हुआ (पौंस्या) बलशाली या बलप्रद (उक्थानि) स्तुतियों का (अग्मन्) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक (वज्रं च) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है।

(३) हे सोम ! योगिन् ! (त्वं) तू (पणीनां) व्यवहार में गति करने हारे या स्तुति करने हारे विद्वानों के (त्यत्) उस (वसु) जीवन या वास कराने हारे आत्मधन को (विदः) जानता है और उसको (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (धीतिभिः) धारण करने हारी (मातृभिः) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक ऋतंभरा प्रज्ञाओं द्वारा (दमे) इन्द्रियों और मन को दमन करने वाले (स्वे) अपने (दमे) आश्रयरूप आत्मा में (संमर्जयसि) खोजता या परिशोध लगाता है, और भी परिष्कृत करता है । (तत्) वह परम आश्रयरूप आत्मा (परावतः) दूर देश से सुनाई देने हारे (साम न) गान के समान मनोहर है । (यत्र) जिसमें (धीतयः) ध्यान करने हारे योगी आश्रय लेकर (रणन्ति) रमण करते हैं । वह आत्मज्ञानी योगी (त्रिधातुभिः) तीन प्रकार की धारणा करने वाली इन्द्रियों से सम्पन्न (अरुषीभिः) कान्तियों या दीप्तियों या किरणों से ही (वयः) जीवन और

प्राण को (दधे) धारण करता है और फिर (रोचमान) सूर्य के समान प्रकाशमान होकर (वय दधे) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय। अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ।

इति द्वितीय खण्डः।

३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१५६३] उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।
३१ २ ३१ २
नृवत्कृणुह्यूतये ॥ ११ ॥ ऋ० ६। ५३। १०॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! आप (नः) हमें (गोषणिं) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, (अश्वसां) प्राणेन्द्रियों के प्रेरक (वाजसा) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी (उत) और (नृवत्) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे (धियम्) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणुहि) प्रदान करो।

३ १ २ ३ १ २
[१५६४] शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः।
३ १२ २र ३ १ २
विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ ऋ० १। ८६। ८॥

भा०—(१) हे (सत्यशवसः) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्य-बल से सम्पन्न (नरः) शरीर और इन्द्रियों को वहन करने हारे नेतास्वरूप विद्वानो ! और प्राणो ! (शशमानस्य) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाले (स्वेदस्य) प्राणायाम के अवसर पर समस्त गात्र में स्वेद धारण करने वाले, उद्योगी (वेनतः) विद्वान् योगी के (कामस्य) मनःसंकल्प को प्राप्त कराओ।

१५६३—'कृणुहि वीतये' इति, ऋ०।

१ २ ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५६५] उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
३ १ २
सुमृडीका भवन्तु न. ॥ १३ ॥ ऋ० ६ । ५२ । ६ ॥

भा०—(१) (ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) ज्ञान के उपदेश करने हारे विद्वान् या पुत्र हैं वे (अमृतस्य) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में (गिरः) वाणियों को (उप शृण्वन्तु) प्रेम से श्रवण करें, करावें और (न.) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम रूप से सुखकारी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण (नः गिरः, उपशृण्वन्तु) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियां श्रवण करावें ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६६] प्र वाम्महि द्यवी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।
२ ३ २ ३ १ २
शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

३ १ ३क २र ३ १र ३ १ २
[१५६७] पुनाने तन्वा मिथ स्वेन दक्षेण राजथ ।
३ १ २ ३ २ ३ १
ऊह्याथे सनादृतम् ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् ।
१ २ ३ १र २र
परि यज्ञं निषेदथुः ॥३॥१४॥ ऋ० ४१ । ५६ । ५–७ ॥

भा०—(१) हे (द्यवी) प्रकाशमान् सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (अभि) साक्षात् करके आपके (महि) बड़ी (उपस्तुतिं) गुणवर्णन (प्रभरामहे) करते हैं । आप दोनों (उपप्रशस्तये) उत्तम कीर्त्ति के कारण (शुची) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा द्यौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुक्तजीव ! आप दोनों (महि द्यवी उपप्रशस्तये शुची) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका (अभि) साक्षात् कर हम (स्तुतिं उप प्र भरामहे) आपके गुणों का सर्वत्र वर्णन करते हैं ।

(२) हे जीव और परमात्मन् ! या शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने (तन्वा) शरीर अर्थात् स्वरूप और (दक्षेण) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से (मिथः) परस्पर (पुनाने) एक दूसरे को पवित्र करते हुए (राजथः) प्रकाशित होते हो और (सनाद्) सदा काल से (ऋत) सत्य ज्ञान को (ऊह्याथे) धारण करते हो ।

(३) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्ण करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों (मही) बड़ी महिमा वाले (ऋतं) सत्यज्ञान को (तरन्ती) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को (पिप्रती) पूर्णरूप से पालन करते हुए (मित्रस्य) मित्रस्वरूप परमात्मा की (साधथः) साधना करते हो और (यज्ञ) यज्ञ, परस्पर विद्या-स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये (परिनिषेदथुः) यज्ञ कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५९९] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
१ २ १ २
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६००] स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
१ २ ३ १ २
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥

३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१६०१] ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो ।
२ ३ १ २
समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० १ । ३० । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्षिकल सं० [१८३] पृ०

(२) हे (राधाना पते) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! हे (गिर्वाहः) वाणियों द्वारा उपदेश करने हारे प्रभो गुरो ! (यस्य) जिसके

(स्तोत्रं) समस्त सत्य उपदेश हैं उस (ते) तेरी ही (सूनृता) वेदवाणी (विभूतिः) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति (अस्तु) हो ।

(३) हे (शतक्रतो) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने हारे (इन्द्र) आचार्य ! (अस्मिन्) इस (वाजे) यज्ञ में (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये आप (ऊर्ध्वः) हमारे ऊपर सदा (तिष्ठ) विराजमान रहें (अन्येषु) हम अन्य अवसरों पर भी (स ब्रवावहै) परस्पर सत्संग कर ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहां इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । "कस्य ब्रह्मचार्यसि; भवतः", 'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि" इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

[१६०२] गाव उपवदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १ ॥

[१६०३] अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु ।
अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

[१६०४] सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम् ।
नीचीनवारमाक्षितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ८ । ७२ । १२, ११, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चि० स० [११७] पृ० ६३ ।

(२) (अद्रयः[1]) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष (अवटस्य) रक्षण करने हारे देहबंधन के (विसर्जने) परित्याग के अवसर पर (पुष्करे[2]) उस

१६०३—(२) "अवतस्य विसर्जने", (३) "अवतमुच्चा चक्रं" इति, ऋ० ।

१. अद्रय आदित्यगणाः इति सायणः । २. पुष्करे प्रवृद्धे इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें बल के प्रदाता स्वतः आत्मा में (निषिक्तं) पूर्ण रूप से विद्यमान या बरसते हुए (मधु) ज्ञानानन्द अमृत को (अभि आरन् इव) साक्षात् किया करते हैं ।

(३) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गण ! (नीचीनबारं) निर्बल इन्द्रिय आदि नव द्वारों वाले (अक्षितं) अक्षीण (परिज्मान) परिणाम या वृद्धता को प्राप्त होने वाले, (उच्चाचक्रं) उच्च प्राणचक्र वाले (अवटं) इस देह को (नमसा) अन्न द्वारा (सिंचन्ति) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक देह बना रहता है तब तक उसको अन्न से रक्षा करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ।

—०—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
[१६०५] मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥
३ १र २र ३ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६०६] सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मध्वा सम्पृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब
॥ २ ॥ १७ ॥ ऋ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (तव सख्ये) आपके मित्र भाव में रहते हुए हम (मा भेम) कभी भय न करें । (मा श्रमिष्म) कभी श्रम से पीड़ित न हों, कभी न थकें । (वृष्णः) सब सुखों की वर्षा करने हारे (ते) तेरा (कृतं) बनाया हुआ यह संसार (अभिचक्ष्य) साक्षात् स्तुति योग्य, दर्शनीय एवं (महत्) बहुत बड़ा है । हम इसमें (तुर्वशं [1])

१६०६—[1]. तुर्वश—तुर्वी हिंसायाम् (भ्वादिः) इत्यतो बाहुलकात् अशच् औणादिकः हिंसिः हिंस्यते वा व्याध्यादिभिरिति तुर्वशः । यद्वा, तूर-

हिंसाशील, जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीड़ित या वशवश होकर भोग करने हारे या काम से पीड़ित, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पर-वश करने हारे इस जीव को (यंसु) परमेश्वर के नियम में स्थित या यम नियमादि के अभ्यासी होकर विषयों से उपरत हुआ (परंयम) देख लें ।

(२) (वृषा) वर्षण करने हारा, वीर्य का सेचक पुरुष (दानः) समस्त प्राणियों को जीवन दान करते हुए मेघ के समान वीर्य दान करता हुआ (सक्थ्यां) उत्पादनशील भूमि के समान (स्फिग्यां) कटिप्रदेश में स्थित गर्भधानी में (अनुवावमे) जीव के रूप में स्वयं वास करता है । आत्मा वै जायते पुत्रः । वह (अस्य) इस गर्भगत जीव के प्रति (न रोषति) कभी कोप नहीं करता, वहां (सारघेण) प्रसवणशील, सारवान् (मध्वा) अमृत जीव (Sprm) से (सम्पृक्ताः) संसक्त हुई (धेनवः) शुक्र-धाराएं (protoplasm) हैं । हे जीव ! तू (तूयम्) शीघ्र ही (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ और (पिब) उस पोषक रस का पान कर ।

(वृषा सक्थ्यं वावमे) जलों का वर्षक इन्द्र वीर्य कटिभाग ने सब प्राणियों को ढक लेता है (दानो न अस्य रोषति) वह दानशील यज-मान इन्द्र पर रोष नहीं करता (सारघेण मध्वा सम्पृक्ताः) मधुमक्खी के शहद के समान रसीले दूध आदि से मिश्रित (धेनवः) धेनु=हमारे पान करने योग्य सोम हैं । (तूयम् एहि द्रव पिब) हे इन्द्र तुम शीघ्र २ आओ पान करो । यह अर्थ सायणकृत है ।

स्तरगहिंसनयो (दिवादि.) इत्यन• तूर्णमश्नुते इति पृषोदरादित्वात् पूर्वपदहृस्वकाराश्चोपजनः, तुर्वशः असन्तुष्ट. । यद्वा तुर्वशः कामो यस्य सः । यद्वा वश कान्तौ (दिवादिः । इस्यत् अप । चतुर्षु धर्मादिषु वशोऽस्येति, चकारलोपेन तुर्वशः ।

यहां वस्तुतः गर्भ में बीज के आने, जमने, जीव के प्रवेश और पालन का वर्णन है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र को उत्तरवेदि स्थान में बुलाया जाता है वहां ही सोम तय्यार करके रक्खे जाते हैं। और उत्तर वेदि योषा और योनि का प्रतिनिधि है। योषा वै उत्तरवेदिः (शत०)। इस यज्ञार्थ पर विचार करने से वे सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटोप्लाज़्म और स्पर्म अर्थात् जीव का भोज्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आहित होकर वह वहां उसी के आधार पर जाकर गर्भधानी या छत्रक या कमल (प्लेसेन्टा) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहां ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

[१६०७] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥ १ ॥

[१६०८] अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये
॥ २ ॥ १८ ॥ ऋ० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं में वास करने हारे और प्रचुर धन के स्वामी ! इन्द्रियों में वास करने और नाना जीवों को बसाने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (मम) मेरी (इमाः) ये (गिरः) वेदवाणियां (त्वा उ) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, तेरी बड़ाई करें। तुझको ही (पावकवर्णाः) अग्नि के समान कान्ति वाले, तेजस्वी, अथवा पालन करने हारे स्वरूप वाले शुद्ध, उदार, धर्मात्मा (शुचयः) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, (विपश्चितः) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गण

(स्तोमै.) उत्तम वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूषत) साक्षात् ज्ञान करके तेरा गुणगान करते हैं। (अवि० सं० २५०) पृ० १२८।

(२) (अयं) वह आत्मा और परमात्मा (सहस्रं) हजारों (ऋषिभिः) मन्त्रार्थ द्रष्टा, तत्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन करने हारे परम योगियों द्वारा (सहस्कृत.) बल से युक्त, बलवान् , तीव्र, सब दुःखों पर विजयी किया जाकर (समुद्र. इव) रसधाराओं, आनन्दतरंगों को ऊपर उमड़ाने वाले समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तार को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द सागर के समान उमड़ पड़ता है। (अस्य) इस आत्मा की (सः) वह (महिमा) महिमा (सत्य) सत्य है और (विप्रराज्ये) मेधावी विद्वानों के राज्य, अधिकार, शासन, शिक्षण में और (यज्ञेषु) धर्म कर्मों में (अस्य) इस आत्मा के ही (शव) बलकी (गृणे) महिमा को वर्णन करूं।

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१६०९] यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २र १ २
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
[१६१०] तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः
॥ २ ॥ १६ ॥ ऋ० ८। ५१। ९, १० ॥

भा०—(१) (यस्य) जिस परमात्मा का (अयं) यह (विश्व) समस्त (आर्य) श्रेष्ठ (अरिः) मनुष्य (शेवधिपा.) उसके दिव्य धन ज्ञान की रक्षा करने हारा (दास.) भृत्य के समान है और उस यज्ञरूप (अर्ये) स्वामी (रुशमे) सबके नियन्ता (पवीरवि [1]) पाप-

१६११—१ पवि शल्यो भवति। यद् विपुनाति कायम्। तद्वत् पवीरमायुधं तद्वान् पवीरमान् (नि० । दै० अ० २१ । ख० ३०)

निवारक राजदण्ड के समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में (तिरश्चित्) यह सब विद्यमान है । हे प्रभो ! (तुभ्य भूत्) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों के दर्शन के लिये ही (स) वह (रयिः) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ (अज्यते) प्रकट होते हैं । तू ही उन का स्वामी सञ्चालक, कर्त्ता धर्ता है ।

(२) (तुरण्यवः) शिघ्रकारी, अभ्यासी, कार्यकुशल, (विप्रासः) विद्वान् लोग (घृतश्चुतम्) तेज के देने हारे (मधुमन्तम्) आनन्दप्रद, ज्ञानमय (अर्कं) पूजनीय इन्द्र आत्मा को (आनृचुः) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि (अस्मे) हम में (रश्मिः) प्राणबल और ज्ञान का प्रकाश (पप्रथे) बढ़े और (अस्मे) हम में (वृष्ण्यं) वीर्यवान् (शवः) बल बढ़े और (स्वानासः) प्रेरणा करने हारे (इन्दवः) शुक्रों की वृद्धि हो । बल वीर्य और शुक्र की कामना से विद्वान् लोग आत्मज्ञान करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

[१६११] गामन्न इन्द्रो अश्ववत्सुत. सुदक्ष धनिव ।
शुचिञ्च वर्णमधि गोषु धारय ॥ १ ॥

[१६१२] स नो हरीणाम्पत इन्द्रो देवप्सरस्तमः ।
सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ॥ २ ॥

[१६१३] सनेमि त्वमस्मदा अदेवङ्कञ्चिदत्रिणम् ।
साह्वां इन्दो परि बाधो अपद्वयुम् ॥ ३ ॥ २० ॥

ऋ० ९ । १०५ । ४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७४] पृ० २६० ।

(२) हे (इन्द्रो) योगिन् ! हे (हरीणाम् पते) इन्द्रियों के पालक जितेन्द्रिय ! (देव) विद्वन् ! (द्युम्नतमः) सबसे अधिक तेज वा दीप्ति से युक्त होकर (सः) वह आप (नर्यः) सब मनुष्यों के हितकारक (सख्ये) मित्र के लिये (सखा इव) मित्र के समान (नः) हमारे (रुचे) अपने तेज को बढ़ाने के लिये (भव) हो । (२) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोकों के स्वामिन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील ! आप (द्युम्नतमः) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें ।

(३) हे (इन्द्रो) ऐश्वर्यशील राजन्, विद्वन्, परमात्मन् ! (त्वं) आप (अस्मत्) हमारे प्रति (सनेमि) अनादिकाल से चले आये मित्रभाव कृपाभाव को (आ) प्रकट करो । आप (साह्वान्) सब विघ्नों को पराजय करने हारे (अदेवम्) देव, परमेश्वर से रहित (अत्रिणं) केवल भोग करने हारे विषयलोलुप, (कंचित्) किसी भी भोगमय देहबन्धन को (परिबाधः) विनाश करो और (द्वयुं) दो दो, द्वन्द्व, सुख दुःख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदि के चाहने हारे इस अन्त करण को भी (अप) दूर करो।

[१६१४] अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु
गृभ्णते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धाराऽत्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा
हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः ।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय
ओक्यः ॥ ३ ॥ २१ ॥ ऋ० ६ । ८६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६४] पृ० २८४ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (विपश्चिते) ज्ञानशील ब्रह्मज्ञानी, (पवमानाय) मुक्ति के मार्ग में गति करने हारे आत्मा के (गायत) गुण वर्णन करो । वह (अन्धः) देह को प्राण–धारण कराने हारा सोम आत्मा (मही) मही (धारा न) जलधारा के समान (अति अर्षति) अपने तटों रूप देहबंधनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । (जूर्णाम्) जीर्ण हुई (त्वचम्) त्वचा को (अहिं न) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर (अतिसर्पति) निकल भागता है और जो (हरिः) हरणशील, गतिशील, (वृषा) बलवान् आत्मा स्वयं (क्रीडन्) देहों में रमण करता हुआ भी (अत्यः न) अश्व के समान (असरत्) एक लोक से दूसरे लोक या दशा में भाग जाता है ।

(३) यह सोमरूप योगी, आत्मा, चन्द्र के समान भी वर्णन किया जाता है । वह (अग्रेगाः) इन्द्रियों का नेता, और संसार-बन्धनों को काटकर सब भोगों को त्याग कर, आगे श्रेष्ठ पद की ओर जाने हारा, (राजा) प्रकाशमान्, तेजस्वी (आप्यः) कर्म और प्रज्ञानों या प्राणों में श्रेष्ठ (अह्ना) अपनी घटती और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के (विमानः) रचने हारे चन्द्र के समान अपनी षोडश कलाओं से अपनी ज्योतियों को बनाने हारा (भुवनेषु) लोकों के समान प्राणों में (अर्पितः) स्थापित है । जो (हरिः) गतिशील आत्मा (घृतस्नुः) कान्ति और तेज से देदीप्यमान होकर या ज्ञान से स्नान करके (सुदृशीकः) सम्यक् तत्व, परमपद का दर्शन करने हारा, (अर्णवः) ज्ञानवान्, (ज्योतिरथः) ज्योतिष्मान् स्वरूप होकर (रायः) परम धन का अधिकारी (ओक्यः) परमपद के योग्य होकर (पवते) विचरण करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः । सप्तमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

॥ १ ॥ ऋषिः—१, ७ शुनःशेप आजीगर्तिः । २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ३ शंयुर्बार्हस्पत्यः । ४ वसिष्ठः । ५ वामदेवः । ६ रेभसूनू काश्यपौ । ८ नृमेधः । ९, ११ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । १२ विरूपः । १३ वत्सः काण्वः । १४ एतत्साम ॥ देवता—१, ३, ७, १२ अग्निः । २, ८–११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णुः । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः । १४ एतत्साम ॥ छन्द—१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती । ४ त्रिष्टुप । ५, ६ अनुष्टुप् । ८ प्रागाथम् । १२ उष्णिक् । १४ एतत्साम ॥ स्वर—१, २ ७, ९, १०, १२, १३, षड्जः । ३, ८ मध्यमः, ४ धैवतः । ५, ६ गान्धारः । ११ ऋषभः; १४ एतत्साम ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र १ २र
[१६१७] विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।
१ २
चनो धाः सहसो यहो ॥ १ ॥
१ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१८] यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे ।
१र २र ३ २
त्वे इद्धूयते हविः ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१६१९] प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । २६ । १०,६,७ ॥

भा०—(१) हे (सहसः यहो) बल से प्राप्त करने योग्य अग्ने ! प्रभो ! (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) ज्ञानवान् नेताओं और विद्वानों सहित

(इद) इस (वचः) वाणी, हमारी प्रार्थना को और (इमं) इस (यज्ञ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होकर हमें (चन.) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान (धा) धारण कराओ।

(२) (यत् चित् हि) यद्यपि (शश्वता) नित्य (तना) आत्मा-रूप यज्ञ द्वारा (देव देव) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप से उपास्यदेवों को (यजामहे) हम उपासना करते हैं तो भी वह सब (हवि.) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि होम (त्वे इत्) तुझको ही लक्ष्य करके (हूयते) दिया जाता है।

(३) (विश्पति.) समस्त प्रजाओं का पालक (मन्द्र.) हर्षकारी, आनन्ददायक (वरेण्यः) वरण करने योग्य परमात्मा (नः) हमारा (प्रिय.) प्रिय (अस्तु) हो। (स्वग्नय) उत्तम आत्मज्ञानाग्नि से युक्त हो कर उसके भी (वयम्) हम (प्रिया.) प्रिय हों।

[१६२०] इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

[१६२१] स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपावृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥२॥

[१६२२] वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥३॥२॥ ऋ० १ । ७ । १०, ६, ८ ॥

भा० —(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (व. जनेभ्य) आप लोगों के हित लिये (विश्वत.) सबसे (परि) ऊपर विराजमान (इन्द्रम्) परमेश्वर इन्द्र की (हवामहे) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह (केवल.) अद्वितीय परमेश्वर (अस्माकं) हमारा सहायक (अस्तु) हो।

(२) हे (सत्रादावन्) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे (वृषन्) सबसे श्रेष्ठ, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! (स) वह आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय, अपराजित, शक्तिमान् कभी सम्मलित न होने वाले, कभी भूलचूक न करने हारे होकर (चरु) अन्नादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को (अप वृधि) दूर करो ।

(३) (वृषा) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा (वंसग) सुन्दर गति वाला बैल (यूथा इव) जिस प्रकार गौओं के गोलों में चला जाता है उसी प्रकार (ओजसा) अपने बल से (ईशानः) सर्व शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय परमेश्वर (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है ।

[१६२३] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधन्तुचे तुनः ॥ १ ॥

[१६२४] पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि ह्वरांसि च ॥ २ ॥ ३ ॥

ऋ० ४ । ४१ । ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४१] पृ० १२ ।

(२) हे अग्ने ! परमेश्वर (त्वं) तू (अप्रयुत्वभिः) सदा साथ ने वाले (अदब्धैः) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरक्षित (पर्तृभिः) लकों द्वारा (तोकं) पुत्र, बालक और (तनयं) पौत्र को (पर्षि) लन करता है । नः (नः) हमारे (दैव्या) आधिदैविक (हेडांसि) पत्तियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों के प्रति तिरस्कार आदि वाओं को (अदेवानि च) आधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असात्विक, तामस (द्वरांसि) कुटिल सकर्मों और कुटिल आचरणों को (युयोधि) दूर कर।

[१६२५] किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥ १ ॥

[१६२६] प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्। तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥ २ ॥

[१६२७] वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥४॥ ऋ० ७। १००। ६, ५, ७॥

भा०—(१) हे (विष्णो) सर्वव्यापक! परमात्मन्! (यद्) जब आप स्वयं अपने को (शिपिविष्टः) रश्मियों से आवृत तेजोमय पिण्डों में प्रविष्ट (अस्मि) हूं इस प्रकार अपनी शक्ति को (ववेष) बतला रहे हैं तब (ते) आपका (किं इत् नाम) क्या नाम या स्वरूप (परिचक्षि) कहा जाय। हे भगवन्! (तत्) क्योंकि (समिथे) समाधि के अवसर पर आप (अन्यरूपः) दूसरे ही रूप में (बभूथ) प्रकट होते हैं। आप (एतत्)

१६२५—१. 'किमित्ते भए परिचक्ष्य मूष्पदब्रवे', २, 'प्रगते कर्णादिभिरिन्द्रियै माधे.' इति ऋ०।

वह (वर्पः) तेजोमय रूप (अस्मद्) हम से (मा अपगूह) मत छिपाइये ।

(२) हे (शिपिविष्ट) रश्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोकों में व्यापक परमात्मन् ! मैं (अर्यः) अपनी इन्द्रियों का स्वामी जितेन्द्रिय होकर (वयुनानि) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को (जानन्) जानता हुआ (तत्) वह अति प्राचीन (हव्यं) पुकारने, नित्य ग्रहण और शरण करने योग्य नाम (शंसामि) कहता हूं और (अस्य) इस (रजसः) प्राकृत लोकों के भी (पराके) दूर, परे मोक्ष में भी (क्षयन्तं) निवास करने हारे (तवसं) महान् (त त्वा) उस सनातन तेरी मैं (अतव्यान्) तुच्छ व्यक्ति (गृणामि) स्तुति करता हूं ।

(३) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! (ते) आपको मैं (आसः) अपने मुख से (वषट्) सर्व कामनाओं का पूरक (आकृणोमि) साक्षात् स्वीकार करता हूं । हे (शिपिविष्ट) तेजोमय ! (मे) मेरा (तत्) वह (हव्यम्) ग्रहण योग्य हुआ स्तुति वचन (जुषस्व) स्वीकार कर (मे) मेरी (सुस्तुतयः) उत्तम स्तुतिरूप (गिरः) वेदवाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयं) आप लोग (नः) हम लोगों की (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (पात) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६२८] वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रन्दिविष्टिषु ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आयाहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६२९] इन्द्रश्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।
३ १२ २र ३ २उ ३ २ ३ २
युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नियुत्वन्ता न ऊतय आयातं सोमपीतये ॥३॥५॥
ऋ० ४ । ४७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे वायो ! प्राणात्मन् ! (दिविष्टिषु) दिव्य तेज की साधना के अवसरों में मैं (शुक्र) वीर्यवान् तेजस्वी होकर (ते) तेरे लिये (अग्रम्) सबसे पूर्व (मध्व.) अमृत ब्रह्मानन्दरस को (अयामि) प्राप्त करता हूं । हे आत्मन् ! देव ! (स्पार्हः) अति स्पृहा का पात्र तू (नियुत्वता) नियुत्=प्राण और मनस्वरूप अश्व अर्थात् बलवान् साधन से (सोमपीतये) सोमरस पान करने के लिये (आयाहि) प्राप्त हो ।

(२) हे वायो ! प्राण और (इन्द्रः च) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही (सोमाना) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का (पात) पान करने के (अर्हथ.) योग्य हैं । (इन्दवः) समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी (युवा) आप दोनों के प्रति (सध्र्यक्) एक साथ (निम्नं) नीचे ढालू स्थान पर (आप. न) जलों के समान (यन्ति) चले जाते हैं ।

(३) हे (वायो) ज्ञानवन् ! (इन्द्र च) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! (शवसस्पती) आप दोनों बल के परिपालक हैं, आप (नियुत्वता) मनरूप अश्व से युक्त (शुष्मिणा) बलशाली होकर (सोमपीतये) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करने और (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा करने के लिये (आयातम्) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[१६३१] अध त्वषा परिष्कृतो वाजाँ अभिप्रगाहते ।
१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३२] तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
१र २र ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनञ्च सूरयः ।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३क २र
[१६३३] तह्माथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥३॥६॥

ऋ० ६ । ६६ । २—४ ॥

भा०—(१) (यदि) जब (विवस्वतः) सूर्य के समान प्रेरक आदित्ययोगी की (धियः) अपनी चित्तवृत्तियां अपनी ध्यान और धारणा शक्तियों को (हरिं) प्राण, या मन, या दुःखहारी प्रभु को (यातवे) आत्मा के समीप प्राप्त होने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (अध) तब हे सोमरूप आत्मन् ! (त्वषा [1]) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने हारी चित् शक्ति से (परिष्कृतः) सुभूषित होकर (वाजान्) नाना बलों और बल से साध्य कार्यों या ज्ञानों को (अभि) साक्षात् स्वयं तू (प्र गाहसे) पार कर जाता है ।

(२) (अस्य) इस सोमरूप प्राण या आत्मा के (तं) उस रसरूप को ओषधिरस के समान (मर्जयामसि) परिष्कृत करते हैं (यः) जो (मदः) आनन्दस्वरूप होकर (इन्द्रपातमः) आत्मा द्वारा उत्तम रीति से आस्वादन किया जाता है । (यं) जिसको (गावः) ज्ञान-इन्द्रियगण और (सूरयः) प्राणेन्द्रिय (पुरा) पूर्वकाल में और (नूनं च) अब भी (आसभिः) देह में अपने नियत स्थानों या मुखद्वारों से (दधुः) धारण

१६३१—१ 'वाजौ अभिप्रगाहते' इति ऋ० ।

१. क्षपा क्षपयित्री सेना, इति सायणः ।

करते हैं। अथवा जिसको (गाव. सूरयः) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में और अब भी, अपने (आसभिः) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा (दधुः) धारण करते हैं।

(३) (त) उस (पुनान) पवित्र करने हारे और स्वतः पवित्र सोम को (पुराण्या) पुरातन (गाथया) गानरूप छन्दोमय वेदवाणी से (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं (उत उ) और (देवानां) देवों, सूर्य, वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का (नाम) नाम या स्वरूप (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (धीतय) वेदवाणियां भी उसको ही (कृपन्त) समर्थन करती हैं, उसका ही गुणगान करती हैं।

२ ३ २ ३ १ २   ३ १ २ ३ १र २र
[१६३४] अश्वन्न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निन्नमोभिः ।
३ १ २   ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥१॥

१ २   ३ १र २र ३ १ २   ३ १ २
[१६३५] स घा न. सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
३ २ ३   १ २
मीढ्वां अस्माकं बभूयात् ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ ३   १ २ १ २
[१६३६] स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
पाहि सदमिद्विश्वायु ॥३॥७॥ ऋ० १ । २७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७] पृ० ६ ।

(२ (स घ) वह ही परमेश्वर ! (पृथुप्रगामा) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक (शवसा सूनु) समस्त ससार को अपने बलमे प्रेरणा करने हारा (नः) हमें (सुशेवः) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वही (अस्माकं) हमारे (मीढ्वान्) सब सुखों को वर्षण करने वाला, मेघ के समान आनन्दकारी (बभूयात्) होवे ।

(३) (सः) वह आप जगदीश्वर (विश्वायुः) समस्त प्राणियों को पूर्ण आयु देने हारा (दूरात्) दूर, वर्तमान और (आसात् च) समीप में वर्त्तमान (अघायोः) पापी (मर्त्यात्) मनुष्य से (नः) हमारे (सद्म) देह और गृह को और प्रतिष्ठा को (इत्) भी (नि पाहि) नित्य रक्षा करें।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१६३७] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वन्तूर्य तरुष्यतः ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
[१६३८] अनु ते शुष्मन्तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि
॥२॥८॥ ऋ० । ८ । ६६ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अचि० स० [३११] पृ० १२६ ।

(२) (तुरयन्तं शिशुम्) गमन करते हुए बालक के प्रति (मातरा न) जिस प्रकार मा बाप जाते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तं) गति प्रदान करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे (शुष्म) बल के साथ (क्षोणी) द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान (ईयतुः) गमन करते हैं। हे इन्द्र ! आत्मन् ! (यत) जब (वृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान तम का तू (तूर्वसि) नाश करता है तब (मन्यवे) मन्युस्वरूप या ज्ञान स्वरूप, मननशील (ते) तेरे आगे (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले काम और क्रोध आदि अन्त शत्रुओं की सब चेष्टाएं (श्नथयन्त) शिथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ १२ २२ ३ २उ ३ १ २
[१६३९] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
३ १ २ ३ २ ३ २
चक्राण ओपशन्दिवि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१६४०] व्या३न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
२ ३ १ २र ३ २
इन्द्रो यदभिनद्वलम् ॥ २ ॥
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१६४१] उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सती' ।
३ १ २ ३ २
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ : ३४ । ५,७,८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२१] पृ० ६५ ।

(२) (यद्) जब (इन्द्र') आत्मा (वलम्) घेर लेने वाले काम क्रोधादि तामस आवरण को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) ज्ञान और शुक्र के (मदे) आनन्द हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) भीतर विराजमान चित्त को भी (व्यतिरत्[1]) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पक्ष में इन्द्र सूर्य है ; वल मेघ है अन्तरिक्ष द्यौ, और पृथिवी के मध्य का वह भाग जहां मेघ विचरता है । सोम वायु का वेग है । जिस प्रकार वायु के बल से सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करता और अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार योगी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर श्लिष्टवचन द्वारा दोनों तत्त्व दर्शाये हैं ।

(३) इन्द्र आत्मा ने (अंगिरोभ्य) अंग अर्थात् देह में रस अर्थात् सार प्राणरूप से वर्तमान इन्द्रियों के लिये (गुहा) अन्त करण की गुहा में (सती) वर्तमान (गा') गमनशील, ज्ञानग्राहक शक्तियों को (आविष्कृण्वन्) प्रकाशित करता हुआ (उद् आजत्) ऊपर को प्रेरित

१६३६—१. व्यतिरद् व्यवर्धयदिति सायणः ।

करता है और (वलम्) वलवान् तामस आवरण को (अर्वाञ्च) नीचे (नुनुदे) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है।

अथवा—(इन्द्रः) परमेश्वर (गुहा सतीः गा आविष्कृण्वन्) निगूढ़ स्थान, अव्यक्तरूप में वर्त्तमान वेदवाणियों को प्रकट करता हुआ (अंगिरोभ्यः उदाजत्) विद्वानों, ज्ञानी ऋषियों को प्राप्त कराता है और (वलम् अर्वाञ्चं नुनुदे) पाशविक तामस स्वभाव को उस ज्ञान के नीचे कर देता है।

[१६४२] त्वमु वः सभा साहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
आ च्यावयस्यूतये ॥ १ ॥

[१६४३] युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् ।
नरमवार्यक्रतुम् ॥ २ ॥

[१६४४] शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वां ऋचीषम ।
अवा नः पार्ये धने ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ८ ६२ । ७, ६ ॥

भा०—(१) हे विद्वन् (युध्मं) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं को मार भगाने हारे (सन्तं) सत्स्वरूप, सदा विद्यमान (अनर्वाणं) कूटस्थ, अन्य की अपेक्षा करके न चलने हारे, ध्रुवस्वरूप (सोमपाम्) ज्ञान, आनन्दरस का पान करने हारे (अन-पच्युतम्) अपने शुद्ध पद से न गिरने हारे, (नर) नेतारूप, (अवार्य-क्रतुम्) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म=उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाले इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा के निमित्त स्मरण कर।

(२) हे (ऋचीषम) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र ! परमेश्वर ! आप (विद्वान्) सर्वज्ञ हैं। आप (नः) हमें (रायः) धन नाना

प्रकार के दान (पुरु) बहुत वार, एवं बहुत से प्रकारों से (आ शिक्ष) दान दो । और (पार्ये) परम उत्कृष्ट (धने) धन, मोक्ष के प्राप्त करने में (नः) हमें (अव) रक्षाकर ।

सायण ने 'पार्ये धने' इसका अर्थ किया है—"पाराः शत्रवः तत्र भवे धने" अर्थात् शत्रुओं का धन लूटने के अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे । इन्द्र अर्थात्=राजाके पक्षमें यह अर्थ संगत है । ईश्वर पक्षमें मोक्ष को 'पर पार' कहा जाता है । उस में प्राप्त करने योग्य धन मोक्षानन्द है । उस को प्राप्त करने में आने वाले विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर से प्रार्थना है । यही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी संगत है ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
[१६४५] तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४६] तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्द्धति श्रवः ।
२उ ३ १ २
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥
१र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१६४७] त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुण ।
१र २र ३ २ ३ १ २
त्वां शर्द्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥११॥ऋ०८।१५।७,८,९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (त्यत्) वह (वरेण्यं) वरण करने योग्य (इन्द्रियं) ऐश्वर्यमय स्वरूप को, (बृहत्) बड़े भारी (तव दक्षम्) तेरे बल सामर्थ्य, अनन्त शक्ति को और (क्रतुम्) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड सञ्चालन को और वरण करने योग्य ज्ञानरूप (वज्रं) देहबन्धन काटने हारे मोक्षसाधन को हमारी (धिषणा) बुद्धि और वाणी (शिशाति) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिखलाती है ।

(२) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (पौंस्यं) बल, पौरुष को (द्यौः) वह द्यौलोक जिसमें समस्त सूर्य, नक्षत्र आदि तैजस पिण्ड भ्रमण करते

हैं (वर्द्धंति) विशाल रूप में प्रकट करता है । और (तव श्रवः) तेरी कीर्ति को (पृथिवी) यह पृथिवी (वर्द्धंति) बढ़ा रही है । (आपः) ये जल, नदियें और (पर्वताश्च) पहाड़ (त्वा) तेरी ही (हिन्वरे) स्तुति गान कर रहे हैं ।

(३) हे परमेश्वर (बृहत्) बड़ा भारी (क्षय॰) निवास स्थान (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी (मित्र॰) स्नेहवान् जल (वरुण॰) वरण करने योग्य अग्नि आदि ये सब दिव्य पदार्थ (त्वा गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं । (मारुतं) वायु का (शर्धः) बल, वेग (त्वां) तेरे ही (अनुमदति) अनुकूल रहकर हर्ष को प्राप्त होता है, नाना प्रकार से नृत्य करता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।
१ २ ३ १ २
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६४९] कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम् ।
१ २ ३ १ २
उरुकृदुरु णस्कृधि ॥ २ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ ३
[१६५०] मा नो अग्ने महाधने परावर्ग्भारभृद्यथा ।
३ २ ३ २ ३ १ २
संवर्गं सं रयिञ्जय ॥३॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७५ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [११] पृ० ५ ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (नः) हमारे (गविष्टये) आत्मा और इन्द्रियों के इष्ट साधन के लिये (रयिम्) उपयुक्त विषयरूप धन और प्राणरूप सामर्थ्य को (संवेषिषः) प्राप्त करता है । हे (उरुकृत्)

महान् कार्यसम्पादक आप (नः) हमें भी (उरु कृधि) महान कीजिये।

(३) हे अग्ने ! (यथा भारभृत्) जिस प्रकार बोझा उठाने वाला अपना बोझ परे फैंक दिया करता है उस प्रकार (महाधने) मोक्षरूप धन की प्राप्ति के अवसर में(नः) हमें बोझासा जानकर (मा परा वर्ग्) परे न हटा, बल्कि हमें (संवर्गं) उत्तम मोक्षरूप (रयिं) धन को (संजय) प्राप्त करा दे।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
३ १ २ ३ १ २
समुद्रायेव सिन्धव ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५२] वि चिद् वृत्रस्य दोधत शिरो बिभेद वृष्णिना।
१ २ ३ १ २
वज्रेण शतपर्वणा ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
[१६५३] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ८। ६। ४, ६, ५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१२७] पृ० ७५।

(२) (दोधत.) समस्त जगत् को कपाने हारे (वृत्रस्य) आवरक अज्ञान या विघ्न के (शिर) शिरोभाग, मूल, जड़ को परमेश्वर अपने (शत पर्वणा) सैंकड़ों पोरुओं=पालक शक्तियों के बने (वृष्णिना) सुखों के वर्षक (वज्रेण) वज्ररूप ज्ञान से (बिभेद) तोड़ डालता है।

(३) (तत्) उस समय (अस्य) इस परम आत्मा का (ओजः) सामर्थ्य और तेज (तित्विषे) प्रकाशित होता है (यत्) जब (इन्द्रः) परमेश्वर (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) मानों चमड़े से ढोल के समान (समवर्त्तयत्) मढ़कर तैयार कर देता है। अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का

पेतों चलाता है। अथवा (अस्य तत् ओजः तित्विषे) ईश्वर का वह तेज ही चमकता है। (यत् इन्द्र चर्म इव उभे रोदसी समवर्तयत्) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम के समान मढ़े हुए हैं। अर्थात् उसी का सर्वत्र तेज है।

[१६५४] सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी॥ १॥ (यजु०)

[१६५५] सरूप वृषन्नागहीमौ भद्रौ धुर्यावभि।
ताविमा उपसर्पतः॥ २॥

[१६५६] नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति।
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन्॥ ३॥ १४॥ तिस्रोऽपि ऋग्वेदे न सन्ति॥

भा०—(१) (सूनरी) उत्तम शरीर-रथ की नेत्री, चितिशक्ति स्वयं ही (रन्ती) समस्त क्रीड़ा, चेष्टा, व्यापार करने हारी (वस्वी) प्राणरूप वसुओं की स्वामिनी (सुमन्मा) उत्तम रूप से मनन करने हारी है।

(२) हे (सरूप) चितिशक्ति के समान रूपवाले (इन्द्र) आत्मन्! (वृषन्) सर्वश्रेष्ठ! (आगहि) आ, प्रकट हो। (इमा) ये दोनों (भद्रौ) कल्याण और सुखकारी (धुर्यौ) शरीर के धारक प्राण और अपान (अभि) प्रत्यक्षरूप में दिखाई देते हैं। (तौ इमौ) वे दोनों शरीर या नासिका में (उपसर्पतः) गति करते हैं।

(३) हे विद्वान् पुरुषो! आत्मा (आपस्य) इस मांस देह के (मध्ये) भीतर (दशभिः) दश (शृङ्गेभिः) प्राणों द्वारा (दिशन्) ज्ञान और कर्म करता हुआ (तिष्ठति) विराजमान रहता है। आप लोग

१६५४—१. अग्निर्देवता जीवानन्दीये।

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग में रहने वाले दुष्टों ही प्राणों को (नि मृड्वम्) वश करो।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्द्धः ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । २ शुनःशेप सुकक्षो वा । ३ शुनःशेप आजीगर्तिः । ४ श्रुतकक्षः आङ्गिरसः । ५, १५ मेधातिथिः काण्वः । ६, ९ वसिष्ठः । ७ आयुः काण्वः । ८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १० विश्वमना वैयश्वः । ११ सोभरि काण्वः । १२ सप्तर्षयः । १३ कलि प्रागाथः । १४, १७ विश्वामित्र । १६ त्रिशोकः काश्यपः । १८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । १९ एतत्साम ॥ देवता—१, २, ४, ६, ७, ९, १०, १३, १५ इन्द्रः । ३, ११ १८ अग्नि । ५ विष्णु ८, १२, १६ पवमानः सोमः । १४, १७ इन्द्राग्नी । १९ एतत्साम ॥ छन्दः—१-५, १४, १६-१८ गायत्री । ६, ७, ९, १३ प्रागाथम् । ८ अनुष्टुप् । १० उष्णिक् । ११ प्रागाथ काकुभम् । १२, १५ बृहती । १९ इति साम ॥ स्वरः । १-५, १४, १६-१८ षड्ज । ६, ८, ९, ११-१३, १५ मध्यम । ८ गान्धारः । १० ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५७] पन्यं पन्यमित्सोतार आ धावत मद्याय ।
१ २ ३ २ ३ १ २
सोमं वीराय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] यह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।
इन्द्रं गीर्भिर्गिर्वणसम् ॥ २ ॥

[१६५९] पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् ।
नियमते शतमूतिः ॥३॥१॥ ऋ० ८ । २ । २५, २७, २६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१२३] पृ० ।

(२) (इह) इस पिण्ड में (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म के साथ समाधि द्वारा युक्त होने वाले, (शग्मा) शक्तियुक्त (हरी) दोनों प्राण और अपान (सखाय) परमेश्वर के मित्रभूत (गिर्वणसम्) गिराओं, वेदवाणियों का सेवन करने हारे (इन्द्रम्) इस जीव को (गीर्भिः) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ (आ वक्षत०) ब्रह्म तक प्राप्त कराते हैं ।

(३) (सुतं) आनन्दरस का या प्रेरक बल को (पाता) पान करने या धारण करने और (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला वह आत्मा (अस्मत्) हमारे (आरे) समीप (घ) ही (आगमत्) प्राप्त है वह (शतमूतिः) सैंकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर (नियमते) संयम साधना करता है ।

[१६६०] आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे ।
य इन्द्र जठरेषु ते ॥ २ ॥

[१६६२] अरन्त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् ।
अरन्धामभ्य इन्दवः ॥३॥ २॥ ऋ० ८ । ९२ । २२–२४ ॥

१६५७—२. "गीर्भि श्रुत गीर्वणसम्" इति ऋ० ।

भा० —(१) व्याख्या देखो अग्नि० सं० [१६७] पृ० १०४ ।

(२) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! (यः) जो सोमरूप[1] संसार (ते जठरेषु) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! उस (सोमस्य) समस्त संसार के (मर्यं) स्वरूप से प्राप्त को भी हे (जागृवे) जागरणशील ! तू ही (महिना) अपनी महिमा से (विव्यक्थ) व्याप्त कर रहा है ।

अध्यात्मपक्ष में हे इन्द्र ! तेरे (अन्तः) हृदयाकाश में, अन्त इन्द्रियों में जो सोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने (महिना) बड़े सामर्थ्य से प्राप्त करता है । सोमरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में—सूर्य इन्द्र अपने जठर=रश्मियों से जल को उठा लेता है और सदा देदीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के उस सूक्ष्म अंश को धारण किये रहता है ।

(३) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आवरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने हारे हे (वृत्रहन्[2]) विघ्नकारी तामस आवरण के नाशक ! (सोम) यह समस्त सोमरूप उत्पन्न हुआ संसार (ते) तेरी (कुक्षये) कोख से या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये (अरं भवतु) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है (इन्दवः) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान लोक (धामभ्यः) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी (अरं) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त हैं ।

[१६६३] जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

१६६२—१ सुतत इति सोम०, ।

२ वृत्रहन् पापस्य वा हन्त, इति सायण ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१६६४] स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
३ १२ २र
धिये वाजाय हिन्वतु ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१६६५] स रेवां इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः ।
३ २ ३ १ ३ १ २
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥३॥३॥ ऋ० १ । २७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५] पृ० ७ ।

(२) वह अग्निरूप सब का मार्गदर्शक सर्वज्ञ, परमेश्वर (महान्) महान् (अनिमानः) अनन्त, अपरिमेय, (धूमकेतुः) समस्त संसार को स्पन्दन या गति देने हारे सामर्थ्य से जानने योग्य (पुरुश्चन्द्रः) सबसे अधिक प्रकाशमान, सब प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक परमात्मा (नः) हमें (धिये) विचारशक्ति, बुद्धि और (वाजस्य) बल और सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) सबका नेता, ज्ञानवान् (उक्थैः) वेद की ज्ञानराशियों से (बृहद्भानुः) विशाल तेज सम्पन्न (दैव्यः) सर्व दिव्यगुणों से युक्त (केतुः) समस्त संसार का ज्ञापक, (विश्पतिः) प्रजा का पालक प्रजापति, परमात्मा (रेवान् इव) बड़े भागी धनी सेठ पुरुष के समान (नः) हम उपासकों की (शृणोतु) प्रार्थना श्रवण करें ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[१६६६] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
२र ३ २ ३ १ २
शं यद्गवे न शाकिने ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१६६७] न घा वसुर्नियमते दानं वाजस्य गोमतः ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
यत्सीमुपश्रवद् गिरः ॥ २ ॥

[१६६८] कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्।
शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपश्रवत) सुन लेता है तब वह (वसु) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमत) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) ब्रह्मदान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपक्षय करने हारे या क्षयशाली, विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बाड़ा रूप देह को (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत वार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है। परन्तु (स्य.) वह ही उसको (शचीभि) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है। अथवा—(कुवित्सस्य[1]) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्त करण में प्राप्त होकर (शचीभि·) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (न) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है। अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुन देह बन्धन से मुक्त कर देता है।

१६६८—१ कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहुशः, स्यति हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[१६६९] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥
१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥
१र २र ३ १ ३ ३ २ ३ १ २
[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २
[१६७४] अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
३ २उ ३ १ २
पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२ । १६-२१ १६ ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया । (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है । व्याख्या अवि० सं० [२२२] पृ०।